ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक–३११

सम्पादक एव नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

प्रथम सस्करण सन् १९७०

मूल्य पचीस रुपये

मुद्रक—सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

वात्सल्यमूर्ति माताजी के स्पन्दनहीन जीवनाभाव में
समस्त रिक्तताओं के मध्य किशोर-जीवन को
सद्भावों से सम्पूरित करने वाले पूज्य
पिताश्री को, विनयावनतिपूर्वक
सादर समर्पित ।

—देवेन्द्रकुमार

हउं मूढ णिबंधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द-वावार सत्थु।
अह लिहियं एयह पुत्थय, कोऊहलभरिय णिय मणेण।
ण गुणवियारणपारण, कव्वं जाणेइ वुहयणेण॥

पुरोवचन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री की पुस्तक 'भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य' महत्त्वपूर्ण शोध कृति है। 'भविसयत्तकहा' अपभ्रंश का बहुचर्चित कथा-काव्य है। इस पुस्तक के उपलब्ध होने के बाद से अपभ्रंश-साहित्य के शोध को एक नयी दिशा मिली थी। इस की जानकारी के पहले बहुत थोड़ी-सी रचनाओ तक ही अपभ्रंश का अध्ययन सीमित था। परन्तु उस की प्राप्ति से अपभ्रंश रचनाओ के अधिकाधिक प्राप्त होने का विश्वास ही नही उत्पन्न हुआ, इस साहित्य के बहुत-से ग्रन्थरत्न ढूँढ निकाले गये और वह धारणा सदा के लिए समाप्त हो गयी कि महान् अपभ्रंश साहित्य अब खो ही गया है। अनेक विद्वानो के प्रयत्नो के फलस्वरूप अब कई दर्जन अपभ्रंश काव्य उपलब्ध हो चुके हैं और सम्पादित-प्रकाशित होते जा रहे है। इस प्रकार एक अल्पज्ञात साहित्य को फिर से प्रत्युज्जीवित और लोकगोचर करने में इस कथा-काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यद्यपि इस की चर्चा काफी होती रही है, पर हिन्दी में इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण महत्त्व को स्पष्ट करने योग्य कोई अध्ययन अब तक नही हुआ था। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने इस बडे अभाव की पूर्ति की है। उन्होने इस ग्रन्थ के सभी साहित्यिक पक्षो का विशद आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परन्तु केवल वे इस ग्रन्थ तक ही सीमित नही रहे। इसे उपलक्ष्य बना कर उन्होंने अब तक अप्रकाशित हस्तलेख रूप मे प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का निपुण सर्वेक्षण कर स्वतन्त्र रूप से कथाकाव्य-विधा का अनुशीलन किया है। अपभ्रंश भाषा की विशेषताओ और उस के ऐतिहासिक विकास को भी स्पष्ट किया है। अपभ्रंश पर वैसे हिन्दी मे पर्याप्त काम हुआ है, पर शास्त्रीजी का यह प्रयत्न अब तक के अध्ययनो को समेट कर बहुत-कुछ नया रूप देने में कृतकार्य हुआ है।

हिन्दी के काव्यरूपो, छन्दो, काव्यरूढियो, भाषाविकास आदि के अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश के साहित्य की जानकारी बहुत आवश्यक है। डॉ० देवेन्द्रकुमार की इस पुस्तक का उस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। मुझे विश्वास है कि भाषा और साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक का स्वागत करेगे।

डॉ० देवेन्द्रकुमार परिश्रमी और अध्ययनशील युवक हैं। उन की इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि वे भविष्य में और भी महत्त्वपूर्ण कृतियो से साहित्य का भाण्डार भरेगे। मैं उन के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करता हूँ।

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी,
१६-१२-७०

अनुबन्ध

अपभ्रंश-साहित्य में वस्तु, बन्ध और शैली की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की कई विधाएँ लक्षित होती है, जिन में से कथाकाव्य भी एक अन्यतम विधा है। अपभ्रंश-कथाकाव्यो मे नियोजित कथावस्तु लोक-कथाओ के साँचे मे किन्ही प्रबन्ध-रूढियो तथा कथाभिप्रायो (मोटिफ्स) के साथ वर्णित मिलती है। कुछ कथाएँ जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानो से सम्बद्ध हो कर काव्य-बन्ध का अंग ही नही, प्राण बन गयी हैं। अतएव चरितकाव्यो से इन मे भेद देखा जाता है। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो में लोक-प्रचलित कहानी की भाँति अधिकतर कथाओ मे—वक्ता और श्रोता के रूप में कथा कही जाती है। बीच-बीच में सुनने वाला कवि के शब्दो मे ही जिज्ञासा और कुतूहल प्रकट करता चलता है अथवा कवि ही यह कह कर कि अब कथा तिलकद्वीप की चलती है या अब गजपुर का हाल सुनो, श्रोताओ का समाधान करता चलता है। इसी प्रकार कथा या कहानी के लगभग सभी तत्त्वो तथा कथा-शैली की सयोजना आलोच्यमान कथाकाव्यो में प्राप्त होती है।

अपभ्रश के कवियो ने कथा और चरितकाव्य मे कोई अन्तर निर्दिष्ट नही किया है। वे जिस रचना को कथा कहते हैं उसी को चरित भी। अतएव कुछ विद्वान् उन्हें चरितकाव्य ही मानते हैं। अभी तक इस दिशा मे कोई शोध-कार्य नही हुआ था। मेरी जानकारी में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी मे भी कथाकाव्य की स्वतन्त्र विधा पर किसी ने प्रकाश नही डाला था। यद्यपि संस्कृत मे कथा गद्य मे लिखने का विधान है और अन्य भाषाओ मे पद्य में; किन्तु गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के सस्कृत रूपान्तर—बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुद्धस्वामी), बृहत्कथामजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (सोमदेव भट्ट) पद्यबद्ध ही मिलते है। इसी प्रकार जातक कथाएँ तथा अफ़गान देशो की अवदान कथाएँ भी पद्य में लिखी हुई मिलती हैं। अतएव पद्य मे कथा लिखने की परम्परा प्राचीन जान पडती है।

भारतीय साहित्य मे कदाचित् प्राकृत और अपभ्रश-साहित्य मे प्रबन्धकाव्य के रूप में कथाकाव्य नाम से अभिहित इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। कथा में घटनाओ की मुख्यता से तथा विभिन्न पात्रो को कई स्थलो पर संक्षेप मे घटित घटनाओ को सुनाने से काव्य मे वस्तु की एक से अधिक बार आवृत्ति हुई है, जिस के कारण निश्चय ही इन्हें महाकाव्य की कोटि का न कह कर एकार्थक कहा जा सकता है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यो मे प्रेम की मधुर व्यजना अभिव्यजित हैं। ये कई बातो मे हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो से मिलते-जुलते हैं। अतएव सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्य और विशेष रूप से जायसी कृत 'पद्मावत' अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो की कोटि के हैं।

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे प्रवन्ध-रचना कडवक शैली मे तथा पद्धडिया वन्ध मे हुई है, जो इस साहित्य के महाकाव्यो की अत्यन्त प्राचीन (लगभग छठी सदी से) एवं निजी शिल्प-रचना है। अतएव शैली की दृष्टि से तथा सन्धियो की नियत संख्या में रचित काव्यो को महाकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है। किन्तु प्रवन्ध मे दो सन्धियो से लेकर वाईस सन्धियो तक के कथाकाव्यो का विवेचन होने से, व्यापक दृष्टिकोण में तथा साहित्य की एक पृथक् विधा का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में कई प्रकार की अतिव्याप्तियाँ लक्षित होने से इन्हे 'एकार्थक' काव्य के अन्तर्गत माना है। यदि कोई 'भविसयत्तकहा' जैसी वडी प्रवन्ध रचना को चाहे तो महाकाव्य भी कह सकता है। किन्तु मेरी दृष्टि मे तो यह कथाकाव्य ही है।

इस प्रवन्ध में दसवी शताव्दी से लेकर सतरहवीं शताव्दी तक के उपलब्ध कथाकाव्यो का विवेचन हुआ है। काल-क्रम के अनुसार रचनाएँ इस प्रकार हैं— पउमसिरीचरिउ (दसवी शताव्दी), धम्मपरिक्खा (वि० स० १०४४), सुदंसणचरिउ (स० ११००), विलासवईकहा (वि० स० ११२३), भविसयत्तकहा (विवुध श्रीधर, स० १२३०), जिनदत्तकथा (वि० स० १२७५) सिद्धचक्रकथा (पं० नरसेन, १४वी शताव्दी), जिनदत्त चउपई (सं० १३५३), भविसयत्तकहा (धनपाल, स० १३९३), सि० क० या श्रीपालकथा (पं० रयधू, पन्द्रहवी शताव्दी) और सत्तवसण-कहा (वि० स० १६३४)। उक्त कथाकाव्यो मे से भ० क०, वि० क०, जि० क०, सि० क० और श्रीपालकथा का तथा भ० क० एव जि० चउ० का विशेष अध्ययन हो सका है। अवशिष्ट रचनाओ मे से पउमसिरीचरिउ प्रकाशित होने से उस का परिचय मात्र दिया है। सुदंसणचरिउ और सत्तवसणकहा का सम्यक् विवेचन प्रवन्ध के वहुत विस्तृत होने के भय से नही कर सका हूँ तथा धम्मपरिक्खा में उपदेश प्रधान होने से उस का वर्णन चलता हुआ कर दिया है।

यह प्रवन्ध सात अध्याओ में निवद्ध है। विषय और भाव की दृष्टि से प्रबन्ध मे एकरूपता का वरावर ध्यान रखा गया है। प्रथम अध्याय मे अपभ्रश भापा का मौलिक स्थापनाओ के साथ विचार किया गया है, जिस में वैदिक, अवेस्ता और प्राकृतो से अपभ्रश भाषा के सम्वन्ध का पूर्ण विवरण एव अपभ्रश-साहित्य के युग का परिचय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय मे अपभ्रश-साहित्य के सामान्य परिचय के साथ उपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण कर कथाकाव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इसी अध्याय में प्रवन्धकाव्य की स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश की आनु-पूर्वी में प्रथम वार कथाकाव्य का उल्लेख हुआ है। तीसरे अध्याय मे धनपाल तथा विवुध श्रीधर विरचित 'भविष्यदत्तकथा' का साहित्यिक एव सास्कृतिक अनुशीलन किया गया है। भविसयत्तकहा के साथ ही चतुर्थ अध्याय में अपभ्रश के प्रमुख कथाकाव्यो के अन्तर्गत विलासवईकहा (विलासवतीकथा), जिणयत्तकहा (जिनदत्तकथा), जिनदत्त-चउपई, सिरिपालकहा (रयधू) और सिद्धचक्ककहा (सिद्धचक्रकथा नरसेन) की

मूल हस्तलिखित प्रतियो का आद्यन्त अध्ययन कर विशद समीक्षा की गयी है। उक्त सभी कथाकाव्यो के सभी काव्यागो का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण किया गया है। प्रसंगत प्रकाशित 'पउमसिरीचरिउ' एवं हस्तलिखित धम्मपरिक्खा, सुदंसणचरिउ तथा सत्तवसणकहा का भी उल्लेख हुआ है। अन्य लघु कथाओ का विवरण 'क्षुल्लक कथाएँ' के अन्तर्गत दिया गया है। पंचम अध्याय मे अपभ्रंश-कथाकाव्यो की समालोचित सामान्य प्रवृत्तियो का सर्वेक्षण किया गया है। विषय के सम्यक् अनुशीलन के हेतु षष्ठ अध्याय में लोकतत्त्व का विचार हुआ है। लोकतत्त्व मे लोक-कथाओ के रूप, कथा-मानकरूप, कथाभिप्राय एवं लोकजीवन तथा सस्कृति का परिशीलन किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भाषाविषयक ही नही, साहित्य-समालोचनात्मक एवं लोक-साहित्य तथा सस्कृतिमूलक अध्ययन व चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय मे अपभ्रंश कथाकाव्यो पर सस्कृत-काव्यो के प्रभाव के अतिरिक्त 'भविसयत्त-कहा' के विशेष सन्दर्भ के साथ अपभ्रंश के कथाकाव्यो का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव दर्शाया गया है। विषय के विस्तार के भय से विवेचन में सक्षिप्तता का पूरा ध्यान रखा गया है। सब के अन्त में प्रबन्ध सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका से भी समलंकृत है। अतएव सभी प्रकार से शोध प्रबन्ध को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बनाने का उपक्रम किया गया है।

इस समूचे प्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से भी एकरूपता प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक आलेखन लोक-जीवन की परम्परा में ही विशेष रूप से हुआ है। क्योकि अपभ्रंश भाषा और साहित्य लोक-जीवन और संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण कर विकसित हुआ है। लोक-साहित्य विषयक कथा-रूपो तथा अभिप्रायो का विचार भी ऐतिहासिक पद्धति पर हो सका है। साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-धारा में साहित्यिक विधा का विकास और परम्परा एवं प्रभाव का मूल्याकन किया गया है। अन्तिम अध्याय में अपभ्रंश के कथाकाव्यो का हिन्दी-साहित्य पर परि-लक्षित प्रभाव का स्वतन्त्र विचार किया है।

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य पर डॉ० हरिवश कोछड़, डॉ० रामसिह तोमर तथा डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु अभी तक कई रचनाएँ प्रकाश में नही आ सकी है। अधिकाश काव्यो का परिचय मात्र ही मिलता है। अतएव कई अप्राप्य तथा अविवेचित रचनाओ का अनुशीलन कर इस अछूती भूमि को प्रथम बार स्पर्श किया है। प्रबन्ध मे विवेचित काव्य अधिकतर हस्तलिखित एवं अप्रकाशित कथा-काव्य है, जिन को ढूँढ निकालने में लेखक को बहुत समय तथा श्रम लगा है। वस्तुत विषय और विवेचन की दृष्टि से यह प्रथम मौलिक प्रयास है।

प्रबन्ध की रूप-रेखा मे लोक-साहित्य विषयक स्वतन्त्र खण्ड की योजना का सुझाव दे कर डॉ० सत्येन्द्रजी ने जो उपकार किया है, उस के लिए मैं हृदय से उन का आभारी हूँ। उन की 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक पुस्तक से अध्ययन करने में बहुत

सहायता मिली है। डॉ० कोछड़ का प्रवन्ध भी सहायक सिद्ध हुआ है। विशेष रूप से मैं प० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचद कासलीवाल का कृतज्ञ हूँ, जिन्होने कडे प्रतिवन्धो के बीच समय पर हस्तलिखित ग्रन्थ भेज कर मेरी सहायता की और जिन के विना यह कार्य हो सकना सभव नही था। इसी प्रकार श्री दलसुख भाई मालवणिया का भी विशेप आभारी हूँ, जिन्होने 'विलासवईकहा' की अप्राप्य प्रति की समग्र फोटो कॉपी भेज कर यथोचित सहायता प्रदान की।

मुझे इस वात की प्रसन्नता है कि भारतीय ज्ञानपीठ की मुद्रण-प्रक्रिया के अन्तर्गत यह शोध प्रवन्ध ज्यो का त्यो प्रकाशित हो रहा है। मेरा प्रारम्भ से ही यह विचार था कि प्रवन्ध मूल रूप में ही प्रकाशित हो। इस प्रकाशन के लिए मैं डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन का हृदय से आभारी हूँ। प्रिय मित्र डॉ० गोकुलचन्द्र जैन को किसी भी प्रकार भूल सकना मेरे लिए सम्भव नही है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने व्यस्त क्षणो में से कुछ समय निकाल कर जो 'पुरोवचन' लिखने की कृपा की, उस के लिए मैं अन्त करण से उन का कृतज्ञ हूँ। मुझे जिन विद्वानो तथा मित्रो का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है मैं उन सभी का आभार मानता हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ सस्था का विशेप आभार है, जिस के अधिकारी जनो व मुद्रण-विभाग की तत्परता से यह प्रवन्ध यथाशीघ्र ही पाठको के हाथो में पहुँच सका है। वस्तुत इस प्रवन्ध की सफलता विद्वत् पाठको के परितोष पर निर्भर है। यदि अनुसन्धित्सुओ तथा जिज्ञासुओ के लिए यह किसी भी प्रकार सहायक सिद्ध हो सका तो अपना श्रम सार्थक समझूँगा। महाकवि कालिदास के शव्दो मे—

"आपरितोपाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

आशा है, विज्ञजन त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्पित करते हुए इस का समुचित मूल्याकन करेगे।

अन्त में सभी सुधीजनो के कर-कमलो मे यह प्रवन्ध भाव-प्रणति पूर्वक समर्पित है। यथार्थ में काव्य-कला तथा कवि के शव्द-व्यापार का मर्म सम्यक् रूप से जान लेना अत्यन्त दुर्वोध है। अत यही कहना पडता है—

हउं मूढ णिवधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द - वावार सत्थु।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

१७ दिसम्वर, १९७०

संक्षिप्त शब्द-संकेत-सूची

१. अनु०	अनुवाद या अनुवादक
२. ऋ०	ऋग्वेद
३. क० द०	कवि दर्पण
४. जि० क०	जिनदत्तकहा
५. जि० चउ०	जिनदत्तचउपई
६. टि०	टिप्पण
७. प० च०	पउमचरिउ (स्वयम्भू)
८. प्रा० पैं०	प्राकृतपैंगलम्
९ भ० क०	भविसयत्तकहा (धनपाल)
१०. वि० क०	विलासवईकहा
११. श०	शतपथब्राह्मण
१२. श्री० क०	श्रीपालकथा (पं० रयधू)
१३ स० क०	सत्तवसणकहा
१४ सि० क०	सिद्धचक्ककहा (प० नरसेन)
१५ सा० द०	साहित्यदर्पण
१६. सु० द०	सुदंसणचरिउ

●

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

●

भविसयत्तकहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य

प्रथम अध्याय

अपभ्रंश भाषा : परम्परा और युग

प्रत्येक देश और जाति के मूल सस्कार उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा सस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय जीवन, लोक परम्परा एवं सामाजिक नोति-रीतियो के अध्ययन से हमे उनकी पूरी जानकारी मिलती है। अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिवद्ध स्वर होता है। मौखिक रूप में आज भी हमें गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तथा प्राकृत और अपभ्रंश मे लिखित कथाएँ, सूक्तियाँ, सुभाषित एवं अन्य उक्तियाँ गाँवो में प्रचलित सुनाई देती हैं। वस्तुत. युग-युगो से साहित्यिक तथा सामाजिक परम्परा परस्पर विचारो का विनिमय करती आयी है। इसलिए परम्परा में केवल इतिहास तथा पौराणिकता का लेखा-जोखा न हो कर लोक-जीवन में परिव्याप्त यथार्थ और आदर्श, रूप-कुरूप, नीति और उपदेश तथा वृत्ति एव रीति का भी समाहार हो जाता है।

प्राय जाति तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध विभिन्न धर्म-नीति एवं भाषा से रहा है। यदि पालि वौद्धो की भाषा ख्यात रही है तो प्राकृत जैनो की और सस्कृत पुरोहितो की। किन्तु कुछ वोलियाँ प्राग्वैदिक काल से जन-सामान्य की लोक-धारा में प्रवाहित एव प्रचलित रही हैं, जिनमें उस युग के शव्द-रूपो की बानगी आज भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मन, गौ, लाजा, रथ तथा दो, छह और सात आदि अन्तर्राष्ट्रीय भापाओ में प्रयुक्त शव्द हैं[1]। लोक भाषाओ में प्रचलित कुछ वैदिक शव्द इस प्रकार हैं—अजगर[2], भेडो, लाहा, रोट्[3] इत्यादि। कुछ भिन्न अर्थों में प्रयुक्त शव्द भी मिलते हैं[4] तथा कई विकसित रूप में[5]।

---

१ मन (श० १४।४।३।६), अवेस्ता, यस्न ६,२६ ।तथा मन (Man) के लिए देखिए—वेव्स्टर्स न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी, पृ० १४६१। गच्छतीति गौ (श० ६।१।२।३४), गोस शव्द के लिए देखिए, पेई द्वारा लिखित "द वर्ल्डस् चीफ लैंग्वेजेज"। दो, छह और सात शव्दों के लिए भी वही द्रष्टव्य है। "लाजैर्ज्जुहोति" (श० १३।२।१।५), देखिए, टर्नर की नेपाली डिक्शनरी। रथ (ऋ० ६।७५।६), लेटिन तथा आइरिश आदि भापाओं में भी मिलता है।

२ अजगरो नाम सर्प (ऋ० ५।४।२२), अजगर (अजिडर्), भेडो, लावा, लाहा।

३ रोट् और वेव् आदि शव्दों के लिए—टर्नर की नेपाली डिक्शनरी द्रष्टव्य है।

४ चरु, चमस् और देव-असुर आदि। चरु (ऋ० ७।६।५२), चमस (श० ४।२।१४)।

५ मेह, शूर्प(सूपा), उलूखल (उखलो, ओखली), मुसल (मूसल), दाति (दाता) आदि। शूर्प, उलूखल, मुसल शव्दों के लिए देखिए, श० १,१,४। मेह (निरुक्त २,६,४) "दातिर्लवनार्थे।" निरुक्त, २,१,४।

यही नही, गृधृ से गिधाना (ललचाना), लवन से लुनना, मुष् से मूसना तथा घुण्ट से घूँटना आदि क्रियाएँ वैदिक परम्परा को सुरक्षित बनाये हुए हैं। इसी प्रकार कुछ शब्दो में वैदिक रूपो के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—उपाध्याय का—पाध्ये (मराठी), वलीवर्द का वर्दा (बुन्देली, छत्तीसगढी); श्मसान (शवस्य शयनं इति श्मसानम्) का मसान आदि।

इस प्रकार परम्परा का यह स्रोत मूल धारा तक उसी प्रकार अक्षुण्ण दिखाई देता है जिस प्रकार गंगा का उत्स सागर-तट से ले कर हिमगिरि की उपत्यकाओं तक विविध रूपो मे प्रसरित होने पर भी एक रूप में लक्षित होता है।

भाषा, संस्कृति तथा इतिहास का इतिहास किसी न किसी रूप मे परस्पर सम्बद्ध हैं। सामाजिक रीति-पद्धति, भोजन-पान तथा पारिवारिक जीवन के विभिन्न अगो पर उनकी छाप स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव वैदिक मूर्धन्य 'ळ' का प्रयोग भले ही लौकिक संस्कृत मे न हो, पर महाराष्ट्र तथा दक्षिण के घरानों मे आज भी प्रचलित है। ऋग्वेद में 'पेरु' शब्द देवता अर्थ का वाचक है[1]। महाराष्ट्र और होशंगाबाद में जामफल को अब तक पेरु कहते हैं। बंगला में इसी का शब्द-रूप प्यारा और उडिया में पिचड़ू है। प्राचीन इजिप्ट के देवता सूर्य Ph-R̄a को भी पेरु कहा गया है[2]। सम्भवत. जिस प्रकार बेल पत्र, धतूरा तथा फूल और फलो को महादेव पर चढ़ाने का विधान है उसी प्रकार अन्य देवी-देवताओ पर किसी समय पेरुक (जामफल) चढाना विहित रहा हो। क्योकि अर्चा की विधि मे पत्र, पुष्प और फलो का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश में रहा है।

युग के युग पलट जाते हैं, पर भाषा और संस्कृति नही पलटती। परिवर्तनो के बीच भी उसका मूल रूप सुरक्षित रहता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि भाषा बोलियो से जो कुछ भी ग्रहण करती है उसे अपनी प्रकृति मे ढाल लेती है, अपनी प्रकृति का उन्हें अंग बना लेती है। इसलिए भाषा की प्रकृति में कोई विकार नही आता और बाह्य अंग-प्रत्यंगो मे विकास होता रहता है। किन्तु विभिन्न संस्कृतियो के संगम में जब भाषा त्रस्त हो जाती है तब उस के मूल रूप को ढूँढना असम्भव नही तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष में यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, मगोल आदि लोगो का निरन्तर आवागमन होता रहा है। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और भाषा से जहाँ वे अत्यन्त प्रभावित हुए

---

१ समीचीना सुदानव प्रीणन्ति त नरो हितमवमेहन्ति पेरव।—ऋग्वेद, ६,७४,४। नरो नेतार पेरव। पा रक्षणे। मापोरित्वे रुन्निति रुन्प्रत्यय। सर्वस्य रक्षका। इति तद्द भाष्ये सायण।

२ जी० रामिलन्सन द रिलीजन्स आव द एनशियेन्ट वर्ल्ड, पृ० २७। तथा—
"The Chief deity of the Lithuanians was Perkunas or perkuns, the god of thunder and lighting, whose resemblance to zeus and Jupiter has often been pointed out" Frazer The golden Bough, part I, Vol II, Page 365. See, same, Part—V, Vol. I page 233.

वही उनकी रीति-नीति तथा भाषा का भी प्रभाव इस देश पर पडा। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि उनकी भाषाओ के शब्द हमारी भाषाओ मे प्राप्त हो।

संस्कृत भाषा में कई शब्द विदेशी भाषाओ से गृहीत है। प्रत्येक भाषा की उधार लिये जाने वाले शब्दो की प्रक्रिया विशेष होती है। क्योकि कोई भी भाषा शब्दो को ज्यो का त्यो बहुत कम ग्रहण करती है। नये शब्दो की रचना तथा बाहरी शब्दो को अपनाने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। संस्कृत भाषा मे विदेशी शब्दो को ग्रहण करने के लिए सामान्यत: शब्द के आगे 'क' जोड दिया जाता है। यह 'क' स्वार्थिक प्रत्यय कहा जाता है। इस से अर्थ में कोई परिवर्तन नही होता। भाषा मे यह प्रवेश-द्वार के समान है। सस्कृत में अधिकाश देशी और विदेशी शब्दो मे स्वार्थिक प्रत्यय 'क' जुडा मिलता है। यथा—भण्टाक, होलक, कन्दुक, कावृक, तक्षक, वारक, पाटक, लासक, दर्दरक, फर्फरीक, तर्तरीक, खोलक, चीनक, तुरुष्क, घोटक, पुस्तक आदि। जन-जीवन की शब्दावली मे स्पष्टत: ऐसे रूप मिलते है जो शताब्दियो के इतिहास को सहेजे हुए हैं। भाषा का यह प्रवाह समूचे राष्ट्र के परिवर्तनशील युगो की गाथा है, जिसमे आर्य तथा आर्येतर संस्कृति की पूरी झलक प्रतिबिम्बित है। मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाएँ उसी की कडी मात्र हैं, जिनमें लोकतत्त्व विशेष रूप से समाया हुआ है।

भारतवर्ष से ले कर आयरलैण्ड तक के विविध देशो की विभिन्न भाषाएँ आर्य-भाषाएँ कही जाती हैं। आर्यभाषाओ की शब्द-सम्पत्ति तथा खत्ति, मितान्नि, खस और ईरानी आदि जातियो के इतिहास से पता लगता है कि आदि आर्यभूमि भारत से बाहर थी[1]। वैदिक युग के पूर्व ईरान और भारत एक थे। अवेस्ता तथा वेदो में समान रूप से यज्ञपरायण सस्कृति के दर्शन होते है। दोनो की भाषा में भी अत्यन्त साम्य है। अवेस्ता तीन भागो में निबद्ध है—यसन, विस्पेरेद और वेन्दीदाद। यसन में गाथा भाग सर्वप्राचीन है। गाथाएँ छन्दो में हैं[2]। अवेस्ता की भाषा में कुछ विशेषताएँ प्राकृतो की भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—सस्कृत अन्त्य अस् अवेस्ता मे प्राकृत की भाँति ओ देखा जाता है। यथा—अर्यस् (वै०), अइर्यो (अवे०)। अरुपस् (वै०), अउरुपो (अवे०) आदि। प्राकृतो में प्राय अन्त्य 'ओ' मिलता है। इस के उदाहरण है—भद्दो, पुत्तो, गुत्तो, सावओ, नाहो, देवो, चउत्थो, पचमो, छट्ठो, सत्तमो, तईओ, विईओ, पढमो, अरिट्ठो, कम्मो, जघो, घम्मो, दंतो, चदो, वलो, तिलओ, मल्लो, सीसो, जक्खो, महल्लो तथा कप्पो आदि। सामान्य रूप से प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है।

संस्कृत में एक साथ एक पद में दो स्वर प्रयुक्त नही होते। किन्तु अवेस्ता में

---

१ डॉ० हेमचन्द्र जोशी—आदि-आर्यो का मूल स्थान शीर्षक लेख, सरस्वती अक फरवरी १६५६, पृ० ८६।

२ जहाँगीर सोराब्रजी—'सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता' की भूमिका। कुछ शब्द हैं—ख्शथ्र (क्षत्र), गाथु (गातु) चिथ्र (चित्र), पुथ्र (पुत्र), बूमी (भूमि), दूर, चित्त, आयु आदि। देखिए, प० राजाराम+अवेस्ता का पोड्घात पृ० ५८।

व्यंजनो के सयोग की भाँति स्वरयोग की भी वहुलता है। अवेस्ता का स्वरयोग प्रवृत्ति, निवृत्ति, भक्ति, तथा त्राति के भेद से चार प्रकार का है[1]। प्राकृतो मे भी स्वर के वाद स्वर का प्रयोग वहुल है। यथा—पूइआ, इअ, पूअइ, नईए, घमिआ, पीआ, तओ, गलिआ, तईओ, एअस्स, तईए, नईओ, नमुई, भोइओ, भूमीए तथा पमाए इत्यादि। प्राकृतों में ही नही, यह प्रवृत्ति अपभ्रंश मे भी दिखाई देती है। जैसे कि—आइअ, ओइण्ण, उइइ, एउ, धारेइ, आलोइउ, कंखिरीए, देउ, भेउ, पालेइ, दइउ और उइन्न आदि। अपभ्रंश में प्रवृत्ति स्वरयोग की भाँति निवृत्ति स्वरयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। इसे वैयाकरणो की भाषा में सम्प्रसारण कहते हैं। इसमे 'य' को 'इ' तथा 'व' को 'उ' होता है। अवेस्ता मे गायम् को गाइम्, अभवन् को वाउन्, अब्रवम् को नाउमो और यवम् को यओम् हो जाता है। प्राकृत में इसके उदाहरण विरल हैं। अपभ्रग के अलाउ (अलावु) झुणि (ध्वनि), दइय (दयित), केयारउ (केकारव), देउल (देवकुल), तुरिउ (त्वरित), उत्ति–(उक्ति-वचन), पउत्ति (प्रोक्ति), पउत्ति (प्रवृत्ति), आदि में निवृत्तिस्वर योग स्पष्ट है। स्वर-परिवर्तन के विविध रूप तथा भक्तिस्वर योग भी प्राकृत-अपभ्रंश में दिखाई देता है। स्वरभक्ति वैदिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश में समान रूप से मिलती है, परन्तु संस्कृत-साहित्य की भाषा में उसके दर्शन नही होते। इसी प्रकार वेदो में तथा प्राकृतो में 'ऋ' के स्थान पर 'उ' लक्षित होता है। यथा—ऋतु, उउ। कृत, कुठ (ऋग्वेद)[2]। किन्तु वेदो में ऐसे प्रयोग विरल हैं। ऋ, ॡ और ल वेदो के विशेष स्वर हैं। जान पड़ता है कि इन स्वरो के स्थान पर अन्य स्वरों का प्रयोग सरलीकरण की प्रवृत्ति के अनुसार वोलियो से वेदो की भाषा में अपना लिया गया होगा। क्योकि अवेस्ता तथा वेदो मे मूर्धन्य ध्वनियाँ प्रधान है। वैदिक और प्राकृत भाषा में कुछ ऐसी समान वातें मिलती हैं, जो लौकिक सस्कृत में प्राप्त नही होती। श्री वी० जे० चोकसी ने दोनो मे जिन समान प्रवृत्तियो का निर्देश किया है वे इस प्रकार हैं—

१. वैदिक और प्राकृत में सन्धि के नियम शिथिल है, पर संस्कृत मे नही हैं। यथा—भार्या–भारिया, क्लिष्ट–किलिट्ठ। स्वरभक्ति भी समान है।

२ विभक्तियो में भी सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आस (देवास) प्राकृत में आहो (पुत्ताहो) तथा आये, आए हो जाता है। इसी प्रकार 'एभि' एंहि के रूप में मिलता है।

३. प्राकृत के कुछ शब्दो का सीधा सम्बन्ध वैदिक शब्दावली से है। उदाहरण के लिए पासो (वै० पश्), तात्, यात् तथा एत्थ (वै० इत्था) शब्दो को गिनाया जा सकता है, जिनका शास्त्रीय संस्कृत से कोई सम्बन्ध नही हैं।

---

१ वही, भूमिका।

२ वी० जे० चोकसी—कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर पृ० ७।

४. प्राकृत और वैदिक संस्कृत मे ऋ को उ हो जाता है। उउ (ऋतु), कुठ (वै०)।

५. सयुक्त व्यजनो मे दो मे से एक का लोप कर ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते हैं। यथा—दूलभ, दूलह। ऋग्वेद में भी ये मिलते है।

६. अन्त्य के दो व्यंजनो में से अन्तिम का लोप हो जाता है। उदाहरण हैं—तावत्-ताव, यशस्,जश। वैदिक पश्चात्–पश्चा, उच्चात्-उच्चा, नीचात्–नीचा।

७. सयुक्त र् या य् का लोप हो जाता है। जैसे—प्रगल्भ-पगब्भ, श्यामा-शामा, वैदिक अप्रगल्भ-अपगल्भ।

८. जव स्वर किसी व्यंजन के साथ संयुक्त हो और यदि वह दीर्घ हो तो ह्रस्व हो जाता है। यथा—पात्र-पत्त, रात्रि-रत्त, चूर्ण-चुण्ण।
वैदिक अमात्र-अमत्त।

९ दोनो मे द् को ड् हो जाता है। जैसे कि—दण्ड-डन्ड, दस-डंस। वैदिक पुरोदास–पुरोडाश।

१०. दोनो में ध् को ह् हो जाता है। यथा-वधिर-वहिर। प्रतिसंहाय (वै०)

११ कर्त्ता कारक एकवचन सज्ञा शब्दो में अन्त्य अ को ओ हो जाता है। जैसे—देवो, जिणो। वैदिक संवत्सरो, सो।

१२. दोनो मे ही तृतीया कारक वहुवचन में हि और भि विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा—देवेहि, देवेभि (वै०)।

१३ दोनो में ही षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के लिए होता है।

१४ दोनो मे ही पचमी विभक्ति का अन्त्य त् लुप्त दिखाई देता है। यथा—देवा-देवात्, जिणा-जिणात्, वैदिक उच्चा-उच्चात्, नीचा, पश्चा।

१५. दोनो मे ही द्विवचन नही है। जैसे कि—रामलक्खणा (प्रा०)। वैदिक इन्द्रावरुणा (इन्द्रवरुणौ)। दो, दुवे, वे (प्रा०)।

इस अध्ययन से चोकसी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राकृत का निकास शास्त्रीय सस्कृत से न हो कर वैदिक सस्कृत से हुआ है तथा भारतीय वैयाकरण इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।[1] अवेस्ता के गाथिक भाग, ऋग्वेद तथा प्राकृतो के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूल स्रोत एक ही है। पालि और शिला-लेखो की भाषा तथा वेदो की भाषा में अत्यन्त साम्य है। इन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ अवेस्ता की भाषा तथा प्राकृतो में प्रथमान्त एकवचन में ओ विभक्ति मिलती है। यथा—यो, नो (य० अवे०), सूनो, द्रुज़म्नो, दुज़िम्नो, हमो, हामो (अवे०) आदि। पालि में भी पुं०-नपुं० लिंग अकारान्त शब्दो के कर्त्ता कारक एकवचन में ओ होता है। मागधी में इसे ए तथा लगभग सभी प्राकृतो में आ पाया

१. वही, पृ० ८।

जाता है। प्राकृत की प्रवृत्ति ही ओकारान्त कही जाती है। लाड़ी और कच्छी सिन्धी मे तथा पुरानी राजस्थानी में भी कुछ अकारान्त संज्ञा शब्द ओकारान्त मिलते हैं। यथा—अथाणो, दादो, मथो, घोडो, राभो, गोविन्दो, किशिनो, जो, सो (सिन्धी) इत्यादि। हाथो, आखो, नेहो, ऊतर्‌यौ, ओ, दीहड़ो, आजूणो, तो, दूहो, कपडो तथा मेवाडो (प्रा० राज०) आदि।

२. अशोक की प्राकृत और पालि के मूल अंशो में ऋ तथा लृ स्वर नहीं मिलते। विद्वानो की मान्यता है कि उन मे ऐ, औ, अय, अव, ए, ओ, अन्त्य व्यजन और विसर्गो का लोप है। घोषभाव की प्रक्रिया का पता यही से मिलने लगता है। अवेस्ता में भी कही-कही 'ऋ' के स्थान पर 'र' दिखाई देता है। यथा—रतूम्, गरमम् (घर्मम्), दरगम् (दीर्घम्)। किन्तु इस का कारण स्वरभक्ति कहा जा सकता है। स्वरभक्ति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी पायी जाती है।

३. अवेस्ता की भाषा एक हो कर भी प्रान्तीय भेदो से भिन्न है। शिलालेखो की भाषा पश्चिमी ईरानी कही जाती है, जिसे पुरानी फारसी कहते हैं। उस से पहलवी तथा पहलवी से वर्तमान फारसी का विकास हुआ है।[1] प्राकृत भाषा भी प्रादेशिक भेदो से कई प्रकार की कही गयी है।

४. अवेस्ता और प्राकृत—साहित्य का प्रारम्भिक भाग गाथा में निवद्ध है।[2] गाथा प्राकृत का औरस छन्द माना जाता है। सामान्यतः गाथा शब्द से प्राकृत का वोध होता है। जैनो के सर्व प्राचीन ग्रन्थ गाथावद्ध है।

५. वैदिक की भाँति पालि और प्राकृत में भी द को ड हो जाता है। यथा—पुरोडास (वै०), डहं (दहन्), डंस (प्राकृत)। अपभ्रश में भी यही प्रवृत्ति मिलती है—डहइ, खुडिय, डोलइ, डुक्कर आदि। सिन्धी मे भी यह है।

६ प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ मे स्वरावस्थान तथा सम्प्रसारण अवेस्ता, वैदिक, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी प्राप्त होता है।

७ अवेस्ता मे तीनो लिंगो के लिए सामान्ये नपुंसकम्[3] का प्रयोग है। वैदिक भाषा मे लिंग एवं कारकों का व्यत्यय कहा जाता है। प्राकृत तथा पालि में भी नपुंसक लिंग का सामान्य प्रयोग और विभक्तियो का विनिमय देखा जाता है। षष्ठी विभक्ति वैदिक, सस्कृत और प्राकृत में ही नही अपभ्रंश में भी व्यापक रही है। षष्ठी के एकव० में चतुर्थी के एकव० का हो जाना सामान्य प्रवृत्ति थी। वैदिक में भी इसके प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रश में लिंग की अत्यन्त अव्यवस्था है। अवेस्ता की भाँति इसमें किसी भी लिंग के लिए नपुंसक लिंग का हो जाना साधारण वात है।

८. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे द्विवचन नही है।

---

१ जहाँगीर सोरावजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता की भूमिका।

२ ता वाओ रान्ता मइन्यू मज्दा अहुरा। गाथा ३,१,६।

३. जहाँगीर सोरावजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता भूमिका।

९ वैदिक और संस्कृत सन्धिबहुल हैं[1], पर प्राकृत और अपभ्रंश में यह वात नही है।

१०. पश्चिमी पालि में ष का लोप मिलता है और पूर्वी में श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार। मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी पूर्वी अपभ्रश की भांति श का प्रयोग व्यापक है।[2]

इस अध्ययन से कई वातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि वैदिक और अवेस्ता की भाषा में अत्यन्त साम्य है तथा उसकी कुछ विशेषताएँ पालि और प्राकृत में ही नही अपभ्रश में भी मिलती है। दूसरी यह है कि कुछ वैदिक शब्द-रूप तथा प्रयोग प्राकृतो में सामान्य है, जिनसे पता लगता है कि वेदो मे उनका व्यवहार वोलियो से हुआ होगा। तीसरी यह कि अवेस्ता और प्राकृतो की सामान्य प्रवृत्ति ओकारान्त (देओ-देवो) है, जो वेदो की भापा में नही है। इसी प्रकार यस्न भाग तथा प्राकृत-अपभ्रंश में ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग है, पर वेदो में नहीं है।[3] चौथी अवेस्ता तथा प्राकृत-अपभ्रश में स्वर के पश्चात् स्वर का व्यवहार एक ही पद में होता है, किन्तु वैदिक तथा संस्कृत में स्वर के पश्चात् स्वर प्रयुक्त नही होता। पाँचवी, स्वरयोग के विविध रूप इन परवर्ती भाषाओ मे विशेष हैं, जो वेदो की भापा में नही है। 'य' श्रुति भी इनमे मिलती है। इन सव वातो से यह पता लगता है कि वेदो की भापा से प्राकृत वोलचाल की भापा के अधिक निकट रही है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि वेदो में तथा संस्कृत में जो वैकल्पिक रूप मिलते हैं वे प्राय वोलियो के हैं। महर्षि पाणिनि और पतजलि के निर्देशो से भी इसी वात की पुष्टि होती है।[4]

आर्य भाषा

भाषावैज्ञानिको ने आर्य भापा का सम्वन्ध विरोस् (WIROS) से या इयु प्रजा से वताया है। किसी समय इस प्रजा ने एशिया का परिभ्रमण किया होगा और तभी विभिन्न जातियो के सम्पर्क से भाषागत विविध परिवर्तन सम्भव हुए होगे। जो भी हो, एक ओर आर्य भाषा का सम्वन्ध भारोपीय कुल से है और दूसरी ओर ईरानी कुल से। आर्य प्रजाएँ अवश्य ही किसी समय युरॅप से ले कर भारतवर्ष के मध्य प्रदेश तक फैली होगी। आर्य यज्ञमूलक सस्कृति के पुरस्कर्त्ता थे। ईरानी और आर्यों के देवता,

---

१ सन्धि सस्कृतवहुलम्। प्राकृतानुशासन—पुरुषोत्तमदेव, ३६।

२ पसो' श,। प्राकृतानुशासन-पुरुषोत्तमदेव २०, ३।
तथा रसयोर्लशौ मागधिकायाम्। इति नमि साधु'।

३ न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार। सिद्धहेमशब्दानुशासन।
नेव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। महाभाष्य, १ आ, १ पा०, २ आ०।
नेव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ सवृतौ स्त। वही, १, १, १।

४ जराया जरसन्यतरस्यां (भाषायाम्)। ७।२।१०१। तथा-विभाषा तृतीयादिष्वचि, पाणिनि व्याकरण, ७।१।९७। 'विभाषा वृक्षमृगादीनाम्', १,२,६। दीपादीनां विभाषा महाभाष्य, १ अ० १ पा० ६ आ०, पृ० ३३८-३६। महाभाष्य।

संस्कृति, उपासना, संस्कार तथा सभ्यता मे अत्यन्त समता है। अवेस्ता मे मित्र और वरुण के अतिरिक्त नासत्या, विवस्वत्, यम तथा वृत्रहन् आदि का उल्लेख मिलता है। इन देवताओ के नाम वोगाज़कोई अर्थात् वर्तमान अंकारा के पास मिलते है।[1] इसीलिए प्राथमिक युग की भारतीय आर्य भाषा को प्राचीन भारत-ईरानी (Old Indo-Aryan) या आदिम भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है। आर्यन् शब्द पुरानी फारसी मे एर्यन् मिलता है। इस से स्पष्ट है कि भारत के तथा ईरान के आर्य किसी समय उत्तर की ओर एक ही स्थान पर रहे होगे। स्थान-परिवर्तन तथा भौगोलिक भिन्नता के कारण धीरे-धीरे उन की भाषा में बहुविध परिवर्तन होते गये, और आज उन की शाखाओ मे आश्चर्यजनक भेद दिखाई देता है। आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद और पारसियो का अवेस्ता है। वेदो की अपेक्षा अवेस्ता की भाषा मे बोलियो की झलक स्पष्ट है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ का विकास हुआ उसी प्रकार अवेस्ता की भाषा से पुरानी फारसी, पह्लवी तथा वर्तमान फारसी का विकास हुआ। आधुनिक फारसी पर अवश्य अरबी का अधिक प्रभाव कहा जाता है।

अनुमान है कि २००० से १५०० ई० पू० के लगभग आर्यों के दल उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से भारत मे प्रविष्ट होने लगे थे। सर्वप्रथम वे सप्तसिन्धु प्रदेश मे विस्थापित हुए होगे। पश्चात् पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैले होगे। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व यहाँ द्रविड, कोल, मुण्डा आदि आर्येतर प्रजाएँ रहती थी। किन्तु यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ के भारत में आने के समय तक आर्य संस्कृति दक्षिण तक फैल चुकी थी। आर्यो के भारत-विजय के मुख्य तीन कारण थे—सुविकसित भाषा, अश्व और यज्ञपरायण संस्कृति।

प्रथम भूमिका—आर्य लोग आर्येतर प्रजाओ पर धीरे-धीरे जिस प्रकार अपना प्रभाव डालते रहे, उसी प्रकार प्रभाव रूपमें समय-समय पर कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करते रहे। आर्य, द्रविड और आस्ट्रिक परिवारो की लगभग सभी भाषाओ में मूर्धन्य वर्ण मिलते है, जिसे द्रविड प्रभाव कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दो को दोहरा कर बोलने की प्रवृत्ति आस्ट्रिक प्रभाव को सूचित करती है। भारत में केवल आर्य ही नहीं अन्य जातियो के आने के भी प्रमाण मिलते है। उत्तरी बंगाल, आसाम, और पूर्वी बंगाल की खासी जातियों से सम्बद्ध मोन तथा ख्मेर जातियो का आर्य होना यही सूचित करता है।[2] कई मिश्रित जातियाँ इस देश मे वर्षो से रही है। इन का सकेत हमे पुराणो में भी मिलता है। बर्बर, म्लेच्छ, असुर, नाग तथा शबर आदि के स्पष्ट उल्लेख मिलते है। दसवी शताब्दी के पूर्व बगाल में बोड़ो जाति की एक शाखा कम्बोजी ने कुछ समय के लिए उत्तरी बगाल पर आधिपत्य स्थापित किया था। उस के पहले ही तिब्बत-चीनी की

---

१. डॉ० जोशी—आदि-आर्यो का मूलस्थान, सरस्वती, पृ० ६०।
२ शिवशेखर मिश्र भारतीय सस्कृति में आर्येतरांश प्रथम सस्करण, पृ० २७।

तिब्बत-बर्मी शाखा का बोडो समुदाय (बोडो, मेच, कोच, कछारी, राभा, गारो, तिपुरा) आसाम तथा पूर्वी बंगाल में बसता हुआ समूचे पूर्वी और उत्तरी बंगाल मे फैल गया था[1]। विभिन्न तथा विविध जातियो के संगम के ही परिणामस्वरूप यहाँ की भाषाओ मे वैविध्य लक्षित होता है। स्वाभाविक परिवर्तन के साथ भाषा मे शताब्दियो तक विशेष बदलाव नही होता। यद्यपि आर्यों के विकास क्षेत्र में अनेको प्राकृतिक तथा मानवीय बाधाएँ पहाडो की भाँति सामने अडती रही और भाषा में भी परिवर्तन-विवर्तन होते रहे, किन्तु उन की भाषा का अविच्छिन्न रूप सहस्राब्दियो के पश्चात् भी वैदिक साहित्य में सुरक्षित है।

भाषाविषयक इतिहास की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। पहली अवस्था में आर्य भाषा का इस देश में प्रसार हुआ और आर्येतर भाषाओ का सघर्ष। धीरे-धीरे उस की जड रुप गयी तथा उस मे साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ सक्रान्ति काल का उत्तरवर्ती साहित्य है। इसी लिए उस पर आर्येतर प्रभाव भी लक्षित होता है। विजातीय बोलियो से भी वह अछूता नही है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते है कि आर्य भाषा के यथार्थ स्वरूप का पता वेदो से नही लगता[2]। जो भी हो, ब्राह्मण ग्रन्थो में तात्कालिक भाषा सम्बन्धी कुछ निर्देश मिलते है। प्रतीत होता है कि आर्य भाषा मुख्यत तीन विभेदो में विभक्त थी। (१) उदीच्य या उत्तरीय (या पश्चिमोत्तरीय), (२) मध्यदेशीय या बीच के देश की, तथा (३) प्राच्य या पूरब की भाषा। अवेस्ता से ही 'ल' का 'र' मिलने लगता है। भारोपीय 'ल' भी ईरानियन में 'र' ही होता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर में यह व्यवस्था चालू रही है। क्योकि ऋग्वेद की अधिकाश रचना भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में हुई और इसलिए उस प्रदेश की बोलियो का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक ही था। भारत की पूर्व की बोलियो में तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था। 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद में आ गये है[4]। भारत के पूर्वी प्रदेशो में आज भी 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का व्यवहार प्रचलित है। यही नही, पिछले सहस्र वर्षों से मगध में 'स' और 'ष' के स्थान पर 'श' का व्यवहार बना हुआ है[5]। किन्तु शूरसेन (मथुरा तथा निकटवर्ती) प्रदेश में 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' का चलन है[6]। जान पडता है कि उच्चारण-भेद के कारण बोलियो के पूरबी और पच्छिमी भेद अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। कौषीतकि ब्राह्मण तथा महाभाष्य के

---

१ शिवशेखर मिश्र भारतीय सस्कृति में आर्येतरांश, प्रथम सस्करण, पृ० २७।
२ डॉ० प्रबोध वेचरदास पण्डित प्राकृत भाषा, १९५४, पृ० १४।
३ डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६१।
४ डॉ० प्रबोध वेचरदास पण्डित प्राकृत भाषा, पृ० १४।
५ सर्वत्र सषो श । ष प्रकृत्या क्वचित ।—प्राकृतशब्दानुशासन पुरुषोत्तमदेव।
६. शषो स । वही, ४७ ३ २।

निर्देशो से यही पता मिलता है[१]। यास्क के निरुक्त से भी इस बात की पुष्टि होती है।[२]

संक्षेप में, वेदो से ब्राह्मण काल तक सास्कृतिक स्पर्धा मे आर्य जाति पूर्णतया विजेता रही। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपनी भाषा का प्रसार देश के कोने-कोने तक करती। भाषा और संस्कृति के सघर्ष की यह प्रथम भूमिका भाषाशास्त्र मे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की पहली भूमिका कही जाती है। आर्य प्रजा के सम्पर्क में आने के कारण आर्येतर सस्कृति तथा भाषाओ मे बहुविध परिवर्तन हुए। विकास की इस धारा में आर्य-साहित्य की रचना हुई तथा यज्ञ-याग का प्रचार हुआ। साहित्य विप्रो की शिष्टता से अनुरजित था इसलिए बोलियो को महत्त्व नही मिला; किन्तु प्रतीत होता है कि आर्यों मे भी दो भेद हो गये थे। पहला समूह अहिंसामूलक यज्ञसंस्कृतिका पोषक था और दूसरा बाह्य पाषण्डो से पूर्ण। प्रथम लोकभाषा और आचार का समर्थक था तथा दूसरा उन के विपरीत शिष्ट भाषा और संस्कारो को महत्त्व देता था। पहला उदार था और दूसरा जातीय पक्षपात तथा सकीर्णता से लिप्त। वर्ण-भेद के कारण तथा स्थान और काल-भेद से भी अनेक प्राकृओ की सम्भावना बढ़ती गयी। धीरे-धीरे जातीय दृष्टिकोण और भी संकुचित होते गये। यद्यपि प्राकृत का साहित्य भी जन-बोलियो से ऊपर उठ कर लिखा गया है लेकिन बोलियाँ उस मे से झाँकती हुई स्पष्ट लक्षित होती हैं। और सच बात तो यह है कि ऋग्वेद की परवर्ती भाषा में भी अन्य बोलियो के रूप एक साथ दिखाई देते है। प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओ के बीच आदान-प्रदान जारी था। अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थी और उन की शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उस के बाद तक बहुत प्रबल थी। भारतीय आर्य भाषाओ के ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मसम्बन्धी साहित्य पर उन का प्रभाव दृष्टिगोचर है[3]। इस प्रकार प्रथम भूमिका में उत्तर-मध्य में विस्थापित आर्यो के सांस्कृतिक केन्द्रो की भाषा शिष्ट जनो की भाषा रही होगी। महर्षि पाणिनि ने अपना व्याकरण इसी शिष्ट भाषा को ध्यान में रख कर लिखा है। सम्भवत अन्य बोलियाँ उस समय मध्य देश से बाहर थी, पर वे स्वाभाविक रीति से अ'ना विकास करती रही।

द्वितीय भूमिका—इस अवस्था में पहुँच कर आर्य भाषा विभिन्न रूपो में स्थान तथा काल के अनुसार नाना जनपदो में विकसित हुई। यद्यपि आर्यों के आने के पूर्व नागरिक संस्कृति का उन्मेष आर्येतर प्रजाओ में हो चुका था[४], किन्तु भाषा और संस्कृति का वास्तविक अभ्युदय मध्य युग में हुआ। यदि यह सत्य है कि द्वितीय भूमिका में अपना साहित्यिक आसन ग्रहण करने वाली भाषाओ पर सस्कृत (वैदिक)

---

१ तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञतरा वाग् उ विद्यते, उद च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।—कौषीतकि ब्राह्मण ७–६।

२ निरुक्त १ अ०, २ पा०, ४ ख०, पृ० ४८–४६। तथा—वही '२,६,४।

३ डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ऋतम्भरा, पृ० १०३।

४ वही, पृ० १७६।

का गहरा प्रभाव पडा है तो यह भी यथार्थता से परे नही है कि जनबोलियो का विशेष विकास इसी भूमिका में हुआ है। जैन और बौद्धो ने ई० पू० पाँचवी शताब्दी के लगभग देशी भाषा को विशेष रूप से अपनाया और उस के पश्चात् ही भारतीय भाषाओ की विकासधारा का नया प्रवाह आरम्भ होता है[1]। विकास की दृष्टि से इस भूमिका के तीन रूप माने जा सकते हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रश।

विद्वानो की मान्यता है कि प्राकृत विकासधारा के प्रवाह में से उठ खडी हुई एक अवस्था विशेष है, जिस ने समूचे मध्य युग पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। दूसरे शब्दो में हम प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओ के मध्य की भाषाविषयक अत्यन्त आवश्यक ऐतिहासिक भूमिका को प्राकृत नाम दे सकते हैं।

प्राकृत साहित्य के मुख्य दो अग हैं—बौद्ध साहित्य और जैन आगम साहित्य। पालि साहित्य जिस भाषा मे लिखित उपलब्ध है उस में पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओ का अत्यधिक मिश्रण है। धार्मिक तत्त्व विशेष से अनुरजित तथा उसी प्रकार की शैली में लिखित होने के कारण उस भाषा को बोलियो की स्थान और काल-भेद के आधार पर रूप-रेखा खींचना टेढी खीर है।

प्राकृत का दूसरा अग जैन आगम है। तीर्थंकर महावीर का जन्म मगध में हुआ था। उन का बचपन तथा कुछ यौवन काल भी वही बीता था। परन्तु उन की वाणी का संकलन लगभग एक सहस्र वर्षों के पश्चात् हो सका। इस लिए जिस अर्द्ध मागधी भाषा में उन के प्रवचन हुए उस का साहित्य पालि साहित्य से भी अर्वाचीन है। अतएव भाषाविकास के इतिहास को समझने के लिए उस से विशेष जानकारी नही मिलती। फिर भी, पालि से उस का महत्त्व विशेष आँका जाता है जो उचित है। क्योकि अर्द्धमागधी का आधार पूर्वी क्षेत्र है और पालि का मध्यदेश। जैन प्राकृत साहित्य सीमित सीमाओ मे रहने के कारण अधिक सुरक्षित रहा है, किन्तु पालि साहित्य अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा उज्जैन में लिखाया गया कहा जाता है। प्राकृत का तीसरा महत्त्व अशोक के शिलालेखो में है। अशोक के शिलालेखो (ई० पू० २७० से २५० ई० पू०) को हम भारत का सर्वप्रथम भाषा-सर्वेक्षण कह सकते हैं। ये लेख चार प्रकार के हैं—उत्तरपश्चिमी, गिरनारी, दक्खिनी तथा गगा-जमुना के प्रदेशो से लगा कर महानदी तक के। यद्यपि इन लेखों की भाषा राजभाषा कही जाती है, लेकिन इन को ध्यान से देखने पर पता लगता है कि इन में प्रादेशिक बोलियो का भी समावेश है। इनमें उत्तर पश्चिम की शिलालेखो की भाषाएँ धम्मपद की उस भाषा से मिलती-जुलती हैं जो ई० पू० दूसरी शताब्दी में गोश्रृग की गुफा मे एक फ्रान्सीसी यात्री को प्राप्त हुई थी। गिरनार के लेखो की भाषा साहित्यिक पालि से प्रभावित है तथा गंगा-जमुना से लेकर महानदी पर्यन्त लेखो की भाषा को नाटको मे

---

१ डॉ० पण्डित प्राकृत भाषा, पृ० १९

प्रयुक्त मागधी से प्रभावित कहा जाता है। दक्खिनी लेखो की भाषा अर्द्धमागधी से प्रभावित मानी जाती हैं। इस प्रकार इन समूचे लेखो की भाषा मिश्रित जान पडती हैं। प्राकृतो का चौथा रूप भारत के वाहर का है। भारत के वाहर मिलने वाले प्राकृतो के लेख भाषा की विशेष अवस्था के सूचक हैं। उन मे चीनी और तुर्किस्तान से प्राप्त खतपत्र तथा उल्लिखित धम्मपद कहे जाते हैं, जो खोटन (कुस्तान) के सीमान्त प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। उन में लिखित भाषा निय प्राकृत कहलाती है। निय प्राकृत भाषा की विकसित परम्परा की सूचक हैं। प्राकृतो का परवर्ती रूप हमें निय प्राकृत में परिलक्षित होता है। क्योकि उस की बहुत-सी वातें अपभ्रश से सादृश्य लिये हुए हैं। इस से अनुमान हैं कि जो विकास आर्यभाषा का दूसरी-तीसरी शताब्दी में भारत से वाहर हुआ था लगभग वैसा ही अपभ्रश-काल में भारतवर्ष में हुआ था। उन का अपना स्वरूप तथा व्याकरणिक ढाँचा समान होते हुए भी कई वातो मे भिन्न हैं। निय प्राकृत का ध्वनि-स्वरूप प्राचीन है, पर रूप-तत्त्वो मे अन्तर है। विकास की पूरी अवस्था उस में दृष्टिगोचर होती है। अतएव वह अपभ्रंश से भिन्न है।

प्राकृत की पहली भूमिका में ऋ, लृ, ऐ और औ का लोप है। संयुक्त व्यंजनो में सावर्ण्य भाव मिलता है। तथा मध्यग स्पर्श व्यंजनो का घोष भाव इसी अवस्था में आरम्भ हो गया था। दूसरी भूमिका मे पहली भूमिका की वातें ज्यो की त्यो हैं, पर घोष भाव का घर्ष भाव होने लगा था। निय प्राकृत में यह स्पष्ट है। विभक्तियो का विनिमय भी उस में प्राप्त होता है। नाटकों, व्याकरणो तथा साहित्य की प्राकृतो में वोलियो से समन्वित जो रूप मिलता है उसे हम साहित्यिक प्राकृत के नाम से जानते हैं। वैयाकरणो ने इस प्राकृत को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। आदर्श प्राकृत महाराष्ट्री मानी गयी है। वैयाकरणो और आलकारिको की दृष्टि में यह उत्कृष्ट प्राकृत है।[1] प्रमुख प्रवन्ध तथा गीति काव्य इसी प्राकृत में निवद्ध है। साहित्यिक प्राकृतें परम्परागत है। वे रूढियो से अत्यन्त ग्रस्त एव त्रस्त हैं। क्योकि संस्कृत के आदर्श मानो पर उन की रचना हुई है। इसी लिए कई विद्वान् प्राकृतो को कृत्रिम कहते हैं और संस्कृत को इस का मूल वताते हैं। इस के प्रमाण में मार्कण्डेय, चण्ड तथा हेमचन्द्र आदि की "प्रकृति संस्कृतम्" वाली उक्ति उद्धृत की जाती है।[2] किन्तु इस का अर्थ

---

१ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृत विदु ।—दण्डी काव्यादर्श, १, ३४।

२ प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भव प्राकृतम् उच्यते।—मार्कण्डेय प्राकृतसर्वस्व, १,१। प्रकृते सस्कृताद् आगत प्राकृतम् ।—वाग्भटालकार की सिहदेवगणिन् कृत टीका, २,२, । प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृति सस्कृतम्।—धनिक दशरूपक की टीका, २,६०। प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भवत्वाव् प्राकृत स्मृतम्।—प्राकृतचन्द्रिका, पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट से। प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता।—नरसिंह प्राकृतशब्दप्रदीपिका। प्रकृति सस्कृतम् । तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम्।—हेमचन्द्र सिद्धहेमशब्दानुशासन, १,१। प्राकृतस्य तु सर्वम् एव सस्कृत योनि ।—कर्पूरमजरी, वासुदेव कृत सजीविनी टीका। सिद्धं प्राकृतं त्रेधा। सिद्धं प्रसिद्ध प्राकृत त्रेधा भवति। सस्कृत योनि । तच्चेद—मात्रा, मत्ता। नित्य, णिच्च इत्यादि।—चण्ड , प्राकृतप्रकाश, सटिप्पण हस्तलिखित ग्रन्थ से।

यही है कि जिस प्रकार ग्रीक के आदर्शमान (माडल) पर लेटिन का व्याकरण लिखा गया ठीक उसी प्रकार संस्कृत के आदर्श पर प्राकृतो का व्याकरण रचा गया। अपभ्रंश व्याकरण का भी आदर्श संस्कृत व्याकरण रहा है। परन्तु प्राकृत भाषाओ की जडें जनता की वोलियो के भीतर जमी हुई हैं, और इन के मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और वोली जाने वाली भाषा से लिये गये है। किन्तु वोलचाल को भाषाएँ, जो वाद में साहित्यिक भाषाओ के पद पर चढ गयी, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गयी, ताकि उन का एक सुगठित रूप वन जाये।[1]

इस प्रकार साहित्य तथा वोलचाल की प्राकृतो मे अन्तर रहा है। जो प्राकृतें सस्कृत के प्रभाव से दूर रही हैं वे अधिक विकासशील थी। भारत के वाहर की प्राकृतो में मुख्य वात यही है।

तृतीय भूमिका—प्राकृत को यह तीसरी भूमिका कही जाती है, जिस में साहित्य की, नाटक की और व्याकरण की प्राकृतो की रचना हुई। इस अवस्था में आ कर घर्ष भाव लुप्त होने लगा और मूर्वन्य स्वर-व्यंजनो का व्यवहार बढने लगा। इसी को महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं। यद्यपि उन मे वोलियो के भी कुछ रूप मिलते हैं, पर उन का स्वरूप स्पष्ट नही है। उन में विशेष रूप से मध्यग व्यजनो का लोप दिखाई देता है। वस्तुत इसे दूसरी भूमिका की ही एक अवस्था समझनी चाहिए। क्योकि अश्वघोष के नाटको से विशेष परिवर्तन इस भूमिका में नही देखा जाता। विशेषता यही है कि यह लोक-भूमि से वहुत कुछ हट कर चली है। और संस्कृत की लोक पर ही इस का विकास हुआ है।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृतो में सब से अधिक विकसित एव मौलिक रूप निय प्राकृतो का है जो अपभ्रश के निकट है। इस का समय ई० की प्रथम शताब्दी कूता गया है। मौलिक यह इस रूप में है कि इस का साहित्य हमें भारत के वाहर मिलता है, और सस्कृत का जो प्रभाव भारत की प्राकृतो पर है वह इस पर नही है। फिर, प्राकृतो का विकास वोलचाल की भाषाओ के मेल-मिलाप से न हो कर शिष्टो की पद्धति पर हुआ है। यद्यपि वोलियो का प्रभाव उन पर पडा है, पर प्राकृत के लेखक संस्कृत की परिपाटी पर चले हैं। अतएव जन-जीवन और साहित्य की भाषा में अन्तर सदा से वना रहा। इस का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतो के प्रारम्भिक काल में ही सस्कृत का उदय और विकास काल उन्नतिशील था, जिस से प्राकृतों का विकास रुक गया। समय के अनुकूल सस्कृत में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। इस काल के कई साहित्यिक रूप ऐसे है जो ऊपर से संस्कृत दिखाई देते है, पर जिन के नीचे प्राकृत का वहता हुआ पानी प्रतीत होता है। सस्कृत के ही नही, प्राकृत के वैयाकरणो ने भी इस का विचार सस्कृत व्याकरण के आधार पर किया है। उन्होने

---

१ रिचर्ड पिशल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ० १४।

भाषावैज्ञानिक नियमो (ध्वनि, रूप, वाक्य आदि) के आधार पर प्राकृत का विश्लेषण नही किया। उन का आदर्श शास्त्रीय सस्कृत ही रही है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ का व्याकरण सस्कृत को आधार मान कर लिखा गया है।

अन्तिम प्राकृत—सस्कृत के अधिकाश वैयाकरण सस्कृत से इतर शब्दो को अपशब्द तथा भाषा को अपभ्रश कहते है। इस लिए भारतीय विद्वानो का विश्वास है कि प्राकृत संस्कृत का अपभ्रष्ट रूप है। किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विवेचन मे हम ऊपर विचार कर चुके है कि आर्यो की बोलचाल की भाषा ही परवर्ती काल में प्राकृत नाम-रूप से ख्यात रही है। अतएव प्राकृत का जन्म सस्कृत से न हो कर आर्यो की जन सामान्य बोली से हुआ है।[१] आर्ष प्राकृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ठ ये सभी एक ही विकास धारा की विभिन्न कडियाँ है, जिन में भारतीय समाज, संस्कृति और लोक परम्परा की विविध मान्यताओ के साथ ही भाषा तथा विचारो का समग्र इतिहास लिपिबद्ध है। प्राकृत केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय (पालि के रूप मे) की भाषा नही थी वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चाण्डाल आदि से ले कर राजदरबार और रनिवासो तक में यह भाषा बोली जाती थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अव्युत्पन्न (अनगढ़, ग्राम्य) जन भाषा कहा है।[२] आ० भरतमुनि के नाटच शास्त्र में प्रयुक्त मुख्य भाषाएँ चार कही गयी है—[३] संस्कृत, प्राकृत, अतिभाषा और आर्यभाषा तथा जातिभाषा। प्राकृत भाषाएँ सात प्रकार की कही गयी हैं।[४] स्पष्ट ही नाटच लोक की वस्तु होने के कारण लेखको को प्राकृत तथा जन-बोलियो को स्थान देना पड़ा।

प्राकृत अपनी अन्तिम भूमिका में पुन लोक संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है। शब्दरूप और क्रियाओ में ही नही, रूपतत्त्वो में भी भेद लक्षित होता है। इस भूमिका में भाषा शिष्टो से हट कर विकसित हुई है। इस पर देशी पानी अधिक चढा हुआ है। यही कारण है कि संस्कृत (छन्दस्), पालि और प्राकृत जितनी एक दूसरे के निकट हैं उतनी अपभ्रंश नही है।

अपभ्रश प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ की अन्तिम भूमिका का नाम है। कुछ विद्वान् प्राकृतो की अन्तिम अवस्था को अपभ्रंश नाम देते है। इसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को ही अपभ्रंश समझते है। यह सच है कि अपभ्रंश में प्राकृतो की प्राय. सभी

---

१ दिनेशचन्द्र सरकार ए ग्रामर ऑव् दि प्राकृत लेंग्वेज, भूमिका, पृ० १।

२ अव्युत्पादितप्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित्।—नाटयशास्त्र की विवृति, अभिनवगुप्त।

३ भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगत ॥
सस्कृत प्राकृत चैव यत्र पाठ्य प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ॥
—भरतमुनि नाटयशास्त्र, । १७।२६–२७।

४ मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी। बाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा' प्रकीर्तिता ॥
—वही, १७, ४६।

विशेपताएँ मिलती हैं पर यह भी सच है कि अपभ्रंश प्राकृतो से या प्राकृत से भिन्न है। दोनों की प्रवृत्तियाँ विभिन्न है। प्रकृति मे भी अन्तर है।

अपभ्रश—अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओ के बीच की कडी है, जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओ की पुरोगामिनी कही जाती है। यह प्राकृतो की उस अन्तिम अवस्था का विकास है, जिस में जन-जन को भावनाओ का समवेत स्वर अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुआ है[1]। अतएव एक ओर जहाँ अपभ्रंश—भाषा और साहित्य उपलब्ध रूप में प्राकृत की परम्परा में विकसित हुआ है, वही दूसरी ओर लोक बोली तथा जीवन के सामरस्य का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु उत्तरवर्ती अपभ्रश काल में भाषा और साहित्य पर समानान्तर रूप से सस्कृत और प्राकृत का प्रभाव लक्षित होने लगता है।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख सामान्य रूप से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु इन का मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। फिर, प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध मे यह विचारणीय है कि किसी भी भाषा के बल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नही लेती। वर्तमान भापाओ का मूल रूप किसी न किसी बोली में प्रतिष्ठित रहता है। किन्तु युग के परिवर्तन के साथ ही बोली तथा भापा में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए—एग्लो-सेक्सन या पुरानी अँगरेज़ी अपनी स्वाभाविक अवस्था में सस्कृत की भाँति सयोगात्मक थी, पर आज की—अँगरेज़ी वियोगात्मक है[2]। यही भाषा को अवस्था-विशेष या भूमिका कही जाती है। प्राकृत और अपभ्रश मे भी यह भेद लक्षित होता है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख हमें पाँच रूपो में प्राप्त होते हैं—कोशकारो के, वैयाकरणो के, सस्कृत-साहित्य-समालोचको के, पौराणिक तथा अपभ्रश के कवियो के उल्लेख।

कोशकारो के उल्लेख—सस्कृत के वैयाकरणो ने व्याकरण के साथ ही शब्दकोशो की भी रचना की है। इसलिए—व्याकरण ग्रन्थो की भाँति कोश भी लीक पीटते हुए दृष्टिगोचर होते है। उदाहरण के लिए, अपभ्रंश शब्द के लिए व्याकरण का सब से पहला प्रयोग है—अपशब्द। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थ संग्रह, विश्वलोचन, शब्द-रत्नसमन्वय तथा शब्दकल्पद्रुम आदि कोशो में अपभ्रश का अर्थ अपशब्द एव भापा-विशेष भी मिलता है। मेदिनी में तथा अन्य कोशो में भी दोनो अर्थ मिलते हैं, पर अमरकोश मे केवल अपशब्द अर्थ है[3]। सम्भव है तब तक अपभ्रश का

---

१ एस० एम० कत्रे प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रिब्युशन टु इण्डियन कल्चर, पृ० २२।

२ एन० पी० गुणे द डिस्कवरी ऑव् इंग्लिश पूना।

३ अपभ्रशोऽपशब्द स्यात। १ ६, २,। अपभ्रशोऽपशब्दे स्याद्भापाभेदावपातयो। - विश्वप्रकाश, ३०, ३७। अपभ्रशस्तु पतने भापाभेदापशब्दयो।—मेदिनी, ३०, ३१। अपभ्रशो भापाभेदापशब्दयो।—अनेकार्थसग्रह, ४, ३२३। अपभ्रशो दुष्पतने भापाभेदापशब्दयो।—विश्वलोचन,

विशेष प्रचार साहित्य मे न हुआ हो। इस से अधिक विवरण कोशो में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार कोशो में अपभ्रंश शब्द का अर्थ बिगड़ा हुआ शब्द अथवा बिगडे हुए शब्दो वाली भाषा है।

वैयाकरणिक उल्लेख—संस्कृत व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आचार्य व्याडि का मत उद्धृत करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दसंस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है,[१] यथा गौ शब्द के प्रयोग की इच्छा रखने वाला यदि गोणी, गोपोत आदि शब्दो का व्यवहार करे जो साधुसम्मत न हो तो उसे अपभ्रंश कहते हैं। वैयाकरण इस तथ्य से अपरिचित नही थे कि भाषा का स्वभाव ही अपभ्रंश है, पर वे साधु भाषा के पक्षपाती थे। इस लिए उन का यह भी कथन है कि परम्परा से विकृत हो कर यह अपभ्रंश चली आ रही है। जो शब्द शिष्टजनों के द्वारा व्यवहृत नही होता वह अवाचक है तथा ऐसे ही अवाचक शब्द जब प्रसिद्ध हो जाते हैं तब वे अपभ्रंश बन जाते हैं।[२] इस लिए यदि कोई अम्बा, अम्बा करने वाले शिक्षा ग्रहण करते हुए बालक की भाषा को अपभ्रंश कहे तो उचित नही होगा, क्योंकि वह अव्यक्त होती है और व्यक्त होने पर ही उस शब्द के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया जा सकता है।[3]

स्पष्ट है कि शिष्टो के द्वारा प्रयुक्त न होने से तथा संस्कारहीन होने से अव्यवहरणीय शब्दावली को अपभ्रंश कहते हैं। महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख तीन स्थलो पर तथा अपशब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। महर्षि पतंजलि का अपशब्द से अभिप्राय व्याकरण के नियमो से पतित शब्द से है। प्रायः म्लेच्छ लोग अपशब्दो का व्यवहार करते हैं इस लिए ब्राह्मणो को अपशब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए।[४] महाभाष्य के अध्ययन से पता लगता है कि उस समय म्लेच्छ आदि आर्येतर जातियाँ तथा निम्न श्रेणी की जातियाँ शब्दो को बिगाड कर सहज प्रवृत्ति के अनुसार उन का उच्चारण करती थी। आर्य लोग म्लेच्छो को घृणा की तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अतएव भौगोलिक परिवर्तन के कारण जब म्लेच्छों से आर्य भाषा के शब्दो का उच्चारण ठीक से न बना होगा तब उन शब्दो को वैयाकरणो ने अपशब्द नाम दिया

चतुर्थ, ३८। अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयो।—शब्दरत्नसमन्वय कोश। साधुशब्दस्य शक्तिवैकल्यप्रयुक्तान्यथोच्चारणयुक्तेऽपशब्दे।—शब्दकल्पद्रुम से उद्धृत, प्रथम संस्करण, पृ० २२६।

१ शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्।—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १४८।

२ पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषा साधुरवाचक॥—वही, १५४।

३ अम्बाम्बेति यथा बाल शिक्षमाण प्रभाषते। अव्यक्त तद्विदा तेन व्यक्ते भवति निर्णय॥—वही, १५२।

४ तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त पराबभूवु। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषित वै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द।—महाभाष्य, १ अ०, १ पा०, १ आ०। अपशब्दत्व व्याकरणानुगतशब्देष्वपभ्रंशन एव प्रसिद्धमिति भाव।—वही।

होगा। किन्तु जब आर्यों ने देखा होगा कि भारत में विस्थापित नीची जातियाँ भी एक शब्द के लिए कई अप्रसिद्ध तथा शब्दानुशासन से हीन शब्दोका व्यवहार करती है तब उसे आर्य जाति और भाषा से गिरा हुआ, अपभ्रष्ट तथा अपभ्रंश कहा होगा। वैयाकरण यह भलीभाँति जानते थे कि समाज में अपशब्दो का चलन अधिक है और शब्दो का व्यवहार कम है, पर वे शिष्ट भाषा के पक्षपाती थे।[1] पतजलि वैदिक शब्दो की सिद्धि लोक से मानते हैं।[2] महाभाष्य में शब्दो की साधुता और असाधुता का विशेष विचार है। नागेश ने आगे चल कर एक नया प्रश्न उपस्थित किया कि साधु शब्दो की भाँति अपभ्रश में शक्ति मानी जाये अथवा नही। किन्तु यह कैसे जान सकते हैं कि यह शब्द साधु है या असाधु ? कुछ लोगों का विचार है कि अनुमान से जान सकते है कि वाचक या अवाचक है। इसलिए जो अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं उन्हें साधु शब्दो का व्यवहार करना चाहिए।[3] अत्यन्त ऊहापोह के अनन्तर नागेश ने अपभ्रश शब्दो को साधु शब्दो की भाँति अर्थप्रकाशक मान कर उन का विचार किया है।[4] भाषा की शब्दशक्ति की उन्होने चार प्रकार से मीमासा की है।[5] किन्तु कौण्डभट्ट इसे स्वीकार नही करते। उन का कथन है कि असाधु शब्दो में साधुत्व का भ्रम होने से ही शाब्दबोध होता है।[6] इस प्रकार संस्कृत के वैयाकरण शिष्ट एव साधु शब्दो के अत्यन्त पक्षपाती दिखाई देते हैं। दूसरे, अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में न कर 'अपशब्द' के लिए किया गया है। प्राकृत के प्राय सभी वैयाकरणो ने प्राकृतो के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान किया है। भाषा तो प्रारम्भ से ही 'भाषा' के नाम से प्रचलित रही है। कुमार, पाणिनि, जैनेन्द्र तथा शाकटायन आदि के संस्कारों से 'सस्कृत' नाम से प्रसिद्ध हुई। और तब से सस्कृत, प्राकृत के भेद से भाषा के दो रूप हो गये।[7] आगे चल कर प्रादेशिक भेदोंके आधार पर प्राकृत के भी कई भेद होते गये। टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन

---

१ भूयांसोऽपशब्दा', अल्पीयास शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गौणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रशा।—वही।

२ वेदान्नो वैदिका शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका, अनर्थक व्याकरणम् इति।

३ असाधुरनुमानेन वाचक केश्चिदिष्यते। न हि विद्वासोऽपभ्रशादेव साक्षादर्थं पश्यन्ति इति नापशब्दानामर्थेन सबन्ध'। अपशब्दास्तु सादृश्यात्साधुशब्दमनुमापयन्ति।—दुर्बलाचार्य कृत कुञ्जिका टीका, पृ० ६५।

४ एव सार्वौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रश प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहित कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥—वही, पृ० ६६।

५ अपभ्रशा साधुशब्दैरभेदमिवापन्ना अर्थस्य प्रकाशका इत्यर्थ।— वैयाकरणसिद्धान्तलघुमजूषा की टीका, पृ० ६५।
तथा—सा च शक्ति' साधुष्विवापभ्रशेष्वपि, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात।
(१) अपभ्रशेषु शक्तिसदसत्त्वविचार, (२) अपभ्र शे शक्तिग्रहणस्य प्रमात्वम्, (३) अपभ्रशानां शक्तत्व-सिद्धान्त', (४) अपभ्रशाना शक्तत्वेऽवान्तरविचार।—नागेशभट्ट।

६. असाधुत्वेऽपि साधुत्वभ्रमाद्द बोधोऽस्तु नाम, अपभ्रंशवत।—वैयाकरणभूषणसार। धात्वर्थ-निर्णये, पृ० ११७।

७ भाषा द्विवधा सस्कृता च प्राकृती चेति भेदत।
कौमारपाणिनीयादिसस्कृता सस्कृता मता॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, २३।

लक्ष्मीधर ने प्राकृतो के छह भेदो का उल्लेख किया है।[1] उन्होने यह भी कहा है कि साहित्यिक प्राकृत या प्राकृत महाराष्ट्र में उत्पन्न होने वाली भाषा का नाम है तथा अपभ्रंश आभीर, चण्डाल, यवन आदि नीच जातियो की भाषा है। नाटक आदि काव्यागो में इस का व्यवहार नही होता।[2] नीच कर्म करने वाली जातियो की भाषा प्राकृत और अपभ्रश कही जाती है। योगिनी, अप्सरा तथा शिल्पियों की भाषा ब्राह्मणों की भाँति संस्कृत थी।[3] वर्णो के आधार पर भाषा-विधान प्रसिद्ध है, पर निश्चित पता लगता है कि जातियो के अनुसार प्राचीन काल में भाषा-विधान तथा व्यवहार प्रचलित था। इस लिए शताब्दियो तक साहित्य में प्राकृत को मान्यता नही मिल सकी और उस का तिरस्कार होता रहा। लेकिन नाट्य का सम्बन्ध लोक-जीवन से होने के कारण विवश हो प्राकृतो को स्थान देना पडा, किन्तु उस की अभिव्यक्ति का माध्यम नीच पात्रो को बनाया। इस का यह अर्थ कदापि नही है कि प्राकृत का व्यवहार केवल नीच लोग ही करते थे। यदि ऐसा होता तो कही-कही प्रधान पात्रो तथा रानी, देवी आदि स्त्रीरत्नो के मुख से उस का प्रयोग क्यो कराया जाता ? भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस का स्पष्ट उल्लेख है।[4] सम्भवत. लोकनाट्य पहले प्राकृत में लिखे जाते थे। नाट्य जनता की बोली में ही भलीभाँति प्रदर्शित किया जा सकता है। उस के कई भेद होते थे[5]।

वैयाकरणो ने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का विचार किया है। सिंहराज का कथन है कि अपभ्रंश में प्राय शौरसेनी की भाँति कार्य होता है।[6] प्राकृतरूपावतार की भाँति प्राकृतमणिदीप, प्राकृतशब्दानुशासन, आर्षप्राकृत व्याकरण तथा चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश में शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान मिलता है। स्पष्ट रूप से आ० मार्कण्डेय और आ० हेमचन्द्र अपभ्रंश का विवरण देते हैं। प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रश के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं[7]—नागर, व्राचड और उपनागर।

---

१ षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रश इति क्रमात ॥—वही १, २६।

२ तत्र तु प्राकृत नाम महाराष्ट्रोद्भव विदु ॥—वही, १, २७।

३ वही, ३३-३६।

४ जातिभाषाश्रय पाठ्य द्विविध समुदाहृतम्।
प्राकृत सस्कृत चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम्।—नाट्यशास्त्र, १७,३१-३२।
स्त्रीनीचजातिषु तथा नपुसके प्राकृत योज्यम्।
शिष्टा ये चैव लिङ्गस्था सस्कृत तेषु योजयेत्।—वही, १७, ३७-३८।

५ ऋजुस्वभावसस्थान प्राकृत तु स्वभावजम्।
मङ्गलाध्ययनध्यानस्वभावजयकर्मसु ॥
एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसश्रया।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्या प्रयोक्तृभि ॥—वही, ८,३८-३९।
द्विविध हि स्मृत पाठ्य सस्कृत प्राकृत तथा।—वही, ८, १४, ५।

६ शौरसेनीवत्। अपभ्रशे शौरसेनीवत् कार्यं भवति।—प्राकृतरूपावतार, २२, १।

७ नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रय।
अपभ्रशा परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ् मता।—प्राकृतसर्वस्व, १।

अन्य अपभ्रंशो में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होने से उन का निर्देश अलग से नही किया गया। व्राचड सिन्ध की बोली है। उस का जन्म ही सिन्ध में हुआ[1]। नागर से अभिप्राय गुजरात तथा उपनागर से है जो सिन्ध और गुजरात का मध्यवर्ती (मालव, मारवाड, पजाब आदि) प्रदेश कहा जाता है।

वैयाकरणो के इन उल्लेखो से पता चलता है कि अपभ्रंश प्रादेशिक बोलियो के रूप में फैली हुई थी। परन्तु वैयाकरण लोग उन का विवरण देने मे रुचि नही रखते थे, क्योकि वे रूढ भाषा का विचार करते थे। इस के अतिरिक्त साहित्य की भाषा मे जो नाम-रूप मिलते थे उन का पूरा-पूरा अभिधान है।

वैयाकरणो की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के समालोचको ने अपभ्रंश का परिचय ठीक से दिया है। आचार्य भामह संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रश को भी काव्य की भाषा कहते हैं।[2] दण्डी ने अहीर, मछुआ आदि लोगो की भाषा को अपभ्रंश कहा है[3]। उन्होने अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदो के आधार पर छह भेद बताये है[4]। काव्यादर्श में स्पष्ट उल्लेख है कि सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषा में भी वाङ्मय है[5]। दण्डी ने काव्यप्रपच के तीन भेद किये है—गद्य, पद्य और मिश्र। भाषा के भेद से उन्होने चार प्रकार के काव्यो (वाङ्मय) की गिनती की है। यही नही, शास्त्रो में संस्कृत के अतिरिक्त सभी अपभ्रंश है। यहाँ आ० दण्डी शास्त्रकारो की मान्यता से अलग स्पष्ट वक्ता एव सच्चे आलोचक के रूप में सम्मुख आते हैं। इस से यह भी पता लगता है कि दण्डी के समय (सातवी शताब्दी) तक अपभ्रश मे प्रबन्ध-काव्य लिखे जाने लगे थे। नमि साधु ने भी अपभ्रश को आभीरी भाषा कहा है[6]। भोज के समय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप से प्रबन्ध-रचना का प्रचार था।[7] आनन्दवर्धन भी प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यो की रचना का उल्लेख सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में करते है[8]। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ ग्राम्य भाषा

१ व्राचडो नागरात् सिद्धचेव्। सिन्धुदेशोद्भवो व्राचडोऽपभ्रश।—वही, पाद १८, सूत्र १।

२ सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रश इति त्रिधा।—काव्यालकार, १, १६।

३ आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रशतयोदितम्॥—काव्यादर्श १, ३६।

४ प्राकृतसस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रश॥—काव्यालकार, २, १२। (रुद्रट)।

५ तदेतद्वाङ्मय भूय सस्कृत प्राकृत तथा
अपभ्रशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥—वही, १, ३२।

६ आभीरीभाषा अपभ्रशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।
—रुद्रट कृत काव्यालकार की टीका।

७ सस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ प्राकृतेनेव चापर।
शक्यो योजयितु कश्चिदपभ्रशेन वा पुन॥
पैशाच्या शौरसेन्या च मागधान्या निबध्यते।
द्वित्राभि कोऽपि भाषाभि सर्वाभिरपि कश्चन॥—सरस्वतीकण्ठाभरण।

८ यत काव्यस्य प्रभेदा मुक्तक सस्कृतप्राकृतापभ्रशनिबद्धम् सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि।
—ध्वन्यालोक, ३-७।

का भी उल्लेख किया है[१]। सम्भवतः हेमचन्द्र के समय में शिष्ट और ग्राम्य नामक साहित्यिक अपभ्रंश के दो रूप प्रचलित[२] थे। परवर्ती समालोचको में आ० मम्मट, रामचन्द, गुणचन्द, जिनदत्त, अमरचन्द, विश्वनाथ आदि अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं[3]।

भरत मुनि ने सात भाषाओं के साथ ही विभाषाओ का निर्देश भी किया है। मुख्य भाषाएँ चार हैं—संस्कृत और प्राकृत तथा अतिभाषा, आर्यभाषा, और जाति भाषा। नाटको में इन्ही चार भाषाओ का प्रयोग होता था। अति भाषा से अभिप्राय देवभाषा एवं वैदिक शब्दो से भरपूर संस्कृत से तथा आर्यभाषा और जाति भाषा से अर्थ विभिन्न प्राकृतो से है[४]। वस्तुत भाषा सस्कृत मानी जाती थी, प्राकृत नही। नाट्यशास्त्र के उल्लेखो से पता लगता है कि प्राकृत उस युग मे काव्य की समृद्ध भाषा थी। उस के व्याकरण की भी रचना हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र में उस का संक्षिप्त व्याकरण भी समाविष्ट है। देश की संस्थिति के आधार पर भाषाओ का विभाजन भरत-मुनि की मुख्य विशेषता है। नाटचशास्त्र में कहा गया है कि गंगा और पूर्वी समुद्र के मध्य की भाषा एकारबहुल है, विन्ध्याचल और महासागर के मध्य की भाषा नकारबहुल है, गुजरात, उज्जैन और वेतवा के उत्तर क्षेत्रो की भाषा प्राय चकारबहुल है, सिन्ध, सिन्ध का पारपार प्रदेश, वर्तमान पश्चिमी-दक्षिणी पंजाब तथा हिमालय के पार्श्ववर्ती पहाड़ी प्रदेश की भाषा उकारबहुल है तथा वेतवा नदी के किनारे और आबू के टीलो पर रहने वाले ओकारबहुल भाषा का प्रयोग करते हैं[५]। इस प्रकार भरतमुनि भौगोलिक दृष्टि को ध्यान में रख कर पूर्व की भाषा एकारप्रधान, उत्तर-पश्चिम की उकारबहुल और

---

१ सस्कृत प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥—वाग्भटालकार, २, १।

२ तथा—तत्र प्राय' सस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसन्ध्यवस्कन्धक-बन्धम्।—काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय।

३ उक्त लेखकों के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

४ शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजा।
हीनावनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५०।
संस्कृतैव भाषा स्वरभेदादिपूर्णसस्कारोपेता सस्कृतभाषा भाषाभेदानामुक्ता वैदिकशब्दबाहुल्य'-दार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इत्यन्ये।—नाट्य० विवृति, अभिनवगुप्त।
अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।—नाट्शास्त्र, १७, २८-२९।

५ गगासागरमध्ये तु ये देशा सप्रकीर्तिता।
एकारबहुला भाषा तेषु तज्ज्ञ प्रयोजयेत॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशा, श्रुतिमागता।
नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञ प्रयोजयेत्।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च॥
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारप्रायसश्रयाम्।
हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जना समुपाश्रिता।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत॥—नाट्यशास्त्र १७,५९-६३।

दक्षिण की नकारान्त, मध्यदेश की ओकारान्त तथा पश्चिम की चकारप्रधान भाषा कहते हैं। नाट्यशास्त्र में दक्षिण की जिन बोलियो में आभीरोक्ति का उल्लेख हुआ है उस पर भरतमुनि को स्वयं सन्देह है। सम्भव है कुछ घुमन्तू लोग दक्षिण में पहुँच गये हो और उन्ही के सम्बन्ध में यह संकेत हो। केवल यह सकेत भर है।[1] इस से स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय में अपभ्रंश भिन्न जातियो की बोली थी। मुख्य रूप से उस का सम्बन्ध अहीरो से था। किन्तु यह किस प्रदेश की बोली थी, इस का विवरण हमें नाट्यशास्त्र में नही मिलता। इस के लिए आभीर जाति तथा उस के प्रसार का इतिहास जानना होगा। दसवी शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, पर रूढिवादी दृष्टिकोण साहित्य-समाज में ही नही समालोचको में भी काई की भाँति घर कर चुका था। राजशेखर की काव्य-मीमासा मे काव्य के परिवेश मे शब्द और अर्थ को शरीर, संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन, पैशाची को पाद तथा मिश्र भाषा को वक्षस्थल कहा गया है[2], जो सामाजिक मनोवृत्तियो का परिचायक है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है[3] इस लिए भरतमुनि के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि उकारबहुला बोली जो आभीर जाति की भाषा थी आगे चलकर अपभ्रंश कहलायी। काव्यमीमासा में इसे समूचे मारवाड़, टक्क (वर्तमान पूर्वी पंजाब) और भादानक की भाषा कहा गया है[4]। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिम की भाषा है। उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की मध्यवर्ती बोली किसी समय अहीरो की भाषा रही होगी। राजशेखर ने काव्य-परीक्षा के लिए सभा मे अपभ्रंश के कवियो को पश्चिम में बैठने पर बल दिया है[5]। इन सब विवरणो से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का प्रथम प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर हुआ होगा। राजशेखर के युग का भारतवर्ष का भाषा सम्बन्धी प्रादेशिक मान-चित्र इस प्रकार था—उत्तर में संस्कृत, पूर्व में प्राकृत, पश्चिम मे अपभ्रंश और दक्षिण में भूतभाषा का प्रचार था। मध्यदेश में बहुभाषाविदो तथा कई भाषाओ के जानकार कवियो का निवास था[6]। मुख्य रूप से उस युग मे ये ही चार भाषाएँ थी। काव्यमीमासा के

---

१ आभीरोक्ति शाबरी वा द्रामिडी वनचारिषु।—वही, १७, ५६।
अत्र नोक्त मया यत्तु लोकाद्द ग्राह्य बुधैस्तु तत्॥—वही, १७, ६४।

२ शब्दार्थौ ते शरीरं, सस्कृत मुख, प्राकृत बाहु,, जघनमपभ्रंश, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्।
—काव्यमीमांसा, तीसरा अध्याय।

३ स्यमो रस्योत्।—हेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

४ गौडाद्या सस्कृतस्था परिचितरुचय प्राकृते लाटदेश्या
सापभ्रंशप्रयोगा सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च॥—काव्यमीमांसा, १० अ०।

५ तस्य चोत्तरत संस्कृता कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृता कवय, तत पर नटनर्तकगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवेतालावचरा अन्येऽपि तथाविधा। पश्चिमेनापभ्रंशिन कवय, तत पर दक्षिणतो भूतभाषाकवय।—वही, १० अ०।

६. यो मध्यदेश निवसति स कवि सर्वभाषानिषण्ण।—वही, १० अ०।

एक और उद्धरण से इस की पुष्टि हो जाती है[1]। गुजरात, त्रवण (पश्चिमी सौराष्ट्र) तथा मारवाड में अनभ्रंश का विशेष प्रचार था। यहाँ तक कि उन देशो के लोग संस्कृत को सौष्ठव के साथ ही अपभ्रंश की भाँति मिश्रित (मिलौनी) वोलते थे।[2] इस प्रकार दसवी शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत के वाद अपभ्रंश काव्य तथा साहित्य में विशिष्ट रूप से प्रचरित हो गयी थी। अब वह वोली मात्र नही थी। संस्कृत-साहित्य के समालोचको के इन उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि जिस आभीरोक्ति अथवा उकारबहुला प्रादेशिक वोली का अभिधान करते हैं, वही आगे चल कर काव्य की भापा के रूप में अपभ्रश नाम से विख्यात हुई।

पौराणिक उल्लेख—विष्णुधर्मोत्तर पुराण चतुर्थ शताब्दी की रचना कही जाती है। उस में सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के भेद से तीन प्रकार के गीतो का उल्लेख है।[3] उस के विवरण से यह भी पता चलता है कि उस युग में गीतो का अत्यन्त प्रचलन था। संभवतः अपभ्रश तव तक काव्य की भाषा नही वनी थी। वह एक देशो भाषा थी और उस में धार्मिक तथा लौकिक गीत और पूजाएँ लिखो जाती थी। यहाँ अपभ्रश का उल्लेख प्राकृत भाषा लक्षण नाम के अन्तर्गत हुआ है। यह तव अपभ्रंश इस लिए कही जाती थी कि देशी होने पर भी प्राकृत का इस पर अत्यन्त प्रभाव था तथा प्राकृत के लक्षणो से इस के लक्षण स्पष्ट नही थे।[4] ई० पू० शताब्दियो में अपशब्द कह कर जिस का तिरस्कार किया जाता था, ईसवी पश्चात् वही आर्यावर्त क्षेत्र में अपनायी जाने लगी[5] तथा देशी वोलियो मे से निम्न जातियो की वोली को अपभ्रंश नाम दिया गया। शाबरभाष्य में देशी भाषाओ के सन्दर्भ में अपभ्रश का उल्लेख हुआ है।[6] कश्मीरी शैवागम को देखने से पता लगता है कि उस में प्रकृत धर्म और भाषा का अत्यन्त महत्व वर्णित है। श्री महेश्वरानन्द ने प्राकृत और अपभ्रंश का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[7]

---

१ ससस्कृतामपभ्रश लालित्यालिङ्गितं पठेत्।
प्राकृत भूतभाषा च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत्॥—वही, ७ अ०।

२ सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रशवदशानि ते सस्कृतवचास्यपि॥—वही, ७ अ०।

३ सस्कृत प्राकृत चैव गीत द्विविधमुच्यते।
अपभ्रष्ट तृतीय तु तदनन्त नराधिप॥ विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड ३, अ० २।३।२।१०

४ न शक्यते लक्षणस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यस्स्यादपभ्रष्टसज्ञ ज्ञेय हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥—वही,३।७।१२

५ ये शब्दा न प्रसिद्धा स्युरार्यावर्तनिवासिनाम्।
तेषा म्लेच्छप्रसिद्धोऽर्थो ग्राह्यो नेति विचार्यते॥—तन्त्रवार्तिक, १।३।११

६ देशभाषापभ्रशपदानि हि विप्लुति भूयिष्ठानि न शक्यन्ते विवेक्तुम्।

७ इह हि विद्यायां त्रिष्वपि बीजेष्ववस्था तृतीयमस्ति सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्गतत्वात् प्राकृतभाषा-विशेषत्वाच्च यथा सप्रदाय व्यवहार इत्युपदेश इति। तथा—सस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वापि भाषापभ्रश। शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रशतयोच्यते।—महार्थमंजरी, १६२-३।

अपभ्रंश सम्बन्धी विविध उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए भी मिलते हैं वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख में भी सस्कृत, प्राकृत की श्रेणी में अपभ्रंश का उल्लेख है।[1]

केवल अपभ्रंश नाम को सूचित करने वाले विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखो से यही पता लगता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अपभ्रंश का प्रचलन हो गया था।

अपभ्रश कवियो की विज्ञप्ति—उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में महाकवि स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' प्रथम रचना है। कवि ने अपनी इस रामकथा को संस्कृत तथा प्राकृत रूपी पुलिनो से अलकृत देशी भाषा रूपी दो तटो से उज्ज्वल कहा है।[2] उन्हो ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्रामीण भाषा से रहित हैं। सामान्य भाषा में ही आगम की युक्तियो को रच रहा हूँ।[3] स्वयम्भू का रचना-काल आठवी शताब्दी कहा जाता है।

उद्धरणो से पता लगता है कि उन के समय में अपभ्रश बोली जाती थी और पढी-पढाई भी जाती थी। आदि जिन ऋषभ की पुत्री ने अन्य शिक्षाओ के साथ अपभ्रश की शिक्षा भी ग्रहण की थी। स्वयम्भू की भाँति महाकवि पुष्पदन्त (१० वी शताब्दी) भी अपने काव्यो की भाषा देशी कहते हैं।[4] इसी प्रकार कवि पद्मदेव भी 'देसीसद्दत्थगाढ' कह कर अपनी भाषा का परिचय देते हैं।[5] प्रायः सभी अपभ्रंश के कवियो ने काव्य की भाषा देशी में काव्य-रचना की है।

अब्दुलरहमान अवश्य अवहट्ट कह कर अपभ्रंश की ओर सकेत करते है।[6] कोऊहल प्राकृत को भाषा तथा बोलियो को देशी कहते हैं। उन की लीलावती कथा में भी देशी शब्द भरपूर हैं।[7] इस प्रकार अपभ्रश के अधिकतर लेखक अपनी भाषा को देशी कहते है। अवहस और अवहट्ट जैसे शब्द भी अपभ्रश के लिए प्रयुक्त मिलते हैं।

---

१ मस्कृतप्राकृतापभ्रशभाषात्रयप्रतिवद्धप्रवन्धरचनानिपुणतरान्त करण ।—वलभी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र। इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूबर १८८१, पृ० २८४।

२ दीहसमासपवाहावकिय सक्कयपाययपुलिणालकिय।
देसीभामा उभय तडुज्जल कविदुक्करघणसद्दसिलायल।—पउमचरिउ, १,२।

३ सामण्ण भास छुड्डु सावडउ छुड्डु आगमजुत्ति का वि घडउ।
छुड्डु होन्तु सुहासिय वयणाइ गामिल्ल भास परिहरणाइ।—वही, १,३।

४ णीमेसदेसभासउ चवति, लक्खणइ विसिट्ठइ दक्खवति।—णायकुमारचरिउ, १।१।
णउ हउ होमि वियक्खणु ण मुणमि,
लक्खणु छदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १,८,१०।

५ वायरणु देसिसद्दत्थगाढ छदालकारविसालपोढ।—पासणाहचरिउ, १,१

६ अवहट्टयसक्कयपाइयमि पेसाइयमि भासाए।
लक्खणछदाहरणे सुकइत्त भूसिय जेहिं॥—सन्देशरासक, १,६।

७ एमेय मुद्धजुयई मनोहर पाययाए भासाए।
पविरल देसी सुलक्ख कहसु कह दिव्व माणुसिय॥—लीलावई [illegible]

किन्तु देशी कहने की प्रथा हमें प्राकृत-युग से मिलने लगती है।[1] इस लिए यदि अपभ्रंश के कवि अपनी रचना की भाषा देशी कहते हैं तो वह परम्परागत भाषा का अभिधान मात्र है। और यह सच है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी में अपभ्रंश में भाषा-काव्यों की रचना होने लगी थी। आठवी शताब्दी के लगते-लगते यह परिनिष्ठित अपभ्रंश बन चुकी थी। पुष्पदन्त की रचनाएँ प्रौढ भाषा में निबद्ध हैं। स्वयम्भू की भाषा से उस में विशेष अन्तर है। पउमचरिउ भी जनता की बोली में नही लिखा गया है। स्वयम्भू से बहुत पहले ही अपभ्रंश में रचना हो चुकी थी। अपभ्रंश के कई कवियों ने चतुर्मुख के साथ स्वयम्भू का उल्लेख किया है।[2] सम्भवत. भद्द भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती कवि हैं।[3] स्वयम्भू के समकालीन कवियो मे मुख्य हैं—[4] धुत्त, माउरदेव, धनदेव, अज्जदेव, छइल्ल, गोइन्द, जिनदास, विअड्ढ, सुद्धसील आदि। इस से स्पष्ट है कि लोक में अपभ्रंश-कविता आठवी शताब्दी के पूर्व भी भली-भाँति प्रचलित थी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भरतमुनि के युग में आभीरो की बोली मात्र थी। छठी सदी में वह काव्य की भाषा बन चुकी थी। किन्तु बोलचाल को भाषा से उस का सम्बन्ध बराबर बना रहा। साहित्य की भाषा लोक में 'अवहंस' नाम से तब प्रचलित थी। वही आगे चल कर अवहट्ठ कहलायी। सन्देशरासक और कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है।[5] इस का अपभ्रंश नाम वैयाकरणो द्वारा अभिहित किया गया प्रतीत होता है। क्यो कि म्लेच्छो की भाषा के लिए अपशब्द अत्यन्त प्राचीन काल से

---

१ जो पाउअस्स सारो तस्स मए लक्खलक्खण सिट्ठम्।
एत्ताहे अवहसे साहिज्जन्त णिमामेह॥—स्वयम्भूछन्द, ४,१।

एत्थ सअभुच्छन्दं अवहसन्त परिसमत्तम्। वही, ८, ५३।

पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं
नामेण तरगवई कहा विचित्ता य विउला य।—सनत्कुमार चरित की भूमिका, डॉ० जैकोबी पृ० १८।

ण समाणमि छंदु न बधभेउ ण हीणाहिउ मत्तासमेउ।
णउ सक्कउ पायउ देसभास णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास।—णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मणदेव)
पाहुडदोहा की भूमिका से उद्धृत, पृ० ४५।

२ स्वयम्भू, पुष्पदन्त, नयनदी, देवसेनगणि, लक्ष्मण, अब्दुलरहमान, धनपाल, महिन्दु और रइधू ने चतुर्मुख का सादर स्मरण किया है।

३ त्रिभुवन स्वयम्भू की उक्ति है—
जलकीलाए सयम्भू चउमुह एव च गोग्गह कहाए।
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावन्ति॥—पउमचरिउ१४, १३,६,।

४ देखिए, स्वयम्भूछन्द, अ० ४।

५ अवहट्टयसक्कयपाइयमि पेसाइयंपि भासाए।—सन्देशरासक, १,६।

सक्कय वाणी बुहअ न भावइ पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।—कीर्तिलता, १,१९-२२।

व्यवहार में था।[१] उसी के अनुकरण पर अपभ्रंश शब्द चलन मे आ गया। प्रमाणों से पता लगता है कि छठी सदी से पहले अपभ्रंश कविता का जनता मे सम्यक् प्रचार था। संस्कृत-साहित्य के समालोचक भामह के उल्लेख तथा धरसेन के शिलालेख के विवरण से स्पष्ट है कि छठी सदी में सस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी प्रबन्ध काव्य लिखे जाते थे। दसवी सदी के लगते तक काव्य के तीन भेद सस्कृत समालोचको के द्वारा स्वीकृत हो चुके थे।[२] परवर्ती काल में इस के कई भेद स्पष्ट होने लगते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रश की काव्यधारा भी देशी परम्परा की है, इस लिए अपभ्रश लेखक अपने काव्य की भाषा देशी कहते है।

आभीर और आभीरी—ऐतिहासिक विवरणो से पता चलता है कि आभीर एक विदेशी जाति थी। सम्भवत शको के आने के पूर्व वह पूर्वी ईरान के किसी भाग मे रहती थी।[३] आभीर किसी समय इण्डस नदी के किनारे पर रहते थे। प्रसिद्ध भूगोल-शास्त्री प्टोलेमी के अनुसार सिन्धु के निम्नवर्ती प्रदेश की घाटा और काठियावाड़ के मध्य में स्थित अबीरिया प्रदेश आभीर देश था।[४] यद्यपि आभीर म्लेच्छ कहे जाते हैं, पर उन्हें अनार्य नही कहा जा सकता। गुण्ड के शिलालेख (१८१ ई०) में आभीर सेनापति रुद्रभूति के द्वारा ग्राम में वापी खुदवाने का उल्लेख है[५]। महान् सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी सिन्ध मे जो शूद्र रहते थे ग्रीक वासी उन्हे सोद्रोइ कहते थे। सोद्रोइ का सम्बन्ध आभीरो से बताया जाता है जो सरस्वती के तट पर रहते थे[६]। गुप्तकालीन राजा समुद्रगुप्त के समय (३६० ई०) आभीर राजपूताना, मालवा, और पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो मे रहते थे। वस्तुत. अहीरो का अभ्युदय गुप्त युग में हुआ। आभीर राजा ईश्वरसेन महाराष्ट्र प्रदेश में २४८ ई० के लगभग राज्य करता था। इसके पूर्व आभीर आयुधजीवी जाति के रूप में प्रसिद्ध थे। समुद्रगुप्त के युग में नौ जातीय प्रदेशो में आभीरवंश का भी अपना राज्य तथा प्रजातन्त्रीय शासन था। स्मिथ ने उन की स्थिति झाँसी और विदिशा के मध्य में अहीरवाडा प्रदेश में कही है।[७] किन्तु अहीर देश के विभिन्न भागो में समय-समय पर फैलते रहे हैं। इस लिए उत्तर से ले कर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, गुजरात, मालवा और दक्षिण भारत तक विस्थापित आभीर राजाओ के राज्य करने के विवरण प्राप्त होते हैं। पुराणो में भी आभीर राजाओ का

---

१ पतञ्जलि महाभाष्य, १,१,१।
२ दे०, काव्यालकार, १,१६। काव्यादर्श, १,३२।
३ द एज ऑव् इम्पीरियल युनिटी, जिल्द २, तृतीय संस्करण, पृ० २२१।
४ के० पी० जायसवाल हिन्दू पोलिटी, प्रथम जिल्द, तृतीय सस्करण, पृ० १३६।
५. सीहस्य (व) र्षे (त्र) युत्तरशते वैशाख शुद्धे पंचमिधरयतिथौ रो (हि) णि नक्षत्रमुहूर्ते आभीरेण सेनापति वापकस्य पुत्रेण सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामे रसो इपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द २५ भाग ८, अक्तूबर १९४०, पृ० २०३।
६. के० ए० नीलकान्त शास्त्री एज ऑव द नन्दाज एण्ड मौर्याज़, प्रथम सस्करण, १९५२, पृ० ४०।
७ डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय अर्ली हिस्टी ऑव नार्थ इण्डिया, प्रथम सस्करण, १९५८, पृ० ११९।

उल्लेख मिलता है।[1]

पौराणिक तथा धार्मिक उल्लेखों से निश्चित हो जाता है कि आभीर शूद्र थे। कात्यायन ने महाशूद्र शब्द की पहचान आभीर जाति से करायी है।[2] इस पर से डॉ० अग्रवाल का अनुमान है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से आभीरो का पद ऊँचा होने से वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाये।[3] आभीर शूद्रों मे विशेष रूप से वर्णित है। महाभाष्य में 'शूद्राभीर' समस्त पद में आभीर शब्द जाति विशेष का वाचक है।[4] डॉ० जायसवाल का मत है कि प्टोलेमी के अनुसार सिन्ध का लाटक प्रदेश अबीरिया कहा जाता था तथा जान पडता है कि गुजरात के आभीर अशोक के समय के राष्ट्रिक और महाभारत युग के यादव है।[5] पुराणो के विवरणों तथा अन्य प्रमाणो से भी इस की पुष्टि होती है कि यादव क्षत्रियो की एक शाखा आगे चल कर आभीर कहलायी। शक्तिसंगमतन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि आहुक वश से आभीरो की उत्पत्ति हुई है।[6] इसी प्रकार जातिविवेकाध्याय में भी वर्णित है।[7] ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड में ऐसे ब्राह्मणो की उत्पत्ति का विवरण है जो मूलत. भील थे। इन्हें आभिल्ल या आभीर ब्राह्मण कहा जाता था।[8] पृथ्वीराजरासो मे छत्तोस क्षत्रिय वशो के वर्णन में आभीर का भी उल्लेख है।[9] मत्स्यपुराण में यदुवश के वर्णन के सन्दर्भ मे हैहय तथा आहुक वंशी राजाओ का भी विवरण मिलता है, जिस से उन के सम्बन्ध का भी पता लगता है।[10] डॉ० गुरे के अनुसार दक्षिण की कोली जाति की अगी, अहीर और भील तीन उपजातियाँ हैं। मराठे ग्वालो की उपजाति अहीर, कुनबी, कुरुवा और मराठा कही जाती हैं।[11] मध्यप्रदेश के अहीरो में क्षत्रियो की भाँति गोत्र और वंश देखे जाते हैं। उन की चार उपजातियाँ हैं—जिझोतिया, नरवरिया, कोसरिया, कनोजिया[12]। जान पड़ता है कि

---

१ सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपा ।
कङ्का षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपा ।—श्रीमद्भागवत, १२,१,२६ ।

२ अजाद्यतष्टाप् ।४,१,४।
महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनस्तत्र तदन्तविधिना टाप् प्राप्त प्रतिषिद्धयते ।
आ० वामनजयादित्य कृत काशिका वृत्ति ।

३ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम सस्करण, पृ० ९५ ।

४ यदि सामान्यविशेषवाचिनोर्द्वन्द्वो न भवतीत्युच्यते, शूद्राभीर गोबलीवर्द तृणोलपमिति न सिध्यति । नैष दोष । इह तावच्छूद्राभीरमिति, आभीरा जात्यन्तराणि ।—महाभाष्य, १,२,७२ ।

५. हिन्दू पोलिटी, प्रथम भाग, तृतीय सस्करण, पृ० १३६ ।

६ आहुकवशात समुद्भूता आभीरा इति प्रकीर्तिता ।—शक्तिसगमतन्त्र ।

७ आहुकजन्मवन्तश्च आभीरा क्षत्रिया भवन् ।—जातिविवेकाध्याय ।

८. ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, पृ० ३४७ ।

९ रवि ससि जाधव वस, कुकुत्स्थ परमार सदावर ।
चहुवान चालुक्क, छदक सिलार अभीयर ।—पृथ्वीराजरासो, समय १,६–२७७ ।

१० शतजैरपि दायादस्त्रय परमकीर्तय'। हेहयश्च हयश्चैव तथा वेणुहयश्च य ।मत्स्य पुराण, ४३,८।
तस्यासीत् पुत्रमिथुन बभूवाविजित किल । आहुकश्चाहुकी-चैव ख्यात मतिमतांवर । वही४४,६६।

११. डॉ० जी० एस० गुरे . कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, प्रथम संस्करण, पृ० ३७ ।

१२ वही, पृ० ३५ ।

प्रादेशिक भिन्नता और सामाजिक भेद के कारण अहीर कई उपजातियो मे बँट गये थे। सम्भव है कि गूजर और अहीर किसी समय एक रहे हो। गूजर जाति आज भी उत्तर भारत में सिन्ध और गंगा के मध्य प्रदेश मे चारो ओर फैली हुई है। इस जाति के अधिकार में कई बड़े-बडे दुर्ग तथा गढ रहे है। गुजरात, गुजरवाँ तथा गुजरानवाला आदि नामो से इस का पूरा सम्बन्ध है। जाट, गूजर और अहीरो की सामाजिक दशा लगभग एक-सी रही है।[१] गूजर की भाँति अहीर भी सवर्ण हिन्दू है। दोनो ही गाय, भैंस तथा पशुओ के पालन का कार्य करते हैं। ई० की पाँचवी शताब्दी मे दक्षिण-पश्चिमी राजपूताने मे एक गूजर रियासत थी। बुन्देलखण्ड मे कुछ वर्षो पूर्व तक समथर रियासत गूजरो की रही है।[2] श्री सकसेना ने गूजर की गणना सयुक्तप्रान्त की अपराधी जातियो मे की है।[3] अबुलफजल ने राजपूतो के अन्तर्गत अहीर, लोघ, गूजर, बागडी, कुर्मी, मीना, मेव, मेहतर, भील, कोली, ग्वालिया, गरशिया, खसिया, बाव-रिया, बिसेन, वेस, ग्वाण्ड और खारीकी का उल्लेख किया है।[४] महाराष्ट्र सम्प्रदाय में अभिल्ल या आभीर ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं।[५] व्यासस्मृति मे गोप को अन्त्यज कहा गया है।[६] ब्रह्मवैवर्तकार स्पष्ट रूप से गोप, नाई, भील आदि को सत् शूद्र कहते है।[७] पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे आभीर गोपविशेष है। इन को अहीर, गोपाल कहते हैं। इन का जल दूषित नही माना जाता।[८] वस्तुत अहीर वर्णसंकर जाति है।[९] प्राचीनतम युग मे आभीर क्षत्रिय रहे होगे, किन्तु ज्यो-ज्यो उन मे आचरणहीनता बढती गयी वे शूद्रो की श्रेणी में सम्मिलित होते गये। अन्त मे उन्हे शूद्र ही कहा जाने लगा। इस का सकेत हमे मनुस्मृति मे मिलता है।[१०] कालान्तर मे अहीरो में कई भेद-प्रभेद हो गये। कुछ लोग अपने को बाबानन्द के वशज मानते हैं और कुछ भगवान् श्रीकृष्ण से अपना सम्बन्ध बताते हुए अपने को यदुवशी कहते हैं। छत्तीसगढ में सामान्यत अपने को राउत कहते हैं। राउत शब्द अपभ्रश भाषा का है, जिस का अर्थ राजपुत्र या राजपूत है। किसी

---

१. प्रकाशनारायण सक्सेना सयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, प्रथम सस्करण, पृ० १२३।

२ वही पृ० १२२।

३ वही पृ० ७।

४ आइने अकबरी, जिल्द ३, जरॅल्ट द्वारा अनूदित, १८९४, पृ० ११८।

५ प० ज्वालाप्रसाद मिश्र जातिभास्कर, १९५५, पृ० २०३।

६ ब्राह्मण्यां शूद्रजनितश्चाण्डालस्त्रिविध' स्मृत ।
वद्धकी नापितो गोप आशाय कुम्भकारक ॥—व्यासस्मृति, १,१०।

७ गोपनापितभिल्लाश्च तथा मोदककूबरौ ।
ताम्बूलिस्वर्णकारौ च तथा वणिक्जातय ॥
इत्येवमाद्या विप्रेन्द्र सच्छूद्रा परिकीर्तिता ।—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १०,१० अ० १६–१८।

८ जातिभास्कर, पृ० ४७७।

९ वैश्य एव आभीरो गवाद्युपजीवी, इति प्रकृतिवाद ।
मणिबन्ध्यां तन्तुवायाद्गोपजातेश्च सभव' ॥—वही, २८१, पृ० ४७७।

१०. शनकैस्तु क्रियालोपादिमा' क्षत्रियजातय ।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।—मनुस्मृति, १०,४३।

समय अहीरो की गिनती राजपूतो में की जाती थी । सूर्यवंशी राजाओं के छ्यानवे कुलों में रावत भी एक राजकुल था ।[1] राजपूतो के अन्तर्गत राउतो के भी कई भेद हैं ।[2] इस देश के लगभग सभी भागो में विभिन्न प्रान्तो के अहीर, राउत मिलते हैं । छत्तीसगढ में ही कन्नोजिया, झिरिया, जुझोतिया, देसिया आदि के राउतो का निवास है । ये लोग अपने को गहिरा भी कहते हैं । सम्भव है कि गहरवाल वंश की किसी शाखा से भी इन का सम्बन्ध रहा हो । कोसरिया मूलत. बंगाल के हैं, जिन की मूल आजीविका गन्ना (कुसर) उत्पादन करना कहा जाता है ।

आभीरो का निवास स्थल—आभीरो के मूलनिवास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है, पर प्राप्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले पहल आर्यों की भाँति अहीर भी उत्तरापथ के सिन्धु प्रदेश की घाटी के आस-पास कही बसे हुए थे । ब्रह्मपुराण के २१२ अध्याय में आभीरार्जुन संवाद में अर्जुन धन-धान्य से समृद्ध पंचनद प्रदेश में जाते है, जहाँ पहुँच कर आभीर से उन की मन्त्रणा होती है । वायुपुराण, मत्स्यपुराण तथा महाभारत में उत्तर दिशा में कहे गये देशो में आभीर प्रदेश का उल्लेख है ।[3] किन्तु ब्रह्मपुराण में दक्षिणापथ के राज्यो में आभीर का नाम मिलता है ।[4] श्रीमद्भागवत के विवरण से यह पता लगता है कि मध्यदेश और दक्षिण के बीच कही आभीर राजाओ का शासन था, जो प्राय. शूद्र थे । बृहत्संहिता में दक्षिण में तथा नैर्ऋत्यकोण मे आभीरप्रदेश कहा गया है ।[5] किसी-किसी ने पश्चिम दिशा में भी उस का उल्लेख किया है । इन उल्लेखो के विवरण से यही प्रतीत होता है कि आभीरों का प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर तथा दक्षिण की ओर हुआ । शक्तिसगमतन्त्र के अनुसार विन्ध्याचल पर आभीर देश स्थित था ।[6] किन्तु वराहमिहिर के एक अन्य उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आभीरो का निवास बहुत पहले से पश्चिम-दक्षिण मे रहा है ।[7] गुप्त युग के पूर्व ही अहीर लोग दक्षिण की ओर मालवा से आगे काठियावाड और नर्मदा एवं विन्ध्याचल के मध्य बसे हुए थे । गुजरात में आभीर बहुत समय से बसे हुए हैं । गृहरिपु आभीर राजा था । उन की भाषा अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी ।

---

१ जातिभास्कर, पृ० २३१ ।

२ वही, पृ० २५४ ।

३ मत्स्यपुराण, ११३, ४० । वायुपुराण, ४५, ११५ । महाभारत, भीष्मपर्व, अ० ६, ४७ ।

४ आभीरा सह वैशिक्या अटव्या सरवाश्च ये ।
पुलिन्दाश्चैव मौलेया वैदर्भा दन्तकै सह ॥—ब्रह्मपुराण, २७, ५६ ।

५ कङ्कटटङ्कणवनवासिशिविकफणिकारकोङ्कणाभीरा ।—बृहत्संहिता, १४, १२ । तथा—फेणगिरियवनमाकरकर्णप्रावेयपाराशरशूद्रा.।
बर्बरकिरातखण्डक्रव्याश्याभीरचञ्चूका ॥—वही, १४,१८ ।

६ श्रीकोङ्कणादधोभागे तापीत पश्चिमे तटे ।
आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थित ॥—आप्टे डिक्शनरी, पृ० ३४३ ।

७ आनर्तार्बुदपुष्करसौराष्ट्राभीरशूद्ररैवतका ।
नष्टा यस्मिन्देशे सरस्वती पश्चिमो देश ॥—बृहत्संहिता, १६, ३१ ।

वलभी के उत्थान के पूर्व ही अपभ्रश साहित्य की भाषा बन चुकी थी। यही नही, गुजरात और दक्षिण भारत मे आभीरों की सामाजिक स्थिति महत्त्वपूर्ण रही है। उन की भाषा तथा नाम विदेशी नही हैं।[2] आलोच्य काल में अहीरो की जिस आभीर भाषा का उल्लेख किया जाता है उस का सम्बन्ध गुजरात, राजपूताना और मालवा की भाषा में देखा जा सकता है। यद्यपि आचार्य दण्डी ने आभीर आदि की बोली को अपभ्रश कहा है, पर आदि शब्द से जिन जातियो का उल्लेख किया जाता है वे निम्न जातियाँ हैं और उन का निवास आर्यावर्त मे कहा गया है।[3]

आभीरी

आचार्य भरतमुनि ने विभाषा के रूप में जिस आभीर या आभीरोक्ति का उल्लेख किया है उसी की पहचान दण्डी "आभीरादिगिर." से कराते हैं।[4] भरतमुनि के युग में भाषा प्रादेशिक नाम-रूपों के भेद से सात थी, पर प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों से कुछ पृथक् नीच जाति के लोगो की बोलियाँ सम्भवत उन्हें ही विभाषा कहा गया है। इन विभाषाओ मे आभीर के साथ ही शकार, चण्डाल, शवर और द्रविड जातियो की बोली को भी विभाषा में गिनाया गया है। मृच्छकटिक की टीका में पृथ्वीधर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को भारतवर्ष की मुख्य साहित्यिक भाषा कहा है। प्राकृत भाषाओ में मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री) मुख्य हैं। अपभ्रशों में भी शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शावरी, द्राविडी, उड्रजा तथा वनेचरो की भाषा ढक्की मुख्य हैं। प्राकृतो को भाषा और अपभ्रशो को विभाषा माना गया है[5]। मृच्छकटिक मे हमें शौरसेनी, अवन्ति, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की सात भाषाओ का प्रयोग दिखाई देता है। प्रतिनायक शकार शकारी बोली में ही बोलता है। शकारबहुल होने से शकारो की भाषा शकारी कही जाती है।[6] किन्तु शकार राष्ट्रिय कहा गया है, और इस लिए उस की भाषा राष्ट्रिया जाननी चाहिए[7]। आ० दण्डी के 'आभीरादिगिर'

---

१ के० एम० मुन्शी द ग्लोरी देट वाज गुर्जरदेश, भाग ३, प्रथम सस्करण, पृ० ११६।

२ वही पृ० ११६।

३ निषादो भार्गव सूते दास नौकर्मजीवनम्।
कैवर्त इति य प्राहुरार्यावर्तनिवासिन ॥—मनुस्मृति, १०, ३४।

४ गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्ति' शावरी वा द्रामिडी वनचारिषु ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५६।
आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रशतयोदितम् ॥—काव्यादर्श, १, ३६।

५ प्राकृते—मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता' ॥—मृच्छकटिक टीका १, १। पृथ्वीधर।
दे०, नाट्यशास्त्र, १७-४६, ५०।

६. शकाराणां शकादीनां शाकरीं सम्प्रयोजयेत्।
तालव्यशकारबहुलत्वादेव भाषाया अस्या शाकारीति सञ्ज्ञा।—मृच्छकटिक टीका।

७. शकारो राष्ट्रिय स्मृत, इति वचनात् शकारस्य भाषा राष्ट्रिया विज्ञेया।—वही।

पद पर रंगाचार्य की टीका है कि गोप, शवर, शक और चाण्डाल आदि की भाषा आभीरी, शावरी, चाण्डाली आदि हैं। इस प्रकार के उद्धरणो से यह पता लगता है कि आभीरी गोप, ग्वाला या गौली लोगो की बोली थी, जो समाज के निम्न वर्ग की भाषा मानी जाती थी। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि यह वनेचर लोगो की भी बोली थी। क्योकि पृथ्वीधर ने वनेचरो की जिस ढक्क विभाषा का उल्लेख किया है वह उकारबहुल[1] है और अपभ्रंश से उस का पूर्ण साम्य है। यथार्थ मे आभीर जाति किसी एक प्रान्त मे स्थायी रूप से नही रही। उसे भ्रमणशील कहा गया है जो उचित ही है[2]। सिन्ध से ले कर दक्षिण भारत तक फैले हुए अहीरो की भाषा मे विविध प्रादेशिक भेद मिलते हैं। इसलिए हम उत्तर से दक्षिण भारत तक विभिन्न प्रदेशो में फैली हुई भाषाओ के कुछ शब्दरूपो तथा प्रत्ययो की बानगी आज भी प्राप्त कर सकते हैं[3]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का प्रसार उत्तर से पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण की ओर—हुआ है। आ० भरतमुनि के समय मे आभीर बोली प्रचलित थी, जो हिमवान्, सिन्धु, सौवीर और निकटवर्ती प्रदेशो मे रहने वाले लोगो की भाषा थी[4]। पुराणो के उल्लेखो से भी उत्तरापथ मे आभीरो की तथा आभीर प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। किन्तु इन प्रमाणो के मिलने पर भी निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता—कि अपभ्रंश अहीरो की बोली थी। क्योकि उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट लोगो की भाषा की तुलना में अपभ्रंश नीची थी और इसी लिए अपशब्दो की प्रचुरता से उसे शूद्रो, म्लेच्छो या महाशूद्रो अथवा आभीर आदि निम्न जातियो की विभाषा (बोली) कहा गया है। यदि वह अहीर, भील, मछुआ आदि लोगो की बोली होती तो उन के द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का निर्देश अवश्य मिलता। फिर, भाषा-विकास की दृष्टि से अध्ययन करने में कई प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। अतएव जातिविशेष से भाषा का सम्बन्ध न जोड़ कर प्रवृत्ति-विशेष से उस की पहचान करना उचित जान पडता है। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश का उपलब्ध अधिकाश साहित्य जैन साहित्य है। इसलिए भरतमुनि ने जिसे उकारबहुल कहा है वह भाषा विशेष की प्रवृत्ति का लक्षण है, जो विशेष रूप से अपभ्रंश मे ही लक्षित होता है तथा जो प्राकृत की ओकारान्त प्रवृत्ति का ह्रस्वान्त रूप है। अतएव प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी जन-सामान्य की भाषा कहना समीचीन जान पडता है।

---

१ ब (उ) कारप्राया ढक्कविभाषा। सस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च।

२ सी० डी० दलाल और गुणे भविसयत्तकहा की भूमिका १९२३, पृ० ४९।

३ देखिए, एल० ए० श्चिवरज्सचाइल्ड द्वारा लिखित "नोट्स आन दु पोस्टपोजीसन ऑव लेट मिडिल इण्डो-आर्यन, तणय एण्ड रेसि, रेसिम्" प्रकाशित, भारतीय विद्या, जिल्द १९, सख्या 3-४, पृ० ७७-८६।

४ हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जना· समुपाश्रिता।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ६२।

अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तथा प्राकृत के व्याकरणो मे प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रशका विचार किया गया है। हेमचन्द्र ने प्राकृतो को ध्यान में रख कर ही अपभ्रश के नाम-रूपो का विवेचन किया है।[1] भाषागत प्रमाणो से तथा अन्य उल्लेखो से पता लगता है कि सामान्य रूप से अपभ्रंश प्राकृतो का विकसित रूप है। साहित्य की भाषा बनने के पूर्व यह एक बोली मात्र थी, जो महाशूद्रो द्वारा बोली जाती थी। नाट्य में जातिभाषा के प्रयोग का विधान तो था, किन्तु निम्न जातियो की बोलियो का निषेध था।[2] अपभ्रंश का जन्म इन्ही बोलियो तथा देशी भाषाओ से हुआ है। यद्यपि बोली के रूप मे हमें उस की कोई बानगी नही मिलती, पर नाट्यशास्त्र मे उद्धृत उदाहरणो में उस की झलक दिखाई देती है।

भरतमुनि ने उकारबहुला जिस विभाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रश के लिए निर्दिष्ट है। भाषा के रूप में तब तक आभीरी का अभिधान नही हुआ था, इसीलिए कदाचित् वह आभीरोक्त या विभाषा (आभीरी) के नाम से अभिहित की जाती थी। नाट्यशास्त्र में उदाहृत 'मोरल्लउ नच्चन्तउ' 'महागमे संयन्तउ' आदि उदाहरणो में अपभ्रश के बोली-रूपो का पता लगता है। अपभ्रश का साहित्यिक ढाँचा प्राकृतो का होने से भाषा और साहित्य रूपो पर प्राकृतो का अत्यधिक प्रभाव है। उस में प्राकृतो की प्राय सभी विशेषताएँ प्राप्त है। परन्तु मुख्य रूप से वह शौरसेनी की चाल पर विकसित हुई है।[3] प्राकृतो का माडल यदि संस्कृत का है तो अपभ्रश का माडल प्राकृतो का है। वस्तुत देशी बोलियो का पानी पी कर ही अपभ्रश फली-फूली है। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के अनुसार नाटको में विभाषाओ का भी प्रयोग किया जाता था। नाट्य, प्रकरण आदि में विविध प्राकृतो मे से शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का विशेष चलन था। अपभ्रंशो में शकार, चाण्डाली, शाबरी और ढक्क भाषाएँ विशेष रूप से प्रयुक्त होती थी।[4] नाट्यशास्त्र मे ढक्क नामक देशी भाषा का उल्लेख तो नही मिलता है, पर जिन वनेचर लोगो की भाषा को आभीरोक्ति या शाबरी कह कर भरतमुनि ने परिचय दिया है उसी को पृथ्वीधर ढक्क भाषा कहते

---

१ प्रायोग्रहणाद्यस्यापभ्रशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत शौरसेनीवच्च काय्र भवति।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र, ४, ३२६।

२ जातिभाषाश्रय पाठ्य द्विविध समुदाहृतम्।—नाट्यशास्त्र, १७, ३१।
न बर्बरकिरातान्ध्र द्रमिलाद्यासु जातिषु।
नाट्यप्रयोगे कर्तव्य पाठ्य भाषासमाश्रयम्॥—वही, १७, ४६।

३ शौरसेनीवत। ४, ४४६।
अपभ्र शे प्राय शौरसेनीवत कार्यं भवति।—हेमचन्द्र।
सिंहराजकृत प्राकृतरूपावतार २१, १।

४ नाटकादौ बहुप्रकारप्राकृतप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषा प्रयुज्यन्ते—
शौरसेन्यवन्तिकाप्राच्यामागध्य। अपभ्रशप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषा प्रयुज्यन्ते—शकारीचाण्डाली शाबरीढक्कदेशीया।—मृच्छकटिक टीका १, १।

है।[1] अत अनुमानत हीन जातियो के द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य मे तव तक इसे उचित स्थान प्राप्त नही हुआ था। किन्तु नाट्य लोकधर्मी होने के कारण इन विभाषाओ के प्रयोगो से भी अछूते न रहे। सस्कृत-नाटको मे सम्भवत. प्रथम वार हमें इस ढक्क या आभीरोक्ति की वानगी मृच्छकटिक मे मिलती है। नाटको मे पात्रो के अनुसार भाषा का प्रयोग करने का विधान है। मृच्छकटिक मे चाण्डाली भाषा वोलने वाले चाण्डाल, शकारी वोलने वाले शकार तथा ढक्क भाषा वोलने वाले माथुर और द्यूतकर हैं। इनकी भाषा पर विचार करने से उस समय की भाषाविषयक सामाजिक स्थिति का वोध होता हैं। माथुर जुआरियो का मुखिया है। उस की और जुआरियो की भाषा ठेठ वोली एवं असंस्कृत भाषा है। आज भी हम फडो पर वैठ कर खेलने वाले जुआरियो की भाषा को अपने से वहुत कुछ भिन्न सुन सकते है। माथुर के शव्दो पर स्पष्ट रूप से हमें उकारवहुला की छाप लगी हुई दिखाई देती है। यथा—लुद्धु (रुद्धो), जूदकरु (द्यूतकर), पादु (पादौ), पडिमाशुण्णु (प्रतिमाशून्य), देउलु (देवकुल), धुत्तु (धूर्त), शिलु (शिर), गधु (गण्डु), माथुरु, पिदरु, मादरु, णिउणु (निपुण) आदि। अपभ्रंश की शावरी वोली को छोड कर तीनो वोलियों के नमूने हमे इस नाटक मे मिलते है।[2] वस्तुत. भाषा की दृष्टि से सस्कृत के सभी नाटको में इस का स्थान विशिष्ट हैं। भाषा समाज और संस्कृति की लोकचेतना का यह पूर्ण प्रकाशन करने वाला संस्कृत साहित्य में एक मात्र नाटक है। इस में प्रयुक्त ढक्क वोली मागधी से अत्यन्त प्रभावित है। इस लिए जान पडता है कि भले ही आभीर तथा आभीरो का प्रसार उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ हो, पर प्राकृतो की भाँति अपभ्रश को भी साहित्यिक भाषा वनने का सौभाग्य पूरव में प्राप्त हुआ। किन्तु पूर्वी अपभ्रश मे लिखा हुआ साहित्य वहुत कम उपलब्ध है, परन्तु जो वर्तमान है वह प्राचीनतम साहित्य में गिना जाता है।

वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के दानपत्र से पता लगता है कि उस के पिता संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो ही भाषाओ में प्रवन्ध काव्य रचने में निपुण थे।[3] इस से यह भी पता चलता है कि छठी शताब्दी के मध्य तक अपभ्रंश में प्रवन्ध काव्य लिखने का चलन हो गया था। क्योकि उक्त शिलालेख ५५९ और ५६९ के वीच का लिखा हुआ माना जाता है। आ० भामह, दण्डी और नमिसाधु के उल्लेखो से भी इस की पुष्टि होती है। नमिसाधु ने स्पष्ट रूप से आभीरी या अपभ्रश भाषा के लक्षण

---

१ त्रिविधा भाषा विभाषा। हीनपात्रप्रयोज्यत्वाद्धीना'। वनेचराणा चेति ढक्कभाषासग्रह। —मृच्छकटिक टीका, १, १।

२ मृच्छकटिके तु शवरपात्राभावाच्छावरी नास्ति।—वही।
अपभ्रंशपाठकेषु शकारी भाषापाठको राष्ट्रिय। चाण्डालीभाषापाठकौ चाण्डालौ। ढक्कभाषा-पाठकौ माथुरद्यूतकरौ।—वही।

३ संस्कृतप्राकृतापभ्रशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रवन्धरचनानिपुणतरान्तःकरण•।
—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूवर, १८८१, पृ० २८४।

मागधी मे कहे है। उन्होने प्राकृत प्रधान होने से अपभ्रश को उस के अन्तर्गत गिनाते हुए उस के तीन मुख्य भेदो का निर्देश किया है—उपनागर, आभीर और ग्राम्य।[1] उन के बताये हुए इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश गँवारू भाषा थी। क्योकि उपनागर और आभीर शब्द सामान्यत. हीन तथा ग्राम्य अर्थ के द्योतक हैं। राजा भोज के युग मे (१०२२–६३ ई०) प्राकृत की भाँति अपभ्रश का अच्छा प्रचार था। कहा जाता है कि स्वयं राजा भोज संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के अच्छे जानकार थे तथा तीनो भाषाओ में रचना करते थे। काव्य में भी तीनो भाषाओ का समान महत्त्व था।[2] किन्तु गुजरात मे अपभ्रश का विशेष प्रचार था। वहाँ के लोग केवल अपभ्रंश से ही सन्तोष का अनुभव करते थे।[3] यही नही, लाट देश के वासी संस्कृत से द्वेष रखते थे और प्राकृत को रुचि से सुनते थे। गौडदेशीय जनो की भी यही दशा थी। शालिवाहन राजा के काल मे प्राकृत का अत्यधिक अभ्युदय हुआ। और उसी मधुर प्राकृत से भरित अपभ्रश की रचना अत्यन्त भव्य और सरस है। इसे मगध और मथुरा के निवासी बोलते थे, और जो कवि जनो को भी इष्ट थी।[4] इस प्रकार ग्यारहवी शताब्दी मे मगध और मथुरा अपभ्रंश भाषा-भाषियो के केन्द्रस्थान थे।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास के ग्रन्थो के टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन प्राकृत वैयाकरण लक्ष्मीधर ने स्पष्ट रूप से षड्भाषाचन्द्रिका में प्राकृत के प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के नाम से छह भेद कहे हैं।[5] प्राकृत शब्द से काव्य मे महाराष्ट्री प्राकृत का बोध होता रहा है, जो किसी समय समूचे महाराष्ट्र, मध्य-देश, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत की बोली रही है। किन्तु साहित्य मे पहले पहल महाराष्ट्र मे अपनायी जाने के कारण सम्भवतः इसे महाराष्ट्री कहा जाने लगा। इस का जन्म भी महाराष्ट्र में हुआ कहा जाता है।[6] जिस प्रकार प्राकृतो के लिए संस्कृत

---

१ आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते तथा प्राकृतमेवापभ्रंश। सा चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरि भेद इति। कुतो देशविशेषात्, तस्य च लक्षण लोकादेव सम्यगवसेय।—रुद्रट कृत काव्यालकार की टीका, २,१२।

२ संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ प्राकृतेनैव चापर।
शक्यो रचयितु कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, २,१०।

३ शृण्वन्ति लटभ लाटा प्राकृत संस्कृतद्विष।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा॥—वही, २,१३।

४. वही, २,१४-१५। तथा–
गिर' श्रव्या दिव्या प्रकृतमधुरा प्राकृतधुर
सुभव्योऽपभ्रंश सरसवचनं भूतवचनम्।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति-
निर्बद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते॥—वही, २,१६।

५. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, २६।

६ तत्र तु प्राकृत नाम महाराष्ट्रोद्भव विदु।—वही, १, २७।

आदर्श रही है उसी प्रकार परवर्ती प्राकृत के लिए महाराष्ट्री और अपभ्रंश के लिए शौरसेनी आदर्श मानी जाती रही है। संस्कृत वैयाकरणों ने अपशब्द कह कर तथा सस्कृत के साहित्य समालोचको ने 'आभीरादिगिर:' कह कर जिस बोली का या विभाषा का निर्देश किया है वही साहित्य में अपभ्रश कही जाती है[१]। अपभ्रंश का प्रयोग नाटको में चाण्डाल आदि के द्वारा होने के कारण काव्यागो में उस का बहुत ही कम समावेश किया जाता है।[२] वैयाकरणो के शब्दो में प्राकृत नीच जाति की और अपभ्रश सब से नीची जाति की भाषा है। इसीलिए साहित्य में इन्हें महत्त्व प्रदान नही किया गया। किन्तु राजनैतिक उथल-पुथल में वह साहित्यिक गौरव प्राप्त कर जन-मानस में व्याप्त रही।

राजशेखर ने काव्य की मुख्य चार भाषाओ का निर्देश किया है। संस्कृत वाणी सुनने में दिव्य, प्राकृत स्वभाव से मधुर, अपभ्रंश सुभव्य और भूतभाषा सरस है।[3] काव्यमीमासा के विवरण से पता लगता है कि अपभ्रंश का प्रचलन मारवाड़ में ही नही पश्चिमी पजाब, गुजरात तथा मालवा में भी था। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा में लिखे गये कई प्रबन्ध काव्यो का उल्लेख किया है। उस ने प्रादेशिक भेदो के अनुसार अपभ्रंश के विविध भेदो का भी निर्देश किया है।[४]।

अपभ्रंश के भेद—आ० हेमचन्द्र ने शिष्ट और ग्राम्य के भेद से अपभ्रश के दो रूपो की चर्चा की है।[५] किन्तु प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने भाषा के चार विभाग माने हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती तथा मागधी। विभाषाएँ भी पाँच कही गयी है—शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और शाक्वी (शाखी)। उन्होंने अपभ्रश के नागर, उपनागर और व्राचड तीन मुख्य भेद माने हैं तथा आद्री, द्राविडी आदि सत्ताईस भेद कहे है। अधिकतर वैयाकरण प्राकृत का ही प्रधान रूप से विचार करते हुए लक्षित होते हैं। सभी प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत के प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार भेदों का व्याकरण दिया है। केवल वाल्मीकीय प्राकृतशब्दानु-

---

१ अपभ्रशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चय'।
कविप्रयोगानर्हत्वान्नापशब्द स तु क्वचित॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, ३१।

२ अपभ्रशस्तु चाण्डालयवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रशविन्यासस्यासहिष्णव॥—वही, १, ३६।

३ गिर श्रव्या दिव्या प्रकृति मधुरा' प्राकृतधुर'
सुभव्योऽपभ्रश सरसवचन भूतवचनम्॥—बालरामायण, १, ११।

४ तत्र प्राय सस्कृतप्राकृतापभ्रशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसन्ध्यवस्कन्धकबन्धम्।
तथा—अपभ्रशस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेषु भाषितम्।

५ एच० जेकोबी "इन्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा" शीर्षक लेख, अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, प्रक[illegible] ओ[illegible] इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, द्वितीय जिल्द, मार्च, १९५३.

शासन और हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन में इन के अतिरिक्त चूलिका और पैशाची अपभ्रंश का अधिक विवरण है। षड्भाषाचन्द्रिका मे भी उक्त छहो भाषाओ का विचार हुआ है। यदि हम सभी उल्लेखो पर विचार करे तो देशी भेदो से अपभ्रंश के कई भेदो की कल्पना करनी होगी। किन्तु उसे उचित नही कहा जा सकता। फिर, उपलब्ध साहित्य से उस की कोई संगति भी नही बैठती, इस लिए केवल साहित्यिक रचनाओ को देखते हुए अपभ्रश के अनिवार्यत दो भेद माने जा सकते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। किन्तु डॉ० तगारे ने पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तीन भेद माने है।[1] यद्यपि अपभ्रश साहित्य उत्तर भारत को छोड कर तीनो भागो मे प्राप्त होता है पर भाषा की दृष्टि से हम उसे मुख्य दो रूपो में विभाजित कर सकते है। दक्षिण भारत से प्राप्त साहित्य मूलत पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रश मे निबद्ध है। पूर्वी अपभ्रश मागधी प्राकृत से प्रभावित है। साहित्य में महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन रहा है। क्योकि उक्त दोनो प्राकृत सस्कृत के अधिक निकट रही हैं।[2] फिर अपभ्रश में शौरसेनी के अनुसार भाषा-विधान है।[3] इसलिए शौरसेनी अपभ्रश की मुख्यता का सहज मे निश्चय हो जाता है। पूर्वी अपभ्रश में हमे सिद्ध-साहित्य लिखा हुआ मिलता है जो मागधी के अधिक निकट है। किन्तु दक्षिणी अपभ्रश को कोई स्पष्ट भेदक रेखा नही खीची जा सकती। अतएव अपभ्रश के मुख्य दो तथा प्रादेशिक अनेक भेद माने जा सकते हैं। अन्य भेदो में सामान्य रूप से कही-कही अन्तर दिखाई देता है, जिस का उल्लेख प्राकृत वैयाकरणो ने अत्यन्त सक्षिप्त रूप में किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से देशी और साहित्यिक भेद से अपभ्रश के दो रूप कहे जा सकते हैं। स्वयम्भू ने अपनी भाषा को ग्रामीण जनो की भाषा से हीन देशी भाषा कहा है।[4] देशी लोकभाषा का वह रूप था जो जन-सामान्य में प्रचलित था, लेकिन साहित्यिक भाषा केवल शिष्ट जनो की थी। समाज मे भाषाविषयक यह अन्तर वैदिक युग से ले कर आज तक बराबर हुआ है। इस का एक मात्र कारण सामाजिक वर्ग-भेद माना जा सकता है।

अपभ्रश का स्वरूप—अपभ्रंश में सामान्य रूप से प्राकृतो की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। शौरसेनी में 'त' को 'द' करने की प्रवृत्ति है तथा 'य' को 'ज' होने का विधान है। अपभ्रश में भी ये दोनो नियम प्रयुक्त देखे जाते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यम व्यजन का लोप हो जाता है। अपभ्रश मे भी यह प्रवृत्ति व्यापक है। मागधी में

---

१ तगारे हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रश, १९४८, पृ० १५–१६ ॥

२ प्रकृति सस्कृतम्।—वररुचि प्राकृतप्रकाश, १२, २।
शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति सस्कृतम्।

३ शौरसेनीवत्। ८, ४४६।—हेमचन्द्र।
अपभ्रशे प्राय शौरसेनीवत् कार्यं भवति।

४ सक्कयपाययपुलिणालंकिय देसीभासा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १,२,४।
तथा–सामण्णभास छुडु सावडउ, छुडु आगमजुत्तु कावि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं, [illegible] पारहरणाइं।–१,३,१०-११।

'ज' को 'य', 'थ' को 'त' और 'त' को 'द' हो जाता है। अपभ्रश में भी कही-कही इन नियमो का पालन देखा जाता है। इसी प्रकार पैशाची मे 'ण' को 'न' और 'द' को 'त' का विधान है, जो अपभ्रंश में भी पाया जाता है। मागधी की प्रसिद्ध प्रवृत्ति 'र' को 'ल' और 'स' को 'श' अपभ्रंश मे व्यापक है। नमि साधु ने मागधी के जिन सामान्य नियमो का उल्लेख किया है वे अपभ्रंश में पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। इस का संकेत भी उन्होने किया है। वस्तुतः मृच्छकटिक में जिस ढक्क भाषा का प्रयोग हुआ है उस से अपभ्रंश का निकास हुआ समझना चाहिए। इस ढक्क भाषा पर मागधी का भी पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। अपभ्रश की प्रवृत्ति ही नही रूपात्मक वृत्ति तथा रचना मे भी दोनों में अत्यधिक साम्य है। उदाहरण के लिए माथुर का यह वाक्य "धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो" लिया जा सकता है। इसी प्रकार "एसु तुमं हु जूदिअरमंडलीए वद्धोसि," "कधं जूदिअलमंडलीए वद्धोम्हि"—वाक्य कहे जा सकते हैं, जो मागधी से प्रभावित होने पर भी अपभ्रंश के निकट हैं। यद्यपि नाटक में प्रयुक्त बोलियाँ प्राय सस्कृत से प्रभावापन्न हैं, पर क्रियाओ को छोड कर अन्य रूपो पर वहुत कम ही प्रभाव है, यथा—"पिढरु विक्किणिअ पअच्छ"। कहा जाता है कि प्राकृत वैयाकरणो में चण्ड ने सम्भवत प्रथम वार अपभ्रश का उल्लेख किया है तथा उस के नियमो का विवरण दिया है।[1] जो भी हो, पर चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश में प्राकृतो की मुख्य विशेषताओ के साथ ही देशी प्रवृत्तियो का भी समावेश होने लगा था। इसी लिए उस में कुछ नवीन प्रत्ययो तथा क्रियाओ का विवरण मिलता है।[2] यही नही, प्राकृतप्रकाश की टीका में देशीय भेदो से प्राकृत के अनेक भेद कहे गये हैं।[3] यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का विधान प्राकृतो के अन्तर्गत किया है, पर अपभ्रंश निश्चय ही प्राकृत से भिन्न है; प्राकृत नही है। नमि साधु के "तथा प्राकृतमेवापभ्रंश." कहने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि प्राकृत के समान ही अपभ्रंश में भी नियम देखे जाते हैं, इस लिए वह प्राकृत के समान ही है, न कि प्राकृत है।

प्राकृत और अपभ्रंश

जहाँ प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है वहाँ अपभ्रंश की उकारान्त। किन्तु आ० हेमचन्द्र के अनुसार 'सु' आदि विभक्तियो के परे रहते संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाते हैं, यथा—

ढोल्ला सामला घण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी॥

---

१ स० सी० डी० दलाल और गुणे : भविसयत्तकहा, भूमिका, पृ० ६१।

२ भ्र घे फिड फिट्ट फुड फुट्ट भुक्क भुल्ल। हंसेगुंज'। गुंजह हसइ। मारचर्थे अम्ह इल्लौ एतौ प्रत्ययौ भवत।

३, प्राकृत बहु तत्तुर्य्य देशादिकमनेकधा'।—प्राकृतप्रकाश टीका।

यहाँ ढोल्ला और सामला शब्द दीर्घ हैं तथा सुवण्ण ह्रस्व। डॉ० जैकोवी और अल्सडोर्फ ने इस अन्तर एव नियम पर वडा वल दिया है। अल्सडोर्फ का कथन है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति ह्रस्वान्त है।[1] किन्तु वस्तुत वह उकारान्त ही है। नाम-रूपो तथा सज्ञा शब्दों पर स्पष्ट रूप से उस की छाप देखी जा सकती है। भरतमुनि और प्राकृत वैयाकरणो ने इस प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख किया है। स्वयं आ० हेमचन्द्र ने अपभ्रंश मे कर्त्ता और कर्म के एकवचन में अकारान्त शब्द के अन्तिम 'अ' को 'उ' का विधान किया है।[2] पाली तथा प्राकृतो की अपेक्षा अपभ्रंश में शब्द-रूप और क्रिया-रूप अधिक सरल हैं। सस्कृत मे गण, लकार, पद तथा वचन आदि के भेद से शब्द और क्रिया—रूपो में जो जटिलता थी वह पाली—युग में बहुत कुछ सरल हो जाती है। पाली युग मे द्विवचन का लोप दिखाई देता है। दस गणों के स्थान पर पाँच गण मिलने लगते है, जो प्राकृत युग में समाप्तप्राय हो जाते हैं। सरलीकरण की प्रवृत्ति अपभ्रंश में विशेष रूप से दिखाई देती है। इसी लिए प्राकृत के रायउलं, एगूणवीसो, वाणिअगा, पिच्छिऊण आदि शब्द राउल, एकवीस, वणिअ, वणिज, पुच्छउ आदि के रूप में अपभ्रश में देखे जाते हैं। पाली में परस्मैपद और भ्वादि गण-रूपो की वहुलता है। प्राकृतो मे भी यही प्रवृत्ति वहुल है। सामान्यत· सभी प्राकृतो में चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप दिखाई देता है, और उस के स्थान पर षष्ठी का प्रचलन रहा है।[3] कर्त्ता और कर्म मे वहुवचन रूप नपुसक लिंग की भाँति वनने लगे। प्राय दुहरे रूपों का लोप हो गया, केवल परस्मैपदी रूपो का चलन रहा। सयुक्ताक्षरो के स्थान पर द्वित्व की प्रवृत्ति वढती गयी। किन्तु अपभ्रंश में विभक्ति-रूपो में और भी अधिक सरलता आ गयी। कर्त्ता और कर्म में जहाँ समान रूप प्रचलित हो गये वही सम्बोधन और सम्बन्ध के वहुवचन के रूपो में साम्य वढ चला। षष्ठी विभक्ति का प्राय. लोप ही हो गया।[4] इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का निर्विभक्तिक पद से अपभ्रंश-युग में वोध होने लगा था। यही नही, विभक्तियो का भी विनिमय इस युग मे होने लगा था। परवर्ती काल में व्रज, अवधी और अवहट्ठ तथा देशी भाषाओ मे निर्विभक्तिक प्रयोगो का स्पष्ट प्रचार दिखाई देता है। अपभ्रंश मे सन्धि के नियम निश्चित नही हैं। इसी प्रकार लिंग में भी अव्यवस्था है।[5] किन्तु पाली, प्राकृत की भाँति ह्रस्व एकार और ओकार का चलन रहा है।[6] ह्रस्व ऋ का भी कही-कही प्रयोग है, पर साधारणत संस्कृत के

---

१ अपभ्रश स्टडिएन, पृ० ६–७।

२. स्यमो रस्योत्, ।–सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

३ सर्वत्र षष्ठीव चतुर्थ्या इति क्रमदीश्वर। यथा–विपस्स देहि।

४ षष्ठ्या ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८,३४५।
अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्या प्रायो लुग् भवति।

५ लिङ्गमतन्त्रम् ।–वही, ८,४४५।

६. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार। वही।

ऋ, ऌ, ऐ और औ का अपभ्रंश में प्रयोग नही है। क्रिया-रूपो मे वर्तमान तथा विशेष रूप से भूतकाल में कृदन्त का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के हलन्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द अपभ्रंश में अकारान्त बन जाते है। हिन्दी की आकारान्त और ईकारान्त प्रवृत्ति का मूल अपभ्रंश की उभयविध प्रवृत्तियो मे देखा जाता है। आ० हेमचन्द्र ने इस का विधान भी किया है।[1] अपभ्रंश में कुछ ऐसे प्रत्यय तथा परसर्ग दिखाई देते हैं जो पाली और प्राकृत में नही मिलते। ये भाषा-विकास की अवस्था विशेष के सूचक होने के साथ ही नवीन उपलब्धि के प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए—पूर्वकालिक क्रिया निष्पन्न करने के लिए संस्कृत में क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययो का विधान है तथा पाली प्राकृत में उसे तूण और इय आदेश हो जाते हैं।[2] किन्तु अपभ्रंश में इस के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु इन आठ प्रत्ययो का प्रयोग होता है।[3] इसी प्रकार क्रियार्थक क्रिया के लिए अपभ्रंश में धातु के आठ रूप होते है जो प्राकृत मे नही हैं। कृदन्त रूपो में भी विविधता देखी जाती है। निश्चय ही हिन्दी के कृदन्त तथा सज्ञा शब्दो में लिंग की जो अव्यवस्था है वह अपभ्रश से सम्बन्धित है। अ, डड और डुल्ल अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय हैं।[4] प्पणु और तण प्रत्ययो की भी विशेष व्यवस्था है।[5] इस भाषा में देशी शब्द-रूपो का बाहुल्य है।[6] शब्द तथा क्रिया-रूप अपभ्रंश प्रकृति में ढले हुए ही दिखाई देते है। कहा जाता है कि अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषता 'य' श्रुति है। किन्तु यह मागधी और अर्द्धमागधी की भी विशेषता है।[7] वस्तुत इस भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता स्वरों के ह्रस्व उच्चारण में निहित है। प्राकृत और अपभ्रंश मे संयुक्त व्यंजनो का अधिक प्रयोग है। स्वरो में या तो सन्धि कर दी जाती है अथवा सम्प्रसारण। किसी-किसी ध्वनि का लोप कर उसे कोई अन्य रूप ही दे दिया जाता है। क्रिया-रूपो में भी यह प्रवृत्ति मुख्य है। अपभ्रश मे निष्ठाबोधक कई प्रत्यय है। प्रत्यय और रूपो की इस विविधता से पता लगता है कि संस्कृत से प्राकृत मे और प्राकृत से अपभ्रंश युग मे इन रूपो में विकासात्मक प्रवृत्ति बढती रही तथा आर्येतर भाषाओ से प्रभाव रूप में भारतीय आर्य-भाषाएँ बहुत कुछ ग्रहण करती रही हैं। देशी बोलियो में कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व

---

१. स्यादो दीर्घह्रस्वौ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३०।

२ क्त्वा तूण इयौ।—स०-प० मथुराप्रसाद। पाली-प्राकृत व्याकरण, २, ३६।

३ क्त्वा इइउइविअवय (एप्प्येप्पिण्व्येविणव।—सिद्धहेमशब्दानुशासन।

४ अडडडुल्ला स्वार्थिकलुक् च।—त्रिविक्रमदेव प्राकृतशब्दानुशासन, २६,३,३।

५ त्वत्तलो प्पणु।—सिद्धहेमशब्दानुशासन।
विशेष द्रष्टव्य है—लेखक का 'अपभ्रश के प्पणु और तण प्रत्यय' शीर्षक लेख, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अ० ४, सवत् २०१७।

६. तक्षाद्यादेश्चोल्लादीन्।—प्राकृतशब्दानुशासन, ६४,३,४।
झाडगान्तु देश्या सिद्धा।—वही, ७२,३,४।

७ अवर्णो य श्रुति।—पाली-प्राकृतव्याकरण, २,२५।

मिलते हैं, जिन की जडें लोकपरम्परा मे लक्षित होती हैं। वस्तुत अपभ्रंश का विकास भी उसी परम्परा से हुआ है।

देशी

प्राकृत युग में ही साहित्य की भाषा को देशी कहने का प्रचलन हो गया था। पादलिप्तसूरि अपनी कथा की भाषा को जो कि प्राकृत है देशी कहते हैं।[1] इन का समय लगभग पाँचवी शताब्दी कहा कहा जाता है। उद्योतन सूरि (७६९ ई०) स्पष्ट रूप से कुवलयमाला कथा की महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहते हैं और उसे प्राकृत से भिन्न बताते हैं।[2] कोऊहल ने भी महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखित लीलावई की भाषा को महाराष्ट्र की देशी भाषा कहा है।[3] यद्यपि यह सच है कि लीलावई में देशी शब्दो का प्राधान्य है, पर स्वयं कवि अन्य स्थल पर प्राकृत को देशी भाषा कहता है।[4] दण्डी ने भी देशविशेष की जातीय भाषा होने के कारण अपभ्रंश का उल्लेख किया है।[5] प्राकृतो मे देशी विशेषताओ का स्पष्टत. प्राधान्य रहा है।[6] आ० रुद्रट तो अपभ्रंश को देशी भाषा ही कहते हैं।[7] मृच्छकटिक मे जिस ढक्क विभाषा का प्रयोग हुआ है उसे टक्क (आधुनिक पूर्वी पंजाब) देश की बोली माना जा सकता है। काव्यादर्श की टीका काव्यलक्षण मे प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के भी चार भेद हैं और उसे देशीय कहा है।[8] संस्कृत और प्राकृत के कवियो ने ही नही अपभ्रंश के लेखको ने भी अपनी रचनाओ की भाषा को देशी कहा है। महाकवि स्वयम्भू अपने प्रबन्ध काव्य 'पउमचरिउ' की भाषा को संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनो से अलंकृत तथा देशी भाषा रूपी दो तटो से उज्ज्वल कहते हैं।[9] पुष्पदन्त भी नम्रता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि न तो मैं छन्दशास्त्र के नियमो को भलीभाँति जानता हूँ और न छन्द तथा देशी भाषा को ही।[10] पद्मदेव, लक्ष्मण और अन्य अपभ्रंश कवि अपनी भाषा का परिचय देशी कह कर

---

१ पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसीवयणेहिं।
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता विचित्ता विहुलापय ॥—जेकोबी सनत्कुमारचरित की भूमिका, पृ० १७८ से उद्धृत।

२ पाययभासा रइया भाहट्ठयदेसी वयणणिबद्धा।—डॉ० आ० ने उपाध्ये लीलावई की भूमिका से उद्धृत।

३ भणियं च पियय माए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अगाइ हमोए कहाएँ सज्जणा संग जोउगाई ॥—लीलावई, गाहा १३३०।

४. एमेय मुद्ध जुयई मनोहर पाययाएँ भासाएँ।
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कह दिव्व माणुसिय ॥—वही, गाथा ४१।

५ आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।—काव्यादर्श, १, ३६।

६. तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेक प्राकृतक्रम.।—वही, १, ३३।

७ षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश।—काव्यालंकार, २,१२।

८ अपभ्रंशोऽपि प्राकृतवच्चतुर्धा स्मर्यते। यदुक्तम्—
शब्दभव शब्दसम देशीय सर्वशब्दसामान्यम्।
प्राकृतवदपभ्रंश जानीहि चतुर्विधमाहितम् ॥—रत्नश्रीज्ञान काव्यादर्श की टीका, १, ३६।

९ सक्कयपायय पुलिणालंकिय देसीभासा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १,२,३-४।

१० ण हउ होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १,८,१०।

देते हैं।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने देसीसद्दसंगह में कहा है कि जो शब्द प्रकृति-प्रत्यय आदि से शब्दशास्त्र से सिद्ध नही हैं तथा संस्कृत कोशों में जो प्रसिद्ध नही है और न लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियो से जिनका अर्थ सम्भव है वे इस कोश मे निबद्ध हैं[2], और देशविशेष (महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि) में प्रसिद्ध होने के कारण उन शब्दो को एवं अति काल से प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा विशेष को देशी कहते हैं।[3] देशी की इस परिभाषा में शब्द ही नही उन शब्दो से युक्त भाषा का भी ग्रहण हुआ है। देशीनाममाला में नाना देशो में प्रसिद्ध देशी शब्दो का संग्रह तथा अर्थ निबद्ध है। इसमें कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो अपभ्रंश के हैं। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा को डॉ० चटर्जी प्राचीन कोशल देश की बोली कोशली मानते हैं।[4] यह लगभग ग्यारह्वीं-बारहवीं शताब्दी की रचना कही जाती है। इसके लेखक पं० दामोदर ग्रन्थ की भाषा को भ्रष्ट गिरा कहते हैं।[5] साधुसुन्दरगणी कृत उक्तिरत्नाकर में अनेक देशी शब्दों का संग्रह है। वस्तुतः ये रचनाएँ लोक परम्परा की हैं जो लोकधर्म तथा भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी परम्परा मे आगे चल कर हमे विद्यापति की कीर्तिलता और पदावली जैसी रचनाएँ मिलती हैं। स्वयं विद्यापति ने देशी वचनो को मधुर कह कर उस का महत्त्व गाया है।[6] स्पष्टतः भाषा और काव्य की यह वही धारा है जो लोक जीवन को साथ ले कर विकसित होती रही है। इस में प्राय. सभी साहित्यांगो का विकास हुआ है, पर क्रमश· वे शास्त्रीय नियमो से आबद्ध होते गये, और इसीलिए केवल जन-जीवन की झलक ही उन में मिलती है; समाज की चेतना का पूर्ण प्रतिबिम्ब नही।

अपभ्रंश भाषा का स्थान

जाति, भाषा, साहित्य और इतिहास के उल्लिखित प्रमाणो से पता लगता है कि उत्तर वैदिक युग में आभीर सिन्ध और पंजाब के प्रदेशों में फैले हुए थे, जिनका मुख्य कर्म गो-पालन था। महर्षि वाल्मीकि ने उत्तरापथ के द्रुमकुल्य नामक स्थान पर दस्युओ के अन्तर्गत आभीरो का विवरण दिया है।[7] उत्तर में

---

१. डॉ० हीरालाल जैन · पाहुडदोहा, भूमिका, पृ० ४४-४५।

२ जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥—देशीनाममाला, १,३।

३ देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी ॥—वही, १,४।

४ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्रस्तावना, पृ० ६।

५ ततो देशे देशे प्रतिविषय लोक पामरजनो यया यया गिराप्रभ्रष्टया यत् किंचित अभिधेय वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रंश भाषा।—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लोक ७ विवृत्ति।

६ देसिल वअना सब जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओ अवहट्ठा।—कीर्तिलता, १,२१-२२।

७ उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतरो मम।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान् ॥—रामायण, ६,२२-२९।
उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यव ।
आभीरप्रमुखा पापा पिबन्ति सलिलं मम ॥—वही, ६,२२,३०।

आभीर नाम के प्रदेश का भी उल्लेख मिलता है। संगीत शास्त्र में आभीरी राग भी है।[1] जान पडता है कि जिस प्रकार आर्यों के आचार-विचार से हीन होने पर आभीर शूद्र और म्लेच्छ कहे गये हैं उसी प्रकार वेदो के राग से भिन्न होने के कारण, गमक से हीन आभीरी देशी राग कहा गया है।[2] यही नही, साहित्य में आभीर नामक एक नये मात्रिक वृत्त का भी चलन हो गया।[3] यह सब लोक-परम्परा का प्रभाव एवं विकास कहा जा सकता है। इस में शास्त्रीयता का केवल आवरण भर है। परवर्ती काल में इन में और भी अधिक विकास हुआ। इस प्रकार आभीर जाति, प्रदेश और कला का प्राचीन विवरण मिलता है। भापा के रूप में भरतमुनि ने जिसे आभीरोक्ति तथा उकारबहुला कहा है उस की पहिचान दण्डी अपभ्रश से कराते है। नमिसाधु, मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, पृथ्वीधर और रत्नश्रीज्ञान आदि अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीर से जोडते हैं। भरतमुनि आभीरी भाषा से ही नही जाति से भी परिचित थे।[4] दण्डी ने कदाचित् पहली बार स्पष्टत. अपभ्रंश को आभीरो कहा। उन के काव्यादर्श की टीकाओ में सम्भवत· सर्वप्राचीन रत्नश्रीज्ञान कृत काव्यलक्षण उपलव्ध होती है। यह राष्ट्रकूट राजा तुगभद्र के समय लिखी गयी थी। दण्डी के 'आभीरादिगिर' पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि आभीर पजाबी है और आदि शब्द से ढक्क आदि विभाषाओ का ग्रहण करना चाहिए।[5] बहुत कर ढक्क से अभिप्राय ढाका प्रदेश से रहा होगा। पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त जिस ढक्क विभाषा का निर्देश किया है उस का सम्बन्ध टक्क देश से न हो कर ढाका से है। वस्तुत अपभ्रश पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली रही है पर ज्यो-ज्यों आभीरो का प्रसार उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूरब की ओर होता रहा है भापा का क्षेत्र और विकास भी वढता रहा है। इस देश के कई प्रदेशो में आभीरो का राज्य रहा है। ये गणतन्त्र राज्य के प्रतिष्ठापक रहे हैं। नेपाल, गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिमी सीमान्तप्रदेशो में कई आभीर राजाओ का राज्य रहा है। भरतमुनि ने हिमालय की तराई, सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती घाटी प्रदेश में बसने वाले वनेचरो की भाषा को आभीरोक्ति कहा है। राजशेखर अपभ्रंश का

---

१ शुद्धपञ्चमसभूता गमकस्फुरणान्विता।
आभीरो-गमहीना स्याद्दबहुला पञ्चमेन च ॥ भरतकोश से उद्धृत, स०—श्रीमान् वल्लि रामकृष्ण कवि, प्रथम सस्करण।

२ वही। तथा—
मालापञ्चमभापेयमाभोरी परिकीर्तिता।
रिगाम्यां च विहीना च औडुवा परिकीर्तिता ॥—जगदेव, वही।

३ एकादशकलधारि कविकुलमानसहारि।
इदमाभोरमवेहि जगणमन्तमनुद्य हि ॥—शब्दार्थ चिन्तामणि (सुखानन्द), प्रथम भाग, पृ० २७३।

४ आभीरयुवतीनां तु द्विवेणीधरमेव च।
शिर परिगमप्रायो नीलप्रायमथाम्बरम् ॥ —नाट्यशास्त्र २३. ६५। चौखम्बा सस्करण।

५ आभोरा वाहिका। आदि शब्देन ढक्कादिपरिग्रह। तेपा गिरो भापा अपभ्रश इति अपभ्र शनाम्ना।

क्षेत्र समूचा राजपूताना, पंजाव[1] (पूर्व मे व्यास नदी से पश्चिम में सिन्धु नदी तक का प्रदेश), और मादानक कहते है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवी शताब्दी तक उत्तर-पश्चिम भारत मे अपभ्रंश वोली जाती रही है। किन्तु पश्चिम में ही नही पूरव मे भी अपभ्रंश का प्रचार रहा है। आभीरो के स्थानान्तरण के साथ ही आभीरी भी फैलती रही है। गुप्त युग में आभीर राजाओ का प्रभुत्व भी रहा है। पर इतिहास में उन्हें महत्त्व नही मिला। इस का कारण सामाजिकता के अतिरिक्त हेय भावना भी कहा जा सकता है। समाज में आभीर शूद्र माने जाते रहे हैं और क्षत्रियत्व का पद प्रदान करने के लिए समाज उन के लिए प्रतिकूल रहा है। यह निश्चय है कि ढक्क भाषा अपभ्रंश की वोली रही है, जिस पर मागधी का विशेष प्रभाव है। किन्तु यह एक वडा प्रश्न है कि अपभ्रंश जैन-साहित्य की भाषा कव और कैसे वनी ? जैन और वौद्ध आचार्य वहुत कर जन-वोलियो में उपदेश देने तथा ग्रन्थ लिखने के पक्षपाती रहे है। सम्भवत. जव आभीरो के दल नेपाल और मालवा से कई दलो में विभक्त हो कर दक्षिण और पूरव की ओर वढे होगे तभी लिच्छवियो से उन की मुठभेड हुई होगी तथा अपनी संस्कृति और भाषा से प्रभावित किया होगा। यद्यपि उस युग में भाषागत एकरूपता किसी न किसी रूप में अवश्य होगी पर जातिगत भिन्नता और विभिन्न संस्कृतियो के मेल से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। और इसीलिए ढक्क विभाषा पर हम एक ओर अपभ्रंश की छाप देखते हैं तो दूसरी ओर मागधी का पूर्ण प्रभाव। ऐतिहासिक प्रमाणो से यह सिद्ध है कि आभीर त्रिकूटो की भाँति सफल शासक थे। पाँचवी शताब्दी में उत्तर महाराष्ट्र और उत्तर गुजरात त्रिकूटो के अधिकार में थे, जो उन्हें आभीर राजा से प्राप्त हुए थे[2] : यही नही, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में ही आभीरो ने लिच्छवि राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था और कुछ समय तक शासन भी किया था।[3] शिलालेखो के प्रमाण से भी इस की पुष्टि होती है। इस प्रकार उक्त सन्दर्भों से पता लगता है कि अपभ्रंश उत्तर-पश्चिम प्रदेशो की भाषा थी जिस का सम्वन्ध विशेष रूप से निम्न जातियो से था और प्रामाणिक रूप से जो आभीरो तथा जन सामान्य की वोली थी।

अपभ्रंश : विकार या विकास—संस्कृत के व्याडि, भर्तृहरि और पतंजलि आदि वैयाकरण उच्चारण की असावधानी से पहले जिसे अपशब्द कह कर भाषा का वोध कराते थे वाद में अपशब्द एवं भ्रष्ट शब्दो का वाहुल्य देख कर उसी को 'अपभ्रष्ट गिर.' या अपभ्रंश कहने लगे। वैयाकरणो का स्पष्ट मत है कि साधु प्रयोग संस्कृत है और विकृत अपभ्रंश। उन का यह भी कथन है कि शब्दो को विगाड़ कर वोलने की

१ पंजाव में चेहका महत्त्वपूर्ण राज्य कहा जाता है जो टक्क से अभिन्न है। उस की राजधानी सियालकोट के पास थी। टक्क पूर्व में व्यास नदी से लेकर पश्चिम में सिन्धु तक विस्तृत था। देο, द क्लासिकल एज, जिल्द तृतीय, पृ० १११।

२ वही, पृ० १९३।

३ वही, पृ० ८५।

प्रवृत्ति परम्परागत है और इसलिए शब्दो की प्रकृति ही अपभ्रंश है।[१] किन्तु महर्षि पतंजलि का कथन है कि एक ही शब्द के कई विगड़े हुए रूप मिलते हैं और इसलिए वे सब अपभ्रंश हैं। यथा—एक गौ शब्द के वाचक गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रश शब्द हैं।[२] किन्तु किसी एक वस्तु के बोधक अनेक शब्दो के होने से तो कोई भाषा अपभ्रंश नही मानी जा सकती है। क्योकि एक ही भाषा में एक पदार्थ के वाचक अनेक शब्द हैं। इसलिए पतंजलि का यह अभिप्राय नही कहा जा सकता कि एक अर्थ के बोधक कई शब्दो के होने से वह अपभ्रंश है। इस के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ये शब्द आर्येतर प्रजाओ द्वारा ही प्रयुक्त होते हो या शूद्रो अथवा म्लेच्छो में व्यवहृत हो और दूसरे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के वाचक न हो। महाभाष्य के विवरण से भी इस का किंचित् संकेत मिलता है।[3] स्पष्ट ही महाभाष्य में कथित अपभ्रंश शब्दो में से गोणी प्राकृत में, पाली मे और सिन्धी में तथा गावो (ग्राह्वी) वंगला में प्रयुक्त हैं। गाय का वाचक 'गावी' शब्द पाली में भी देखा जाता है। गोपोतलिका का अर्थ जवान गाय कहा जाता है। सम्भवत: गोता त्रस्त गाय को कहते थे[४]। महाभाष्य के आदि पद से गोणा तथा गोण शब्द का ग्रहण किया जा सकता है। प्राकृत में 'गोणा' तथा 'गोला' शब्द भी गाय के अर्थ में प्रचलित रहा है।[५] पाली में 'गोण' शब्द गाय का बोधक है।[६] देशीनाममाला की टीका में भी गाय अर्थ में 'गोण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] गोण का एक अर्थ पाली और प्राकृत में बैल भी है। हेमचन्द्र ने इस का एक अर्थ सन का वस्त्र कहा है।[८] अतएव अपभ्रष्ट शब्दो से भरित किसी भाषा को अपभ्रंश नही कहा जा सकता। वैयाकरणो का यह दृष्टिकोण सीमित एव सकुचित कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने आर्येतर प्रजाओ तथा म्लेच्छों की बोलियो से संस्कृत को बचाने का अप्रतिम प्रयत्न किया, किन्तु असीरियन, मिश्र, फिनोउग्रियन आदि भाषाओ से समय-समय पर प्रभावित हो कर संस्कृत भाषा नाम-रूपो को ग्रहण

---

१ पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषा साधुरवाचक ॥—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १५४।

२ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशा।—महाभाष्य, १, १, १।

३ वेदान्नो वैदिका शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका, अनर्थक व्याकरणम् इति। यदि तावच्छब्दोपदेश क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्-गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेश क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद् गौरित्येष शब्द-इति। किं पुनरत्र ज्याय।
—वही, १, १, १।

४ दे०, गोत्तास शब्द, जैनागम शब्दसग्रह (अर्द्ध मागधी गुजराती कोष), पृ० ३००। प्रथम सस्करण।

५ नदी तत्रा बहुला गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही।—पाइअलच्छी नाममाला, ४५।

६ गोण नाम्हि वा सुहिना सुच।—काच्चायन पाली व्याकरण, २।१, २६, ३०। सद्दग्गहणेन स्यादिसेसेसु पुब्बुत्तरवचनेसूपि गोण गु गवयादेसो होति।

७ गोणशब्दस्तु गवि शब्दानुशासने साधितोऽपि गोणादिप्रपञ्चत्वादस्य ग्रन्थस्येहोपात्त।
—देशीनाममाला, रत्नावली टीका, २, १०४।

८ शाणी गोणी छिद्रवस्त्रे। —अभिधानचिन्तामणि, ३, ६७६।

करती रही है। प्राकृत और अपभ्रंश लोक-परम्परा की भाषाएँ हैं जो देशी पानी पीकर परिपुष्ट होती रही हैं। उन मे जातीय और विजातीय सभी मेल के तत्त्व तथा उपादान लक्षित होते हैं। निश्चित ही ये देशी भाषाएँ रही हैं और इन में लिखा हुआ साहित्य भी बहुत कुछ लोक-साहित्य है। महाराष्ट्र में तो अभी तक अपनी भाषा को प्राकृत कहने की परम्परा बनी हुई है। मराठी भाषा के आदि कवि मुकुन्दराज कहते हैं कि यदि गन्ना ऊपर से काला भी हो तो उस का रस तो मीठा है न? इसी प्रकार मेरे बोल प्राकृत में होने पर भी उन मे विवेक तो भरा हुआ है। इसी प्रकार यदि कल्पतरु के फल घर के ही झाड में फलें तो फिर उन्हें कौन ग्रहण न करेगा? भाषा चाहे देशी हो या मराठी पर यदि उस में उपनिषदो का सार है तो हम उसे गाँठ मे क्यो न बाँधेंगे?[1] गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'गिरा ग्राम्य' कह कर देशी भाषा का महत्त्व दर्शाया है।[2] वस्तुत. प्राकृत और देशी भाषा में कोई अन्तर नही है, केवल कथन मात्र का भेद है। दक्षिण भारत में आलवारो ने और उत्तर में सन्तो ने अपने ग्रन्थो की रचना बहुतकर देशी भाषा में ही की है। महाराष्ट्र के एकनाथ और उत्तर भारत के तुलसीदास और कबीरदास प्राकृत और भाषा का ही गुण-गान गाते हैं।[3] अतएव वैयाकरण जिसे अपभ्रष्ट तथा विकृत कहते हैं वह भाषा का विकार न हो कर विकास है। भाषा का यह विकास शब्दो में ही नही अर्थ में भी देखा जाता है। संस्कृत के जो प्रयोग वैदिक युग में प्रचलित थे वे कालिदास के युग में नही दिखाई देते और जो विशिष्ट शब्द-प्रयोग कालिदास में हैं वे परवर्ती रचनाओ मे नही मिलते। उदाहरण के लिए भले ही कुछ शब्दो को हम ढूँढ कर गिना दें पर चलन मे बहुत से शब्द निरन्तर घटते ही चले गये हैं। यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दो का प्रयोग किया है पर वे अर्थ में भिन्न हैं।[4] यथार्थतः परिवर्तन भाषा का स्वभाव है और उस की गतिशीलता का भी यही सब से बड़ा प्रमाण है। जहाँ वैयाकरण शिष्टो के प्रयोग से हीन भाषा को अपभ्रंश कहते हैं वही साहित्यशास्त्री अश्लील तथा ग्राम्यपदो को सदोष मानते हैं और काव्य मे उन का निषेध करते हैं। स्पष्ट ही निम्न वर्ग के लोगो के शब्द-

---

१ कल्पतरुचेनि पाडें, जरी फलती वरची झाडें।
तरी तिये आवडीचेनि कोडें, न लावावीं का ?
देशी हो का महराठी, परी उपनिषदाची च राहाटी।
तरी हा अर्थ जीवाचिया गांठी, का वाधावा ?—विवेकसिन्धु
तथा—"महाराष्ट्रीपदेन प्राकृतग्रहणम्"—कात्यायन—सूत्रवृत्ति (भामह)।

२ स्याम सुरभि पय विसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥—रामचरितमानस, बालकाण्ड १० (ख)

३ आता संस्कृता अथवा प्राकृता। भाषा जाली जे हरिकथा॥—एकनाथ
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, गुटका, पृ० ४४।
कबिरा संसकिरत कूप जल, भाखा बहता नीर।
जब चाहे तब ही लहे होवे सान्त सरीर॥—कबीर

४ देखिए यशस्तिलकम् (सोमदेव) की भूमिका पृ० ८।

प्रयोग सुनने में बुरे लगते है और सम्भवत इसीलिए वे काव्य में अनुचित माने जाते हैं। भोज ने भी कहा है कि लोक को छोड कर और कही ग्राम्य प्रयोग नही चलते। अश्लील, अमंगल और घृणासूचक शब्द को ग्राम्य कहते है।[1] यही कारण है कि सस्कृत-साहित्य एक दो रचनाओ में छोड कर यथार्थ की कठोर भूमि पर पैर नही फैला सका है। फिर, जीवन्त यथार्थ में वीभत्स और रौद्र को रस रूप मे अभिव्यक्त करना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। काव्य में ऐसे सन्दर्भों में घृणा व्यजक चित्रो को भी ग्राम्य भाषा में अभिव्यजित करना ही पडता है और पाठक अत्यन्त रुचि के साथ उस का रसास्वाद करता है। यही नही, प्रकृति, स्थान आदि के भेद से प्रबन्ध में परवर्ती युग में ग्राम्य और देशी भाषाओ का प्रयोग भी विहित माना जाने लगा था।[2] नाट्य तथा रूपको में स्पष्टत अपभ्रंश कही जाने वाली भाषा का प्रयोग होता था। यद्यपि उस पर प्राकृतो का पानी चढा दिया जाता था पर उस की चेतना तो झलकती ही रहती थी। यदि समूचे भारतीय वाङ्मय का आलोडन किया जाय तो एक नही अनेको ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिन मे प्राकृत के साथ ही अपभ्रश का भी प्रयोग है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार में भी प्राकृत के साथ कुछ अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं।[3] इन के अतिरिक्त ग्राम्यदोप के जो उदाहरण मिलते है उन मे जिस विशिष्ट शब्द से ग्राम्यत्व की प्रतीति करायी जाती है वह प्राय द्वयर्थक होता है। वस्तुत लक्षण-शास्त्रो में ग्राम्य और अश्लील दोप की कल्पना हेय है। समाज में ये इतने घुले-मिले शब्द होते हैं कि सामान्य जनता उन पर ध्यान ही नही देती है। इस प्रकार जन सामान्य की कुरुचि का परिणाम न हो कर यह शिष्टता का द्योतन मात्र है, जिस में वर्ग-भेद की मूल भावना निहित है। समाज में उच्च जनो के बीच गाली देना सब से बुरा समझा जाता है। किन्तु लोक मे विवाह जैसे मागलिक कार्यों में रुचि पूर्वक गारी गायी जाती है, फागें खेली जाती है। छोटे-बडे सभी मिल कर उन में भाग लेते हैं। ग्राम्य गीत, लावनी और बारहमासा आदि इसी प्रकार की काव्यगत विधाएँ हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण और साहित्यशास्त्री जिसे भ्रष्ट, अश्लील और ग्राम्य तथा काव्य के लिए अनुपादेय एव हेय समझते हैं वह जन-जन की चेतनात्मक अभिव्यक्ति का प्रकाशन है। वस्तुत शब्द और अपशब्दो में मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक भावना की मुख्यता रहती है, न कि शब्दो के याथार्थ्य की। फिर शब्दो का बिगडना और बदलना लोक-जीवन की प्रवृत्ति में निहित रहता है।

---

१ अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते।
देश्यातिरिक्त लोकमात्रप्रयुक्त ग्राम्यम्। तत्त्रिधा व्रीडाजुगुप्सातङ्कदायित्वात्। तत्राद्यमश्लीलं श्रीर्यस्यास्ति तच्छ्लीलम्। न श्लीलमश्लीलम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १, १४४।

२ प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि या।
अपद तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते॥=वही, १, ११८।
यथा–ऐसें सच्च जि बोल्लु। इत्यादि। १, १५६।

३. जह जह जस्सु जहिं चिव पफुरइ अज्जवसाउ।
तह तस्सु तहिं चिव तारिसु होइ पहाउ॥—तन्त्रसार, ४, १।

भाषाशास्त्री उस के नियम गढ नही सकता। शब्दो का अनुशासन मात्र करना उस का ध्येय होता है। यह लोकप्रवृत्ति है कि वह सरलता और लाघव की ओर बढ़ती है। यदि भाषा भी जटिलता से सरलता की ओर बढे तो क्या उसे अस्वाभाविक कहा जायेगा? इतना ही नही, ऐसी प्रवृत्तियो को जनता भी अत्यन्त चाव से अपनाती है। भाषा संस्कृति और समाज से अपने को अलग नही कर सकती। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के मध्ययुग मे स्त्री-पुरुष तथा व्यावहारिक वस्तुओ के नाम अपभ्रंश के साँचे में ढले हुए मिलते हैं। डॉ० अग्रवाल ने राष्ट्रकूट युग के कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नामो का उल्लेख किया है जो उस युग के शिलालेखो तथा जैन पुस्तक-प्रशस्तियो में मिलते हैं।[1] इस प्रकार भाषागत विकास की प्रवृत्ति को अपभ्रष्ट या विकृत कहना रूढिबद्धता का परिचय देना है। आज भी जो प्राचीनता के पक्षपाती है, वे ऐसे नामों में भ्रष्टता की गन्ध पाते हैं। पर वस्तुत: यह प्राचीनता के नाम पर वर्तमान की घोर उपेक्षा है जिसे आने वाला युग कभी नही भुला सकता। और फिर जिसे आज हम संस्कृत और शिष्टता का पानी पिला कर सम्मान प्रदान कर रहे हैं कल वही लोक-ढाँचे में ढलती-निखरती किसी दूसरी ही भाषा के रूप को ग्रहण करने लगती है। भाषा का यह स्वभाव है, जिसे कोई बदल नही सकता। केवल हमारी मानसिक प्रवृत्ति ही उस के इस स्वभाव के कारण अच्छा-बुरा नाम दे कर अपना समाधान करती रहे पर वह समाज में स्थान बनाये बिना रहती नही। कौन जानता था कि सदियो से अपभ्रष्ट कह कर जिस की उपेक्षा होती रही है उसी की बेटी बीसवी शताब्दी में जन-जागरण का कार्य कर समूचे भारत राष्ट्र की राष्ट्रीय भाषा बनेगी। ये कुछ ऐसे तथ्य है, जिन्हें हम अब अधिक समय तक अँधेरे में नही रख सकते।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के विकास की अन्तिम अवस्था का नाम है। इस युग में भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा तथा कला में अत्यन्त उलट-फेर दिखाई देते हैं, जिस का मुख्य कारण विभिन्न जातियो का सगम, मिश्रण तथा प्रभाव है। गुप्त युग से ही अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार-क्षेत्र बढने लगता है। दसवी शताब्दी तक वह राजपूताना, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ भागो से लगा कर पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो तक लोक-बोलियो में फैली रही है। यही कारण है कि अपभ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति सिन्धी, सौराष्ट्री और अवधी में ही नही तेलुगु में भी दिखाई देती है। यही नही, टेसिटोरी जिसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहते है उसे ही कई विद्वान् जूनी या पुरानी गुजराती मानते है और दोनो का ही उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से स्वीकार करते है।[2] इस से अपभ्रश की व्यापकता का तो पता

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कुछ मध्यकालीन अपभ्रश नाम, हिन्दी-अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक, वर्ष १३, अक १-२, पृ० २२५।

डॉ० एल० पी टेसिटोरी पुरानी राजस्थानी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय सस्करण पृ० ४

लगता ही है पर दोनो की एकरूपता का भी निश्चय हो जाता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश की ही एक स्थिति को पुरानी हिन्दी मानते हैं और उस से हिन्दी का विकास हुआ स्वीकार करते हैं। उन का कथन है कि विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारहवी तक अपभ्रश की प्रधानता रही और फिर यह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।[1] इस में उन्होने देशी का प्राधान्य माना है। किन्तु तथ्य यह है कि जिसे वह पुरानी हिन्दी कहते हैं उसी का विद्यापति अवहट्ठ कह कर परिचय देते हैं। और यह अवहट्ठ या अवहस अपभ्रश के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नही है। इस में ग्राम्य और देशी परम्परा के तत्त्व प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। इस लिए इसे अपभ्रशकालीन परवर्ती रूप अर्थात् उत्तरकालीन पश्चिमी अपभ्रश माना जाता है। भाषा-विकास के इतिहास से पता लगता है कि किसी समय दक्षिणी सौराष्ट्री और गुजराती तथा मेवाडी (राजस्थानी) एक थी। इसी प्रकार व्रज, कन्नौजी और वुन्देली भी एक थी।[2] किन्तु उत्तर काल में राजनैतिक उथल-पुथल और छोटे-छोटे राज्यो में वँट जाने के कारण उन में कई भेदोपभेद हो गये।

प्राकृत भाषा की प्राचीनतम रचनाओ को देखने से प्रतीत होता है कि प्राकृत युग में ही बोली के रूप में अपभ्रश का जन्म हो गया था। केवल वैदिक भाषा में ही नही आर्मेनियन, ग्रीक और लेटिन आदि में भी वोलियाँ सुरक्षित हैं।[3] वस्तुत. पाली और प्राकृतों का विकास विभिन्न वोलियो के योग से हुआ है। फिर, भाषा का यह सामान्य तत्त्व है कि कोई भी भाषा किसी बोली को जन्म नही दे सकती। इस लिए जब हम कहते हैं कि हिन्दी का विकास अपभ्रश से हुआ तो इस का यही अर्थ है कि अपभ्रश के योग से उस का जीवन फूलता-फलता रहता है। किन्तु भाषा के पद पर समासीन हो जाने के बाद प्राय· भाषाओ का जीवन शास्त्रीय एवं कृत्रिम हो जाता है। इसीलिए विद्यापति ने देशी भाषा में कीर्तिलता की रचना कर लोक-रुचि का परिचय दिया है। भारतीय भाषाओ में दशवी शताब्दी के अनन्तर लोक-भाषाओ का प्रभाव वढ-चढ गया था इस लिए साहित्य में भी उन का स्थान वनने लगा था। यथार्थ में यह भाषा का सक्रमण काल था, जिस में नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी। इसीलिए कोई इस काल की उत्तर-पश्चिम भारत में फैली हुई भाषा को प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती, पश्चिमी अवहट्ठ और कोई शौरसेनी अपभ्रश से मिलती-जुलती भाषा कहते हैं।[4] वस्तुत· इन सभी भाषा-रूपो पर आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे उदाहृत अपभ्रश दोहो की छाप लगी हुई मिलती है। अतएव नाना-रूपो की कल्पना करने की अपेक्षा अपभ्रंश नाम देने में लाघव है। भाषा-विकास की सूचक नयी अवस्था के लिए इसे

---

१ चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, प्रथम सस्करण, पृ० ८।
२ लेखक का "हिन्दी में शोध की नयी दिशाएँ" शीर्षक लेख, "साहित्य-सन्देश", सितम्बर '६१।
३ ल्युअस एच० ग्रे फाउण्डेशन्स ऑव लेंग्वेज, द्वितीय सस्करण, पृ० ३०४।
४ डॉ० सुनोतिकुमार चटर्जी ओरिजन एण्ड डेवलप्मेण्ट ऑव बेंगाली लेंग्वेज, पृ० ११३।

परवर्ती अपभ्रंश नाम दिया जा सकता है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो परवर्ती अपभ्रंश में हमें अत्यधिक अन्तर मिलता है। परवर्ती अपभ्रश में लिखी गयी रचनाएँ देशी वोलियो से युक्त हैं। उक्ति रत्नाकर, उक्ति व्यक्ति प्रकरण और गुर्जर रासक आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। अतएव अपभ्रश में वगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, वुन्देल-खण्डी तथा व्रज आदि भापाओ और वोलियो के शब्द-रूप मिलते हैं, जिन में भापा और रचना मे अत्यन्त साम्य है।

अपभ्रंश साहित्य का युग

ऐतिहासिक विकास के अनुसार अपभ्रश साहित्य का युग छठी शताब्दी से पन्द्रहवीं सदी तक माना जा सकता है। सोलहवी और सतरहवी सदी में लिखी गयी रचनाएँ वहुत कम मिलती हैं। आ० भामह के लगभग सौ-डेढ सौ वर्ष पहले नहो तो उन के युग में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश में प्रवन्ध काव्य अवश्य लिखे जाते रहे होंगे तभी तो उन्होने काव्य के रूप में उन का उल्लेख किया है। अपभ्रंश साहित्य का यह युग इतिहास में राजपूत और गुर्जरो का समसामयिक युग रहा है। आभीरो का उत्कर्ष काल भी यही है। तीसरी शताब्दी से ही आभीर राजाओ के शासन का विवरण मिलने लगता है और पुराणो के अनुसार यह कहा जा सकता है कि दस आभीर राजाओ ने आन्ध्रो के पश्चात् साठ-सत्तर वर्ष तक राज्य किया था। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप और ईश्वरसेन सम्भवत (२३५-४० ई०) उस वश के प्रतिष्ठापक थे।[१] इतिहास में भी इस के प्रमाण विरल नही हैं। चन्द्रवल्ली के शिलालेख से पता लगता है कि मयूरशर्मन् ने त्रिकूट, आभीर, पल्लव, पारियात्रिक, शकस्थान, स्यन्दक, पुन्नट और मोकरी वंश के राजाओ को पराजित किया था।[२] नेपाल की एक वंशावली के अनुसार वहाँ का राजा वसन्तदेव आभीरो से पराजित हो गया था[३]। गुप्त युग में आभीर पूर्वी राजपूताना, और मालवा में वसे हुए थे तथा वहाँ और चम्वल की ओर उन का शासन विस्थापित था। उस समय पंजाव, पूर्वी राजपूताना और मालवा के कई भागो में जातीय गणतन्त्र राज्य थे।[४]

मध्य युग में गुर्जरो की स्थिति अच्छी थी। परिहार राजपूत गुर्जर या गूजरो को एक शाखा है। दसवी, ग्यारहवी और वारहवी शताब्दी में इन में कई अच्छे राजा हुए हैं। राजा भोज गूजरो के प्रतिहार वश के थे।[५] राजपूतो का देश के सभी भागो

---

१ के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑव इण्डिया, प्रथम भाग, द्वितीय सस्करण, पृ० १४०।

२ चन्द्रवल्ली इन्स्क्रिपशन आव मयूरशर्मन् आर्कालाजिकल सर्वे आव मैसूर एनल रिपोर्ट १९२९, प्लेट ११, प्रकाशित १९३१, पृ० ५०।

३ द क्लासिकल एज, खण्ड तृतीय, पृ० ८४ (प्रथम सस्करण)।

४. विनसेण्ट ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३०२

५ वही पृ० ४२७।

में प्रावल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतों में चौहान, परिहार, तोमर और पवार तथा दक्षिण में चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहडवाल और राष्ट्रकूट मुख्य रहे हैं।[1] राजपूत परवर्ती काल में गुजरात के सभी प्रदेशो मे फैल गये थे। इस लिए उन प्रदेशों तथा जनपदो की बोली और भाषा मे अत्यन्त साम्य है। आलोच्य काल मे कन्नोज में गुर्जर-प्रतिहार, गाहडवाल; शाकम्भरी और अजमेर में चौहान, बुन्देलखण्ड में चन्देल; मालवा मे परमार, अन्हिलवाड मे सोलंकी, त्रिपुरि मे कलचुरि और बंगाल में पाल तथा सेन वंश के राज्य विस्थापित थे। दक्षिण राज्यो में मान्यखेट के राष्ट्रकूट, कल्याण के पश्चिमी चालुक्य, देवगिरि के यादव और कदम्बकुल के राज्य प्रमुख थे।

राजनैतिक स्थिति—गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त हो गया। दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश तोमरवंश के अधिकार में थे। इस वश का प्रसिद्ध राजा अनगपाल था। जब अजमेर के राजा वीसलदेव (विग्रहपाल चतुर्थ) ने दिल्ली के तोमरो को युद्ध मे पराजित कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब दिल्ली राज्य भी अजमेर राज्य के अन्तर्गत हो गया। गुजरात में सोलंकियों का राज्य था। गुजरात की राजधानी अन्हलवाडा में थी। सोलंकी राजपूत पहले के प्रतिहारो के अधीन थे पर बाद में स्वतन्त्र हो गये। जैन रचनाओं में इन का पूरा विवरण मिलता है। नवी शताब्दी में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य स्थापित हुआ। दक्षिण राजपूताना के गुर्जर प्रतिहारो ने भीनमाल में सातवी शताब्दी के आरम्भ में ही राजधानी बना ली थी। इस के पूर्व तक कन्नौज का वही महत्त्व था जो मुगल-युग में दिल्ली का था। कन्नौज और कश्मीर इस काल मे संस्कृत-साहित्य के दो प्रमुख केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल १०१२ ई० में महमूद गजनवी से पराजित हो गया। कन्नौज के पतन के पश्चात् उसने अपनी राजधानी गंगा के दक्षिणी तट पर हटा ली थी, किन्तु अब उस का भी पतन हो गया। इसी समय प्रतिहार राज्य अनेक छोटे राज्यों में विभक्त हो गया—गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार, अजमेर में चौहान, मथुरा में यादव, चेदि मे घाहल, देहली में तोमर और बंगाल में सेन।

यवन लोग इस देश को एक साथ पूर्ण रूप से नही जीत सके। वे अपने राज्य का विस्तार क्रमश लगभग पाँच सौ वर्षों में कर सके। इस युग के राजा लोग युद्धप्रेमी होने के साथ ही विद्या तथा कला के भी प्रेमी होते थे। इसी काल में प्रतिहार शक्ति के क्षीण होते ही अधीनस्थ चन्देल, कलचुरि तथा चौहान राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। इसी प्रकार गुर्जर सोलंकी, चालुक्य और मालवा के परमार भी स्वाधीन हो गये थे। स्पष्ट ही ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी मे उत्तरी भारत की शक्ति अधिक क्षीण हो गयी थी तथा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये थे। इस युग में कई क्षेत्रो में जहाँ जातीय

---

१ विनसेण्ट ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४३०।

प्रभुत्व बढ रहा था वही विदेशी शक्तियाँ अत्यन्त प्रभावशील हो उठी थी। इस लिए कई प्रकार के संघर्ष हुए, जिन से भारत की राजनैतिक चेतना दिनो दिन धुँधली होती गयी। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् इस देश पर यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरव, तुर्क, और मंगोल आदि निरन्तर आक्रमण करते रहे। ग्रीको के पश्चात् शको का शासन स्थापित हुआ। उन के केन्द्रस्थल थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र। शको की ही भाँति आभीरो और कुषाणो ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने-अनजाने आक्रमण किये। कुषाणो का शासन किसी न किसी रूप में उत्तर भारत में दूसरी सदी ईसवी के अन्त तक जमा रहा। शको ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र ये पाँच केन्द्र बनाये थे। आभीर उन के पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर में।[१] गुप्त सामाज्य को छिन्न-भिन्न करने मे हूणो का आक्रमण प्रमुख था। हूण अत्यन्त वर्बर थे। स्मिथ ने गुर्जरो को श्वेत हूणो से मिश्रित जाति कहा है।[२] जो भी हो, विभिन्न जातियो के सम्पर्क और संगम से उस काल में समाज और राजनीति में नयी चेतना का प्रसार हुआ। शको के युग में ही आभीर भारतीय सत्ता पर छाप लगाने लगे थे। गुप्त युग में उन का और भी जोर बढ़ा और धीरे-धीरे मध्य भारत तक छा गये। इसी समय पार्थव और पल्लवो का प्रभुत्व बिलकुल क्षीण हो जाने से कुषाणो का आधिपत्य स्थापित हुआ। कनिष्क के शासन-काल में वौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हुआ। उत्तर काल में गणतन्त्र राज्यो का प्रावल्य रहा, जिन का संचालन-सूत्र प्राय आयुधजीवी जातियो के हाथ रहा। यह युग जन-जीवन के विग्रह का था जो इतिहास में मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। यद्यपि विरोधी शक्तियाँ अब भारतीय जीवन मे घुल-मिल सी गयी थी, किन्तु पौरोहित्य और पुराण-वाद के विरुद्ध एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा था। यही वह समय था जब चालुक्य सत्ता राष्ट्रकूटो के हाथ पहुँच कर उन की दासी वन गयी थी। सुदूर दक्षिण में चोल शासन राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पर प्रभावशील था। दक्षिण भारत के इतिहास में यह स्वर्ण युग माना जाता है जब समूची राजनैतिक सत्ता एक ही तन्त्र मे केन्द्रित रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि समय-समय पर देश की राजनैतिक चेतना विविध जातीय तथा विभिन्न विजातीय शक्तियो के द्वारा मथी जाने पर भी अपने अस्तित्व को वनाये रही है और परिस्थितियो के अनुकूल उस में भावनात्मक एकता की वह्नि प्रज्वलित होती रही है।

सामाजिक स्थिति—ग्रीको और शको के भारत आगमन के पश्चात् ही समाज कई विरोधो से अस्त-व्यस्त हो उठा था। कुषाणो ने आते ही उसे प्रभावित एवं आन्दोलित कर वहु देवी-देवताओ का प्रचार किया। इतिहास में वे मध्य एशियाई, ग्रीक और भारतीय संस्कृतियो के पारस्परिक सम्मिश्रण के साधन बने। कनिष्क अनेक

१ भगवतशरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेपण, प्रथम सस्करण, पृ० १०१।
२ विनसेण्ट ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३४०।

संस्कृतियो के देवताओ मे विश्वास करता था और उस के सिक्को पर ग्रीक, मिश्रीय, पारसी तथा भारतीय देवताओ का अपूर्व समारोह है।[1] कुषाणकालीन समाज, वेश-भूषा, कला, शिल्प तथा स्थापत्य आदि में आगे चल कर बहुविध विकार हुआ जो गुप्त काल में गौरव गरिमा को प्राप्त हुआ। यद्यपि ग्रीक, शक, कुषाण, आभीर, हूण और गुर्जरो ने भारतीय सामाजिक विधान तथा वर्णाश्रम के रूप में प्रतिपालित वर्गवाद के विरुद्ध क्रान्ति की रचना की थी, किन्तु कई जातिगत इकाइयाँ उसे न अपना सकी थी। अतएव परवर्ती काल में अनेक सम्प्रदाय उठ खडे हुए। परिणामत' सामाजिक शक्ति विखरने लगी। जाति और नियम पर अधिक बल दिया जाने लगा। ब्राह्मणो का प्रभुत्व समाज में विशेष था। किन्तु साथ ही कई प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। वैवाहिक बन्धनो में पहले जैसी दृढता नही थी। राजाओ मे क्षत्रियो का प्रभुत्व बढ चुका था। धीरे-धीरे आक्रान्ताओ की भाँति राजनीति का प्रभाव समाज पर भी पडने लगा।

आलोच्य काल में दक्षिण भारत में ही नही उत्तर भारत में भी कला की बहुत उन्नति हुई। खजुराहो और आबू तथा कश्मीर और दक्षिण में समीपवर्ती प्रदेशो में स्थित मन्दिर इस युग की चित्रकला के जीवन्त निदर्शन हैं। राजा भोज के समय वास्तुविद्या, व्याकरण, अलकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयो पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।[2] इस युग मे जातिभेद बहुत ही बढ गया था। सदाचार की दृष्टि से उच्च वर्गों का रहन-सहन ऊँचा था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ शासन में भाग लेती थी, समाज के मागलिक कार्यों में हाथ बँटाती थी। चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय की बडी बहिन अक्कादेवी एक प्रान्त पर शासन करती थी।[3] दक्षिण में सगीत, नृत्य एव ललित कलाओ का बहुत प्रचार था। वैश्य कृषि-कर्म छोड कर अब पूर्ण रूप से वाणिज्य व्यवसाय करने लगे थे। किन्तु सामाजिक विधान लगभग ज्यो के त्यो थे। वैयक्तिक आचार-विचार की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता का महत्त्व था।

धार्मिक स्थिति—पाँचवी या छठी शताब्दी में विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस देश में मिल-जुल कर रहते थे। किन्तु सातवी शताब्दी मे विशेष कर तमिल को परिस्थितियो में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ-याग, मूर्ति-पूजा, देवी-देवताओ की उपासना और बलि-दान की प्रथाएँ प्रचलित रही हैं। किन्तु आन्दोलन के रूप मे इसी समय दक्षिण भारत से एक लहर उठी, जिस का उद्देश्य जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण कर शिव तथा विष्णु की उपासना का प्रचार करना था।[4] शैव और वैष्णव धर्म के प्रचारक ये सन्त एक मूर्ति

---

१. भगवतशरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० ७५।
२ गौरीशकर हीराचद ओझा मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, तृतीय सस्करण, पृ० ३५।
३. के० ए० नीलकान्त शास्त्री . हिस्ट्री ऑव इण्डिया, प्रथम भाग, पृ० २६२।
४. वही, पृ० २६६।

से दूसरी मूर्ति तक नाचते, गाते, विवाद करते तमिल भाषा में स्तोत्र और पदो को बोलते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। वैष्णव सन्त आलवार के नाम से तथा शैव सन्त नायनवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति के जिस रूप का इन्होने प्रसार किया आगे चल कर वही आ० रामानुज और रामानन्द के द्वारा उत्तर भारत के जन-जीवन मे प्रचलित हो गया। वस्तुत. उक्त सन्त क्रान्तदर्शी थे, जिन्होने जन-भाषा, साहित्य और भक्ति के विविध अगो का प्रचार किया। परवर्ती काल में आचार्य रामानुज और वल्लभ ने उन्हे सैद्धान्तिक रूप मे प्रतिष्ठित कर वर्णवाद तथा उत्तरकालीन सिद्धान्तो का विरोध कर भक्ति की पूर्णतया स्थापना की।

दक्षिण मे ही नही उत्तर भारत मे भी शैव मत का अधिक प्राबल्य रहा है। इस की विभिन्न शाखाएँ और सम्प्रदाय समूचे देश में व्याप्त हैं। दक्षिण के सन्त भक्तो से इस मत की भक्ति मे अन्तर है। इस के मुख्य सम्प्रदाय हैं—पाशुपत, कालामुख और कापालिक। दक्षिण भारत के सातवी शताब्दी के लिखे हुए शिलालेखो तथा साहित्य में इस के उल्लेख मिलते हैं।[1] आगे चल कर पाशुपत से ही लकुलीश सम्प्रदाय का जन्म हुआ। शाक्त और कौल भी इन्ही से विकसित हुए। दसवी शताब्दी में सीमानन्द ने कश्मीर में शैव सम्प्रदाय की एक नयी शाखा का प्रचार किया, जो प्रत्यभिज्ञा के नाम से प्रचलित हुई।[2] पुष्पदन्त के जसहरचरिउ मे काली चण्डमारी देवी तथा भैरवानन्द का वर्णन है, जिस से ज्ञात होता है कि ग्यारहवी शताब्दी में पशु-बलि और नाथ सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार था।[3] इसी प्रकार सूफी मत का प्रचार भी इस समय तक भलीभाँति हो चला था। बारहवी शताब्दी में वृन्दावन मे आचार्य निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। तदनन्तर बंगाल मे महाप्रभु चैतन्य, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति ने तथा गुजरात में मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। दसवी शताब्दी में लोकायत सम्प्रदाय का बड़ा जोर था।[4] यशस्तिलक चम्पू मे शैव, पाशुपत, लोकायत, नाथ और वैष्णव आदि सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है जो दसवी सदी का जीता-जागता चित्र कहा जा सकता है। यद्यपि आठवी शताब्दो मे आचार्य शंकर ने समूचे भारत मे शैव सम्प्रदाय तथा अद्वैत वेदान्त का प्रचार कर जैन और बौद्ध को अत्यन्त हानि पहुँचायी थी, किन्तु दसवी सदी में जैमिनि, कपिल और कणाद की भाँति जिन, चार्वाक तथा बुद्ध का आदर के साथ स्मरण किया जाता था।[5] इस युग में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विशेष थी। प्राय. सभी साहित्यिक और दार्शनिक तान्त्रिक

---

१ के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑव इडिया, प्रथम भाग, पृ० २७०।

२ गौरीशकर हीराचन्द ओझा मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृ० १८।

३ पुष्पदन्त जसहरचरिउ, १,६, १,९।

४ के० के० हान्दीकी यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रथम सस्करण, पृ० २३०।

५. कदाचित् ग.ण्डितप्रकाण्डमण्डज्ञोमण्डनाडम्बरगीगु म्फसरम्भेषु जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यप्रणीतप्रमाणसवीणतया विदुष्विणीना परिषदां चित्तभित्तिष्वारमयश प्रशस्तीरुल्लिलेख। —वही, पृ० १२ से उद्धृत।

साधना, हिंसा और भोगवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। इस प्रकार धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आलोच्य काल अत्यधिक चिन्तनशील रहा है।

साहित्य-साधना और संस्कृति

यह युग साहित्य-साधना की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण है। विभिन्न भाषाओ मे, विविध रूपो तथा शैलियो मे, अनेक विधाओ में साहित्य-रचना इस की मुख्य विशेषताएँ है। नवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक कश्मीर और कन्नौज सस्कृत-साहित्य के दो बडे केन्द्र थे। प्राकृत के साथ ही सस्कृत काव्य तथा नाटको का विकास इसी युग में हुआ। काव्यशास्त्र एवं लक्षणग्रन्थो की अधिकाश रचनाएँ मध्य काल में हुईं। भारतीय विचारो की पूर्णता का द्योतक यह श्रेष्ठ युग कहा जाता है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, सूफी और सन्त तथा नाथ सभी ने निर्दिष्ट काल में उत्तम साहित्य एवं कला को समृद्ध बना कर मध्यकालीन जन-जीवन को प्रभावित किया, जिस की छाप आज भी किसी न किसी रूप में हमें दिखाई देती है। यद्यपि पूर्व गुप्त युग मे अश्वघोष के बुद्धचरित से चरित काव्य की धारा आरम्भ हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर बाणभट्ट ने ही कदाचित् पहले पहल हर्षचरित के रूप मे रचना की। इस युग मे शास्त्र और पुराण, दर्शन और काव्य तथा नाटको मे आशातीत उन्नति हुई। संस्कृत-साहित्य के समालोचक इसी युग की देन हैं। वस्तुत साहित्यशास्त्र का यह स्वर्णकाल कहा जा सकता है। भामह, दण्डी, लोल्लट, उद्भट, वामन, शकुक, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मुकुल, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, भट्टतौत, कुन्तक, धनंजय, अभिनवगुप्त, भोज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, रामचन्द्रगुण-चन्द्र, माणिक्यचन्द्र, अजितसेन, नमिसाधु, वाग्भट्ट और अमरचन्द्र तथा विनयचन्द्र आदि इस काल के प्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पू-लेखको मे त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेव, हरिचन्द्र, अर्हद्दास और नागचन्द्र मुख्य हैं। नाटक-रचयिताओ में भवभूति, राजशेखर, हस्तिमल्ल, रामचन्द्रसूरि और जयसिंहसूरि का उल्लेख किया जाता है।[1] मोहपराजय, मदनपराजय (संस्कृत), मयणपराजय, ज्ञानसूर्योदय आदि रूपक काव्य (Allegory) भी इस युग में लिखे गये। इन के अतिरिक्त ऐतिहासिक काव्य, रासा-साहित्य और जैन पुराण तथा दार्शनिक ग्रन्थ भी विशेष रूप से इस काल मे लिखे गये।

छठी से आठवी शताब्दी तक तमिल साहित्य की अधिकाश रचना हुई। यद्यपि तमिल-साहित्य की प्राचीनतम रचनाएँ उपलब्ध नही हैं पर प्राप्त रचनाओ से ज्ञात होता है कि सघोत्तर-काल या काव्यकाल में जैन साहित्यकारो का सब से अधिक योग रहा है। इस युग मे पच बृहत्काव्य तथा पच लघुकाव्य की रचना मुख्य बतायी जाती है। पाँच महाकाव्यो में से ळगो विरचित शिलप्पदिकारम् और जैन मुनि तिरुतक्कदेवर

१ वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्कणर पृ० ८१२।

कृत जीवकचिन्तामणि प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। इन में नीति और रीति का भी उचित समावेश है। पाँच लघु काव्य है :– नीलकेशि, शूलामणि, यशोदरकावियम्, नागकुमारकावियम् और उदयणन् कदै। कौतूहल का विषय है कि ये दसो काव्य जैन और बौद्ध मुनियो तथा कवियो द्वारा रचित है।[१] तेलुगु मे भी जैन कवि अथर्वण, विजयराघव आदि उल्लेखनीय है। किन्तु तेलुगु भाषा मे जैन-साहित्य अत्यन्त अल्प है।

कन्नड की सब से प्राचीन रचना 'कविराजमार्ग' कही जाती है। इस के रचयिता जैन कवि श्रीविजय माने जाते है। इस साहित्य के इतिहास मे पम्प-युग (९५०-११५० ई०) अत्यन्त समृद्ध रहा है, जो स्वर्णकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस का दूसरा नाम जैनयुग भी है, क्योकि इस काल में कन्नड-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में जैन-कवियो का प्रधान योग रहा है। इस साहित्य पर पम्परामायण का विशेष प्रभाव कहा जाता है। प्रत्येक कवि ने धार्मिक काव्य के साथ ही लौकिक अथवा शुद्ध काव्य रचे है।[२] इस युग में जैन कवियो द्वारा विकसित चम्पूशैली परवर्ती काल में वीर शैव कवियो के द्वारा भी अपनायी गयी।[३]

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह समूचा युग प्रबन्ध काव्य का रहा है। इस में मत-वादो की प्रबलता के साथ ही विष्णु और शिव तथा शिव और जिन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है। राष्ट्रकूटो के युग में जैन धर्म और साहित्य ने अत्यन्त गरिमा प्राप्त की। आचार्य शंकर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, देवसेन, विद्यानन्द, मण्डनमिश्र, अकलंक, वीरसेन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, उदयन, उद्योतकर, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र आदि प्रकाण्ड दार्शनिक इसी युग में हुए। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा लोकभाषाओ में विशेषत गीत इसी समय लिखे गये। संक्षेप में, यह युग साहित्य की प्राय. सभी विधाओ से पूर्ण भारतीय वाङ्मय से अनुरंजित तथा काव्यमार्गों एवं दार्शनिक, लाक्षणिक, पौराणिक और धार्मिक शास्त्रो से समन्वित रहा है। भारतीय मध्ययुगीन साहित्य में जहाँ एक ओर चौल शासनकाल (८५०-१२०० ई०) में जो कि तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है – प्रबन्ध काव्य की प्रमुखता थी वही चौलुक्य शासन काल में उत्तरी गुजरात में एक नवीन साहित्यिक चेतना जागृत रही, परिणामत. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा में धार्मिक तथा साहित्यिक रचनाओ की एक नयी लहर ही फैल गयी।[४] जूनी गुजराती में मुख्य रूप से रासो रचनाएँ ही मिलती है। तेलुगु साहित्य में भी इस काल में प्रबन्ध और गीत काव्य की प्रमुखता थी। प्राकृत और अपभ्रंश में भी गीतियो की भाँति कथा और प्रबन्ध काव्य लिखे गये। संस्कृत में

---

१ पूर्ण सोमसुन्दरम् तमिल और उसका साहित्य, पृ० १३।
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८७।
३ वही, पृ० १९१।
४. लक्ष्मीशकर व्यास ' चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम सस्करण, पृ० २३९।

भी भारवि, माघ, हरिचन्द्र, देवनन्दि, रविदेव, भट्टि, कुमारदास, रत्नाकर[1], शिवस्वामी, वादीभसिंह, क्षेमेन्द्र, मंखक, हर्ष और कविराज आदि इसी काल में हुए। महाकाव्यो के अभ्युत्थान का यह काल ही रहा है। महाकाव्यो का अभ्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ हो कर श्रीहर्ष मे पर्यवसित हो जाता है।[2] इस के पश्चात् जैन महाकाव्योका प्राधान्य रहा है जो उन्नीसवी शताब्दी तक बराबर लिखे जाते रहे है। गीति काव्य के लेखको में अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य, जिनदास और जयदेव मुख्य हैं। यद्यपि आठवी शताब्दी से ही अपभ्रंश में लिखे गये प्रबन्ध मिलने लगते है पर विशेष रूप से दसवी शताब्दी उन का उत्कर्ष काल रहा है। इस प्रकार ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नही, बल्कि ललित कलाओ के उत्थान की दृष्टि से भी यह युग स्वर्ण काल कहा जा सकता है।

■

---

१ वाचस्पति गैरोला अक्षर अमर रहें, प्रथम सस्करण, पृ० १३२। देखिए रत्नाकर और शिवस्वामी।

२ वही, पृ० १३३।

द्वितीय अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य : सामान्य परिचय

श्री रिचर्ड पिशेल ने सन् १९०२ मे जव 'माटेरियालियन् सुर-केण्टनिस डेस अपभ्रश' नामक पुस्तक को प्राकृत के व्याकरण के परिशिष्ट रूप मे प्रकाशित किया था[1] तव तक अपभ्रश-ग्रन्थो की वहुत कम जानकारी उन्हें मिल सकी थी। अपभ्रंग के नाम पर हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्‌धृत दोहों तथा संस्कृत नाटको में विखरे हुए दोहो तक ही वे अपभ्रंश-साहित्य को सीमित समझ सके थे। उन का अनुमान था कि इस भाषा का साहित्य विलुप्त हो गया है। सर्वप्रथम १८७७ ई० में रिचर्ड पिशेल ने हेमचन्द्र कृत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' का प्रकाशन किया, जिस में अपभ्रंश का व्याकरण भी सम्मिलित था। किन्तु अपभ्रश के उपलव्ध प्रथम प्रवन्ध काव्य के प्रकाशन का श्रेय हर्मन जेकोवी को है। उन्होने पहली वार सन् १९१८ ई० में 'भविसयत्त कहा' का प्रकाशन जर्मन भाषा में किया था। भारतवर्ष में सन् १९२३ ई० में गुणे और दलाल के सम्पादकत्व मे वड़ौदा, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज़, से यह प्रकाशित हुआ। इस के पश्चात् कई अपभ्रंश रचनाएँ प्रकाश में आयी और आती जा रही हैं। प्राप्त सूचनाओं तथा खोज के आधार पर उपलव्व प्रवन्ध काव्यो की संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच गयी है। कई अपभ्रंश कथाएँ तथा अन्य छन्दोवद्ध रचनाएँ भी है जो अभी तक प्रकाश में नही आयीं[2]। इसी प्रकार कई काव्यो की प्रतियाँ हमें आगरा और भरतपुर के भण्डारो से मिली है जो उल्लेखनीय है। कई छोटी-छोटी रचनाओ की हम ने दिल्ली तथा अन्य भण्डारों से प्रतिलिपि की थी। डॉ० हीरालाल जैन, पं० परमानन्द शास्त्री और अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में भी कई छोटी-वड़ी अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। इस प्रकार अभी कई अपभ्रंश ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं। इस क्षेत्र में डॉ० हर्मन जेकोवी पहले व्यक्ति थे, जिन्होने अपभ्रंगव्याकरण, भविसयत्त कहा, सनत्कुमारचरित (१९२१ ई०) आदि ग्रन्थो का पहली वार प्रकाशन किया था। भविसयत्त कहा के पश्चात् जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, करकण्डु चरिउ, महापुराण, पउमचरिउ, पउमसिरी चरिउ आदि काव्य तथा अपभ्रंश काव्यत्रयी, प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह, दोहाकोष, पाहुडदोहा, सावयधम्म दोहा, सजम मंजरी, चूनड़ी, फागु आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है।

---

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का आदि काल, तृतीय सस्करण, पृ० ३। देखिए, 'पउमसिरीचरिउ' की भूमिका, पृ० ५-६।

२ द्रष्टव्य लेखक का 'अपभ्रश कथा काव्य और भविसयत्त कहा' हिन्दुस्तानी, भाग २३, अक १, पृ० २२४।

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मुख्यत: कथा और चरितमूलक है। प्राकृत-साहित्य की परम्परागत प्राय: सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस साहित्य में प्राप्त होती हैं। प्राकृत का कथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस में दृष्टान्त, लघुकथा, धर्मकथा, आख्यान, आख्यायिका, अनुयोग, पृच्छा, चरित, प्रबन्ध, पुराण, संवाद तथा प्रेमाख्यान आदि बीसियो रूप मिलते है। गद्य, चम्पू, नाटक, गीति, रास आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओ का विकास भी प्राकृत-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साहित्यिक रूप में वह काव्य-सौष्ठव से अनुरजित तथा कल्पनात्मक वैभव से पूर्ण है। प्राकृत-साहित्य ने अपभ्रश और आधुनिक भाषाओ के साहित्य को ही नही, बहुत कुछ अशो में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ और छन्द आदि उस के अपने हैं।[1] संस्कृत के नाटको में नृत्य, संगीत और कला एवं सामान्य पात्रो की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव और प्रयोग स्पष्ट है[2]। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरी आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं। इन के अतिरिक्त कई छन्दो का विकास अपभ्रंश में तथा परवर्ती साहित्य में प्राप्त होता है। सस्कृत के आर्या तथा गीति, मराठी का ओवी और अभंग तथा गीतिमूलक छन्दो का निकास और विकास प्राकृत एवं अपभ्रश के मात्रिक छन्दो से हुआ है।[3] मराठी, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दो का स्रोत प्राकृत-अपभ्रश-साहित्य मे निहित है। सस्कृत में अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश की ही देन है।

बाल और यौवन-काल के सर्वांगपूर्ण चित्र इस साहित्य में प्राप्त होते है। सयोग और वियोग की विविध दशाओ का आकलन भी इस में हुआ है। कथा-काव्यो मे जहाँ एक ओर कथाओ का विवरण है वही काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति-चित्रण, रसात्मक व्यजना, अलकरणात्मकता तथा मनोवैज्ञानिकता प्राप्त होती है। अपभ्रशकाव्य गीति, सवाद और चित्र-विधान से अत्यन्त भरित हैं। उन में लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार की शैलियो का समावेश है। लोक-पक्ष की सबल अभिव्यक्ति इस साहित्य का जीवन-दर्शन है। इस में पुराण काव्य और चरित काव्य अधिक हैं, किन्तु कथाकाव्य भी उपलब्ध हैं, जो अनुबन्धमें प्रबन्ध की भाँति हैं। मुक्तको में चर्यागीति, दोहा, गीत, बारहमासा आदि प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में गद्य स्वतन्त्र रूप से नही मिलता। कुवलयमाला कहा,

---

१ डॉ० रामसिंह तोमर प्राकृत-अपभ्रश-साहित्य और उस का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', आलोचना, जुलाई १९५३, पृ० ५६।

२ डॉ० हरदेव बाहरी प्राकृत और उस का साहित्य, पृ० १४३।

३ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य है—लेखक का 'प्राकृतछन्दकोश' शीर्षक लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २२, अक ३-४, पृ० ४५।

संस्कृत नाटको मे, श्वेताम्बर जैन ग्रन्थो की टीकाओं में[1] तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि ग्रन्थो में प्रकीर्णक रूप में अपभ्रश-गद्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अभी तक स्वतन्त्र रूप मे गद्य में कोई रचना उपलब्ध नही हो सकी है। हाँ, साहित्य के अतिरिक्त वैद्यक, योग और पूजा-रचनाएँ भी छन्दोवद्ध उपलब्ध हैं। मुनि यश.कीर्ति विरचित 'जगसुन्दरी-प्रयोगमाला' आयुर्वेद का सुन्दर ग्रन्थ है। समूचा ग्रन्थ पद्यवद्ध है। सरस्वतीस्तोत्र, दशलक्षण पूजा और अपभ्रंश भाषा में लिखित कई छोटी-छोटी धार्मिक रचनाएँ तथा फुटकर बातें भी मिलती हैं।

अपभ्रश-साहित्य के मुख्य केन्द्र राजस्थान, गुजरात, मालवा (धार), हरियाना और बुन्देलखण्ड रहे हैं। मलखेडा (हैदरावाद) या मान्यखेट का नाम केवल महाकवि पुष्पदन्त के कारण कहा जा सकता है। पूर्वी अपभ्रश-साहित्य का क्षेत्र मिथिला, वंगाल और उडीसा कहा जा सकता है। यद्यपि बुन्देलखण्ड से प्राप्त साहित्य प्रकाश में नही आया है, पर वह प्रकाशनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में संस्कृत-प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भाषा में भी साहित्य लिखा गया। आ० रत्नश्री ज्ञान ने राष्ट्रकूट राजा तुंग के समय दण्डीके काव्यादर्श की काव्यलक्षण नामक टीका लिखी थी। पुष्पदन्त तो वहाँ जीवन भर रहे। स्वयम्भू मूलत कोशली थे। वाद में दाक्षिणात्य कर्णाटकवासी वन गये।[2] सामान्यत. मध्यदेश में मध्ययुगीन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य समानान्तर रूप से शताब्दियो तक लिखा जाता रहा है। वरार और कर्णाटक से भी अपभ्रंश साहित्य मिलने की सूचनाएँ मिलती हैं। अपभ्रश की छोटी-बड़ी रचनाएँ मुख्य रूप से जहाँ-जहाँ जैन विद्वान् रहे हैं, लिखी जाती रही है। कुछ स्थानों के नाम इस प्रकार हैं—अणहिलपुर, श्रीवालपुर, अचलपुर, गोनंद नगर (मालवा), विलरामपुर (एटा), गोध्रा (गुजरात), चन्द्रवाड (उत्तरप्रदेश), जोगिनीपुर (दिल्ली), करहल (इटावा), हिसार, ग्वालियर, टिहढ़ा नगरी, मेदपाट (मेवाड), दिल्ली, सोनीपत, नागरमण्डल (गुजरात), हिसारकोट, जेरहटनगर (माण्डू) तथा रोहतक आदि।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्यो में भी कथानुबन्ध के साथ काव्यगत रूढियो का परिपालन प्राप्त होता है। किन्तु अपभ्रश में इस प्रकार के कथा-काव्यो का महत्त्व घटनाओ के क्रमिक विकास या चरित्रो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न हो कर पुराण-कथाओ तथा लोक-कथाओ के सामाजिक अभिप्राय तथा काव्यात्मक

१ अगरचन्द नाहटा 'श्वेताम्बर अपभ्रश साहित्य', महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल ६२ पृ० १५०।

२ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन . पउमचरिउ भाग १, भूमिका।

वर्णन में हैं। कही-कही प्रबन्ध की लीक का अनुसरण भी उन में लक्षित होता है। काव्यगत रूढियो में निम्न-लिखित मुख्य हैं—मगलाचरण, आत्मपरिचय, विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन वर्णन, काव्य के वास्तविक अध्येता और रचना का उद्देश्य। सस्कृत के महाकाव्यो की रचना सर्गों में, प्राकृतोकी आश्वासो तथा उद्देशोमें और अपभ्रश के महाकाव्यो की सन्धियो में हुई। सन्धि कई कडवकोंसे मिल कर बनती है। कुछ महाकाव्य काण्डो में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड कई सन्धियो के मेल से बनता है। काण्डो में विभाजन की यह शैली वाल्मीकिरामायण में मिलती है और हिन्दी मे भी दिखाई देती है, यहाँ तक कि रामचरितमानस को भी सोपानोके साथ ही काण्डो में विभाजित कर देखा जाता है।[१] रासो ग्रन्थो में घटनाओ की प्रधानता के साथ ही कथा-बन्ध ठवणि, प्रक्रम और भासों में तथा ठवणि वस्तु में विभाजित देखा जाता है। इसी प्रकार वेलि रचनाएँ कडियों तथा कई वेलो मे विभक्त प्राप्त होती हैं। वेलि और फागु रचनाएँ प्राय खण्ड काव्य सज्ञक होती थी। यद्यपि ऐसा कोई नियम नही था, पर अधिकाश रचनाएँ खण्ड काव्य हैं। उन में खण्डकाव्य के विषय हैं[२]। रास, फागु, वेलि, विलास आदि शब्द रूढ हो जाने से काव्य के ही वाचक रहे हैं; निश्चित काव्यात्मक प्रवृत्ति के बोधक नही।[3] उद्देश्य के अनुसार अवश्य रास और फागु रचनाएँ अभिनयमूलक होती थी और उन के अभिनय में नृत्यगीत मुख्य रूप से सहायक होते थे।[४] कथा के प्रवाह में लगभग समस्त रचनाओ में गीत तत्त्व भरपूर है। गीतमूलक कई प्रकार की शैलियाँ तथा गीत इन रचनाओमें मिलते हैं। चर्चरी रचनाएँ तो लोकनाट्य ही रही हैं, जो नृत्य और संगीत प्रधान होती थी। कई प्रकार के विनय और भक्तिपरक गीत भी चूनडी, रास, सन्धि, पृच्छा, अनुप्रेक्षा और जन्मकल्याणक आदि में लिखे जाते थे। सम्भवत मराठी की भाँति पोवाडा या पवाडा (वीर गीत) तथा ढवल या धवल गीतो का प्रचलन अपभ्रश काव्यो में तथा मुक्तको में रहा है। अतएव इन काव्य-रूपो में भेद लक्षित होता है।

वर्गीकरण

अपभ्रश-साहित्य मुख्यत पौराणिक और लौकिक है। प्रबन्ध-काव्यो में कुछ काव्य पुराणो के आख्यान ले कर लिखे गये है और कुछ लौकिक (लोक-प्रचलित)

---

१ डॉ० हरिवश कोछड अपभ्रश-साहित्य, प्रथम सस्करण, पृ० ५१।

२ कृष्णचन्द्र 'राजस्थानी का वेलि साहित्य कुछ नयी कृतियाँ', शोध-पत्रिका, वर्ष १२ अक १, सितम्बर १९६०, पृ० ७५।

३-लेखक का सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्यधारा नामक लघु प्रबन्ध, अप्रकाशित, पृ० ३२।

डॉ० दशरथ ओझा और शर्मा रास और रासान्वयी काव्य, प्रथम सस्करण, पृ० ८७।

कथाओ से भरित हैं। महाकाव्यो में पौराणिकता के साथ ही लोकतत्त्व का भी समावेश मिलता है। किन्तु कुछ ग्रन्थ बिलकुल पौराणिक हैं। ऐसे काव्यों में से अधिकाश पुराणसज्ञक हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने प्रबन्धकाव्य के मुख्यतः दो रूप माने हैं[1]—शास्त्रीय प्रबन्ध काव्य और चरितकाव्य। किन्तु जिन मे कथानक की प्रधानता है और जो कई अवान्तर कथाओ से समन्वित है उन्हें हम पुराण की श्रेणी मे रखना चाहेंगे। क्योकि अपभ्रश के प्रबन्ध काव्यो का विकास एक रूप में न हो कर बहुविध हुआ है, जिस में हमे पुराण, लोकाख्यान, घटनामूलक तथा शास्त्रीय बन्ध की शैलियाँ तथा वर्णन-प्रवृत्ति लक्षित होती हैं। कुछ पुराण-कथाएँ लोक-काव्य के साँचे में ढली हुई मिलती हैं जो न तो पुराण काव्य के अन्तर्गत आती हैं और न लोककाव्य के ही। प्रबन्ध काव्य का यह वर्गीकरण शैली की दृष्टि से किया जाता है। वस्तु की दृष्टि से भी अपभ्रंश की उन छोटी-छोटी रचनाओ पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जो केवल विवरण मात्र है और जो शुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर लिखी गयी। ये रचनाएँ न तो चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं और न कथाकाव्य के ही। उन्हें पुराण-कथा ही कहा जा सकता है। ऐसी जैन कथाओ की रचना का उद्देश्य जनता में दान, शील, तप, व्रत और धर्म तथा जीवन में आस्था आदि सद्भाव रूप धार्मिक गुणो का विकास करना रहा है। डॉ० वेबर, लायमन, जेकोबी, ब्युह्लर, हर्टेल और अल्सडोर्फ आदि ने जैन कथा साहित्य के इस महत्त्व का मूल्याकन बहुत पहले किया था[2]। फिर भी, बन्ध की दृष्टि से इन का साहित्य में बराबर महत्त्व है। इस प्रकार अपभ्रश में एक ओर व्रत-माहात्म्य तथा उद्देश्य विशेष से वर्णित छन्दोबद्ध कथाएँ मिलती हैं और दूसरी ओर पुराण, चरित और कथा-काव्य प्रबन्ध काव्य की शैली में उपलब्ध होते हैं। पुराणकाव्यो में जो आकार-प्रकार मे बृहत् तथा शास्त्रीय शैली मे निबद्ध हैं वे महाकाव्य संज्ञक हैं और महापुरुष के जीवन चरित को ले कर लिखी गयी प्रबन्ध रचनाएँ चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं।

अपभ्रश-साहित्य में चरित काव्यो की सख्या अधिक है। भारतीय साहित्य में चरितकाव्य का प्रचलन महापुरुषो के जीवनचरित वर्णन के निमित्त हुआ है, जिस में आदि से अन्त तक नायक का चरित-कीर्तन वर्णित रहता है। हिन्दी में राम, कृष्ण, महावीर तथा जैन साहित्य में त्रेसठ शलाकापुरुषो का जीवनचरित्र हमें दो रूपो में ही अधिकतर मिलता है—पुराणकाव्य के रूप मे और चरितकाव्य के रूप में। वस्तुतः पुराणकाव्य और चरितकाव्य का भेद शैली के आधार पर लक्षित होता है। पुराण काव्य में विस्तार तथा पौराणिक रूढियाँ अधिक होती हैं, जब कि चरितकाव्य में

---

१ हिन्दी साहित्य-कोश, प्रथम सस्करण, पृ० २८६।

२ मुनि जिनविजय कथा कोश प्रकरण का प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १५।

संक्षेप होता है। संक्षेप में, अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—
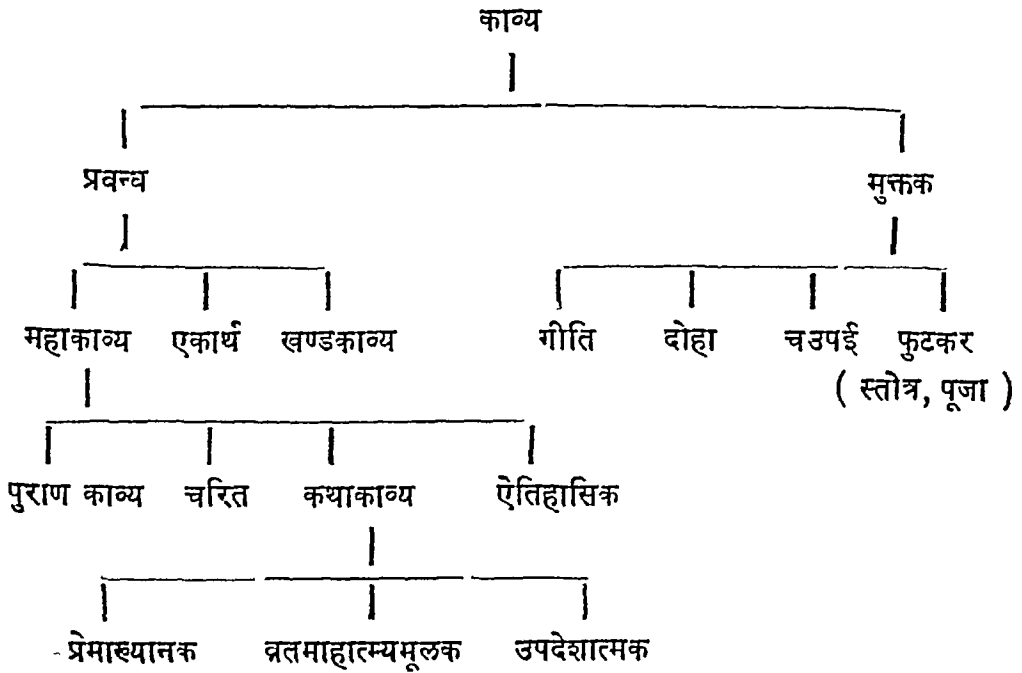
पुराणकाव्य—हरिवशपुराण (श्रुतकीर्ति) ४४ सन्धियो मे निवद्ध, हरिवंश-पुराण (धवल) एक सौ वाईस सन्धियो का काव्य, पुष्पदन्त रचित एक सौ दो सन्धियो में निवद्ध महापुराण, महाकवि स्वयम्भू विरचित एक सौ वारह सन्धियो का हरिवंशपुराण (रिट्ठणेमिचरिउ) तथा नब्बे सन्धियों मे निवद्ध पउमचरिउ इत्यादि।

चरितकाव्य—णेमिणाहचरिउ, पासणाहचरिउ, चन्दप्पहचरिउ, संभवणाहचरिउ, सातिणाहचरिउ, बाहुबलिचरिउ, पज्जुण्णचरिउ, सम्मइजिणचरिउ, जम्बुसामिचरिउ, सुकुमालचरिउ, महावीरचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, जीवधरचरिउ, सुकोसल-चरिउ, मेहेसरचरिउ, पउमचरिउ इत्यादि।

कथाकाव्य—भविसयत्तकहा, जिनदत्तकहा, विलासवईकहा, सत्तवसणकहा, सिद्धचक्ककहा, सिरिपालकहा आदि।

ऐतिहासिक काव्य में विद्यापति की कीर्तिलता तथा खण्डकाव्य में अब्दुलरहमान कृत सन्देशरासक मात्र उपलब्ध हैं। दोहाबन्ध रचनाओ में सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, सुप्पयदोहा तथा गीति-साहित्य में नेमिगीत, नेमीश्वरगीत (वल्हव), गुणस्थानगीत (ब्र० श्रीवर्द्धन), जवूस्वामी गीत, पार्श्वगीत, चेतन गीत, रावलियो गीत, पंचेन्द्री-वेलि आदि रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बौद्धो की चर्यागीति, संबोधगीति, आत्मसबोधन तथा

पद आदि इसी विधा की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार नेमिनाथचउपई, पद्मावती चौपाई, तथा जिनदत्तचउपई अपभ्रंश की चउपई रचनाएँ हैं।

उक्त रचनाओ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश-साहित्य काव्यात्मक विधाओ से अत्यन्त समृद्ध है। रासो-साहित्य इस मे एक स्वतन्त्र ही काव्य-प्रकार है जो शैली के भेद से अन्य रचनाओ से भिन्न देखा जाता है। इसी प्रकार फागु और चर्चरी रचनाएँ बन्ध की दृष्टि से अपना पृथक् महत्त्व रखती है। इनके अतिरिक्त प्राकृत में चम्पू, रूपक और गद्यकाव्य को विशेप विधाएँ हैं। अपभ्रंश में—मयणपराजयचरिउ, मयणजुज्झ, मनकरहारास आदि रूपक काव्य तो दृष्टिगोचर हैं पर नाटक-साहित्य अभी तक उपलब्ध नही हो सका हैं। इसी प्रकार स्वतन्त्र गद्य-रचना भी अभी तक नही मिली है। यद्यपि आख्यानो में तथा अन्य रचनाओ में कही-कही अपभ्रश का गद्य देखने को मिलता है, किन्तु अलग से गद्यबन्ध कोई रचना मेरे देखने मे नही आयी। नाट्य-रचना भी इस साहित्य में उपलब्ध नही है। इस से यही विचार बार-बार मन में उठता है कि हो न हो यह समूचा साहित्य पद्यबद्ध ही है। यहाँ तक कि मुनि यश कीर्ति कृत 'जगसुन्दरी प्रयोगमाला' (आयुर्वेद ग्रन्थ) तथा श्रुतकीर्ति विरचित 'योगशास्त्र' दोनो ही छन्दोबद्ध हैं। डॉ० कोछड ने 'उवएसमालकहाणय-छप्पय' नामक रचना का उल्लेख किया है, जिस से पता चलता है कि छप्पयबन्ध रचनाएँ भी परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य में लिखी जाने लगी थी।[1] अतएव काव्य-विधा में अपभ्रंश-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का पता लगता है, जो पुरोगामी आधुनिक भारतीय आर्य-साहित्य का प्रेरक रहा है।

सामग्री

गत दशक में हुई शोध-खोज से यह स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश में प्रबन्धकाव्यो के साथ ही कथा साहित्य प्रचुर उपलब्ध है। किन्तु अधिकाश रचनाएँ व्रतकथाएँ हैं जो धार्मिक महत्त्व दर्शाने के उद्देश्य से लिखी गयी। इन कथाओ मे व्रत का विधान तया माहात्म्य विशेप रूप से वर्णित है। जिन कथाओ में व्रत का विधान नही है वे भी धार्मिक भावना से प्रेरित शुद्ध उपदेशात्मक कथाएँ हैं। माणिक्कचन्द विरचित 'सत्तवसणकहा' ऐसी ही रचना है जिस मे सात व्यसनो (आखेट खेलना, मदिरा-पान करना, वेश्यागमन करना, मास खाना, चोरी करना, जुआ खेलना और परस्त्री गमन करना) के त्याग का उपदेश कथाओ के दृष्टान्तो के माध्यम से वर्णित है। ये कथाएँ सन्धिबद्ध तथा सन्धिमुक्त दोनो ही शैलियो में लिखी हुई मिलती है। कुछ कथाएँ आकार में बडी हैं और कुछ छोटी हैं। व्रतकथाएँ सामान्यत. अधिक से अधिक दो सन्धियो में निबद्ध हैं। कुछ कथाएँ आकार में बहुत ही छोटी है। ब्रह्म साधारण कृत कोकिलापंचमी, मुकुटसप्तमी, क्षीरद्वादशी, रविवासर, त्रिकालचउवीसी, पुष्पाजलि,

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड़ अपभ्रश-साहित्य, पृ० ३६८।

निर्दुखसत्तमी, निर्झरपंचमी आदि कथाएँ पाँच-पाँच कडवको की रचनाएँ हैं। प० रइधू की 'अणथमीकहा' तो केवल चार ही कडवको की रचना है। कुछ कथाएँ इन से आकार में बडी भी हैं; किन्तु अधिक बड़ी नहीं। उदाहरण के लिए, हरिचन्द की 'अणत्यमियकहा' सोलह कडवको में निबद्ध है। विमलकीर्ति विरचित 'सुखवइविहाण कहा', 'सुयधदहमीकहा' तथा देवनन्दि रचित 'रोहिणीविहाणकहा' और यति विनयचन्द्र कृत 'णिज्झरपंचमीविहाणकहा' आदि इसी आकार की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार मुनि गुणभद्र लिखित सोलह कथाओ का पता मिलता है जो सभी छोटी-छोटी कथाएँ हैं। भ० ललितकीर्ति, यश कीर्ति, नेमचन्द्र और विनयचन्द्र आदि की अधिकतर रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन रचनाओ को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकाश कथाएँ व्रत-माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाली तथा आकार में छोटी और विवरणप्रधान है। केवल इन में वस्तु है, विवरण नहीं। रचनाएँ वस्तुमूलक होने से सक्षिप्त तथा वर्णनरहित हैं। अतएव काव्यात्मक दृष्टि से इन का मूल्याकन करने का प्रश्न ही नही उठता।

उक्त लघु या क्षुल्लक कथाओ के अतिरिक्त कुछ वृहत् कथाओ की संकलना भी प्राप्त होती है। इस प्रकार की रचनाएँ 'कथाकोष' है, जिन में धार्मिक कथाओ का संकलन दिखाई पडता हैं। ये संग्रहात्मक ग्रन्थ हैं जो काव्यरूप में निबद्ध हैं। श्रीचन्दकृत 'कहाकोसु' ५३ सन्धियो में निबद्ध ऐसा ही कथाकोष है। प० रइधू रचित 'पुण्णासवकहाकोसु' भी इसी प्रकार की रचना है। वस्तुगत वर्णन में अवश्य कहीं-कही लेखक की मौलिकता परिलक्षित होती है। अन्य स्फुट कथाकोष भी मिलते हैं, जिन में सस्कृत-अपभ्रंश या अपभ्रश-हिन्दी की कथाओं का सग्रह मात्र दिखलाई पडता है। इन कथाकोषो के लेखक अज्ञात ही हैं।

तीसरे प्रकार की कथाएँ कथाकाव्य हैं, जिन मे कथा और काव्य का सुन्दर कलात्मक सयोजन लक्षित होता है। यद्यपि इन में वर्णित कथाएँ लोककथाएँ हैं, नायक जन-जीवन का विशिष्ट व्यक्ति है, पर अपने कार्यों में वह महान् तथा आदर्श है। वह यथार्थ जीवन से परे का व्यक्ति नही है। उस की महत्ता जन्मजात नहीं, जीवन के गुरुतर सघर्षों के बीच प्रतिफलित होती है। वह साधारण से महान् बनता है। ऐसे कथाकाव्यो में प्रसिद्ध तथा प्रमुख रचना है—भविष्यदत्तकथा। यह पचमी व्रतकथा के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। इस में श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य काव्यात्मक ढग से वर्णित है। विबुध श्रीधर रचित 'भविसयत्तकहा' भी ऐसी ही रचना है। लाखू विरचित 'जिणयत्तकहा' और साधारण सिद्धसेन कृत 'विलासवईकहा' अपभ्रश के सुन्दर कलात्मक कथाकाव्य हैं। इधर अपभ्रश के अन्य कथाकाव्य भी जैन भण्डारो मे देखने को मिले हैं, जिन का अनुशीलन इस पुस्तक में किया गया है।

संक्षेप में अपभ्रंश का कथा-साहित्य इस प्रकार है :

१. अनन्तकीर्ति गुरु : पुप्फजलिकहा

२. अभ्रदेव : सवणबारसिविहाणकहा, सोडसकारणविहाणकहा, सुयक्खंध-विहाणकहा, विज्जुचोरकहा ।

३. अमरकीर्तिगणि · पुरंदरविहाणकहा (वि० सं० १२७५), छक्कम्मोवएस (वि० स० १२४७) ।

४. उदयचन्द्र सुअंधदहमीकहा (१९६६ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) ।

५ कवि ठकुरसी : मेघमालावयकहा (वि० सं० १५८०)

६ कवि देवदत्त : सुयन्धदसमीकहा

७ गुणभद्र भट्टारक : अणंतवयकहा, सवणावारसिविहाणकहा, पक्खवइकहा, णहपंचमीकहा, चंदायणकहा, चंदणछट्ठी कहा, णरयउतारीदुद्धा-रसकहा, णिद्दुहसत्तमीकहा, मउडसत्तमीकहा, पुप्फंजलिवयकहा, रयणत्तयविहाणकहा, दहलक्खणवयकहा, लद्धविहाणकहा, सोडस-कारणवयविहि, सुयंधदहमीकहा ।

८ देवनन्दि : रोहिणिविहाणकहा

९. धनपाल : भविसयत्तकहा

१०. वाहिल : पउमसिरीचरिउ

११. नयनन्दी : सुदंसणचरिउ

१२ नरसेन · सिद्धचक्ककहा, जिणरत्तिविहाणकहा

१३. नेमचन्द : रविवयकहा, अणंतवयकहा

१४ भगवतीदास . मउडसत्तमीकहा, सुयधदसमीकहा

१५ भट्टारक ललितकीर्ति : जिनरात्रिकथा, ज्येष्ठजिनवरकथा, दशलक्षणीव्रत-कथा, घनकलशकथा, कजिकाव्रतकथा, कर्मनिर्जराचतुर्दशीकथा ।

१६. माणिक्यचन्द्र : सत्तवसणवज्जणकहा

१७. मुनि वालचन्द्र . निरयदुहसत्तमीकहा, रविवयकहा, णरयउतारीदुद्धारसी-कहा ।

१८ यति विनयचन्द्र : णिज्झरपंचमीविहाणकहा, णरयउतारीदुद्धारसीकहा ।

१९ यश कीर्ति : जिणरतिविहाणकहा, रविवयकहा ।
दशलक्षणधर्मकथा (सरस्वती भवन, बम्बई)

२०. रइधू . पुण्णासवकहाकोसु, सिद्धचक्कमाहप्पकहा, अणथमीकहा, रविवउ-कहा ।

२१. रल्ह : जिनदत्तचउपई

२२. लाखू : जिणयत्तकहा, चंदणछट्ठीकहा ।

२३. विनयचन्द : णिज्झरपंचमीकहा, दुद्धारसकहा ।
२४ विमलकीर्ति : सुखसंपइविहाणकहा, सुयंधदसमीकहा, चंदायणवउकहा ।
२५ विबुध श्रीधर . भविसयत्तकहा
२६. श्रीचन्द : कहाकोसु
२७. साधारण ब्रह्म : कोकिलापंचमीकहा, मउडसत्तमीकहा, दुद्धारसीकहा, रविवउकहा, तिणचउवीसीकहा, पुप्फजलिवयकहा, निर्दुहसत्तमीकहा, णिज्झरपंचमीकहा ।
२८ साधारण सिद्धसेन . विलासवईकहा (वि० सं० ११२३)
२९ हरिचन्द अणत्थमीकहा, दहलक्खणकहा, नारिकेरकहा ।
३० हरिचन्द्र पुप्पाजलिकथा

इन के अतिरिक्त कुछ अज्ञात लेखको की कथा-रचनाएँ भी देखने को मिलती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

मुक्तावलिविधानकथा, पुरन्दरविधानकथा, सुगन्धदशमीकथा, चन्दनषष्ठीकथा, निर्दोषसप्तमीकथा, रोहिणीविधान, अनन्तव्रतकथा, जिनरात्रिविधान, सुगन्धदशमीकथा, मालारोहणकथा इत्यादि । सम्भावना यह भी है कि नागौर, जैसलमेर, पाटण तथा ईडर आदि के जैन भण्डारो में कुछ अन्य कथाएँ तथा कथाकाव्य भी उपलब्ध हो सकें । सम्प्रति इसी सामग्री का विचार करना समुचित होगा ।

कथा बनाम आख्यान

'कथा' भारतीय साहित्य का अत्यन्त प्राचीन अंग है । कथा पहले है काव्य बाद में । कदाचित् कथाओ का चलन सब से पहले प्रकृतिविषयक रहस्य को समझने और समझाने के निमित्त हुआ था । तब उन्हें कथा नही कहा जाता था । कथा का सब से पुराना नाम आख्यान मिलता है । वेदो मे आख्यानो के विवित्र उल्लेख मिलते हैं । इन आख्यानो का सम्बन्ध विशेष रूप से अतिमानवीय घटनाओ से युक्त है । वैदिक आख्यानो का उपयोग मुख्य रूप से मन्त्रो की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है । वे मन्त्र और यज्ञ-विधि से पूर्णत सम्बद्ध हैं । अतएव उन में आख्यानो का उल्लेख मात्र है, विवरण नही मिलता । ब्राह्मण भागो में अवश्य उन का विवरण प्राप्त होता है । किन्तु वे यथास्थान बिखरे हुए है । उन में संवाद एव वार्त्तालाप एक ही शैली में अनुस्यूत दिखाई देते है । उपनिषदो में इस शैली का विकास वार्त्ताओ तथा आख्यानो के माध्यम से हुआ । वार्ताएँ दृष्टान्त रूप में सम्भवत इसी युग मे प्रचलित हुई । पुराण-काल में पौराणिक रचनाएँ इतिवृत्त को ले कर विकसित हुई, जिन में धार्मिक भावना मुख्य है । युग और समाज के परिवर्तन के साथ ही लोक-परम्परा में जो वार्ताएँ जड जमा चुकी थी वे ही आगे चल कर किवदन्ती नाम से अभिहित हुई । किंवदन्ती ही साहित्यिक विधा

में परवर्ती काल में 'लोककथा' नाम से ख्यात रही। किन्तु पौराणिक कथा का माहात्म्य आज भी धार्मिकता के विवरण तथा वर्णन से बना हुआ है।

यद्यपि कथाएँ रूपक मात्र हैं पर उन मे भारतीय जीवन के अनुभवपूर्ण अभिप्राय निहित हैं। कथा के बहाने धर्म, नीति, आचार-व्यवहार का ही उन में समावेश नही है वरन् लोक-जीवन का जीता-जागता चित्र तथा भारतीय सस्कृति और समाज का चित्र भी स्वाभाविक रूप से उन में प्रतिबिम्बित है। कई आख्यान श्रुति के अग बन कर युगो-युगो तक प्रचलित रहे हैं। पुराण-युग मे उन में विविध परिवर्तन और सशोधन हुए। यो तो वेदकाल से ले कर पुराण-युग तक उन में बहुविध विकास हुआ[1] पर कथा का वास्तविक ढांचा उन्हें तभी (पुराण-युग में ही) मिल सका जब धार्मिक वृत्तो से भरपूर होने पर भी लोक-जीवन तथा घटनाओ का समावेश भी उन में होने लगा था।

प्रत्येक देश में कथाओ का प्रचलन मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर या अन्य किसी धार्मिक स्थान से हुआ है जहाँ समाज परस्पर प्रेम-सूत्र का गठबन्धन करती है। लोक-धर्मी परम्परा में कथातत्त्व अत्यन्त विकसित हुआ। जातीय भावनाओ तथा अभिप्रायों का सुन्दर घोल कथाओ के रूप में जन-मानस में परिव्याप्त लक्षित होता है। केवल भारतीय साहित्य में ही नही, पाश्चात्य एवं युरॅपोय साहित्य में भो लोकवार्त्ताओ के माध्यम से धार्मिक भावनाओ का प्रसार हुआ। लोकवार्त्ताएँ धार्मिक आख्यानो के रूप में वैदिक काल से प्रतिष्ठित रही हैं। प्राग्वैदिक काल में भी वे श्रुति के रूप में प्रचलित थी। मिस्र, इजिप्ट, चीन तथा अन्य देशो की अवदान कथाएँ वर्षों तक लोक-जीवन में मौखिक ही सुरक्षित रही हैं।[2] श्रुतियो और स्मृतियो में आख्यानों का यही रूप मिलता है। उन का परवर्ती विकास पौराणिक युग के जीवन का यथार्थ धरातल है, जिस में कल्पना और आदर्श का सुन्दर मेल है।

मिस्र, चीन, भारत आदि देशो में देवी-देवताओं की मान्यता प्राग्-ऐतिहासिक काल से बराबर बनी हुई है। पूजा की विधि और उपासना में ही देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इस सृष्टि का जन्म प्रायः सभी किसी न किसी देवी या देवता से हुआ मानते है। देवत्व की प्रतिष्ठा एवं स्थापना ऋग्वेद में ही हो गयी थी।[3] पुराणो में ऐसी कई रूपक कथाएँ मिलती हैं जिन में आध्यात्मिक तत्त्व बीज रूप में निहित है। इसीलिए समाज में आज भी उन का महत्त्व है। भारतीय वाङ्मय में राम और कृष्ण के आख्यान शताब्दियो पश्चात् भी गौरवपूर्ण बने हुए हैं। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि साहित्य की यह विधा लोकवार्त्ताओ से विकसित हुई है। भारतीय साहित्य की भाँति अन्य भाषाओ के साहित्य में भी जातीय अभिप्राय

---

१ एच० एल० हरियप्पा ऋग्वेदिक लीजेन्ड्स थ्रू दि एजेज, भूमिका, पृ० १५।

२. राबर्ट ग्रेमस लारोस, इन्साइक्लोपीडिया ऑव माइथालॉजी, पृ० ६।

३ त्रिवेणीप्रसाद सिंह' हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, प्रथम संस्करण, पृ० ११२।

(National motifs) लोकवार्त्ताओसे ग्रहण किये जाते रहे हैं।[1] कालान्तर में आख्यायिकाओ और कथाओं के वे ही अंग-रूप बन कर प्रचलित हो गये।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शान्तनु आदि की कथाओ का संक्षिप्त विवरण दिया है।[2] आख्यानो की दृष्टि से व्याख्या करने वालो को 'ऐतिहासिक' कहा गया है।[3] इस से स्पष्ट ही सकेत मिलता है कि लोकप्रचलित आख्यान इतिहास के रूप में माने जाते रहे हैं। ब्राह्मणो में प्राप्त 'आख्यान' शब्द इतिहास का वाचक है। निरुक्त में भी इतिहास और आख्यान शब्द सम्भवत एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। 'आख्यान' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उस में मिलता है।[4] 'वृहद्देवता' में विभिन्न वैदिक आख्यानो का सुन्दर सकलन है। भारतीय कथा-साहित्य का यह प्राचीनतम संग्रह है।

मूल रूप में साहित्य आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक, कल्पित तथा निजन्धरी वृत्तो को ले कर परवर्ती काल में भारतीय साहित्य की सृष्टि हुई। साहित्य मात्र में धार्मिक आख्यान और लोकवृत्त अतिशयोक्ति पूर्ण कल्पनाओ तथा अलकरणात्मकता से अनुरजित है। और कथन-भेद से साहित्य के विभिन्न अंगो की रचना का विकास सम्भव हो सका है। इसीलिए शैली-भेद से आख्यान, आख्यायिका तथा कथा आदि नाम प्रचलित हुए। वस्तु-भेद बहुत पीछे की वस्तु है। वस्तुत इन तीनो का विकास एक ही परम्परा में हुआ। इतिहास और पुराण भी इसी श्रेणी के हैं।[5] आख्यानो का वास्तविक विकास पुराण और काव्य-साहित्य में मिलता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि मे सुन्दर आख्यानो के साथ काव्यसौष्ठव भरपूर है। उन में आख्यान तथा उपाख्यान वर्णनो के बीच चलते हुए लक्षित होते है। उन के इस रूप को देख कर सहज में ही निश्चय हो जाता है कि प्रबन्धकाव्यो के पश्चात् ही पुराणो की रचना हुई है। पुराण अठारह कहे जाते है।[6] उन का मूल स्रोत वैदिक आख्यानो में निहित माना जाता है। मन्त्रभाग और विधितत्त्व भी पुराणो के मूल में रक्षित है। यथार्थ में कुछ देवी-देवताओ को मान कर ही उन को प्रतिष्ठा तथा माहात्म्य बनाये रखने के लिए पुराणो की रचना हुई। पुराणो में अग्नि, विष्णु और शिव की उपासना मुख्यतः वर्णित है। लिंग, स्कन्द और अग्निपुराण में अग्नि तथा ब्रह्म, नारद, ब्रह्मवैवर्त,

---

१ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, प्रथम सस्करण, पृ० ५२।

२ यास्क निरुक्त, अ० २, पा० ३, ख० १२।

३ "तत्रैतिहासमाचक्षते। यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव तत्र इममितिहास पुरावृत्त निदानभूतमाचक्षते आचार्या कथयन्ति।"—निरुक्त, २,७,२४। दुर्गाचार्य की टीका।

४ यास्क निरुक्त, अ० ५, पा० ४, ख०-२१।

५ "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' इति।—महाभाष्य, पा० ४-२-६०।

६ ब्राह्म पाद्मम वैष्णव च शैव लैङ्ग सगारुडम्।
नारदीय भागवतमाग्नेय स्कान्दसञ्ज्ञितम् ॥
भविष्य ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराह मात्स्य कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिपट् ॥
—श्रीमद्भागवत, १७, २३-२४।

वराह और वामनपुराण में विष्णु एव मार्कण्डेय और शिव पुराण मे शिव की प्रधान रूप से भक्ति वर्णित है। अन्य पुराणो में अवतार, परमपुरुप की लीला तथा लोक गाथाओ का सुन्दर संकलन है। यद्यपि पौराणिक आख्यान मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं पर अतिलौकिक घटनाओ का समावेश भी उन में प्राप्त होता है। फिर, उपनिपद् कालिक विचारधारा में आत्मतत्त्व को समझाने के लिए दृष्टान्त शैली का विकास हो गया था। इसलिए पुराणो में कथाओ और उपाख्यानो का सुन्दर मेल दिखाई देता है। विश्व में सम्भवतः महाभारत से बढ कर कोई कथाकोश नही मिलता। एक चौथाई महाभारत उपाख्यानो से भरपूर है।[1] रामायण में भी विविध अवान्तर कथाओ का सुन्दर सयोग है। णायाधम्मकहा में अनेक दृष्टान्त परक रूपक कथाएँ मिलती हैं। इस में वर्णित कथाएँ उपदेशात्मक एवं ललित है। जातक कथाएँ लोककथाओ के मूल में विकसित हुई जान पड़ती है। पृच्छा रचनाओ में कथा धार्मिक गाथाओ में लिपटी हुई मिलती है। किन्तु णिज्जुत्तियो में कथा और उपाख्यान दोनों ही प्राप्त होते हैं। व्याख्या भाग को पृथक् कर देने पर निर्युक्तियों और चूर्णियो मे सुन्दर आख्यान दिखाई देते है। जैन शास्त्रो एवं पुराणो में लोकाख्यान तथा कथाओं का सुन्दर संकलन है, जिन में व्रत, उपवास, धर्म और ज्ञान का माहात्म्य वर्णित है। डॉ० उपाध्ये ने सोलह कथाकोशो का परिचय दिया है जो धार्मिक कथाओ से भरपूर है।[2] जिनेश्वरसूरि का कथाकोपप्रकरण, राजशेखरसूरि का प्रवन्धकोश, मुनि सिंहसूरि का वृहदाराधना कथाकोश, हरिपेण कृत वृहत्कथाकोश, नेमिचन्द्र रचित कथामणिकोश, देवभद्रसूरि विरचित कथारत्नकोश, उत्तमपि कृत कथारत्नाकर, हेमविजयगणि रचित कथारत्नाकर, श्रुतसागर विरचित व्रतकथाकोश, आ० मल्लिषेण, धर्मचन्द, सकलकीर्ति आदि कृत व्रतकथाकोश, ब्रह्म नेमिदत्त, प्रभाचन्द्र, सिंहनन्दिन्, छत्रसेन, ब्रह्मदेव ब्रह्मचारी, रत्नकीर्ति आदि विरचित आराधनाकथाकोश[3] तथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा में लिखित पुण्याश्रवकथाकोश आदि उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओ में भी जैनकथाकोशो के लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।

गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखित 'वड्ढकहा' लौकिक आख्यानो का मनोहर सकलन है। जनरुचि के अनुसार जनभाषा में लिखित यह कथाकोश भारतीय जीवन मे अत्यन्त प्रचलित रहा है। कथासरित्सागर उसी का सक्षिप्त सस्करण मात्र है। उस में कथातत्त्व को प्रवाहपूर्ण वनाने के लिए काव्याश की संयोजना हुई है।[4] क्षेमेन्द्र कृत

---

१ चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारत प्रोच्यते बुधै ॥—महाभारत, आदि पर्व, १, १२०।

२. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये - वृहत्कथाकोश की भूमिका।

३ हरि दामोदर वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, १९४४, पृ० ३२।

४ यथामूल तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रम ।
ग्रन्थविस्तरसक्षेपमात्र भाषा च भिद्यते ॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥—कथासरित्सागर, १, १०-११।

'वृहत्कथामंजरी' और बुद्धस्वामी का 'वृहत्कथाश्लोकसग्रह' वृहत्कथा के ही अन्य संस्करण हैं।[1] इसी प्रकार जातको तथा अवदानों के भी कई संग्रहों का पता लगता है। चीनी भाषा में भी उन के कई सस्करणो के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। इसी परम्परा मे आगे चल कर भोजप्रवन्ध, वैताल पचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशतिका आदि रचनाएँ लिखी गयी। हिन्दी में इन को आधार मान कर शुकवहत्तरी, माधवानल-कामकन्दला, सुदामाचरित जैसी लोककथाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियो में रची गयी। किन्तु सस्कृत में पंचतन्त्र की शैली उन सब से भिन्न है। उस में लोकज्ञान का सजीव वर्णन है। यद्यपि दशकुमारचरित की रचना प्रौढ है, पर उस में तत्कालीन लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। सम्भवत' वाणभट्ट और वसुबन्धु की कथाएँ भी इसी पर-म्परा की हैं। धनपाल की तिलकमजरी भी वहुत कुछ इस लीक पर चलती हुई जान पडती है। इन कथाओ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा का मूल जन-जीवन में सुरक्षित रहा है। किसी विशेप अभिप्राय, उद्देश्य या धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर ही पौराणिक कथाएँ समय-समय पर जातीय भावनाओ के अनुसार लिखी जाती रही हैं। अधिकाश जैन कथाएँ आचार्यों, मुनियो या यतियो तथा भट्टारको के द्वारा लिखी गयी हैं। जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति की रक्षा में भट्टारको का प्रमुख हाथ रहा है। वे कई भाषाओ के जानकार तथा अधिकारी विद्वान् होते थे। तन्त्र, मन्त्र और शास्त्रो की रचना मे उन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आज भी राजस्थान, सौराष्ट्र—गुजरात, वरार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण आदि में जो वडे-वडे भण्डार मिलते हैं वे सब यतियो तथा भट्टारको की देन हैं। जैन समाज में यतियो तथा भट्टारको की परम्परा प्राचीन मानी जाती है। उन के कई स्थानो का प्रामाणिक परिचय भी मिलता है।[2] इस प्रकार कथा की सृष्टि मूल रूप में जन-वार्त्ताओ से हुई प्रतीत होती है। जहाँ उन में अति-मानवीय घटनाओ का सयोग हो गया है वहाँ से धार्मिक आख्यान बन कर पुराणो में अथवा पौराणिक रचनाओ में निरूढ हो गयी है। अतएव उन में कथा का वह शुद्ध स्वरूप नही दिखाई देता जो लोककथाओ में मिलता है। वैदिक युग मे असुर तथा दानवो से सम्वन्वित कथाएँ जन-जीवन में प्रचलित रही हैं[3] पर वेदो में प्राप्त श्यावाश्व, पुरुरवा-उर्वशी, तथा सवाद सूक्तो मे प्रकृति की अलौकिक सत्ता ही मुख्य है, मनुष्य के भावनात्मक सौन्दर्य और प्रकृतिगत सौन्दर्य से उन का कोई विशेष सम्वन्ध नही है। ब्राह्मण ग्रन्थो में प्रतीकात्मक देवकथाएँ (Myths) ही मुख्य रूप से मिलती हैं। यद्यपि उपनिषदो मे दृष्टान्त और सवाद शैली का जन्म वहुत पूर्व ही हो गया था पर उन का

---

१ वाचस्पति गेरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण, पृ० ६१६।

२ अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ आमेर गादी के भट्टारकों की साहित्यिक एव सांस्कृतिक सेवा, महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल ६२, पृ० १२७। विशेप जानकारी के लिए प्रो० वी० पी० जोहरापुरकर की पुस्तक 'भट्टारक सम्प्रदाय' (शोलापुर, १६५८) द्रष्टव्य है।

३. ई० वाशवर्न हापकिन्स इपिक माइथालॉजी, प्रथम सस्करण, पृ० ५१।

पूर्ण विकास कथा-साहित्य में देखा जाता है। प्राकृत के प्रबन्ध काव्यो मे कथन की यह विशेष शैली रही है, जिस में वार्तालाप एवं सवाद कथा के अंग हैं। उस में कथाएँ गद्य और पद्य दोनो में ही लिखी हुई मिलती है। कथाकोपप्रकरण में संग्रहीत कथाएँ प्राकृत गद्य में लिखी गयी हैं। प्रसगत. कुछ संस्कृत और अपभ्रंश के भी पद्य आ गये है। देशी राग में गायी जाने वाली अपभ्रंश चौपाई भी उस मे संकलित है।[१] कथा-ग्रन्थो में से कुछ तो पुराणो की पद्धति पर रचे गये हैं और कुछ आख्यायिकाओ की शैली पर। उपलब्ध ग्रन्थो में 'वसुदेव हिण्डी' सब से प्राचीन और सब से बड़ी कथा-रचना है।[२] इस मे विभिन्न सक्षिप्त कथाओ का सुन्दर संकलन है। इस के संग्राहक संघदास क्षमाश्रमण कहे जाते हैं। इस की रचना पुराण-पद्धति पर हुई है। श्री हरिभद्रसूरि का धूर्ताख्यान अत्यन्त ललित कथा-रचना है। जयसिंहसूरि कृत धर्मोपदेशमाला, महेन्द्रसूरि विरचित नर्मदासुन्दरी और सुमतिगणि रचित जिनदत्ताख्यान आदि प्राकृत की मनोहर कथाकृतियाँ हैं। महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपचमीकथा प्राकृत की प्रसिद्ध कथाओ का काव्यात्मक सकलन है। आलकारिक शैली में लिखी गयी कथाएँ भी देखी जाती हैं, पर अधिकतर लोकाख्यान मूलक पद्धति पर उन की रचना हुई है। प्राकृत और अपभ्रश के कथाकाव्य अधिकतर शास्त्रीय मार्ग से हट कर लोकाख्यानक शैली पर रचे गये हैं। कुछ प्राकृत कथाकाव्य इस प्रकार हैं—तरंगवई (पादलिप्तसूरि), समराइच्च कहा (हरिभद्र सूरि), भुवनसुन्दरी (विजयसिंह सूरि) तथा निर्वाण लीलावती (जिनेश्वरसूरि) आदि। प्राकृत में प्रेमाख्यानक काव्यो की लम्बी परम्परा दिखाई देती है, जिस में शृंगार की साभिराम योजना हुई है। उन मे से कुछ के नाम हैं—रयणसेहरकहा (जिनहर्षगणि), तरंगवई (पादलिप्तसूरि), लीलावई (कोऊहल), सुरसुन्दरीचरिउ (धनेसरसूरि), भुवनसुन्दरीचरिउ (विजयसिंह), लीलावई (भूषणभट्टतनय), कथा-सुरसुन्दरी[3] और मलयसुन्दरी कथा आदि। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओ में भी लिखित प्रेमाख्यानक कथाकाव्य प्राप्त होते हैं। जान पडता है कि आभीरो के प्रबुद्ध होने पर छठी-सातवी शताब्दी के लगभग कथा-रचना में गीत और शृंगार-भावना का समावेश हो चला था। प्राय कथाकाव्य लोकाख्यान को ले कर लिखे जाते थे। तमिल में सातवी शताब्दी में शास्त्रीयता से हट कर लोककथाएँ लिखी जाने लगी थीं। हिन्दी मे तो प्रेमाख्यानक काव्यो की रचना लोक कथाओ को ले कर ही हुई है। उन के अतिरिक्त तोता-मैना, वैतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, सुवाबत्तीसी तथा ढोलामारू आदि मौलिक कथाएँ भी भारतीय जनता में शताब्दियो से प्रचलित रही हैं। लोककथाओ में पशु-पक्षी, पेड-पौधे, जड़-चेतन सभी कथा के विषय मिलते हैं।

---

१ मुनि जिनविजय जिनेश्वरसूरि कृत कथाकोषप्रकरण की भूमिका, पृ० ७४।
२ वही पृ० ६७।
३ वेलणकर जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० ८५।

कथा और आख्यायिका

प्राकृत में कथा के लिए 'कत्थ' तथा आख्यायिका के लिए 'आइक्खिया' शब्द मिलते हैं। ठाणांगसुत्त में स्पष्ट रूप से कथा काव्य का एक भेद कही गयी है।[1] आख्यायिका का अर्थ अंग ग्रन्थो में 'वार्ता' या 'विवरण' प्राप्त होता है।[2] यद्यपि आरण्यक ग्रन्थो और यास्क के निरुक्त में भी कथा शब्द देखा जाता है, पर वहाँ वह 'कथ' (क्यों, कैसे) का वाचक है।[3] इसी प्रकार 'आख्यान' शब्द कथन अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतीत होता है कि पुराण-युग के पूर्व साहित्य में कथा का स्थान महत्त्वपूर्ण नही समझा जाता था। जब से प्रबन्ध काव्यो में रसाभिनिवेश के लिए कथा की संयोजना हुई, संभवत तभी से कथा का महत्त्व एवं गौरव प्रतिष्ठित हुआ। प्रबन्ध काव्य के रूप में आदि ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण का उल्लेख मिलता है पर उस के पूर्व भी कथाकाव्य लिखे जाते थे। रामायण में कथा कहने की प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है।[4] 'वार्त्ता' शब्द कथा से समीचीन जान पड़ता है। कालान्तर में वार्त्ता, विवरण, कथा आदि शब्दो का प्रयोग समान अर्थ में किया जाने लगा। महाकवि कालिदास ने 'वार्त्ता' अर्थ में इस का प्रयोग किया है।[5] किन्तु श्रीमद्भागवत में 'वार्त्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हैं।[6] आचार्य चाणक्य के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी) तक कथा शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। आख्यान और कथा से अभिप्राय तब 'कथन' प्रचलित था।[7] आ० भामह ने आख्यायिका और कथा दोनो का ही प्रयोजन 'अभिनय' माना है।[8] किन्तु रामायण में स्पष्टत दोनो समान अर्थ के वाचक हैं।[9] वस्तुत. इस विषय में लक्षणग्रन्थकारो में विभिन्न मत हैं। सामान्यतः कथा का अर्थ

---

१ चउव्विहे कव्वे गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये।—स्थानांगसूत्र, ४, ४, ४३।

२ अट्ठाइहेऊति पसिणाइं कारणाइ वाकरणाइं आइक्खति।—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १,१,१३४।

३ यथा तु कथा च ब्रुवन्वा ब्रुवन्त वा।
ब्रुयादभ्याशमेव यत्तथा स्यात, इति॥—ऐतरेयारण्यकम्, ३, १, ३।

४ सनत्कुमारो भगवान् पुरा कथितवान्कथाम्।
भविष्यं विदुषां मध्ये तव पुत्र समुद्भवम्॥—रामायण, १, ८, ६।

५ अभितप्तमयोऽपि मार्दव भजते कैव कथा शरीरिषु।—रघुवंश, ८, ४३।

६ यत्र भागवती वार्त्ता तत्र भक्त्यादिक व्रजेत।
कथाशब्द समाकर्ण्य तात्त्विक तरुणायते॥—श्रीमद्भागवत, ३, ६।
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते॥—वही, ३, ४४।

७ कथानुरूप प्रतिवचन।—चाणक्यसूत्र, ३२८।
कथित पञ्चधुपाख्यान ब्रह्मपुत्र यथागमम्।
देवी मङ्गलचण्डी या तदाख्यान निशामयम्।—ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय ४१, प्रकृति खण्ड।

८ सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।—काव्यालंकार, १, १८।

९ एतदाख्यानमायुष्य पठत् रामायण नर।
सपुत्रपौत्र सगण प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, १, ९९।

वार्त्ता तथा दृश्य और श्रव्य काव्य में वह काव्य की मूल निबन्धिनी समझी जाती रही है।[१]

'आख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ 'वृत्त' या 'विवरण' कहा जाता है। किन्तु कथा की भाँति इस का सम्बन्ध इतिहास पुराण से होता है।[२] आ० विश्वनाथ ने पूर्व वृत्त (इतिहास) को 'आख्यान' कहा है।[३] वृत्त का अर्थ कथा भी है।[४] काव्यो की रचना विभिन्न आख्यानो में हुई है। यद्यपि आख्यायिकाओ का विकास आख्यान से कहा जा सकता है, पर साहित्यिक विधा में उन में अन्तर है। लोक में वार्त्ता, जनश्रुति और आख्यायिका का अर्थ समान रूप में प्रचलित रहा है। किसी समय आख्यान, आख्यायिका और कथा तीनो शब्दो का अर्थ एक था, पर आज उन में बहुत अन्तर है। अब 'आख्यान' का अर्थ पुराण-कथा तथा 'आख्यायिका' का लघुकथा एव यथार्थ जीवन-वृत्त है। जीवन-वृत्त पहले भी 'आख्यायिका' के अन्तर्गत आते थे। छोटे-छोटे ऐतिहासिक वृत्त तथा जीवन-वृत्त भी आख्यायिका कहे जाते थे। बाण का 'हर्षचरित' प्रसिद्ध आख्यायिका रचना है, पर कादम्बरी कथा है। परन्तु कथा का प्रयोग अब सीमित नही है। उपन्यास, नाटक, कहानी, रूपक, नीति-दन्त-लोकवार्त्ताओ आदि में कथा प्रधान है और साधारणत वही उन सब में मुख्य है। आधुनिक युग में 'परीक्षागुरु' से ले कर 'परती : परिकथा' तक विभिन्न रूपो में कथा-साहित्य की चर्चा की जाती रही है। शैली की दृष्टि से जो सूक्ष्म भेद उन में पहले था वह आज भी है, परन्तु वस्तु और विषय के भेद से युगान्तरकारी परिवर्तन मुख्यतः दिखाई देता है। संभव है कि अभी और परिवर्तन हो और आचलिक कथाओं से आगे लोकभाषाओ में वास्तविक लोक-कथाओ की रचना हो तथा नये-नये नाम-रूपो का प्रत्याख्यान हो।

अपभ्रंश में कथा को 'कहा' कहते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रश में भी कथाओं के तीन प्रकार (Type) दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ कथाएँ प्रबन्ध है, जिन में महाकाव्य के गुण मिलते है और कुछ चरित्र प्रधान हैं जो प्रबन्धकाव्य की शैली में लिखी गयी हैं तथा कुछ धार्मिक विवरण मात्र हैं। अतएव स्वयम्भू की रामायण चरितकाव्य होने पर भी कवि ने उसे रामकथा कहा है।[५] इस से यह भी सूचित होता है कि अपभ्रंश के कवि चरित और कथा में अन्तर नही मानते थे। हस्तलिखित प्रतियो में भी 'भविष्य-

---

१ यक्षकन्यास्तथा नाग्य पिशाच्य सुरयोषित।
वशमायान्ति सुभगे नरनारोपु का कथा॥—तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक।
रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र सश्रिता।
रचनाविषयापेक्ष तत्तु किंचिद्विभेदवत॥—ध्वन्यालोक, ३, ६।

२ आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।—मनुस्मृति, ३, २३२।

३ आख्यान पूर्ववृत्तोक्ति।—साहित्यदर्पण, ६, २११।

४ नाटक ख्यातवृत्त स्यात पञ्चसन्धिसमन्वितम्।—वही, ६, ७।

५ तिहुअणलग्गणखम्भु गुरु परमेट्ठिणवेप्पिणु।
पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु॥—पउमचरिउ, १, १।

दत्तकथा' का नाम भविष्यदत्त चरित्र लिखा मिलता है। किन्तु वस्तु और रचना-भेद से उन मे अन्तर मानना समीचीन है। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पुराण काव्य और चरित काव्य नाम से दो ही भेद मानते हैं।[1] उन का कथन है कि अपभ्रश लेखक चरित और कथाकाव्य में कोई भेद नही करते। लेकिन यदि हम अपभ्रश के कवियो के द्वारा अपने सम्बन्ध मे कहे हुए विचारो को लक्षण मान कर चलें तो कई विरोध उपस्थित होते हैं। जैन पौराणिक साहित्य में सप्तव्यसनवर्जन कथा ख्यात आख्यानक हैं। अपभ्रंश में पं० माणिकचन्द्र विरचित 'सत्तवसणवज्जणकहा' अकेली रचना उपलब्ध हुई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने उसे 'चरिउ' और 'कहा' लिखा है, परन्तु शेष सभी स्थलो पर उसे कथा कहा है।[2] इस से स्पष्ट है कि वे इस प्रकार का कोई भेद नही मानते थे और न भेदमूलक विधा ही उन के सामने थी, पर आकार, रचना-बन्ध, सन्धि-निबन्ध, रीति आदि में कई रचनाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। छोटी-छोटी कथाएँ नितान्त विवरणात्मक तथा पौराणिक हैं, जब कि बडी कथाएँ काव्यतत्त्वो से तथा अभिप्रायो से भरपूर हैं। फिर, जीवन के समूचे चरित्र का कीर्तन करना कथाओ का उद्देश्य नही है। वे किसी एक या विभिन्न घटनाओ से चमत्कृत हैं जो जनता पर प्रभाव डाल सकती हैं। यदि हम केवल कथा-काव्य को ही मानें तो महापुरुषो के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाली रचनाओ को भी कोई नाम देना होगा। क्योकि अपभ्रश कथाकाव्य की यह विशेषता है कि समाज का कोई भी व्यक्ति रचना का नायक हो सकता है। नायक बनने के लिए महापुरुष होने का नियम कथाकाव्य के लिए आवश्यक नही था। इसलिए कई लोककथाएँ इस साहित्य में प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं।

आ० विश्वनाथ ने आख्यायिका को कथा की भाँति माना है। उस में कवि-वंश आदि का विवरण (स्वय का तथा अन्य का) गद्य में कहा जाता है। वह आश्वासो में निबद्ध होती है।[3] रुद्रट के मत में कथा की भाँति आख्यायिका भी गद्य में लिखी जाती है। अन्तर इतना ही है कि आख्यायिका में कवि का वंशवृत्त एवं आत्मचरित पद्य में नही होता।[4] रुद्रट के विचारो को स्पष्ट करते हुए अधिकारी विद्वान् नमिसाधु ने लिखा है कि संस्कृत में कथा गद्य में तथा प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओ में अधिकतर पद्य में

---

१ डॉ० देवेन्द्रकुमार जेन अपभ्रंश साहित्य, होलकर कॉलेज मेगजीन, १९५७–५८, पृ० १११।

२ सखेवें अक्खिमि जिह हउ लक्खमि सत्तवसणवज्जणचरिउ।—सप्तव्यसनवर्जन कथा, १, १।
कहि सत्तवसनवज्जणकहाणु।—वही, १ १।
इय सत्तवसणवज्जणकहाए।—वही, गद्य।

३ आख्यायिका कथावद् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीना च वृत्त पद्य क्वचिद् क्वचित्॥
कथांशाना व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसां येन केनचिद्॥ —साहित्यदर्पण, ६, ३३१ ३३६।

४ अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन।
निजवश स्व चास्यामभिदध्यान्न त्वगद्येन।—काव्यालकार, १६,२६।

लिखी जानी चाहिए।[१] आचार्य हेमचन्द्र ने भी आख्यायिका को गद्ययुक्त माना है। वस्तुत. कथा का मूल अन्तर छन्द, कथावस्तु तथा शैली पर निर्भर है। कथा में कथा-वस्तु कल्पित, अधिकतर आश्वासादि रहित गद्य में लिखित (हेमचन्द्र के अनुसार पद्य में भी) तथा पद्यो में लिखित कविवशवृत्त से युक्त होती है। किन्तु आख्यायिका मे वस्तु ऐतिहासिक, आश्वास आदि मे विभक्त तथा गद्य में लिखित कविवृत्त मे युक्त होती है।

कथा का स्वरूप

कथा प्रबन्ध की मूल वस्तु है। उस मे वस्तु-विवरण मुख्य होता है, किन्तु घटनाओ का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण नही होता। कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए काव्य में घटनाओ की योजना तथा अवान्तर कथाएँ भी सम्बद्ध देखी जाती हैं। इसी लिए सम्भवत आलकारिको ने कथा को अलग से काव्य का भेद नही माना। किन्तु इस देश की लगभग सभी भाषाओ में पौराणिक और आधुनिक कथा-साहित्य वर्तमान है। आ० भामह ने कथा को इतिहासाश्रय कहा है।[२] इस से यह भी संकेत मिलता है कि पुरावृत्त तथा आख्यान जन-जीवन में शताब्दियो से प्रचलित रहे हैं। यद्यपि संरचना में तथा रूपो में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहा है, पर कथा अत्यन्त प्राचीन काल से कही जाती रही है और बाद मे भी लिखी जातो रही है और लिखी जाती रहेगी—भले ही प्रकारगत रूपो में भेद बना रहे। क्योकि वह ऐसी वार्त्ता होती है जिसे कहे विना मनुष्य अपनी भावनाओ में बँध कर रह नही सकता।

गद्य प्रबन्ध के दो भेद कहे गये है—आख्यायिका और कथा। दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद नही है।[३] हेमचन्द्र ने कथा और आख्यायिका का भेद नायक के आधार पर किया है। कथा का नायक धीर शान्त और आख्यायिका का ख्यात होता है। कथा सभी भाषाओ मे तथा गद्य-पद्य में कही जाती है, पर आख्यायिका केवल संस्कृत मे तथा गद्य में[४]। कथा में उच्छ्वासो का विभाग तथा वक्त्र, अपरवक्त्र में निवद्ध होने का सस्कृत में नियम नही है।[५] किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश मे प्राय कथाएँ सन्धि, परिच्छेद तथा आश्वासो में निवद्ध मिलती हैं। अधिकतर कथाएँ पद्यबद्ध हैं, पर सस्कृत में गद्य में ही लिखी गयी हैं। आ० आनन्दवर्द्धन के कथन से और भी स्पष्ट हो

---

१ इत्येवं सस्कृतेन कथां कुर्यात्। अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण स्वगद्येन गाथाभि प्रभृत कुर्याद्।
—नमिसाधु काव्यालकार की टीका, १६, २३।

२ शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथा।
लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैह्यमी॥ —काव्यालकार १, ९।

३ तत कथाख्यायिकेत्येका जाति सज्ञाद्वयांकिता।—काव्यादर्श, १, २८।

४ नायकख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशसिवक्त्रादि सोच्छ्वासा सस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका। यथा—हर्षचरितादि। धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा। गद्यमयी-कादम्बरी, पद्यमयी-लीलावती।—काव्यानुशासन, अध्याय ८।

५ आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता।
—अभिनवगुप्त ध्वन्यालोकलोचन, ३,७

जाता है कि कथा मे विकट वन्ध की प्रचुरता होने पर भी गद्य का रस से समन्वित तथा औचित्य पूर्ण होना आवश्यक है।[1] इस प्रकार आ० आनन्दवर्द्धन काव्य के सम्बन्ध में रसान्विति की जिस मान्यता को आवश्यक बताते है, कथा के सम्बन्ध में भी उसी को दुहराते हैं।

प्रबन्ध और कथाकाव्य

वस्तु रूप मे प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई अन्तर नही हैं। यदि कोई भेदक रेखा खीचनी ही पडे तो वह शैली भेद के अनुसार निर्धारित होगी। सरचना में भी कही-कही भेद देखा जाता है पर वह बहुत ही सूक्ष्म है और सभी रचनाओ में नही मिलता। अतएव यह नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रश के प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई अन्तर नही है। डॉ० भायाणी तो स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक और चरितकाव्य मे बहुत अन्तर नही मानते। रचना-प्रकार दोनो में समान होता है। दोनो ही सन्धिबद्ध होते हैं। चरितकाव्य में विषय सीमित और सन्धियो की सख्या कम रहती है, पर पौराणिक काव्य में विषय विस्तृत तथा सन्धियो की सख्या पचास से सवा सौ तक होती है।[2] किन्तु दोनो में अन्तर सन्धियो का नही है, विषय और शैली का है। उदाहरण के लिए—यश कीर्ति का पाण्डवपुराण चौंतीस सन्धियो की, हरिवशपुराण तेरह सन्धियो की तथा श्रुतकीर्तिकृत हरिवशपुराण चवालीस सन्धियो की और बुध विजयसिंह रचित 'अजितपुराण' दस सन्धियो की रचना है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह अपभ्रश के काव्यो को दो प्रकार की शैलियो में लिखे हुए मानते हैं।[3] वस्तुत शैलीभेद स्पष्ट देखा जा सकता है और इसी लिए 'पउमचरिउ', 'हरिवशपुराण' और 'महापुराण' जिस शैली में और बन्ध-रचना में निबद्ध है वह हमें 'णायकुमारचरिउ' में नही दिखाई देती तथा उन से भिन्न 'भविसयत्तकहा' और 'सिद्धचक्ककहा' में दृष्टिगोचर होती है।

कथाकाव्य का स्वरूप

यद्यपि अपभ्रश मे कथा और चरित काव्यो की प्रचुरता है, पर साहित्य के अन्य अगो पर लिखी जाने वाली रचनाओ का सकेत उन में मिलता है। अन्तर दरशाने के लिए हम चरित और कथाकाव्य में वस्तु-विवरण, आकार तथा शैली-भेद मान सकते हैं। चरितकाव्य पुरुष विशेष या त्रेसठशलाकापुरुषो के जीवनचरित से सम्बद्ध होते हैं और कथाकाव्य जन सामान्य के जीवन से। महापुराणो में स्पष्ट ही त्रेसठशलाका-पुरुषो के समूचे जीवन के साथ ही उन के पूर्व भवो, प्रासगिक विभिन्न घटनाओ, अवान्तर कथाओ तथा जीवन से सम्बद्ध सभी कार्य-व्यापारो का विवरण अतिशयता के

---

१ कथाया तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।—ध्वन्यालोक, ३,८।

२ डॉ० हरिवल्लभ भायाणी 'पउमसिरीचरिउ की भूमिका, पृ० १८।

३ डॉ० शम्भुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्यका स्वरूप-विकास, प्रथम सस्करण, पृ० १७३।

साथ वर्णित मिलता है। किन्तु चरित काव्यो मे उद्देश्य विशेप से नियोजित पौराणिक कथावस्तु पौराणिक या लोकशैली में वर्णित होती है। पुराण-काव्यो में साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन और सैद्धान्तिक विचारों का समन्वय भी मिलता है। प्राकृत से ही कथाकाव्य प्रबन्ध के रूप में मिलने लगते है। अपभ्रश के कथाकाव्यो में सन्धिनिर्वाह तथा काव्य रूढियो का पूर्ण औचित्य दिखाई देता है। उपलव्व सभी कथाकाव्य सन्धियो में विभक्त हैं। उन में एक से अधिक रसों का परिपाक है। कथा के विकास में नाटक में प्राप्त होने वाले तत्त्वो की पूर्ण संयोजना देखी जाती है। घटनाओ में भी कार्यकारण योजना समान रूप से व्याप्त है। उन में धार्मिक प्रभाव वातावरण तथा कथानक से लिपटा रहता है। जिन कथाकाव्यो की वस्तु लोक-जीवन से गृहीत है उन में विस्मयकारी घटनाओ का योग भी मिलता है।

कथाकाव्य प्रवन्ध का ही काव्यात्मक भेद है, जिस में शास्त्रीयता से हट कर काव्य रूप का विकास देखा जा सकता है। उस में लक्षणग्रन्थकारो द्वारा प्रतिपादित कुछ बातो को छोड कर सभी गुणो का पूर्ण समावेश प्राप्त होता है। शैली तथा वर्णन की प्रवृत्ति और शिल्प-सरचना में अन्तर अवश्य है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के मत में कथा-काव्यो की भाँति प्रवन्धकाव्य में लोकतत्त्वो और कथानक रूढियो की अधिकता नही होती है, जिस से उस में कथाकाव्यो की तरह की एकरूपता और एकरसता नही होती[1]। इस प्रकार सामान्य रूप से अपभ्रश में प्रवन्ध और कथाकाव्य में कोई भेद नही होता। क्योकि प्रबन्ध को भाँति, प्रकृति का जीवन का अंग वन जाना, साहित्यिक रूढियो का पालन, अलंकारो का भावो के पीछे चलना, नाटकीय सन्धियो से समन्वित होना, सन्धिवद्ध होना, सन्धि के अन्त में छन्द में परिवर्तन हो जाना, कथा का विकास मनोवैज्ञानिकता के साथ होना तथा ग्राम नगर, प्रकृति आदि का वर्णन आदि विशेषताएँ कथाकाव्य में भी दिखाई देती है। फिर, डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने परम्परागत परिभाषा के अनुसार अपभ्रश के पुराण, चरित और कथाकाव्य भेदो को निराधार वताया है, पर प्रवन्ध काव्य मानते है[2]। किन्तु डॉ० नामवरसिंह कल्पित अथवा लोक-कथा के आधार पर लिखे गये आख्यान-काव्य को कथाकाव्य कहते है[3]। वास्तव में अपभ्रश मे लिखे गये कथाकाव्य चरितकाव्यो से भिन्न हैं, जिन का स्पष्ट अन्तर 'कथाकाव्यानुशीलन' के प्रसग में विवेचित है।

कथाकाव्य और चरितकाव्य मे अन्तर

कई बातो में अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य मे स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। वस्तु की दृष्टि से कथाकाव्य में लोकवार्ताएँ काव्य रूप में निबद्ध हैं, जिन्हें

---

१ हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ४७८।

२ डॉ० शम्भुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास प्रथम सस्करण, पृ० १७४-७५।

३ डॉ० नामवर सिंह - हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग, तृतीय परिवर्द्धित सस्करण, पृ० २१२।

कवि की कल्पना ने जातीय अभिप्रायो तथा कथानक रूढियो मे गूँथ दिया है। किन्तु चरितकाव्य को कथावस्तु पुराणो से उद्धृत एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियो से सम्बद्ध देखी जाती है। सामान्यत कथा या कथाकाव्य की वस्तु कल्पित अथवा कल्पनाओ से अनुरंजित होती है। सस्कृत भाषा में लिखित कादम्बरी ऐसी ही रचना है। अपभ्रश के कथाकाव्यो की कथाएँ इस देश के विभिन्न-प्रदेशो में प्रचलित लोक-कहानियो के रूप में आज भी जनश्रुतियो से सुनने को मिल सकती हैं। जिन्हें सुन कर यह निश्चय हो जाता है कि कथाकाव्य के रूप में प्रयुक्त कथाएँ जन-मानस की लोककथाएँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से काव्य में नियोजित हुई हैं। और इसी लिए कथा एक उद्देश्य या ध्येय ले कर कही जाती है और जहाँ उस की पूर्णता होती है, वही काव्य की समाप्ति हो जाती है। किन्तु चरितकाव्यो में यह बात नही मिलती।

चरितकाव्य मे नायक के समूचे जीवन की विभिन्न घटनाओ तथा सघर्षों का वर्णन होता है। इस लिए आ० आनन्दवर्द्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आ० हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं।[1] हरिभद्रसूरि का 'णेमिणाहचरिउ' (नेमिनाथचरित) चरितकाव्य है। किन्तु उस के अन्तर्गत सनत्कुमार की कथा 'कथा' है, जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है।[2] वस्तुत हेमचन्द्र की परिभाषा के अनुसार अपभ्रश के कथाकाव्य वस्तु रूप में वृहत्कथाएँ है जो चरितकाव्य जैसे जान पडते हैं।[3] अतएव किसी रचना के पीछे 'चरित' शब्द जुडा होने से हम उसे चरितकाव्य नही मान सकते। क्योकि स्वयम्भू कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' निश्चय ही चरितकाव्य न हो कर महाकाव्य है। सस्कृत मे भी 'दशकुमारचरित' प्रसिद्ध कथाकाव्य है जो गद्यकाव्य का उत्तम निदर्शन माना जाता है। इसी प्रकार किसी काव्य के पीछे 'कहा' या 'कथा' शब्द जुडा होने से वह कथाकाव्य ही नहा हो सकता। उस का पूरा विचार किये बिना कुछ नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, नरसेन रचित तथा जयमित्रहल विरचित 'वर्द्धमानकथा' कथाकाव्य न हो कर चरितकाव्य हैं। वस्तुत काव्य के नाम के पीछे कथा, चरित, विलास, रास, काव्य और विजय आदि शब्द जोड देने से वह रचना उस अभिधा की वाचक नही हो सकती। यद्यपि कुछ नामो की सार्थकता भी मिलती है, पर उत्तरवर्ती मध्ययुगीन साहित्य में कई रचनाओ के पीछे उक्त नाम जोड देने की रूढि ही प्रचलित हो गयी थी। इस लिए उन में से वस्तुपरक रचना का निर्णय करना कठिन-सा प्रतीत होता है। सस्कृत के अधिकाश चरितकाव्य ऐतिहासिक व्यक्ति को ले कर लिखे गये हैं। किन्तु कथाकाव्य की वस्तु लोकप्रचलित या उत्पाद्य होती है।

---

१ सकलकथेति चरितमित्यर्थ। —काव्यानुशासन, ८,८ की वृत्ति।

२ ग्रन्थान्तरप्रसिद्ध यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधै।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥ वही।

३ लम्भाङ्किताद्भुतार्था पिशाचभाषामयी महाविषया।
नरवाहनदत्तादेश्चरितमिव वृहत्कथा भवति॥ वही।

पालकथा (वीरदेवगणि), धनदत्तकथा (अमरचन्द्र), सदयवत्सकथा (हर्षवर्द्धनगणि), वत्सराजकथा तथा सर्वांगसुन्दरीकथा प्राकृत के प्रमुख कथाकाव्य हैं ।

जैन आगम में कथा और विकथा के भेद से उन के कई भेदोपभेद मिलते हैं । आ० जिनसेन ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की कथन करने वाली कथा कही है ।[१] इस लिए सामान्यत धर्म, अर्थ और काम के भेद से तीन प्रकार की कथाएँ कही जाती हैं । ये तीनो प्रकार की कथाएँ वस्तुत. धर्ममूलक होती हैं । अतएव संयम में बाधक वचन-पद्धति (अश्लील) विकथा कही गयी है ।[२] धर्मकथा के चार भेद हैं – आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदिनी ।[३] इसी प्रकार विकथा के भी चार भेद हैं – स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा ।[४] धर्मकथा के चारो भेदों में से प्रत्येक के चार-चार उपभेदो का विवरण मिलता है ।[५] इसी प्रकार विकथा के प्रत्येक भेद चार-चार उपभेदो में स्थानागसूत्र के चतुर्थ अग में विभाजित दृष्टिगोचर होते हैं । वस्तुत' कथा-विकथाओ का यह भेद एकदम पौराणिक तथा रूढ है । क्योकि कथाओं के मूल में धार्मिक भावनाएँ तथा सामाजिक अभिप्राय ही लक्षित होते हैं ।

अग्निपुराण में गद्यकाव्य के पाँच भेद कहे गये हैं[६] – आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानक । आ० रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद माने हैं – उत्पाद्य (कल्पित) और अनुत्पाद्य (पौराणिक या ऐतिहासिक) । आकार में बडे महाकाव्य, महाकथा आदि कहे जाते हैं तथा छोटे लघु काव्य, लघु कथा इत्यादि ।[७] आ० आनन्दवर्द्धन ने बन्ध की दृष्टि से तथा वस्तु को ध्यान में रख कर परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा तथा आख्यायिका आदि भेदों का उल्लेख किया है ।[८] लेकिन आ० हेमचन्द्र ने कथा के सब से अधिक भेदो की चर्चा की है । उन के मत में आख्यान, निदर्शन, प्रवल्हिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा और उपकथा ये नौ कथा के भेद हैं ।[९]

---

१ पुरुपार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा ।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिण ॥—महापुराण, प्रथम पर्व, ११८ ।

२ सयमबाधकत्वेन वचनपद्धतिर्विकथा ।—स्थानांगसूत्र सटीक, पूर्वार्द्ध ।

३ महापुराण, १, १३७ । स्थानागसूत्र में संवेदिनी और निर्वेदिनी के स्थान पर सवेगिनी और निर्वेगिनी नाम मिलते हैं । देखिए, वही, सटीक, ४, २, २८२ ।

४ समवायागसूत्र, १, ४ ।

५ ज्ञानचन्द्र 'जैनागमों में कथा-साहित्य का वर्गीकरण' 'साहित्य' मासिक वर्ष १२, अक २, पृ० ४७ ।

६ गद्य' पद्य च मिश्र च काव्यादि त्रिविध स्मृतम् ।
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्य च पञ्चधा ॥—अग्निपुराण, ३३७,१२ ।

७ सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादय काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥—काव्यालकार, १६, २ ।

८ पर्यायबन्ध परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे—इत्येवमादय । तदाश्रयेणापि सघटना विशेषवती भवति ।—ध्वन्यालोक, ३, ७ ।

९ हेमचन्द्र काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय ।

मुख्यरूप से कथा या कथावस्तु दो प्रकार की होती है – उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। उत्पाद्यकथा में कवि या लेखक की कल्पना तथा मौलिकता का प्राधान्य रहता है, किन्तु अनुत्पाद्य में पौराणिक या ऐतिहासिक कथा को ज्यो-का-त्यो अपना लिया जाता है। उत्पाद्य कथा भी दो रूपो में देखी जाती है – लोक कथा और दृष्टान्त कथा। प्रायः लोक कथाएँ मनगढन्त होती हैं। आ० हेमचन्द्र के अनुसार सकलकथा और खण्डकथा में वस्तु का अन्तर विशेष है। सकलकथा ही चरितकाव्य है। सकलकथा तथा खण्डकथा में कोई विरोध नही है[१] – शैली की दृष्टि से। कथाकाव्य में भी यही बात लक्षित होती है। अपभ्रंश में पद्यबद्ध सरस कथा से युक्त काव्य ही कथाकाव्य की सज्ञा से अभिहित है। प्राकृत की दीर्घ परम्परा में ही इन का विकास हुआ है। प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है[२] जो इन कथाकाव्यो में भलीभाँति प्राप्त होता है। उन मे पद्मावत, रामचरितमानस आदि प्रबन्धकाव्यो की भाँति मर्मस्थल, संवाद, प्रकृति-वर्णन, घटनाओ मे सम्बद्धता और स्वाभाविक क्रम तथा रसात्मकता का सन्निवेश लक्षित होता है। इस लिए हम सरलता से उन्हे प्रबन्धकाव्य की कोटि का मान सकते हैं। शैली के अनुसार प्रबन्धकाव्य के कथाकाव्य, चरितकाव्य (पुराणकाव्य), प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक काव्य भेद माने जा सकते है। क्योकि 'भविष्यदत्तकथा' जैसे लोकाख्यानक काव्यवस्तु रूप में चरित काव्य न हो कर शुद्ध कथाकाव्य हैं, जिन में वस्तुव्यंजना के साथ ही लोकजीवन की यथार्थ झलक मिलती है। यदि इन काव्यो में से धार्मिक तत्त्व अलग कर दिया जाय तो लोककथा मात्र रह जाती है। इन के लिखने का उद्देश्य भी चरित-कीर्तन न हो कर व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित करना है, जो प्रत्येक धार्मिक कथा का अभिप्राय होता है। अपभ्रंश साहित्य मे ऐसी कथाएँ पौराणिक न हो कर अनुश्रुतियो पर आधारित रही हैं। गौतम गणधर के संवाद के रूप में ये युग-युगो से प्रचलित परम्परा में कही-सुनी जाती रही है। सस्कृत के कवि विबुध श्रीधर ने इस ओर सकेत भी किया है।[3] फिर, त्रेसठशलाकापुरुषो के चरित लिखने की प्रथा विशेष रूप से जैन साहित्य में देखी जाती है। यद्यपि परवर्ती काल में धन्यकुमार, चारुदत्त, प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित चरित काव्य भी लिखे गये, किन्तु वस्तुव्यंजना के साथ ही उन मे पौराणिकता विशेष दिखाई देती है। उन में लोककथाओ का वह रस प्राप्त नही होता जो कथाकाव्यो में व्याप्त है। इस के अतिरिक्त संघटना में भी अन्तर मिलता है। अतएव काव्यगत शैली तथा वस्तु के अभिनिवेश को ध्यान में रख कर कथाकाव्य और चरितकाव्य जैसे भेदो को मान लेने में कोई अनौचित्य नही प्रतीत होता है। जन-जीवन की सामान्य घटनाओ का वर्णन

---

१ खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयो कुलकादिनिबन्धनभूयस्तद्दीर्घसमासायामपि न विरोध।—ध्वन्यालोक, ३,७।

२ प० रामचन्द्र शुक्ल पद्मावत (जायसी-ग्रन्थावली) की भूमिका, पृ० ६६।

३. क्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजेभ्य। भविष्यदत्तचरित्र, १५,१२।

करने वाली रचनाएँ भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा में कम ही मिलती है इस लिए इन्हें विधा-विशेष में वर्गीकृत किया जाय तो उचित ही होगा। फिर, व्रतमूलक कथाओं को किसी न किसी नाम से अभिहित करना होगा। अतएव निरी उपदेशात्मक कथाओं से प्रबन्धात्मक कथाओं का पृथक् अभिधान 'कथाकाव्य' नाम से करना समीचीन होगा।

तृतीय अध्याय

भविसयत्तकहा : एक अध्ययन

परिचय

भविसयत्तकहा अपभ्रंश के प्रकाशित कथाकाव्यो मे एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस के रचयिता कवि धनपाल हैं। यह काव्य बाईस सन्धियो में निबद्ध है।[1] इस में श्रुतपचमी व्रत के फलवर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इस लिए इसे श्रुतपंचमी कथा भी कहते हैं। इस का प्रकाशन सब से पहली बार एच० जेकोबी ने सन् १९१८ में मचन (जर्मन) से कराया था। अपभ्रंश भाषा के प्रकाशित होने वाले काव्यो में यह सर्वप्रथम काव्य है। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित करने का श्रेय सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। पहली बार यह प्रबन्ध काव्य सन् १९२३ में गायकवाड ओरियण्टल सीरिज, बडौदा से प्रकाशित हुआ था। पहले भाषा की दृष्टि से इस का महत्त्व आँका जाता था, पर अब काव्य-कला, लोक-तत्त्व, देशी शब्द और भाषा आदि की दृष्टि से यह रचना और भी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। वस्तु और शैली में भी विशेषता दृष्टिगोचर होती है। इसी लिए इस रचना ने विद्वानो का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया है।

यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अभी तक नही मिल सकी है, पर स्वय ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह सक्षिप्त होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। कवि ने धक्कड नामक वैश्य वश में जन्म लिया था। पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम धनश्री था।[2] कहा जाता है कि उन्हे सरस्वती का वर प्राप्त था।[3] अन्य किसी रचना के लिखे जाने का उल्लेख इस काव्य-ग्रन्थ में नही मिलता। अतएव कवि के समय का निर्धारण करना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। अकेली इस रचना के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि प्रतिभाशाली विद्वान् रहे होगे और उन्होने अन्य रचनाएँ भी लिखी होगी। किन्तु आज उन को खोज निकालना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योकि धनपाल नाम के कई विद्वानो का पता लगता है। प० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानो का परिचय दिया है।[4] ये चारो ही भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न विद्वान् हैं। उन में

---

१. विरइउ एउ चरिउ धणवालिं विहि खण्डहिं बावीसहिं सन्धिहि। २२,६।

२ धक्कडवणिवंसि माएसरहु समुब्भविण।
धणसिरिदेवि सुएण विरइउ सरसइ सभविण। २२,९।

३ चिन्तिय धणवालें वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण। १,४।

४ प० परमानन्द जैन शास्त्री ' 'धनपाल नाम के चार विद्वान् कवि' अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२।

से दो संस्कृत भाषा के विद्वान् तथा ग्रन्थ रचयिता थे और दो अपभ्रंश के। संस्कृत के पहले धनपाल राजा भोज के आश्रित थे, जिन्होने 'तिलकमंजरी' और 'पाइयलच्छी' ग्रन्थो की रचना 'दसवी शती' में की थी। दूसरे धनपाल तेरहवी सदी के कवि है। उन के द्वारा लिखित 'तिलकमंजरीसार' नामक ग्रन्थ का ही अव तक पता लग पाया है। तीसरे धनपाल अपभ्रश भाषा में लिखित 'बाहुवलिचरित' के रचयिता है, जिन का समय पन्द्रहवी शताब्दी है। ये गुजराज के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे। इन की माता का नाम सुहडा देवी और पिता का नाम सेठ सुहडप्रभ था।[1] चौथे धनपाल आलोच्यमान प्रमुख कथाकाव्य के लेखक धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुए थे। धर्मपरीक्षा के कर्त्ता कवि हरिषेण भी इसी वंश के थे। धर्मपरीक्षा का रचना-काल वि० सं० १०४४ है। महाकवि वीर कृत 'जम्बूस्वामी चरित' में भी मालव देश में धक्कड वंश के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है।[2] देलवाडा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख में भी धर्कट जाति का उल्लेख है। इस से पता लगता है कि दसवी से तेरहवी शताब्दी तक यह वश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। अतएव 'भविसयत्तकहा' के लेखक धनपाल का होना इसी समय सम्भावित है।

काल-निर्णय

अत्यन्त आश्चर्य और खेद है कि दसवी सदी से ले कर सोलहवी शताब्दी तक के जिन कवियो की रचनाएँ प्रकाश में आयी है, और जिन्होने पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख किया है, उन में धनपाल का नाम नही मिलता। कारण जो भी हो, इस से यह अनुमानित है कि कवि की प्रसिद्धि लोक में अधिक दिनो तक नही रही। भ० क० की उपलब्ध प्रतियो में सव से प्राचीन संवत् १४८० की प्रति मिलती है, जो लेखक को आगरा के भण्डार से प्राप्त हुई है।[3] इसी प्रति में काव्य की, प्रशस्ति में इसे शास्त्र तथा विक्रम सवत् १३९३ में लिखा हुआ कहा गया है। उल्लिखित पंक्ति इस प्रकार है—

"सुसवच्छरे अविकरा विक्कमेणं अहीएहिं तेणवदितेरहसएणं।
वरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे तिही वारसी सोमिरोहिणिहिरिक्खे।
सुहज्जोइमयरंगओ वुद्धु पत्तो इओ सुन्दरो सत्थु सुहदिणि समत्तो।"

अर्थात् सुसंवत्सर विक्रम तेरह सौ तेरानवे में पौष मास शुक्ल पक्ष बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र में यह सुन्दर शास्त्र शुभ घड़ी तथा शुभ दिन में लिख कर समाप्त हुआ।

---

१ गुज्जरपुरवाडवसतिलउ सिरि सुहडसेट्ठि गुणगणणिलउ।
तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामें भणिय।
तहो उवरि जाउ वहु विणयजुओ धणवालु त्ति सुउ णामेण हुओ।
तहो विण्णि तणुब्भव विउलगुण सतोसु तह य हरिराउ पुण॥
—बाहुवलिचरित, अन्त्य प्रशस्ति, 'अनेकान्त' से उद्धृत

२ प० परमानन्द जैन शास्त्री—'अपभ्रश भाषा का जम्बूसामिचरिउ और वीर' अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५।

३. वही, पृ० १५५

उक्त 'अक्किरा' शब्द अर्कराज (विक्रम) का वाचक है। अर्कराज का अर्थ विक्रमादित्य या विक्रमार्क है। अतएव विक्रम सवत् १३९३ पौष शुक्ल द्वादशी को यह कथाकाव्य लिख कर पूर्ण हुआ था। आधुनिक काल-गणना के अनुसार निर्दिष्ट तिथि १६ दिसम्बर, १३३६ ई० है। इस से स्पष्ट है कि काव्य का रचना-काल चौदहवी शताब्दी है। अभी तक जिन विद्वानो ने 'भविसयत्तकहा' के रचनाकाल पर विचार किया हैं उन मे डॉ० हर्मन जेकोबी का मत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्हो ने हरिभद्र-सूरि के 'नेमिनाहचरिउ' से 'भविसयत्तकहा' की भाषा की तुलना करते हुए यह अनुमान किया था कि धनपाल कम से कम दसवी शती में रहे होगे। उन के अनुसार हरिभद्रसूरि नवम शती के उत्तरार्द्ध के कवि हैं; किन्तु मुनि जिनविजय जी आ० हरिभद्रसूरि को आठवी शताब्दी का मानते हैं। वस्तुतः दोनो की भाषा-शैली में बहुत अन्तर है। श्री दलाल और गुणे के अनुसार आलोच्यमान कथाकाव्य की भाषा आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। धनपाल के समय मे अपभ्रंश बोली जाती रही होगी; जब कि हेमचन्द्र के समय में वह मृतभाषा हो गयी थी।[1] यदि हम 'भविसयत्तकहा' का प्रारम्भिक भाग यह मान कर विचारणीय न मानें कि पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य की परम्परा में इस कथाकाव्य की भी रचना हुई और इसी लिए महाकवि स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा प्रस्तुत काव्य की साहित्यिक रूढियो में समानता मिलती है, तो उचित हो है। किन्तु काव्य के सम्पूर्ण रूप को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने 'पउमचरिउ' को आदर्श मान कर कुछ बातें प्रभाव रूप में और कुछ ज्यो-की-त्यो अपने काव्य मे अपना ली। उदाहरण के लिए—जैसे केतुमती पुत्र के वियोग में 'हा पुत्त पुत्त' कह कर विलाप करती हैं, वैसे ही कमलश्री भविष्यदत्त के शोक में 'हा हा पुत्त पुत्त' कहती हुई करुण विलाप करती हैं। डॉ० भायाणी ने शब्द, भाषा और भाव-साम्य की दृष्टि से दोनो के कुछ अंशो की तुलना करते हुए लिखा है कि धनपाल के सामने प्रारम्भिक कडवको को लिखते समय स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' विद्यमान रहा होगा।[2] रचना-प्रकार की दृष्टि से उन का यह कथन उचित ही है। इस से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और कुछ समय बाद नही शताब्दियो के अन्तराल से हुए। वस्तुत कथानक और वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य पर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का अत्यन्त प्रभाव है, जो बारहवी शताब्दी की रचना है। अतएव धनपाल का चौदहवी शताब्दी में विद्यमान होना उचित जान पडता है।

ऐतिहासिक तथ्य

ग्रन्थ में वर्णित युद्ध-वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि का युग अशान्तिपूर्ण था

---

१ स० सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे ' धनपाल की भविसयत्तकहा, १९२३, परिचय, पृ० ४।

२ स० डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी पउमचरिउ, १९५३, परिचय, पृ० ३६-३७।

और स्वय उस ने युद्ध का सजीव दृश्य आँखों से देखा था या किसी योद्धा से सुना था। परिशिष्ट में लिखित प्रशस्ति से विदित है कि यह काव्य दिल्ली नगर से पूर्व दिशा में साठ कोस की दूरी पर स्थित रम्मु[1] (रामनगर) नगर में वसने वाले—अग्रवाल वंश मे उत्पन्न रतनपाल के पोते के पुत्र यानी पन्तो बाधू के लिए लिखा गया था। रतनपाल के चार पुत्र थे। बडा पुत्र दुर्लभ अत्यन्त गुणी था। उस के हिमपाल, देवपाल, और लुद्दपाल नाम के तीन पुत्र हुए। धर्मात्मा हिमपाल दिल्ली में रहता था। उस के बाधू नाम का पुत्र हुआ। इसी बीच लोग अकाल से वैभव और सम्पत्तिहीन हो गये। सभी हाथ मलने लगे। चारो ही विषादमग्न हो गये। लोगो ने अपना धर्म छोड दिया। अपने निवास-स्थान को त्याग कर लोग अत्यन्त दुर्गम दूर देश मे पहुँच गये। प्रचण्ड मुहम्मदशाह उस समय शासन कर रहा था। सागरप्रमाण उस का राज्य था। शत्रुओ का मान मर्दन कर तथा लोगो का उपकार करते हुए उस ने एकछत्र राज्य किया। विप्लव काल के प्रवृत्त होने पर बाधू जफराबाद[2] (दफरायवाद) पहुँचा और उस के लिए यह शास्त्र लिखा गया[3]। इतिहास के आलोक में हमे जो तथ्य प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार है—

कवि ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास में राजा का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किन्तु उस के अन्य नामो में मुहम्मद तुगलक और मुहम्मद शाह का भी उल्लेख मिलता है।[4] मुहम्मद बिन तुगलक का शासन-काल १३२५-५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचना का काल १६ दिसम्बर १३३६ ई० है। अतएव इतिहास से उस का पूरा मेल बैठता है। पुष्पिका मे जिस विद्रोह का संकेत है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था, जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार अकाल का भी उल्लेख मिलता है। सन् १३३५ ई० में सुल्तान मुहम्मद शाह मदुरा के लिए कूच करता है पर वारंगल से ही वह लौट आता है। जब सुल्तान दिल्ली—वापस लौट कर आता है तब देखता है कि चारो ओर अकाल पड रहा है। सहस्रो मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर गगा के पास शमसाबाद मे ले गया।[5] इस से अकाल की

---

१ इत्थतरि अइ रमणीउ रम्मु, णामेण णयरु आमी-पत्तणु। अतिम प्रशस्ति।

२ इतिहास में भी जफराबाद का उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति में निर्दिष्ट बाधू के जफराबाद में पहुँचने से यही प्रतीत होता है कि कवि धनपाल जोनपुर के निकट—(लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफराबाद में रहते थे। सन् १३५९ में फ़ीरोजशाह भी बगाल की युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में जफराबाद में ठहरा था। वही, पृ० १८६।

३ मुहमद्दसाहो विगओ पयडो लिओ तेण सायरपमाणेहि दण्डो।
उमविकट्ठि णिद्दलिवि मलिऔवि माणो किओ रज्जु इकच्छत्ति उवयतमाणो।
पयट्टे विद्दूसम्मि काले रउद्दे पहुत्तो सुवइधूउ दफरायवादे।
इहत्ते परत्ते सुहायारहेउ तिणे लिहिय सुअपचमी णियह हेउ। वही।

४. आर० सी० मजूमदार द दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्याभवन, प्रथम सस्करण, पृ० ६१।

५. वही, पृ० ७७।

भयंकरता का पता लगता है, जिस से यह स्वाभाविक ही था कि हिमपाल जैसे साहूकार भी दरिद्र हो गये थे। मुहम्मदशाह अत्यन्त प्रतापी राजा था। उस ने अपने जीवन में कई युद्ध किये। उस का शासन बहुत विस्तृत था। वह हिमालय से ले कर दक्षिण भारत तक का शासन-सूत्र सम्हालता था। सन् १३२८ ई० तक मुहम्मद तुगलक दक्षिण में इण्डियन पेनिनसुला तक सीमा स्थापित करने में सफल हो गया था।[1] समय-समय पर गुजरात और दक्षिण भारत के बलवों को भी उस ने दबाया। उस ने दिल्ली सल्तनत को बहुत बडी सीमा तक विस्तृत कर शासन स्थापित कर लिया था, किन्तु मृत्यु के पूर्व ही विन्ध्य के दक्षिण का भाग उस के अधिकार से निकल गया था।[2] कहा जाता है कि मुहम्मदशाह अपने युग का सुशिक्षित और विद्वान् बादशाह था। वह कई विषयो का जानकार था।[3] उस की प्रसिद्धि का यह भी एक कारण था कि उस के राज्याश्रय में विद्वानो का सम्मान था। सन् १३२८ ई० मे आचार्य जिनप्रभसूरि का मुहम्मदशाह को धर्म-श्रवण कराना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वह सभी धर्मों के साधु-सन्तो और फकीरो का आदर करता था। सम्भवत इसी लिए मुसलमान उसे काफिर कहते हैं।[4] इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर कवि धनपाल का चौदहवी शताब्दी में भविष्यदत्तकथा की रचना करना सुनिश्चित प्रतीत होता है।

धनपाल का सम्प्रदाय

धनपाल जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपनी रचना में अपनी मान्यता के अनुसार वर्णन करता। भविसयत्तकहा के 'जेण भजिवि दियम्बरि लायउ' के अतिरिक्त कतिपय वर्णनो तथा सैद्धान्तिक विवेचन के अनुसार भी उन का दिगम्बरमतानुयायी होना निर्विवाद सिद्ध होता है। कवि ने अष्टमूलगुणो का वर्णन करते हुए कहा है कि मधु, मद्य, मांस और पांच उदुम्बर फलो को किसी भी जन्म में नही खाना चाहिए।[5] कवि का यह कथन भावसग्रह के कर्त्ता देवसेन के अनुसार है।[6] आ० सोमदेवसूरि तथा प० आशाधर की भी यही मान्यता है।[7] आ० अमृतचन्द्र ने भी अहिंसाव्रत के अन्तर्गत इन्ही आठ वस्तुओ का त्याग

---

१ वही, पृ० ७७।

२ वही, पृ० ८०।

३ यही, पृ० ८१।

४ वही, पृ० ८६।

५ महु मज्जु मसु पचुबराइ खज्जति ण जम्मतर सयाइ। (१६, ८)

६ महुमज्जमसविरई चाओ पुण उबराण पचण्ह।
अट्ठेदे मूलगुणा हवति फुड़ु देशविरयम्मि। भावसग्रह, गाथा ३५६।

७ मद्यमासमधुत्यागे सहोदुम्बरपञ्चकै।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुतौ॥ उपासकाध्ययन, कल्प २१, श्लोक २७०।
तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्चक्षीरिफलानि च॥ सागारधर्मामृत, २, २।

आवश्यक वताया है ।[1] रत्नकरण्डश्रावकाचार तथा अन्य ग्रन्थो में यह उल्लेख किंचित् भिन्न मिलता है ।[2] यह उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता के अनुसार है । कवि का सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में वर्णन करना इसी मान्यता का द्योतक है ।[3] इसी प्रकार सोलह स्वर्गों का वर्णन भी दिगम्बर-परम्परा के अनुसार है ।[4] क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा मे चौदह स्वर्गों का ही उल्लेख मिलता है । इन सैद्धान्तिक मान्यताओं का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के थे । यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपभ्रंश के कवि विवुध श्रीधर से भी वहुत कुछ ग्रहण किया था । क्योंकि आ० जिनसेन तथा समन्तभद्र ने अष्टमूलगुणो में तीन मकारो और पाँच अणुव्रतो को गिनाया है । परन्तु विवुध श्रीधर ने मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बरफलो के त्याग को आठ मूलगुण कहा है ।[5]

कथावस्तु

भरतक्षेत्र के कुरुजागल (वर्तमान रोहतक हिसार) नामक प्रदेश में गजपुर (हस्तिनापुर)[6] नाम का एक सुन्दर तथा अत्यन्त समृद्ध नगर था, जिस में भूपाल नामक राजा राज्य करता था । उसी नगर में धनवइ (धनपति) नाम का नगरसेठ रहता था, जो अपने गुणो के कारण प्रसिद्ध था । उस का विवाह नगर के धनी-मानी हरिवल नाम के सेठ की पुत्री कमलश्री से हुआ था जो अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी । वहुत समय तक उन दोनो के कोई सन्तान न होने से कमलश्री विशेष रूप से चिन्तित रहने लगी और एक दिन मुनिवर के पास जाकर उस ने निवेदन किया—भगवन् ! मैं इस प्रकार कब तक दुःख भोगती रहूँगी ? उन्होंने उत्तर में कहा—तुम्हारे नय, विनय, पराक्रम और गुणों से युक्त चिरंजीवी पुत्र होगा । कुछ दिनो के पश्चात् भविष्यदत्त उत्पन्न हुआ । महीने भर वाद कमलश्री वस्त्राभूषणो से सज्जित पुत्र को गोद में लिये हुए जिनवर की पूजा सुनने तथा दर्शन करने के लिए जिनमन्दिर गयी । सभी लोगों ने वड़ा उत्सव मनाया ।

इधर भविष्यदत्त पढ़-लिख कर विविध कलाओ मे पारगत होता है और

---

१. मद्य मासं क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३, ६१ ।

२ मद्यमासमधुत्यागै सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमा ॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार ४, ६६ ।

३ चउथउ पुणु सल्लेहण भावइ सो परलोइ सुरत्तणु पावइ ।
अहो इह परलोयहो परमसिक्ख इय वारहविह सावयह दिक्ख । (१६, १२)

४ अप्पुणु पुणु तवचरण चरेप्पिणु अणसणि पडियमरणि मरेप्पिणु ।
दिवि सोलहमइ पुण्णायामि हुउ सुरवइ विज्जुप्पहु णामि । (२०, ६)

५ मज्जु मसु महु णउ भक्खिज्जइ पचुवरफल णियरु मुइज्जइ ।
अट्ठमूलगुण ए पालिज्जहिं सहु नवाण एहिं ण गमिज्जहिं ॥—भविसयत्तचरिय, ५, २८ ।

६ विविधतीर्थकल्प, पृ० २७ हस्तिनापुरकल्प ।

उधर कमलश्री के वात्सल्य, प्रियवचन और कोमलता आदि गुणो से खीझ कर पूर्व जन्म के अनिष्ट के कारण सेठ धनवइ का मन कमलश्री की ओर से फिर जाता है। कमलश्री पति के रूखे व्यवहार को देख कर क्षमा माँगती है और सब कुछ करने के लिए कहती है, पर इस से वह और भी उपेक्षा भाव प्रकट कर कहता है कि मैं तुम्हें आधे क्षण भी नही देख सकता हूँ। पति के व्यवहार से खेद-खिन्न हो कमलश्री माता के घर चली जाती है, और माँ के गले लग कर वहुत रोती है। इतने मे ही धनपति (धनवइ) का भेजा हुआ चतुर व्यक्ति हरिवल के पास पहुँचता है और कहता है कि कमलश्री कुल की आन-वान का पालन करने वाली पतिव्रता नारी है इस लिए उसे अपने घर मे शरण दे दो। उस के प्रिय गुणो से धनवइ का मन फिर गया है। धनवइ का दूसरा विवाह सेठ धनदत्त की कन्या सरूपा के साथ बहुत धूम-धाम से होता है। नगर के सभी लोग उछाह मनाते हैं। राजा भी विवाह में सम्मिलित होता है। हरिदत्त (हरिवल) और परिजनो को कमलश्री पर सन्देह होने लगता है किन्तु वह पवित्रता के साथ धार्मिक जीवन विताती है। सरूपा सुन्दरी होने के साथ ही अभिमानवती भी थी। वह ललित-कलाओ में निपुण थी। कुछ समय के वाद उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वडा होने पर बन्धुदत्त बहुत उत्पात मचाने लगा। जब पूरा नगर वन्धुदत्त से तंग आ गया तब सब सेठो ने मिल कर विचार किया कि यह युवतियो के साथ वहुत छेडखानी करता है इस लिए वन्धुजनो के साथ कचनपुर चलने के लिए उसे तैयार कर भेज देना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त वन्धुदत्त को भेजने में सहमत हो गये। वन्धुदत्त के साथ पाँच सौ वणिक् भी चलने को तैयार हो गये। वन्धुदत्त को साथियो के साथ कंचनद्वीप जाते देख कर भविष्यदत्त भी माता के वार-वार रोके जाने पर भी उन सव के साथ हो लिया। जब सरूपा को पता चलता है कि भविष्यदत्त भी साथ में जा रहा है तो वह वन्धुदत्त को भलीभाँति सिखा-बुझा कर कहती है कि किसी भी प्रकार भविष्यदत्त को समुद्र में छोड देना, जिस से वन्धु-वान्धवों से उस का समागम न हो सके। किन्तु भविष्यदत्त की माता उसे उपदेश देती हुई 'पराया धन तथा स्त्री को न छूने की' शिक्षा देती है। पाँच सौ वणिक् जनो के साथ दोनो भाई जहाज में वैठ कर सम्मान के साथ चल पडे। कई द्वीपान्तरो को पार कर उन का पोत मदनाग द्वीप के समुद्री तट पर जा लगा। प्रमुख लोग उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा निरखने लगे, जो सामने ही दुर्गम और दुलँघ्य स्थित था। वन्धुदत्त भविष्यदत्त को वहाँ के भयावने वन मे फूल चुनता हुआ छोड कर पोत में सवार हो कर सव के साथ आगे की ओर चल पडता है। जब भविष्यदत्त जहाज़ को जाता हुआ देखता है तब वह हाथ मलता है और सिर धुनने लगता है। चिन्ताओ में डूवता-उतराता हुआ भविष्यदत्त जगली जानवरो से व्याप्त उस वन में प्रवेश करता है। दिन भर के घूमने-फिरने से थक कर वह एक स्वच्छ वडी शिला को देख कर उस पर वैठ जाता है और हाथ-पैर धो कर पुष्पो से जिनदेव की अर्चना करता है। फिर वृक्षो से फलो को

तोड़ कर भोजन करता है। इतने में ही सन्ध्या हो जाती है। चारो ओर घना अन्धकार फैल जाता है। भविष्यदत्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ वही स्थित रहता है। सवेरा होने पर जिनदेव का स्मरण करता हुआ फिर वन में भटक जाता है। अन्त में उसे कुछ-कुछ रास्ता दिखाई देता है और गुफा मे से हो कर वह एक उजाड नगर मे पहुँच जाता है। तिलकद्वीप की उस कंचननगरी को देख कर भविष्यदत्त आश्चर्यविमुग्ध हो जाता है। घूमता-फिरता वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। अत्यन्त भक्ति के साथ वह चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की विधिपूर्वक कई घंटो तक पूजा करता है।

इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र में यशोधर नाम के मुनि से अच्युत स्वर्ग का देवेन्द्र अपने पूर्व जन्म के मित्र धनमित्र के सम्बन्ध में पूछता है कि वह किस गति को प्राप्त हुआ है। शुक्लध्यान के धारक मुनिराज भविष्यदत्त का पूरा वृत्तान्त सुनाते है और कहते हैं कि तुम्हारा वह मित्र इस समय तिकलद्वीप के महान् पुर में चन्द्रप्रभ के जिन-भवन मे आसनपट्ट पर बैठा हुआ है। उस नगर की सुन्दरी से उस का पाणिग्रहण होगा तथा दोनो सुखोपभोग करेंगे। मुनि के इन वचनो को सुन कर सुरपति उस नगर में गया। उस मन्दिर की परिक्रमा कर मित्र को सुख से सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर-पक्तियो को लिख कर तथा मानभद्र नामक यक्षेश्वर से अपने मित्र का ध्यान रखने के लिए कह कर वह अपने स्थान को लौट गया। भविष्यदत्त जब सो कर उठता है तब कौतुक से वह भीत पर लिखे हुए वाक्यो को पढता है कि मन्दिर से पूर्व दिशा मे पाँचवें घर मे सुन्दर कुमारी है, जो तुम्हारी स्त्री है और यह पूरा नगर तुम्हारा है इसलिए उठो, वहाँ जाओ, देर मत करो। भविष्यदत्त स्वप्न देखता हुआ-सा वहाँ से निकला और पाँचवें घर पर जा पहुँचा। सुन्दरी से वह नगरी के उजड़ने का कारण तथा राजा के सम्बन्ध में पूछता है। वह भलीभाँति अतिथि का सम्मान कर भोजन-पान करा कर कहती है कि इस तिलकपुर का राजा यशोधन था। मेरे पिता भवदत्त नगरसेठ थे। माता का नाम मदनवेगा था। उस की वड़ी बेटी का नाम नागश्री था और मैं छोटी भविष्यानुरूपा हूँ। रोती हुई वह कहती है कि यहाँ पर एक वलवान् असुर आया है, जिस ने पूरा नगर उजाड़ दिया है। न जाने क्यो उस दुष्ट पापी ने मुझे छोड़ दिया है। कदाचित् तुम्हें भी वह कष्ट न दे। भविष्यदत्त भी अपनी संकट-कथा कह सुनाता है। इतने में ही वह दैत्य आ पहुँचता है। भविष्यदत्त उस से तनिक भी नही डरता और उस का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। उस के अदम्य तथा अपूर्व साहस को देख कर असुर प्रसन्न हो जाता है। वह कहता है कि मैं पूर्व जन्म में कौशिक (कोसिउ) नाम की नगरी में तापस था। वहाँ के मन्त्री वज्रोदर (वज्जोयर) ने मेरा अपमान किया था जिस से मन में वैर बाँध कर मैं असुर हुआ और वह मन्त्री इस तिलकद्वीप का राजा हुआ। इस लिए राजा से वैर होने के कारण मै ने सपरिवार नागरिक जनो के साथ उस का संहार कर दिया है। वह असुर सविधि भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा का विवाह कर वापस चला जाता है। इधर भविष्यदत्त दाम्पत्य

जीवन सुख से बिताता है और उधर कमलश्री के मन मे पुत्र के न आने की चिन्ता व्याप्त हो जाती है।

एक दिन कमलश्री सुव्रता नाम की अर्जिका के पास जा कर कहती है कि मेरे ऊपर न जाने किस अशुभ कर्म का कोप है कि मैं पुत्र के सुख से वियुक्त हो गयी हूँ। साध्वी उसे श्रुतपचमी व्रत के पालन का उपदेश देती हुई कहती है कि असाढ सुदी पंचमी को प्रथम वार इस व्रत को ग्रहण कर नन्दीश्वर के पर्व-दिनो में पालना चाहिए। इस की विधि यह है कि कातिक, फागुन या असाढ की पहली शुक्ल पंचमी को व्रत का प्रारम्भ कर पाँच वर्ष और पाँच महीनो तक पचमी के दिन उपवास और छट्ठी के दिन एक वार भोजन करना चाहिए। तथा इन दिनो मे विषय-कषायों से दूर रह कर धर्म-ध्यान में समय बिताना चाहिए। कुल मिला कर सरसठ उपवास करना चाहिए। तदनन्तर उद्यापन विधि से यह व्रत समाप्त होता है। इस दीर्घ तप से क्या मेरा पुत्र मुझ से आ कर मिलेगा ? कमलश्री के यह पूछने पर वह मुनिराज के पास उसे ले जाती है। मुनिवर उस से कहते हैं कि तुम्हारा पुत्र अभी जीवित है। वह द्वीपान्तर में सुख भोग रहा है। यहाँ आ कर वह आधा राज्य प्राप्त करेगा और शासन करेगा। इन वचनो से कमलश्री समाश्वस्त हो जाती है। इस बीच भविष्यदत्त को तिलकपुर में बारह वर्ष बीत जाते है। एक दिन भविष्यानुरूपा ससुराल के सम्बन्ध मे पूछती है। भविष्यदत्त को माता के दु.खो का स्मरण हो आता है और वे दोनो गजपुर को प्रस्थान करते है। बहुत-सा धन, मणि, रत्न आदि ले कर वे उसी गुफा मे से हो कर समुद्र तट पर पहुँचते हैं। कुछ दिनो में बन्धुदत्त का जहाज़ भी उसी तट पर आ लगता है। बन्धुदत्त अपने किये की क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त सब का यथोचित सम्मान कर भोजन-पान कराता है। फिर सभी जहाज़ पर बैठ कर चलने की सोचते ही हैं कि भविष्यानुरूपा को नागमुद्रिका का स्मरण हो आता है। भविष्यदत्त इधर नागमुंदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज़ चलवा देता है। भविष्यदत्त फिर अकेला उस द्वीप में रह जाता है।

बन्धुदत्त भविष्यानुरूपा के समक्ष अपनी वासनात्मक भावना प्रकट करता है। भविष्यानुरूपा अपने शील पर दृढ हो कर परमार्थ का उपदेश देती है। देवता स्वप्न देता है—सुन्दरि, चिन्ता मत करो। एक मास में प्रिय मिलेगा। जहाज़ डगमगाता है। भविष्यानुरूपा से जो सब प्रार्थना करते हैं तब तूफान शान्त होता है। बन्धुदत्त को नगर में आया हुआ जान कर कमलश्री सब से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है पर कोई भी ठीक से नही बताता है। तब वह दौडी-दौडी मुनिराज के पास जाती है। वे कहते हैं कि तीस दिन में तुम्हारा पुत्र आ जायगा।

भविष्यदत्त फिर तिलकद्वीप पहुँचता है। वहाँ से मानभद्र की सहायता से विमान मे बैठ कर अपने घर वापस आता है। कमलश्री फूली नही समाती है। वह माता को तिलकपुर का पूरा वृत्तान्त सुनाता है। माता से यह जान कर कि भविष्या-

नुरूपा का तैल चढने वाला है वह राजा के पास जाता है और कई प्रकार के रत्न, मणि आदि उपहार में देता है। वह माता को नागमुद्रिका दे कर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्त सुनाता है। परिजनो के साथ वह राजसभा मे जाता है और वन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवइ को बुलाता है। वन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोध से जल उठता है। धनवइ और बन्धुदत्त को कारावास का दण्ड दिया जाता है। किन्तु भविष्यदत्त कहता है कि जनता की माँग पर धनवइ को छोड़ दीजिए। राजा धनवइ को मुक्त कर देता है। नगर के प्रमुखजन तथा सेठ लोग राजा से निवेदन करते हैं कि वन्धुदत्त को देश निकाला दे दिया जाय। परन्तु भविष्यदत्त विरोध करता है। वह राजा से अपनी पत्नी की परीक्षा के लिए विनय करता है। राजा जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नाम की दो दासियो को भेजता है। वे जा कर भविष्यानुरूपा से कहती है कि राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया हैं और बन्धुदत्त को सम्मान प्रदान किया है इस लिए अव तुम वन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त में अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है। धनवइ नव दम्पति को ले कर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्यापन करती है। पूरे जैनसघ को जेवनार दी जाती है। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कंचनमाला दासी के कहने से सेठ कमलश्री से क्षमा माँगता है। एक दिन राजा सपरिवार भविष्यदत्त को बुलाता है। वह धनवइ से सुमित्रा के विवाह का प्रस्ताव भविष्यदत्त के साथ रखता है। कुछ समय के बाद पाचाल नरेश चित्राग का दूत भूपाल नरेश के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या (सुमित्रा) को देने का प्रस्ताव रखता है। राजा बडे असमजस मे पड जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिए तैयार होता है। भविष्यानुरूपा युद्ध के लिए भविष्यदत्त का शृगार करती है। साहस तथा धैर्य का परिचय देता हुआ वह पाचाल नरेश को वन्दी वना लेता है। राजा सुमित्रा के साथ ही अपना राज्य भी भविष्यदत्त को सौंप देता है।

कुछ समय वाद भविष्यानुरूपा के दोहला होता है। वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त करती है। इसी समय विजयार्द्ध पर्वत पर रहने वाला मनोवेग नाम का विद्याधर मुनिवर के वचनो के आदेश से वहाँ आ पहुँचता है और हरिदत्त के साथ सपरिवार भविष्यदत्त को विमान में वैठा कर तिलकद्वीप पहुँचा देता है। वहाँ अत्यन्त उछाह से सब चन्द्रप्रभ जिनदेव का पूजन करते हैं। वही चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म को भलीभाँति सुनते और समझते हैं। तदनन्तर मनोवेग के मित्र होने की पूर्व भव की कथा पूछते और सुनते है। फिर सभी लौट कर गजपुर आ जाते है। मनोवेग अपने घर जाता है। भविष्यदत्त को राज्य करते हुए वहुत समय वीत जाता है। भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते है—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ। तथा तार (तारा) और—सुतार (सुतारा) नाम की दो पुत्रियाँ हुईं। सुमित्रा से भी धरणेन्द्र नाम का एक पुत्र और तारा नाम की पुत्री हुई।

वहुत समय के वाद गजपुर में विमलवुद्धि नाम के महामुनि आते है। भविष्यदत्त सपरिवार उन की वन्दना के लिए गया। राजा अपने पूर्व भवान्तर मुनिराज से सुन कर विरक्त हो जाता है। उस के साथ घनवइ, हरिदत्त और रानी प्रियसुन्दरी आदि दीक्षा ग्रहण करते है। उन सव को दीक्षित देख कर अन्य सेठ लोग भी दीक्षा लेते हैं। पीछे से भविष्यदत्त जिन-पूजन-उत्सव समारोह के पश्चात् केशलोच कर पाँच महाव्रतो को धारण कर मुनि हो जाता है। सुप्रभ को राजगद्दी मिलती है। नागरिक जन और कमलश्री, लच्छी, सुमित्रा, भविष्यानुरूपा आदि शोक मे विह्वल हो आँसू वहाते है। भविष्यदत्त चिरकाल तक महा तप कर वैमानिक जाति का देव उत्पन्न होता है। अन्त में वह चौथे भव मे शिवलोक मे गमन करता है।

चरित्रचित्रण

मनुष्य जीवन मे चरित्र का अत्यन्त महत्त्व है। प्रवन्व काव्यो में विशेष रूप से चरित्र-चित्रण की सृष्टि होती है। घटनाओ की भाँति भावो में सघर्ष और जीवन पर उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्रश के कथाकाव्यो में दिखाई देता है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति है पर विनय, शालीनता और उदात्त गुणो से सयुक्त होने के कारण वह धीरोदात्त नायक की भाँति चित्रित किया गया है। वह धीर, वीर ही नही साहसी और क्षमाशील भी है। पिता की अनीति से भलीभाँति परिचित होने पर भी राजा के द्वारा वन्दी वनाये जाने पर वह विरोध करता है और राजा से कह कर पिता को मुक्त कराता है। यहाँ उस की महत्ता का पता चलता है। भविष्यदत्त न तो किसी पर अन्याय करता हुआ दिखाया गया है और न किसी अन्याय को वह सहन ही करता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह सव से आगे वढ कर युद्ध लडता है और निर्भीकता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। सामान्य वणिक्पुत्र हो कर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियो एवं गुणो को प्रदर्शित कर अन्त मे राजा वनता है और सफलता से राज्य-शासन करता है। लेखक ने जहाँ दैवी सयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक वृत्तो की सयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है, वही नायक के चारित्रिक गुणो पर भी प्रकाश डाला है। 'भविसयत्तकहा' में मुख्य रूप से विरोधी प्रवृत्तियो वाले वर्गगत चरित्र दृष्टिगोचर होते हैं। एक का प्रतिनिधित्व भविष्यदत्त और कमलश्री करते हैं तो दूसरे का वन्धुदत्त और सरूपा। राजा भूपाल और घनवइ में कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती हैं जो उन के स्वाभाविक चरित्र को स्पष्ट कर देती हैं। राजा जहाँ न्यायी है, हित और अहित का विवेक रखता है वही अन्याय का प्रतिकार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है। मन्त्रियो के विरोध करने पर भी वह सिन्धुनरेश से युद्ध मोल ले कर स्वयं सामना करने के लिए तैयार होता ही है कि भविष्यदत्त अपने साहस और पराक्रम का परिचय दे कर उसे वन्दी वना लेता है। घनवइ लोकनीति और रीति का

अनुसरण करता हुआ भी बिना किसी अपवाद के दूसरा विवाह करने के लिए कमलश्री जैसी गुणवती स्त्री का परित्याग कर देता है। ये ही कुछ विशेषताएँ हैं जिन में भविष्यदत्त जैसे आदर्श तथा वर्गगत चरित्र और अन्य वैयक्तिक चरित्र स्वाभाविक रूप में अपना विशेष स्थान रखते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चरित्र का विधान चार रूपो में लिखते हुए निर्दिष्ट किया है कि तुलसीदास जी के समान किसी सर्वांगपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न जायसी ने नही किया। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा-बादल वीरता के आदर्श हैं, पर एक साथ ही शक्ति, वीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इत्यादि सब का कोई एक आदर्श जायसी के पात्रो में नही है।[1] किन्तु भविष्यदत्त के चरित्र में सभी आदर्श रूपो की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप में अभिव्यजित हुई है। वह बन्धुदत्त के दुष्कृत्य के लिए उसे क्षमा प्रदान ही नही करता है वरन् उस का यथोचित सम्मान भी करता है। भाई का भाई के प्रति, बेटे का बाप के प्रति, माँ के प्रति और राज्य के प्रति वह कर्तव्य-विधान का परिचय देता हुआ विनय और शील को प्रकट करता है। वस्तुत. भविष्यदत्त का चरित्र आदर्श गुणोपेत है जिस मे शक्ति, शील और सौन्दर्य का स्वाभाविक साहचर्य लक्षित होता है। यद्यपि वह असाधारण बनिये का बेटा है पर अपने आदर्श गुणो के कारण महान् पुरुष के पद को प्राप्त कर लेता है। और इसी लिए धनपाल ने लोक में प्रसिद्ध महापुरुष की कथा काव्यात्मक रूप में निबद्ध कर उन के आदर्श गुणो को अभिव्यक्त किया है।[2]

पौराणिक दृष्टि से भविष्यदत्त के चरित्र में आदर्श की ही प्रधानता है। किन्तु वह आदर्श जातिगत स्वभाव के रूप में स्फुट न हो कर वैयक्तिक रूप में प्रकाशित हुआ है। काल और परिस्थितियो के अनुसार नायक की मनोवृत्तियो तथा कर्तव्य भावना ने उस के सुप्त शौर्य और शक्ति को जाग्रत् कर सच्चे स्वरूप का परिचय दिया है। कवि ने नायक के सद्गुणो का विकास प्रेमजन्य या भक्तिजन्य रूप मे न दिखला कर उस की कर्म भावना मे प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह कर्म भावना पूर्व जन्म से सम्बन्धित है पर अदम्य साहस और धैर्य के बीच जिन अद्भुत घटनाओ का संयोग हुआ है वे निमित्त मात्र है।

भविष्यदत्त के व्यक्तिगत स्वभाव को प्रधानता दे कर भी धनपाल ने उस के जातिगत स्वभाव की उपेक्षा नही की है। अतएव वह तिलकद्वीप से लौटने पर सब से पहले राजा के पास जा कर उपहार भेंट करता है, पर भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध मे उस समय कुछ भी नही कहता है। इस प्रकार वह पहले राजा को प्रसन्न कर उसे अपने पक्ष में ले लेना चाहता है जो वणिको की जातिगत विशेषता है। उधर अपनी माँ को भविष्यानुरूपा के पास नागमुद्रिका के साथ भेज कर अपनी बुद्धिमत्ता का परि-

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७।

२ नो हियइ धरेवि पवरमहासिरिकुलहरहो।
विरथारमि लोइ कित्तणु भविसमहाणरहो। १, १।

चय देता है। सिन्धुनरेश के प्रस्ताव से असहमत हो कर भविष्यदत्त अपनी जातीय स्वाभिमानिता और दूरदर्शिता को ही प्रदर्शित कर अन्त में वीरता का सच्चा निदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस काव्य में दो खण्ड है, जिन में दो वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए पात्र दृष्टिगोचर होते है। भविष्यदत्त का चरित्र आदि से अन्त तक व्याप्त होने पर भी मुख्य रूप से उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ है। पूर्वार्द्ध मे धनवइ, कमलश्री और सरूपा के चरित्र मुख्य है।

धनवइ: धनपति नगरसेठ होने के कारण मिलनसारता, उदारता, दाक्षिण्य, मधुर वक्तृत्व आदि गुणो से भूषित है, किन्तु रूप और धन-यौवन सम्पन्न होने से वह दूसरा विवाह कर लेता है तथा पूर्वपत्नी का सर्वगुणोपेत होने पर भी त्याग कर देता है। वह जातीयता के रंग मे पूरी तरह रँगा हुआ दिखाई देता है। धनवइ व्यवहार-चतुर और सयाना है। इस लिए विवाह के अवसर पर राजा को बुलाना नही भूलता है और समय से आगे चल कर पूरा लाभ उठाता है। नगर में उस का बडा मान-सम्मान है। जनता उसे भलीभाँति चाहती है, क्योकि वह व्यवहार और चरित्र में मधुर है। और इसी लिए बन्धुदत्त के साथ उस के बन्दी बनाये जाने पर जनता विरोध करती है तथा भविष्यदत्त के कहने पर कि जनता की माँग का सम्मान होना चाहिए, राजा उसे मुक्त कर देता है। उस के बाद भविष्यदत्त के कारण उस का पहले से अधिक मान बढ जाता है। यद्यपि धनवइ मे गर्व है, पर स्वभाव से वह शान्त प्रकृति का है। परिस्थिति और घटनाओ के अनुसार वह सहज कर्म छोड कर युद्ध के लिए सज्जित होता है। इस प्रकार धनवइ के चरित्र में लेखक ने गुण और अवगुण दोनो का सुन्दर सामजस्य चित्रित किया है।

स्त्री-चरित्रो में भविष्यानुरूपा का और कमलश्री का चरित्र मुख्य है, जो सद्‌गुणो का प्रतिनिधित्व करती है; पर बन्धुदत्त और सरूपा दुर्जन-चरित्र के रूप है जो भ्रातृत्व और मातृत्व के विपरीत आचरण करते हुए दिखाई देते है।

बन्धुदत्त · बन्धुदत्त का चरित्र आरम्भ से ही भविष्यदत्त से प्रतिकूल दरशाया गया है। युवावस्था के पदार्पण करते ही वह युवतियो के साथ छेडखानी करने लगता है। माँ के समझाने पर कि भविष्यदत्त तुम्हारा जेठा भाई है इस लिए धन-सम्पत्ति में उस का विशेष अधिकार होगा, वह आश्वस्त हो जान-बूझ कर भविष्यदत्त को मैनागद्वीप में छोड देता है। यही नही, वापस लौटने पर जब फिर से भविष्यदत्त से उस का मिलन होता है तब क्षमा किये जाने पर भी वह भाई को धोखे से छोड कर सारी सम्पत्ति को और उस की पत्नी को अपनी कह कर छल-कपट को प्रकट करता है। यहाँ तक कि वह माता-पिता को भी भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध में पूछे जाने पर सच नही बतलाता है। इस प्रकार उस का चरित्र छल-कपट, विश्वासघाती और लम्पट का चरित्र है जो मर्यादाओ से परे है।

भविष्यानुरूपा : सुन्दरी होने पर भी उसे अपने रूप का गर्व नही है जो नारो जाति का सामान्य स्वभाव समझा जाता है। सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना अवश्य व्यक्त करती है, पर पति के समझाने पर वह मान जाती है। इस प्रकार पतिपरायणा होने पर भी सच्चे पातिव्रत्य को कठिन परिस्थितियो में भी बनाये रखती है, यही उस की सब से बड़ी विशेषता है।

कमलश्री : कमलश्री रूप और शील दोनो मे उत्कृष्ट नारी चित्रित है। पति के द्वारा परित्यक्त हो जाने पर वह धर्म-ध्यान में अधिक समय बिताती है। परिवार में और समाज में सभी के साथ उस का इतना अच्छा व्यवहार है कि सब उस के साथ सहानुभूति रखते हैं। पुत्र के प्रति उस का अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य है कि वह उस को देख-देख कर ही पूरा जीवन बिता लेना चाहती है। पुत्र के न लौटने पर उसका वियोग उसे असह्य हो जाता है। धर्म पर उस की श्रद्धा अगाध है। पुत्र के लिए वह श्रुतपचमी व्रत का पालन करती है। किन्तु वह स्वाभिमानिनी है और इसी लिए पति के पास अन्त मे बिना बुलाये नही जाती है।

सरूपा सरूपा का चरित्र कमलश्री का विरोधी है। अपने रूप पर उसे बहुत गर्व है। सपत्नी तथा उस के पुत्र से अत्यधिक ईर्ष्या है। इसलिए वह बन्धुदत्त को समझाती है कि जैसे भी बने भविष्यदत्त को अवश्य मार देना। स्त्री-स्वभाव की भाँति वह धन-कचन और वैभव की बड़ी शान दिखाती है। पुत्र के लौटने पर और मन के अनुकूल उस के आचरण से वह फूली नही समाती है। यद्यपि वधू पर उसे सन्देह होता है पर पुत्र जो कुछ कहता है उसे सच मान कर उस से वह कुछ भी नही पूछती है। यहाँ पर उस की अदूरदर्शिता का पता चलता है। इसी प्रकार सरूपा संगीत, कला आदि में शिक्षित होने पर भी नारी जाति के विशेष और सामान्य दुर्गुणो से व्याप्त है। वह अपनी सौत से वैसे ही जलती-भुनती और कुढती है जैसे कि कोई दुष्ट स्वभाव की स्त्री होती है।

प्रबन्ध-संघटना

यद्यपि कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा प्रबन्ध-काव्य है किन्तु उस में मुख्य कथा ही है। कथा के विकास के साथ ही घटनाओ की कार्य-कारण योजना समान रूप से मिलती है, पर काव्य का कार्य पूर्णत. धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। इस लिए कथा का अन्तिम और कुछ-कुछ मध्य भाग अवान्तर कथाओ के सन्निवेश से गतिहीन और प्रभावहीन जान पड़ता है। वस्तुत· प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध भाग जैसा कसा हुआ और प्रभावोत्पादक है वैसा उत्तरार्द्ध नही। कही-कही शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पुराण-कथाओ से इन प्रबन्ध काव्यो में कथा के विकास और काव्यात्मक संवेदना मे पूर्ण साहचर्य लक्षित होता है। प्रस्तुत काव्य में मुख्य कथा के प्रवाह के साथ ही प्रासंगिक वृत्तो का संचार दिखाई देता है। किन्तु उन का सम्बन्ध आधिकारिक कथा-

वस्तु से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होने से औचित्य का पूर्ण निर्वाह देखा जाता है। अवान्तर कथाओ की नियोजना कर्म-विपाक की दृष्टि से ही हुई है, जिस में व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर तथा धार्मिक व्रत-माहात्म्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रचना को प्रभावपूर्ण बनाया गया है। सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित होने के कारण भी ऐसा करना आवश्यक था। फिर, इस से यह भी सूचित होता है कि चौदहवी शताब्दी तक अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो पर पौराणिक प्रभाव बना हुआ था।

समालोचको ने प्रबन्धकाव्य में कार्यान्विय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मत में रोमाचक कथाकाव्यो में कार्यान्विति नही होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते है। उन का कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उस में कसावट और थोडे में अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नही होता।[1] किन्तु विण्टरनित्ज ने 'भविसयत्तकहा' को रोमांचक महाकाव्य माना है।[2] जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत काव्य में कथानक गतिशील और कसा हुआ है। केवल पूर्व जन्म की अवान्तर कथाओ में कुछ शैथिल्य प्रतीत होता है। परन्तु कथा और घटनाओ का आदि से अन्त तक पूर्ण सामंजस्य तथा कार्यान्विति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रबन्धकाव्य के मौलिक गुणो की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योकि इस में कथानक का विस्तार कथातत्त्व के लिए न हो कर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक में नाटकीय तत्त्वो का भी पूर्ण समावेश है। वस्तुतः इस काव्य का महत्त्व तीन बातो में है—पौराणिकता से हट कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढियो का समाहार कर कथा को प्रबन्धकाव्य का रूप देना और उसे संवेदनीय बनाना।

काव्य-रूढियाँ

यद्यपि पुराण-काल में ही काव्य को रूढियो की परम्परा चल निकली थी, पर सम्यक् रूप से उस का प्रचलन अपभ्रंश-काव्यो में देखा जाता है। उपलब्ध काव्यो में सर्व प्राचीन स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' में भी इन का सन्निवेश हुआ है। प्रस्तुत काव्य मे इन काव्य-रूढियो का पालन दिखाई देता है—१ मगलाचरण, २ विनय-प्रदर्शन, ३ काव्य-रचना का प्रयोजन, ४ सज्जन-दुर्जन-वर्णन, ५ वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में स्तुति या वन्दना), ६ श्रोता-वक्ता शैली, ७ अन्त में आत्म-परिचय। इन में से मंगलाचरण की पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। श्रोता-वक्ता शैली वाल्मीकि

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ८८।

२ एम० विण्टरनित्ज ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, १९३३, खण्ड २, पृ० ५३२।

रामायण और विमलसूरि के 'पउमचरिय' में भी मिलती है।[1] इस के मूल में कथानक की प्राचीनता को द्योतित करने वाली प्रवृत्ति ही मुख्य जान पड़ती है। परवर्ती काल मे प्रवन्धकाव्य की शिल्प-रचना में ये रूढियाँ ज्यो की त्यो अपना ली गयी। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में इन की सुन्दर संयोजना मिलती है।

काव्य के प्रथम कडवक में जिन-वन्दना है। जिन को अरहंत, अनन्त, महन्त, सन्त, शिव, शंकर और अनादिवन्त विशेषणो से सम्बोधित किया गया है। फिर, कवि कुलघर का स्मरण कर महापुरुष भविष्यदत्त की कीर्ति का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु वह अपनी अयोग्यता का विचार कर कह उठता है कि हे विद्वज्जनो, मैं तुम्हारा स्मरण करता हूँ, क्योकि मैं मन्दबुद्धि, गुणहीन और अर्थ के विचार से शून्य हूँ। मैं मोहरूपी अन्धकार से व्यामोहित मूर्ख इस दुर्धर व्यापार में प्रवृत्त हुआ हूँ।[2] कवि अपनी असमर्थता प्रकट करने के अनन्तर सज्जनो के सम्बन्ध में कहता है कि जिस प्रकार वैभवहीन हो जाने पर मनुष्य शोभित नही होता उसी प्रकार काव्य के गुणो से हीन कवि की सहायता सज्जन नही करते अथवा कोई भी निर्धन जन शोभा प्राप्त नही करता। और फिर बिना धन-सम्पत्ति के पुण्य भी नही होता।[3] किन्तु असमर्थ होने पर भी मैं काव्य-रचना कर रहा हूँ। जिस की बुद्धि का जितना विकास होता है वह मनुष्य लोक में उतनी ही प्रकट करता है। क्या ऐरावत हाथी के चिंघाड़ते रहने पर अन्य हाथी अपना चिंघाडना छोड़ देते हैं? क्या गगन-मण्डल में चन्द्रमा के उदित होने पर तारागण चमकना छोड देते हैं? यदि नही, तो मैं भी इस महाकाव्य को निश्चय ही कह रहा हूँ।[4] दुर्जनो के सम्बन्ध में लिखता हुआ कवि कहता है कि उन का काम दोषो

---

१ आदिकविश्रीवाल्मीकेर्नारद प्रति प्रश्न। तस्योत्तररूपेण सक्षेपतो नारदकृत रामचरितवर्णन, तच्छ्रवणफलकथन च।

तप स्वाध्यायनिरत तपस्वी वाग्विदावरम्।
नारद परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुगवम्॥

—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड १,१।

२ बुहयण सभालमि तुम्ह तिरथु हउं मदबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु।
मोहधयारवामोहमूढु दुग्घरवावारक्यारिछूढु। १,२।

३ किं करमि खीणविहवप्पहाय णउ लहमि सोह सज्जणसहाए।
अह णिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ धणुसपय विणु पुण्णहिं ण होइ।१,२।

४ जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ सो तित्तउ पयडइ मच्चलोइ।
पिक्खवि अइरावउ गुलुगुलंतु किं इयरहत्थि मा मउ करतु।
महाकव्वकईहु ताह तणिय किर क्वण कह।
किं उइय मयकि जोइगणउ म करउ पह॥ १,२।

तुलना

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइय ससहरेण णिम्मिसमए।
ता किं णहु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्व॥ सदेशरासक, १,८।
जइ मयगलु मउ झरए कमलदलव्वहलगधदुप्पिच्छो।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया मा मच्चतु॥ वही, १,१।
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा। वही, १,१७।

को ढूँढ निकालना ही होता है। इसलिए मैं तो उन्हें गुणवन्त ही कहता हूँ। उन पर क्रोध क्यो करना चाहिए? श्रेष्ठ कवि भी अपशब्द को ढूँढता है। उस को सैकडो दोष उद्भासित होते हैं।[1] कवि कथा के सम्बन्ध में प्रकाश डालता हुआ कहता है कि सेठ श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने यह श्रुतपचमी विधान कहा, जिस से यह कथा प्रचलित हुई।[2] आत्म-परिचय के आरम्भ में कवि इतना ही कहता है कि वणिग्वर धनपाल ने चिन्तन कर इस दु खमय काल में श्रेष्ठ आचार्यो से प्राप्त कर इस कथा को अभिव्यक्त किया है।[3]

उक्त काव्य-रूढियाँ सन्देशरासक, पद्मावत और रामचरितमानस आदि मे कुछ परिवर्तन के साथ लगभग सभी दिखाई देती हैं। इस से यह पता चलता है कि भारतीय प्रबन्धकाव्य के मध्य युग में प्रबन्ध-सघटना के लिए काव्य-रूढियाँ आवश्यक मानी जाने लगी थी। वाल्मीकि रामायण और संस्कृत के प्रबन्धकाव्यो में मगलाचरण को छोड कर अन्य काव्य-रूढियो के दर्शन नही होते। वस्तुत. यह अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यो की अपनी परम्परा है, जो लोकधारा से प्रवाहित रही है। सम्भवत: प्राकृत के काव्यो से इस प्रबन्धात्मक संघटना का विकास हुआ। अपभ्रंश के कथाकाव्यो में इन में क्या-कैसा विकास हुआ—इस का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ मे वस्तु-वर्णन कई रूपो में मिलता है। कवि ने जहाँ परम्पराभुक्त वस्तु-परिगणन, इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया है, वही लोकप्रचलित शैली में भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण कर लोकप्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनो में नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वन-वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमे कोई नवीनता लक्षित नही होती। किन्तु कही-कही सश्लिष्ट योजना द्वारा सजीवता सहज रूप में प्रतिबिम्बित है। कई मार्मिक स्थलो की यथोचित सयोजना काव्य में रसात्मकता से ओतप्रोत है। यद्यपि कुछ स्थलो पर काव्य विवरण प्रधान हो गया है, पर वस्तु-वर्णनो में मुख्य रूप से रसात्मकता की पूरी समरसता देखी जाती है। घटना-वर्णनो के बीच अनेक मार्मिक स्थलो की नियोजना स्वाभाविक रूप से हुई है, जिन मे कवि की प्रतिभा अत्यन्त स्फुट है। मुख्य वर्णन इस प्रकार हैं—

नगर-वर्णन

इसमे वगीचो, धन-धान्य, सरोवरो, सरिताओ, पक्षियो और नगर की समृद्धि का वर्णन है। कवि ने सक्षेप में वर्णन कर वहाँ की सघन और शीतल अमराइयो को

---

१ परिछिद्दसडहि वावारु जासु गुणवंतु कहिमि किं कोवि तासु।
अवसद्द गवेसइ वर कईहु दोसइ अब्भासइ महसईहु। १,३।

२ तहो गणहरु गोयमु गुणवरिट्ठु तिं तइयह ज सेणियहु मिट्ठु।
पुच्छतह सुअपचमिविहाणु तहिं आयउ एहु कहाणिहाणु। १,४।

३ चिंतिय धणवालें वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण। १,४।

ओर संकेत करते हुए कहा है कि उस गजपुर नाम के नगर मे पथिकजन पेडों की छाया मे घूमते हुए, रात में दल के दल विहार करते हुए, हास-परिहास करते हुए, गन्ने का रस-पान करते हैं। वह इतना वैभवपूर्ण और सुखी नगर है मानो आकाश से खिसक कर स्वर्ग का एक खण्ड ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हो। (१,५)

एक अन्य स्थल पर उजाड नगरो का वर्णन करते हुए कवि ने मार्मिक दृश्यो की इतनी सुन्दर संयोजना की है कि आंखो के सामने चित्रपट की भांति विविध चित्र मालाओ के रूप में एक के बाद एक घूमने लगते है। चित्रण जहाँ यथार्थ है वही कल्पना-गत विम्बो की सजीवता भी दर्शनीय है। ऐसे स्थलो पर कवि की रागात्मिका वृत्ति वर्णनो मे विशेष रूप से रमी है और कल्पना करते-करते वह थकती नहीं है, वरन् सुन्दर से सुन्दर कल्पना-प्रसूत वास्तविक चित्र अंकित करती जाती है। चित्र है—भविष्यदत्त उस तिलकद्वीप की सुन्दर नगरी में, जो चारो ओर से गोपुर और परिखाओ मे घिरी हुई थी तथा श्वेत कमल के समान जिसमें स्वच्छ घर थे और जो मणि तथा रत्नो की कान्ति से जगमगा रहे थे, ऐसी शोभित हो रही थी मानो बिना जल का सरोवर छवि बिखेर रहा हो, ऐसी उस नगरी मे घूमता हुआ अत्यन्त आश्चर्य से एक-एक वस्तु को देखता हुआ कहता है—भवनो की खिडकियाँ अधखुली क्या दिख रही हैं मानो किसी नयी वहू की ही अधखुली तिरछी आँखे हो, अथवा फलको के बीच का भाग क्या दिखलाई दे रहा है मानो कुछ-कुछ काम से अन्धी हुई युवती ही अपनी अधखुली जांघो का प्रदर्शन कर रही हो। धन-सम्पत्ति से भरे हुए भांडे-बरतन क्या दिख रहे है मानो कोई नागिन ही अपने मुकुट के चित्र-विचित्र रेखा-चिह्नो को ही प्रकट कर रही हो। छेदो मे से दिखाई देने वाला प्रकाश ऐसा जान पड रहा है मानो धन की अभिलाषा मे किसी एक पुरुष ने एकान्त में दीप जलाया हो। इतना ही नही, खम्भे अविचल योगियों की भाँति ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो सुरति-क्रीडा आरम्भ करने के पहले युवक और युवती वसनहीन हो गये हो। गोपुर के मार्ग भी अब गायो की धूलि से रहित हो गये है। वगल में से पवन से उडायी हुई ध्वजा-पताकाएँ चंचल दिखाई दे रही हैं। जो बडे-बडे भवन चिर-काल से लोगो से व्याप्त थे वे अब रति-क्रीडा समाप्त कर लेने वाले दम्पति युगल की भांति नि शब्द हैं। जहां पर निरन्तर पनिहारियो के आने-जाने से बहुत समय तक पनघट शब्दायमान होते रहते थे वे भी अब भाग्यवश मूक हो गये हैं। (४,८)

कंचनद्वीप-यात्रा-वर्णन

वस्तु-वर्णन मे कवि ने जिस रीति को अपनाया है, उस मे वर्णन विस्तार या चित्रण न हो कर समास शैली मे विवरण और वर्णन दोनो का सामंजस्य दिखाई देता है। मुख्य रूप से कवि की प्रवृत्ति प्रकृति से मेल-मिलाप न कर मानवीय भावनाओं से प्रभावित तथा सब ओर उस की ही आन्तरिक और वाह्य छवि निरखती प्रतीत होती है। यद्यपि मार्ग में विभिन्न पदार्थों के, जलजन्तुओ के और पर्वत आदि के मनोहर

दृश्यो का सुन्दर वर्णन किया जा सकता था, पर कवि ने चार पंक्तियो में ही गजपुर से मैनाग द्वीप की दूरी नाप कर अत्यन्त सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है—

लघतइं दीवंतरथलाइ पिक्खति विविह कोऊहलाइ।
इय लीलइं वच्चंताहं ताह उच्छाहसत्तिविक्कमपराहं।
दुप्पवण्णि घणतरुवर समीवि वहणइ लग्गइ मयणाविदीवि। (३,२३)

इस से ऊपर के कडवक मे कवि ने वर्णन करते हुए कहा है कि वे सुन्दर कुँवर रंग-बिरगे घोडो पर चढ कर कुरुजगल की धरती से दूर मलकते हुए चले जा रहे थे। वड-वडे जगलो, पुर, ग्राम, खेडो और थोडी झोपडियो वाले गाँव-गँवइयो को लाँघते हुए, जमुना नदी तथा दुर्गम नदियो और स्थानो को पार कर, अन्यान्य भापा-भापियो से देखे जाते हुए समुद्र के तट पर पहुँच गये। इस वर्णन में भो उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट है—

चडुलगतुरगिहिं आरुहिवि सचल्लिय सुदर कुमर॥ (३,२१)
अग्गेयदिसइं मल्हति जति कुरुजंगल महिमडलु मुयति।
लंघति वियणकाणण पलव पुरगामखेडकव्वडमडब।
जउणाणइ सलिलु समुत्तरेवि जलदुग्गइ थलदुग्गइं सरेवि।
अण्णण्ण देसभासइ णियत रयणायरे वेलाउलइ पत्त। (३, २२)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन पौराणिक न हो कर कवि की मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। वह समुद्र को धीर-गम्भीर महापुरुप की भाँति चित्रित कर उस की गहनता, शालीनता और मर्यादाशीलत्व का चित्र एक ही पक्ति मे अकित कर देता है—

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गभीरु धीरु। (३,२२)

'जललवगहीरु' कह कर उस की पूर्णता की ओर सकेत किया गया है। जब मनुष्य विचारो और अनुभवो में उथला होता है तब वह चचल तथा उछल-कूद मचाने वाला होता है, पर भरा-पूरा व्यक्ति गभीर और सयमी होता है। मनुष्य में इच्छा और महत्वाकाक्षाओ का होना स्वाभाविक है। समुद्र में भी साँप के विष को भाँति विष से व्याप्त विषम लहरें वडे-वडे तटो पर किलोल-क्रीडाएँ कर रही थो। और उस समय वह समुद्र-तट लहरों के टकराने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो खरीदने और वेचने वाले मनुष्यो का कलकल कोलाहलमय वचनालाप हो रहा हो।

आसीविसोव्व विमविसमसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु।
दिट्ठइं विउलइ वेलाउलाइ कयविक्कयरयवयणाउलाइं। (३,२२)

यहाँ पर 'आसीविसोव्व' कह कर कवि ने साँप की भाँति लहराती हुई तथा वार-वार समुद्र के किनारे को चूमती हुई लहरो का कितना सुन्दर चित्र विम्वार्थ के माध्यम से चित्रित किया है। नीचे की पक्ति में भारत की किसी हाट से समुद्र के तट की कितनी सुन्दर समता दर्शायी है। थोड़े में ही कवि ने वहुत कुछ कह दिया है।

विवाह-वर्णन

इस वर्णन मे हमें परम्पराभुक्त पद्धति का दर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। सेठ धनवइ के विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। मण्डप तान दिये गये हैं। घर-घर तोरण बाँध दिये गये है। वह परम छवि सभी का मन हर रही है। सैंकडो वितान (चंदोवे) जनता का मन चुरा रहे हैं। धरती पर मँडवा गडा हुआ है। कई रंगो के सुगन्धित चन्दन छिडके जा रहे हैं। अगुरु चन्दन से सैंकडो घर सुगन्धित और शोभित हो रहे हैं। सुख देने वाले सज्जनो की तरह सरस कमल अविरल विकीर्ण किये जा रहे हैं। निज गोत्र एव कुल के जनो से साँथरी तथा मोतियो से भरी जाने वाली रंगावली के रचे जाने पर विशिष्ट स्वजनो के साथ बैठ कर वार्तालाप किया जाने लगा। राजा को पीढा पर बैठाया गया। फिर, हास-परिहास को छोड कर भोजन के लिए सुन्दर वस्त्रो को उतार कर लोग अन्त.पुर मे पहुँचे। घर के प्रधान ने अनेक भक्ष्य तथा सुन्दर पदार्थों का भोजन कराया। फिर, पान, वस्त्र ले कर जो जिस के योग्य था उसे प्रदान किया। भेरी, शख, मादल आदि मागलिक बाजो से दसो दिशाएँ भर गयी। कवि की कल्पना है कि उस समय ऐसा लग रहा था मानो अच्छे मूहूर्त और नक्षत्र को देख कर प्रत्यक्ष स्वर्ग ही भूतल पर उतर आया हो।

> किय मंडवसोह घरि घरि वद्धइ तोरणइं।
> उल्लोच सयाइं रइयइ जणमण चोरणइं॥ (१,८)
> खंचिय मेइणि तडविय वण्ण वहु परिमलचदणछडय दिण्ण।
> अविरल पइण्ण सरसारविन्द पूरिवि णिविट्ठ मुहिसयणविंद।
> कालागुरु खण्डइ वोहियाइ वरभवण सयइं उवसोहियाइ।
> णिय गोत्तमाइ मंगलवलीउ पूरिवि मोत्तियरगावलीउ।
> संभासिउ सयणु विसिट्ठु इट्ठु णरणाहु चउक्कासणि वइट्ठु।
> पुणु किउ परिचित्ति सपहारु वरभोयण वत्थाहरणसारु। (१,९)

इस काव्य में विवाह का वर्णन तीन स्थलो पर हुआ है। चौथे स्थान पर तेल चढाने का वर्णन है। इन वर्णनो को ध्यान से पढने पर पता चलता है कि उस युग में वैवाहिक रीति-रिवाज आज की ही भाँति समाज मे प्रचलित थे। विवाह के लिए मण्डप गाडे जाते थे। रंगावली पूरी जाती थी। मगल-कलश और वन्दनवार सजाये जाते थे। मंगल वाद्यो के साथ भाँवरें पडती थी और लोगो को भोज दिया जाता था। कन्या महावर से चरणो को रजित करती थी तथा आँखो में कज्जल और माथे पर तिलक लगाती और वस्त्राभूपणो से सज्जित होती थी। विवाह में विशेष रूप से श्वेत वस्त्र को छोड कर रंगीन परिधान धारण करती थी। दहेज की भी प्रथा थी। धनवइ ने स्वर्ण, मणि और रत्नो का लोभ छोड कर सज्जन लोगो के कहने से धनदत्त की पुत्री सरूपा को व्याहा था—

अवगण्णिवि सुहिसज्जणवयणइं   मोकल्लिवि सुवण्णमणिरयणइ ।
णियणयविणयायारिपइत्तहो   मग्गिवि लइय धीय धणयत्तहो । (३,१)

युद्धयात्रा-वर्णन

युद्ध के लिए जाती हुई अपने नगर की पूरी सेना को देख कर लोगो को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रलय काल ही सेना के रूप में प्रकट हो गया हो । यथा—

. ...   अवलोइय णियभडबलु असेसु ।
दरिसहु कुरुजंगलि पलयकालु,   कुरुवइ उक्खिणहु समूलडालु ।
गयउरिपायारपओलिभंगु   दरमलहुछुहिवि बलु चाउ रगु ।
हयभेरिपयाणउं णवर दिण्णु   घरदरमलंतु सचल्लिउ सिण्णु । (१३,१३)

उक्त पक्तियो मे युद्धयात्रा का कितना सजीव वर्णन है ! पढते ही सेना द्वारा धरती रौदने का चित्र आँखो के सामने घूमने लगता है ।

युद्ध-वर्णन

युद्ध का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ कवि ने किया है । घनघोर युद्ध का सजीव वर्णन नीचे की पक्तियो में अत्यन्त सजल है—

हरिखरखुररणखोणी खणतु   गयपायपहारि घरदरमलतु ।
हणु मारि मारि करयलु करालु   सण्णद्धबद्धभडथडवमालु ।
त णिइविसघण अहिमुहु चलंतु   धाइउ कुरुसाहणु पडिखलतु । (१४,१३)

पद-योजना भी विकट बन्ध के अनुकूल है । आगे का वर्णन विम्ब-योजना से पूर्ण होने के कारण काव्यात्मक तथा यथार्थ चित्रण से समन्वित है । रणस्थली में घोडो के तेज खुरो से उठती हुई सघन धूलि को देख कर कवि कल्पना करता है कि वह धूलि क्या थी मानो योद्धाओ की परसन्तापाग्नि से उत्पन्न होने वाला धुँआ ही सब ओर व्याप्त हो रहा था । धूलि आकाश तक फैल रही थी, जिस से जग में चारो ओर अन्धकार छा रहा था । इतना अधिक अँधेरा छा गया था कि योद्धाओ को अपनी और दूसरो की तलवार तक नही दिखाई दे रही थी—

तो हरिखरखुरग्गसंघट्टि   छाइउरणअतोरणे ।
ण भडमच्छरग्गि   संधुक्कण धूमतमधयारणे ॥
धूलीरउगयणगणु भरंतु   उट्ठिउ जगु अधारउ करतु ।
णउ दीसइ अप्पुणपरु सखग्गु   ण गइंदु ण तुरउ ण गयण मग्गु । (१४,१४)

तैल चढाने का वर्णन

विवाह होने के पूर्व भविष्यानुरूपा को धनवइ के घर तैल चढाया जाता है । यह एक सामाजिक प्रथा है । आज भी तैल चढाने की प्रथा भारतवर्ष के विभिन्न भागो में

वर्तमान है। कमलश्री वहाँ पहुँचती है। इतने में ही तैल चढाने का भी शुभ मुहूर्त आ पहुँचा। किसी एक स्त्री ने वधू के पास जा कर उसे सब लोगो के बीच समाश्रित किया। पहले सोचा कि यह अत्यन्त व्याकुल है, इसलिए क्या करें, पर प्रावरण के भीतर ही हँस कर मन ही मन तैल लगाना आरम्भ कर दिया। किसी अन्य स्त्री ने उसे आवरणरहित कर दिया और बहुत देर तक वह उस के हाथ के नाखूनो को देखती रही। कोई निरन्तर कटाक्षपात से अनुरंजन करती रही। कोई परस्पर हास-परिहास करने लगी। किसी अन्य स्त्री ने भविष्यानुरूपा के अंगो को भलीभाँति देख कर कहा कि इसे तो बहुत पहले ही तैल लग चुका है। चतुर युवतियाँ मुँह पर धोती का पल्ला रख कर हँसने लगी। फिर क्या था, स्त्रियाँ आपस मे कई तरह की बातें करने लगी—

... ... आयरु तिल्लि करहु सुमुहुत्ति।
अण्णहि सुमुहु समासिउ मुद्धइं कि किज्जइ विग्गोवउ सुद्धइं।
ताइवि पंगुरणहु अब्भंतरि लाइउ तिल्लु हसिवि चित्तंतरि।
अण्णइं तहि पंगुरणहु विवत्तिउ दिट्ठउ चिरु कररुहवणपंतिउ।
अण्णइं अहरउ णयणकडक्खिउ अण्णिवि हसिवि अण्णहिं अक्खिउ।
अण्णइं वुत्तु णिहालिवि अगउ आयहिं कहिमि तिल्लु चिरु लग्गउ।
मुहि अंचलु देवि हसइ समुब्भडु तरुणियणु।
लइ लायहु तेल्लु वालहिउब्भंखरिउ तणु॥ (९,२१)

इस प्रकार हास-परिहास के बीच तैल चढ़ाने का वर्णन लोक-जीवन के सामाजिक महत्त्व को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

वसन्त-वर्णन

कवि ने वसन्त-वर्णन में जहाँ सामान्य इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है वही उस में लोक-जीवन की भी झलक दिखाई देती है। यथा—

घरि घरि चच्चरि कोऊहल्लाइं घरि घरि अंदोलय सोहलाइ।
घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण्ण मचकुंदवणय दवणय पइण्ण।
घरि घरि जयमंगलकलसं किय घरि घरि घर देवय अवयरिय।
घरि घरि सिंगारवेसु धरिवि णच्चिउ वरजुवईहिं उन्यरिवि। (८,९)

अर्थात् घर-घर कुतूहल से चाँचर खेली जाने लगी। घर-घर हिंडोले शोभायमान होने लगे। घर-घर तोरण बांधे जाने लगे। घर-घर मे स्वजन अपने हृदय को अर्पित करने लगे यानी कि बहुत चाव से एक दूसरे से प्रेम करने लगे। घर-घर में चन्दन छिड़का हुआ है। मुचकुन्द के वन के वन फूल उठे है। घर-घर पर जयमंगल कलश शोभित हो रहे हैं मानो किसी देवता ने ही अवतार लिया हो। घर-घर में अच्छे वेश में सुसज्जित हो स्त्री-पुरुष नाच-गान में रत हो रहे है।

अपभ्रंश की कई रचनाओ में चर्चरी, तालरासक, डाडारास और रासनृत्य आदि का उल्लेख मिलता है, जिस से पता चलता है कि लोक-जीवन में उस समय उन का विशेष प्रचार था।

बाल-वर्णन

वसन्त-वर्णन की भाँति बाल-वर्णन भी स्वाभाविक रूप में हुआ है। शिशु भविष्य-दत्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि माता कमलश्री के उठे हुए पीन स्तनो से सट कर और गले के हार को धकेल कर बालक स्तनपान करता है। वह लोगो के हाथो-हाथ घूमता है। अपने अच्छे चरित्र से सभी को सुहाता है। स्त्री-पुरुष सभी उसे गोद में लेते है। श्रेष्ठ विलासिनी स्त्रियाँ भी उसे चूमती हैं।

कमलसिरिहिं पीणुण्णयसट्टइं पेल्लिवि हारु पियइ थणवट्टइं।
हत्थिहत्थु भमइ जणविंदहो चरिय सुहावउ सुट्ठु णरिंदहो।
णरणाहिं सइं अंकि लइज्जइ चामरगाहिणीहिं विज्जिज्जइ।
पवरविलासिणीहिं चुंविज्जइ अण्णहिं पासिउ अण्णइं लिज्जइ।
सीहासण सिहरोवरि मुच्चइ वरविलयहं सिरि कुरुलवि लुचइ।(२,१)

बालक की इन स्वाभाविक चेष्टाओ का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है—जब कोई भविष्यदत्त का चुबन लेता है तो उस के कपोलो से छूने वाले वस्त्र को वह स्तन समझ कर दूध पीने के लिए उस के गले लग जाता है। अपने कोमल पगो से स्तन पर पडे हुए हार को दलता है और जडे हुए श्वेत हार को तोडता है।

चुंविज्जंतु कवोलइं चीरइं गलि लग्गंतु थणहिं अहि खीरइ।
कोमलपर्यहिं दलइ थणहारइ आखचिवि तोडइ सियहारइं। (२,१)

इन वर्णनो में कवि की प्रतिभा का प्रदर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण है। इन को पढने से सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने लोककथा के साथ ही जन-जीवन का भी पूर्ण सामंजस्य पौराणिक तथा लोक शैली में अभिव्यजित किया है।

राजद्वार-वर्णन

भविष्यदत्त राजद्वार पर पहुँच कर देखता है कि योद्धाओ के ठट्ठ के ठट्ठ सचार कर रहे हैं। विस्तृत मैदान में हाथी किलोलें कर रहे हैं। तुर्की देश के घोडे हिनहिना रहे है। राजद्वार सशक्त सामन्तो से संकुल है। उस द्वार के भीतर प्रवेश करने वाला कनकदण्ड से ही रोक लिया जाता है। वहाँ कोई मनमानी नही कर सकता, स्वच्छन्द विहार नही कर सकता। सभी का मान वहाँ पर गल जाता है। उस राज-द्वार को भोट, जाट, जालन्धर, मारवाड, टक्क, कीर, खस, वर्बर, मरु, अंग,

कलिंग, वैराटक, गुजरात, वगाल, लाट और कर्नाटक देश के लोग प्रतिहारी के रूप मे रक्षा करते हैं।

णिग्गउ वणिवरिंदु पहुवारहो भडथडणिवहविसमसंचारहो।
जहिं गय गुलुगुलंति पिहु जगम हिलिहिलति तुक्खारतुरगम।
जहिं मडलिय सक्कसामंतहं णिवडइ कणयदंडु पइमतहं।
गलइ माणु अहिमाणु ण पुज्जइ णियसच्छदलील णउ जुज्जइ।
जहिं अब्भोट्टजट्टजालंधर मारुअटक्ककीरखसवव्वर।
मरुवेयगकुंगवेराडवि गुज्जरगोडलाडकण्णाडवि।
इय एमाइ मुक्क सवसुधर अवसरु पडिवालति महाणर। (१०,१)

इन देशो की नामावली से पता चलता है कि राजा भूपाल का राज्य कितना विस्तृत था। दूसरे, उस युग में कई छोटे-छोटे राज्य थे। तीसरे, तुर्क आदि देशो से भारत के अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। वहाँ के घोडे युद्ध में अच्छा काम देते थे। क्योंकि तुर्की घोडे सब से अच्छी जाति के माने गये है।

शकुन-वर्णन

भविष्यदत्त उस गहन वन में जिन का स्मरण करता हुआ रोमाचित हो कर इधर-उधर घूमने लगा। इतने में ही शुभ शकुन उत्पन्न करने वाली बातें दृष्टिगत होने लगी। एक ओर श्याम चिरैया उडती हुई दिखाई दी और दूसरी ओर वायी ओर से मधुर वायु वहती हुई लक्षित हुई। प्रिय से मिलाप करने वाले मधुर शब्दो में कौआ कुलकुलाने लगा। वायी ओर मधुर मुसकान के साथ लावा पक्षी दिखाई दिया—और दाहिनी ओर मैना दिखाई दी। दाहिनी आँख और बाहु फडक कर यह सूचित करने लगे मानो यह कह रहे हो कि इसी मार्ग से जाओ।

जिणु समरंतु संचलिउ धीरु वणि हिंडइ रोमंचिय सरीरु।
सुणिमत्तइं जायइं तासु ताम गयपयहिणंति उड्डेवि साम।
वामंग सुत्ति रुहुरुहइ वाउ पिय मेलावउ कुलुकुलइ काउ।
वामउ किलिकिंचिउ लावएण दाहिणउं अंगु दरिसिउ मएण।
दाहिणु लोयणु कंदइ सवाहु णं भणइं एण मग्गेण जाहु। (४,५)।

वन-वर्णन

यद्यपि मैनाग द्वीप के वर्णन में कवि ने कुछ वृक्षो के नाम गिनाये हैं, पर कवि की प्रणाली परिगणनात्मक न हो कर उस द्वीप में मुख्यता से पाये जाने वाले पेडों को दर्शाना है। वन-वर्णन में भी प्रमुख पशु-पक्षियो के नाम कहे गये हैं, पर कवि वन की भयंकरता और उस में भविष्यदत्त का इधर-उधर भटकना वताना चाहता है। भविष्यदत्त मरण के भय को छोड़ कर उस वन में घुस गया, जहाँ सिंह प्रवर्तमान था और जहाँ

दिशा मण्डल नही दिखाई देता था। जहाँ पर दुःख का प्रभाव स्पष्ट था, उस भीषण वन में घूमता हुआ वह वडी कठिनाई से क्रोध से भरे हुए मृगेन्द्र को देख सका। किसी स्थान पर हाथियो के झुण्ड के झुण्ड थे और कही पर काले-काले गैडे किलोलें कर रहे थे। भविष्यदत्त ने देखा कि कही दर्प से भरे हुए हाथी चले जा रहे हैं, जो न तो किसी से नष्ट किये जा सकते हैं और न जिन्हें कोई रोक ही सकता है। कही पर गाढे काजल की तरह काले-काले सुअर धरती पर लोटते हुए और जलाशयो से निकलते हुए दिखाई दे रहे थे। कही पर नाचते हुए मोर अपने आप को भूल रहे थे। कही पर भयंकर शब्द हो रहा था और किसी स्थान पर बाँसो की पक्ति में दावानल सुलग रहा था।

पइट्ठो वणिदो वणे तम्मि काले पइट्ठो तहिं दुण्णिरिक्खे खयाले।
दिसामंडलं जत्थ णाउ अलक्ख पहाय पि जाणिज्जए जम्मि दुक्ख।
भमंतो सुभीसावण त वण सो णियच्छेइ दुप्पेच्छराइ सरोसो।
कहिंचिप्पएसे सजूहं गइदं महाणीलकल्लोल गण्ड सणिद्दं।
कहिंचिप्पएसे णिएउं णरिंद ण णट्ठ ण रुद्ध सदप्प मइंदं।
कहिंचिप्पएसे घणं कज्जलाह गय भुडि णीसावराह वराह।
कहिंचिप्पएसे मऊर पमत्त णडंतं पि अप्पाणय विण्णडतं।
कहिंचिप्पएसे समुण्णोण्णघोसो हुओ पायडो वंसयाले हुयासो। (४,३)

रूप-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ में रूप-वर्णन कई स्थलो पर हुआ है। कमलश्री के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह गोल, सुन्दर कटिवाली तथा सुन्दर एव विकसित स्थूल स्तनो से युक्त थी। उस का मुख पूनम के चन्द्रमा जैसा गोल और सुन्दर था। वडी-वडी आँखें नये कमल के पत्ते के समान थीं। वह स्थिर थी और कलहंस के समान चाल रखती थी। यह तो उस के वाह्य सौन्दर्य का वर्णन हुआ। अन्तरग में वह इतनी उज्ज्वल, पतिव्रता और भक्ति से ओतप्रोत थी कि कवि ने उसे "अखलिय जिणवर-सासणिभत्ती" कह कर उस की पूर्ण विशेषताओ को सरसता से अभिव्यक्त कर दिया है।

सा कमलसिरी णाउं तहु पत्ती अखलिय जिणवरसासणिभत्ती।
समचक्कल कडियल सुमणोहर वियडरमणघणपीणपओहर।
छणससिबिंवसमुज्जलवयणी णवकुवलयदलदीहरणयणी। (१,१२)

सरूपा के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह पूनम के चन्द्रमा के समान सुन्दर और भौरे की भांति मधुर वचनालाप करने वाली थी। दांतो की पक्ति की प्रभा से उस का मुख प्रहसित था। सकल कला-कलापो से पूर्ण वह अभिनव लक्ष्मी के समान अवतीर्ण जान पडती थी।

पुण्णिममइद रुदससिवयणी दतपंतिपह पहसिय वयणी।
सयलकलाकलावसंपुण्णी अहिणवलच्छि णाइं अवइण्णी। (३,२)

यद्यपि आलोच्य ग्रन्थ मे वर्णनो मे आवृत्ति नही दिखाई देती है, पर कुछ नये उपमानो को छोड कर प्राचीनता का ही अधिक आश्रय लिया गया है। अतएव नख-शिख-वर्णन की भी प्रवृत्ति मिलती है। काम-क्रीडा का वर्णन, मान धारण करना और प्रणयरोष आदि का यथास्थान उल्लेख हुआ है। कवि ने नख से ले कर शिख तक का पूरा वर्णन किया है। वर्णन-शैली पुरानी होने पर भी काव्यगत उपमान नये हैं। उदाहरण के लिए भविष्यानुरूपा के अंग पर रोमावलि (त्रिवलि) ऐसी शोभित होती थी जैसे कोई चीटी की कतार हो।

रोमावलि वलि अंगि विहावइ थिय पिपीलिरिंछोलि व णावइ। (५,९)

इसी प्रकार उस की चारो ओर से गोल और पतली कमर बीचोवीच मे इतनी पतली थी कि करतल की मुट्ठी में समा जाती थी।

समचक्कल कडियलु किसु मज्झउ णज्जइ करयलु मुट्ठिहि गिज्झउ। (५,९)

तथा रत्नाभरण से विभूषित उस का कण्ठ ऐसा शोभित हो रहा था जैसे कि समुद्र के उपकण्ठ में तटवर्ती श्री भूषित होती है।

रयणाहरण विहूसिय कंठि वेलासिरि व उवहि उवकंठि। (५,९)

संक्षेप में कवि में, गुण और क्रिया के योग से सम्पूर्ण चित्र को अभिव्यजित करने की अद्भुत क्षमता है। मुक्तक काव्य की यह स्वतन्त्र विशेषता मानी जाती है[1]। वस्तुत अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, क्रिया, शक्ति एव स्वभाव के आधार पर की जाती है। कवि किसी एक का अवलम्बन ले कर दोनो पक्षो का आधारभूत चित्र स्पष्ट कर देता है। यह विशेपता खडी बोली की कविता में ही नही अपभ्रंश की कविता में भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। छायावादी कविता में अवश्य नवीन अप्रस्तुत योजना दिखाई देती है, जिस में प्रस्तुत अप्रस्तुत में ही अन्तर्निहित नही होता वरन् प्रस्तुत ही अप्रस्तुत बन जाता है।[2]

प्रस्तुत काव्य में अप्रस्तुत-विधान, क्रिया-व्यापार और सादृश्य दोनो ही रूपो में हुआ है। नीचे की पंक्तियो में भविष्यानुरूपा के गुण और उस के सौन्दर्य को दर्शाने के लिए कवि ने क्रियागत साम्य की ओर सकेत किया है—

णं वम्महभल्लि विंवणसीलजुवाणजणि।
तहि पिक्खिवि कंति विंभिउ झत्ति कुमारु मणि॥ (५, ८)

अर्थात् युवको के हृदय को वीधने के लिए कामदेव के भाले के समान उस सुन्दरी को देख कर कुमार भविष्यदत्त का मन तुरन्त ही आश्चर्य से चकित हो गया।

यहाँ 'कुमारुमणि' कितना सार्थक प्रयोग है।

---

१. मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन' कवयो दृश्यन्ते, यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तक शृङ्गाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव। ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

२ डॉ० मोहन अवस्थी 'खडीबोली काव्य की अप्रस्तुत-योजना', हिन्दुस्तानी, भाग २३ अक १, पृ० ८।

मैनागद्वीप का वर्णन

यह वर्णन वास्तविक और लोक-जीवन से भरपूर है। गजपुर से चल कर सब लोग समुद्र-तट पर पहुँचते है और वहाँ से पोत में वैठ कर मैनागद्वीप के तट पर पहुँचते हैं। सभी प्रमुख लोग उतर पडते है। देखते हैं—सामने आँखो को सुहावना लगने वाला, दुर्लघ्य, दुर्गम और वडी कठिनाई से भ्रमण करने पर भी अत्यन्त प्यारा मैनाग नामक पर्वत स्थित हैं। उसी के घने पेडो के पास मैनागद्वीप है। वे सब लोग वही पर घूमने लगे। कुछ लोग आलस्य को छोड कर पानी लाने लगे। कुछ घडे भरने लगे और कुछ जो घडे भर कर ला रहे थे उनको हाथो में सँभालने लगे। उस वन में चंचल तमाल, ताल, मालूर, माल और सलई आदि के सुन्दर वृक्ष थे। कही पर कमलो से भरित सरोवर शोभित हो रहे थे। किसी ओर पानी के झरने प्रतिध्वनित हो रहे थे। हाथी के झुण्ड घूम रहे थे। सुन्दर वृक्षो के प्रसून मकरन्द से भरित सुगन्ध बिखेर रहे थे। किसी ओर मनोहर किशलय और पत्ते थे तो किसी ओर रस से भरे हुए फल।

तरलतमालतालमालूरमालसल्लइदुमरवण्णु ।
पिक्खइ कहिमि ताइ पकयसराइ सयवत्तसोहियाइ ।
कत्थइ पाणियाइं अवमाणियाइ करिजूह डोहियाइं ।
कत्थइ णिज्झराइ पडिरवकराइं जलरेणु भूसियाइं ।
वरतरुकुसुमगधपरिमलसुयधमयरंदमोसियाइं ।
कत्थइ मणहराइ किसलयहराइ दलवहलफलाइ । (३,२४)

यह पूरा वर्णन व्यावहारिक जीवन की भाँति जाना-माना और पहचाना-सा लगता है। यही इस की विशेपता है। घरेलू वातो का समावेश कर कवि ने लोक-जीवन को ही अभिव्यक्त कर दिया है। कवि की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक जान पडती है। क्योकि तैल चढाने के वर्णन में तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, पर वसन्त-वर्णन में भी हमें उस युग के लोक-जीवन की झांकी सहज रूप में दिखलाई पडती है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का काव्य में अत्यन्त महत्त्व है। जीवन की सुख-दु खात्मक अनुभूतियो में कवि की भावनाओ का प्रकृति से साहचर्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है, क्योकि वह उस से प्रेरणा, उल्लास और आनन्द ही नही वरन् अपनी मन स्थिति का साम्य भी प्राप्त करता है। यथार्थ में मनुष्य हृदय की विविध भावात्मक अनुभूतियाँ प्रकृति से प्रभावित हो कर काव्यात्मक रूप में निबद्ध देखी जाती हैं। प्रकृति मानव की अन्त-प्रकृति और वाह्य प्रकृति दोनो को अतिशय अनुरजित एव प्रभावित करती है। सस्कृत-काव्यो में प्रकृति-चित्रण शुद्ध परिस्थिति योजना के लिए आलम्वन रूप में दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि रामायण में प्रकृति का यही स्वरूप देखने को मिलता है। परवर्ती

काल मे जब दृश्यकाव्यो की रचना होने लगी और दोनो काव्य-धाराएँ एक बिन्दु पर (रस की दृष्टि से) केन्द्रित हो गयी, सम्भवत तभी रस के उद्दीपन के लिए उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण भी आवश्यक हो गया। वस्तुत. भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति किसी भी रूप-विधान मे हो सकती है। वह शैली या विषय के अनुसार न हो कर मन.स्थिति और घटनाओ के प्रभाव के अनुकूल होती है। इसलिए सम्भवत आलम्बन पक्ष का सर्वप्रथम सन्निवेश हुआ। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण संस्कृत के नाटको में या मुक्तक रूप में मिलता है। प्रबन्धकाव्य मे प्राकृतिक दृश्यो का विधान संस्कृत में आचार्य दण्डी, राजशेखर और विश्वनाथ ने किया है और हिन्दी में इस का विचार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। मुख्य रूप से उस की चार विधाएँ मानी जा सकती हैं— १. आलम्बन रूप में, २ उद्दीपन रूप मे, ३ अलंकृत शैली में और ४ अप्रस्तुत रूप में।

प्रस्तुत काव्य में आलम्बन रूप में तथा लोकशैली में मुख्यत प्रकृति-चित्रण वर्णित है। वन-वर्णन और वसन्त-वर्णनो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने स्वाभाविक-रीति से कितना सुन्दर वर्णन आलम्बन रूप में किया है।[1] अलकृत रूप मे सन्ध्या का एक दृश्य देखिए—

थिउ वीसवंतु खणु इक्कु जाम दिणमणि अत्थवणहु ढुक्कु ताम।
हुअ संझ तेय तविरसराय रत्तंवरु णं पंगुरिवि आय।
पहिपहिय थक्क विहडिय रहग णिय णिय आवासहो गय विहग।
मउलियरविंद वम्महु वितट्टु उप्पण्णु वालमिहुणह मरट्टु।
परिगलिय सझ तं णिडवि राइ असइ व संकेयहु चुक्क णाइं।
हुअ कसण सवत्तिव मच्छरेण सिरि पहय णाइं मसि खप्परेण।
हुअ रयणि वहलकज्जलसमोल जगु गिलिवि णाइ थिय विसमसील।
अवरोप्परु पयडं तेंहिं गुज्झु मिहुणहिं पारंभिउ सुरय जुज्झु।
एहइ पडिवण्णि करालि कालि गहभूयजक्खरक्खसवमालि।
वणि विसम विएसि विचित्त पत्तु तह वि हुअ कपु कमलसिरिपुत्तु। (४,४)

अर्थात् भविष्यदत्त के उस शिला पर बैठने के एक याम के पश्चात् ही सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो गये। तब संझा हो गयी। रक्तिम वर्ण का सूर्य घूँघट में मुख छिपाने लगा। पथिकजन मार्ग में ही रुक गये। चकवे अपने जोडे से विछुड गये। पक्षी अपने घोसलों में चले गये। कमल संकुचित हो गये। कामदेव मानो गर्व से भरे हुए बाल मिथुन के रूप में उत्पन्न हो गया हो। खिसकती हुई उस सन्ध्या को देख कर ऐसा जान पड़ता था—मानो उलटे रखे हुए हस्ततल की भाँति रजनी किसी के सकेत से फिसल पडी हो। अन्धकार क्या फैल गया था मानो सौत की डाह से कालापन छा गया था। ऐसा लगता था मानो स्याही ही खप्पर में भर कर सिर पर पोत दी गयी हो।

---

१ वन-वर्णन के लिए द्रष्टव्य है—८,३, मैनागद्वीप-वर्णन ३,२४, तथा—वसन्त-वर्णन-८,८-६।

रात काजल-सी बहुत अँधेरी क्या थी मानो जग को लोलने के लिए कोई विषमशीला (नायिका) हो। उस रात के आ जाने से मिथुनो ने परस्पर गुह्य सुरतकालीन युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। काल के समान अत्यन्त भयंकर प्रास ग्रह, भूत, यक्ष और राक्षसो का सचार हो गया था। इस प्रकार वन में विषमता से भरी हुई विचित्र वस्तुओ को देख कर भविष्यदत्त काँप गया।

इस प्रकार वर्णन-शैली लोक-साहित्य के अधिक निकट है। इस में कवि-समय की जो दो-चार बातें दिखाई पडती हैं वे शास्त्रीय परम्परा का पालन न हो कर प्रसिद्धि के रूप में प्रयुक्त जान पडती हैं। उदाहरण के लिए, प्रिया से बिछुड जाने के बाद भविष्यदत्त अत्यन्त दुखी होता है और समुद्र तट से फिर वन की ओर चल पडता है। वहाँ वह मूर्च्छित हो जाता है और उसे वन की शीतल बयार थपकी देती है।

दूसह पियविओय सतत्तउ मुच्छइ पत्तउ।
सीयलमारुएण वणि वाइउ तणु अप्पाइउ। (७,८)

यहाँ भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना न तो कामावस्था से सम्बन्धित है और न प्रकृति के उद्दीपन से। वह पत्नी के बिछोह में इतना दुखी है कि आत्मविस्मृत हो कर अपने दु ख को न सह सकने का भाव प्रदर्शित करता है। इस लिए इस समय की मूर्च्छा विरह का अंग बन कर उस की मन स्थिति को द्योतित कर रही है। और इस लिए हम उसे भले ही काम की दशा कह लें, पर उद्दीपन रूप में शीतल पवन का बहना और भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना नही कहा जा सकता। क्योंकि उस के आगे ही कवि कहता है कि बार-बार भविष्यदत्त उस नागमुद्रिका को देख कर प्रिया की स्मृति में सन्तप्त हो रहा था।

करयलि णायमुद्द संजोइवि पुणु पुणु जोइवि। (७,८)

सक्षेप में, यहाँ प्रकृति विरह का अग न बन कर स्वतन्त्र रूप में इस काव्य में लक्षित होती है, जिस में मनुष्य की भावनाएँ सवेदित हो कर प्रकृति का शृंगार करती हैं। अलकृत-वर्णन में कवि की कल्पना ही मुख्य होती है। वह शास्त्रीयता से न बँध कर लोक-जीवन के स्वतन्त्र वातावरण में चित्रित करता है और यही उस की विशे-पता है।

भाव-व्यजना

प्रवन्ध में परिस्थितियो और घटनाओ के अनुकूल मार्मिक स्थलो की संयोजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय उन्ही स्थलो पर मिलता है, जिन मे मनुष्य हृदय की वृत्तियाँ सहज रूप मे प्रसंग को हृदयंगम करते ही भावनाओ में तन्मय हो जाती हैं। भावो के उतार-चढाव में घटनाओ का बहुत कुछ योग रहता है। कवि की दृष्टि में उन का विशेप महत्त्व स्वाभा-विक रूप में आकलित हो जाता है। इसी को प० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि प्रवन्ध-

कार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलो को पहचान सका है या नही।[1] भविष्यदत्तकथा में निम्नलिखित स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहे जा सकते है--वन्धुदत्त का भविष्यदत्त को अकेला मैनागद्वीप मे छोड देना और साथ के लोगों का सन्तप्त होना, माता कमलश्री को भविष्यदत्त के न लौटने का समाचार मिलना, वन्धुदत्त का लौट कर आगमन, कमलश्री का विलाप और भविष्यदत्त का मिलन आदि।

एक भाई का अपने भाई को निर्जन बीहड द्वीप में नितान्त अकेला छोड़ देने से बढ कर मार्मिक करुण दृश्य अन्य क्या हो सकता है? भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी सामान्य जन की हो सकती है। वह धरती पर हाथ पटकता है, छाती कूटता है और अत्यन्त दुखी हो कर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था, पर मै नही माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। इस घायल अवस्था से मेरा कहाँ उद्धार होगा? मृत्यु ही मेरे सामने आ गयी है। इस प्रकार विविध भावो में डूबता-उतराता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोसता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है, किसी को क्या दोष? अच्छा हुआ कि जिस अकार्य के करने से मुझे पाप कर्म का वन्धन हुआ था वह आज दूर हो गया। मुझे विना किसी निमित्त कारण के इतना दु ख वदा हुआ था सो मिल गया, पर कुल को कलंक लग ही गया। और अव अधिक विषाद नही करना चाहिए। जो कुछ होना होगा सो होगा। इन भावो को भाता हुआ वह सामने फैले हुए वन मे प्रविष्ट हो गया।

करु महियलि हणेवि उरि कंपिउ ण चलिउ जं चिरु जणणिह जंपिउं।
णट्ठु कज्जु कहिं अब्भुद्धरणउं वणि असमाहिइ आयउ मरणउ।
अण्णण्णइं चिंतिज्जंति मणि खलविहि अण्णण्णइं सरइ।
सुट्ठु वि वियड्ढु गुणसय भरिउ दइवि परम्मुहु किं करइ। (४।१)

उक्त प्रसंग में कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओ की विस्तार से अभिव्यजना की है, जिस में मनुष्य की अनुभूतियो का तादात्म्य सहृदय से अपने आप हो जाता है। वन्धुदत्त के डाँटने-फटकारने पर पोत चला दिया जाता है और भविष्यदत्त अकेला छोड़ दिया जाता है। किन्तु उस के उन वचनो को सुन कर नागरिक जनो के सिर पर मानो वज्रदण्ड ही गिर पडता है। सभी लोग कहते हैं कि यह अच्छा नही हुआ। हम सब का सब वाणिज्य निष्फल गया। यह तो हमारे साधुपन की लज्जा का व्यापार हुआ है। न केवल यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न शरीर, न पुत्र, न पत्नी वरन् इष्टजन भी वहुत दूर गजपुर (हस्तिनापुर) देश में स्थित है। यहाँ तो निश्चय से ही अधर्म ने धर्म को लील लिया है। और धर्म के नाश

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० ७८।

हो जाने से सभी कर्म अब अकर्म हो गये है। सभी लोग अत्यन्त सन्तप्त हो कर कहने लगे कि भविष्यदत्त को मार कर बडा भारी दुष्कृत्य किया गया।

गयं णिप्फल ताम सव्व वणिज्ज हुअ अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्ज।
ण जत्ता ण वित्त ण मित्त ण गेहं ण धम्म ण कम्म ण जीयं ण देह।
ण पुत्त कलत्तं ण इट्ठं पि दिट्ठं गयं गयउरो दूरदेसे पइट्ठं।
खयं जाइ णूण अधम्मेण धम्म विणट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्मं।
कयं दुक्किय दोहएणं हएणं सुहायारभट्ठेण दुट्टेण एण। (३,२६)

बन्धुदत्त को कंचनद्वीप की यात्रा से घर लौट कर आने पर जितनी अधिक प्रसन्नता है उस से कही अधिक नगर के लोगो को हर्ष होता है। यह समाचार मिलते ही कि लोग व्यापार कर नदी-तीर पर आ पहुँचे है, नगर के सभी लोग हर्ष से भर कर दौड पडते है। वे इतने अधिक हर्ष से उल्लसित है कि किसी ने सिर का कपडा कही पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता मे हाथो के कगन कही के कही पहन लिये है, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही आलिगन करने लगा, किसी के अग का प्रतिविम्ब कही और पडने लगा, किसी ने किसी दूसरे का ही सिर चूम लिया। इस प्रकार सभ्रम और पुलक से भरे हुए लोग अपने सभी कामो को छोड कर प्रिय की कुशल-अकुशल की बात करते हुए नदी-तट पर पहुँचे। धनवइ ने आँखो मे प्रेम के आँसू भर कर गद्गद वाणी से बेटे की कुशल-क्षेम पूछी।

धाइउ सयलु लोउ विहडप्फडु केणवि कहुवि लयउ सिरकप्पडु।
केणवि कहुवि छुड्डु करिककणु केणवि कहुवि दिण्णु आलिगणु।
केणवि कहुवि अगु पडिविंबउ केणवि कोवि लेवि सिरु चुंविउ।
गय वइयहिं कम्मड मेल्लियइ णयणइ हरिससुजलोल्लियइ।
पियकुसलाकुसलु करतियइ चित्तइ सदेहविडवियइ।
धणवइ अंसुजलोल्लियणयणउ पुच्छइ पुणुवि सगग्गिरवयणउ। (८,१-२)

इन स्थलो पर कवि की सूझ-बूझ का और सामाजिक अनुभूतियो का पता लगता है कि कवि उन परिस्थितियो और घटनाओ से कितना प्रभावित है और उस के मन पर उन की क्या मानसिक प्रतिक्रिया होती है। विचार करने पर स्पष्ट ही धनपाल की भावुकता का परिचय मिल जाता है। दोनो वर्णनो मे कवि ने जहाँ मानवीय सवेदनात्मक भावानुभूतियो का प्रकाशन किया है वही भविष्यदत्त के साथियो की मनोभावनाओमें ग्लानि व्यक्त कर मनोविज्ञान का भी समावेश किया है।

इधर वसन्त का आगमन होता है और उधर बन्धुदत्त अपने घर लौटता है। नगर में प्रतिदिन मगलकलश सजाये जाते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं। इसी समय कमलश्री किसी मे सुनती है कि सब लौट कर आ गये, पर भविष्यदत्त नही आया। उस के मन की जो वृत्ति होती है उसे कवि के शब्दो मे सुनिए—

तं णिसुणिवि सहसत्ति चमक्किय उट्ठिय सोय दवग्गि दमक्किय।
गुज्झावरण गूढ सुणिउत्तह घरि घरि भमिय णयरि वणिउत्तहं।
कारणु किंपि कोवि णउं साहइ पर पियवयणु चवइ मुहु चाहइ। (८,११)

अर्थात् उस वात को सुन कर वह विजली की भाँति सहसा ही चमक गयी। जैसे ही उठ कर खडी हुई वैसे ही मानो समूचे शरीर मे दावाग्नि दमक गयी। किन्तु फिर भी वह वडा-सा घूँघट डाल कर नगर के वडे-वडे वणिक्पुत्रो के घर-घर घूमी। कारण कोई भी कुछ नही सुनाता है, पर मीठे वचन कह कर सभी अभिलाषा और चाह प्रकट करते है। और फिर वन्धुदत्त से यह सुन कर कि भविष्यदत्त किसी द्वीप में रुक गया है, कुछ दिनो में आ जायगा, उस की जो स्वाभाविक चेष्टाएँ होती है उस का वर्णन देखिए—

तहु जपतहु वयणु पलोइवि थिय कवोलि करयलु सजोइवि।
णउ सुदरइ चवतहु वयणइ थोरसुवहिं णिरुद्धइं णयणइं। (८,१२)

अर्थात् कहते हुए वन्धुदत्त के मुँह को देख कर कमलश्री हथेली पर कपोल को रख कर स्थित हो गयी। वह भाव-मुद्रा मे पूरी तरह लीन हो गयी। अव कुछ भी नही वोलती है। वडी-वडी आँसू की बूँदें वहने लगी, जिस से आँखें निरुद्ध हो गयी। कमलश्री विलाप करती है कि हा हा पुत्र! मैं तुम्हारे दर्शन के लिए कव से उत्कण्ठित हूँ। चिर काल से आशा लगाये वैठी हूँ। कौन आँखो से यह सव देख कर अव समाश्वस्त रह सकता है? हे धरती! मुझे स्थान दे, मैं तेरे भीतर समा जाऊँ। पूर्व जन्म मे मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया था, जिस से पुत्र के दर्शन नही हो रहे है। इस प्रकार के वचनो के साथ विलाप करते हुए उसे एक मुहूर्त वीत गया।

हा हा पुत्त पुत्त उक्कठियइं घोरतरिकालिपरिट्ठियइ।
को पिक्खिवि मणु अब्भुद्धरमि महि विवरु देहि जि पइसरमि।
हा पुव्वजम्मि किउ काइ मइ णिहि दसणि ज णयणइं हयइ। (८,१२)

अन्त मे वह कहती है कि मेरे हृदय का आधार एक ही पुत्र है और वह भी अव सन्देह मे है।

एक्कु पुत्तु हियवइ साहारणु तासुवि गउ सदेहहु कारणु। (८,१६)

माँ की कितनी मार्मिक वेदना ऊपर की पक्तियो मे निहित है। कमलश्री को इस समय उतना ही दुःख होता है जितना कि श्री रामचन्द्र जी के द्वारा सीता के परित्याग पर सीता जी को होता है। वस्तुत इन मानवीय भावनाओ का यथार्थ चित्रण करना ही सच्चा कवि-कर्म है। भविष्यदत्त अन्त में एक दिन लौट कर घर आ ही जाता है। विमान को घर के आँगन में उतरा हुआ देख कर कमलश्री भगवान् का स्मरण करती हुई दौडती आती है। भविष्यदत्त माता से कहता है कि हे कमले! क्यो दौड रही हो? किन्तु वह पुत्र के वचनो पर ध्यान न दे कर वडी तेजी से भागती हुई हर्ष मे

फूली नही समाती तथा वेग से पुत्र के शरीर से लिपट जाती है। कमलश्री के आँखो से आँसू वह रहे है। उसे कुछ भी नही सूझ रहा है, किन्तु नयनो से वह मुख-दर्शन का सुख प्राप्त कर रही है।

घरपगणि पकयसिरि धावइ अज्जियजिणवयणइ परिभावइ।
भविसयत्तु धणु घरि सपेसइ माणिभद्दु पियवयणइं भासइ।
मुव्वयविहिमि जाम णवकारिय तो सविलक्खइं सण्ण समारिय।
हलि हलि कमलि कमलि किं धावहि पुत्तहो वयणु काइं ण विहावहि।
तं णिसुणिवि रहसेण पधाइय हरिसिं णियय सरीरि ण माइय।
सरहसु दिण्णु सणेहालिंगणु णिवडिवि कमकमलहु थिउ णदणु।
मुहदसणु अलहंतइ णयणइ असु मुआवियाइ जह रयणइ। (९,७)

कितना मार्मिक दृश्य है! पढने के साथ ही आनन्द के अश्रु छलछला आते हैं। इतना ही नही, कवि आगे वर्णन करता है कि उसी क्षण कमलश्री का मातृत्व उमड आता है और चौवीसो सोतो से दूध झरने लगता है। वह पुत्र के आगमन का उत्सव मनाने लगती है। शुभ मंगलकलश सजाये जाते है। दधि, दूर्वा और अक्षत से पूजन कर पुत्र की न्योछावर फेरी जाती है।

णिम्मच्छणउ करिवि णियपुत्तहि वहइ खीरु चउवीसहिं सोत्तहिं।
सुहमंगलजलकलससमारिय दहिदुव्वक्खय सिरि मचारिय। (९,७)

इन वर्णनो से स्पष्ट है कि कवि की भाव-व्यजना वैयक्तिक न हो कर सामाजिक अधिक है। और इसलिए हम कह सकते है कि आलोच्यमान रचना लोकमगल की भावनाओ से अनुप्राणित है। सामाजिक शिष्टाचार, मर्यादा, व्रत, कर्तव्य-विधान आदि से समूची रचना परिव्याप्त है। समाज और लोक-जीवन का स्थान-स्थान पर चित्रण है, जो इस काव्य की अपनी विशेषता है। उन में केवल भावो की ही अभिव्यक्ति नही है, वरन् उन का उत्कर्ष भी अभिव्यजित है। इस प्रकार नाना भावो मे हम कवि की रसात्मकता और भावुकता से ओतप्रोत हो काव्य की मार्मिकता से सहज मे प्रभावित होते है। प्रभावान्विति और रस-व्यजना की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा उत्कृष्ट कोटि की रचना है। मुख्य रूप से शृगार, वीर और शान्त रस का परिपाक इस में हुआ है। परन्तु इस का अगी रस कौन है, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि आधिकारिक कथा का विवेचन करे तो स्पष्ट ही वीर रस को प्रधान मानना होगा, क्योकि भविष्यदत्त को, सिन्धु राजा को पराजित कर दिये जाने पर ही वास्तविक रूप से राज्य की प्राप्ति होती है, और सुमित्रा के साथ उस का विवाह होता है। युद्ध मे उसे शौर्य-वीर्य का परिचय देना पडता है। नायक की महत्ता का पता हमें इसी स्थल पर लगता है। फिर, भविष्यदत्त का जीवन साहसिक कार्यो से भरपूर रहा है। अतएव सरलता से नायक की फल-प्राप्ति के अनुसार वीर रस प्रधान माना जा सकता है। भविष्यदत्त

युद्धवीर ही नही धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। उदारता, धीर-वीरता और साहस आदि गुण उस के जीवन में कूट-कूट कर भरे है। और इसीलिए लेखक ने उसे साधारण पुरुप न कह कर महापुरुप कहा है।

यद्यपि मुख्य कथा से वीर रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर वह परिणति मे शृंगार से सम्बन्धित है, क्योकि युद्ध-वर्णन के मूल मे राज्य-प्राप्ति न हो कर स्त्री की संरक्षा थी। इसलिए फलागम मे अन्तर आने से यहाँ वीर रस प्रधान न हो कर शृंगाररस मुख्य माना जायेगा। किन्तु ग्रन्थ का पर्यवसान शान्त रस मे हुआ है, और इसलिए शान्त मुख्य कहा जाना चाहिए। कथाकाव्य का पूर्वार्द्ध निश्चय ही शृंगार रस की मधुर व्यजना से अभिव्यजित है। विवाह, कामक्रीडा, वियोग और मिलन आदि ही इस की मुख्य विपय-वस्तु हैं। जीवन के उदात्त प्रेम का चित्रण करना ही कवि के काव्य-व्यापार का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए शृंगार की व्यजना मुख्य मानी जा सकती है। परन्तु कथा की नियोजना सोद्देश्य हुई है। इस मे श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य मुख्य रूप से वर्णित है। भविष्यदत्त का उद्देश्य धर्म, अर्थ या काम की प्राप्ति नही है। वह किस प्रकार भवान्तरो का उच्छेद कर मोक्ष प्राप्त करता है, यही ग्रन्थ-कार का मुख्य प्रयोजन है। और यही कारण है कि भविष्यानुरूपा के वियोग का वर्णन कवि ने विस्तार से नही किया। यद्यपि काव्य में उपदेशात्मक अग सरस है, पर उस का कई स्थानो पर समावेश है। नायक भी सकट-काल में धर्म का आश्रय लेता हुआ दिखाई पडता है। कमलश्री तो धर्म की प्रतिमूर्ति ही चित्रित है। मुख्य कथानक से निर्वेद मूलक भावो का पूरा लगाव है, इसलिए शान्त रस ही प्रधान है। और फिर यह तो जैन काव्यो की विशेषता ही मानी जाती है कि विभिन्न रसो की अभिव्यजना होने पर भी उन का पर्यवसान शान्त रस में होता है। इस प्रकार समग्र प्रभाव मे भी शान्त रस मुख्य लक्षित होता है।

वात्सल्य का वर्णन दो स्थलो पर विशेष रूप से अभिव्यजित है। पहले स्थान पर उस की व्यजना माता के मुख से न हो कर पुत्र के वचनो से हुई है और दूसरे स्थल पर माता का वियोग-वात्सल्य अभिव्यक्त हुआ है। दोनो ही प्रसग मार्मिक है। यथा—

अच्छइ जणणि कहिमि दुक्खल्लिय वहु दुज्जण दुव्वयणहि सल्लिय।
जाइ सुइरु चितविउ सुआसइ पुत्तजम्मि दोहलयपियासइ।
णवमासइ णिय कुक्खिहि वरियउ पुणु रउरवकालहु उत्तरियउ।
णिय सरीर खीरि परिपालिउ अणुदिणु पियवयणिहि दुल्लालिउ।
ताहि कयावि ण किउ मइ चंगउ आयउ दुक्खे पूरिवि अगउ। (६,१२)

अर्थात्, भविष्यदत्त से जव भविष्यानुरूपा साम-ससुर के सम्बन्ध मे पूछती है तो उस की आँखो के सामने ममतामयी माता का सजीव चित्र घूमने लगता है। वह कहता है कि मेरी माता दुर्जनो के छिदने वाले वचनो से अत्यन्त दुखी है। पुत्र-जन्म की

आशा में उस ने बहुत दु ख पाया। मुझे नौ महीने तक कूँख मे धारण किया। पिता के त्यागने के रौरव काल को बिताया। अपने शरीर के दुग्ध से मेरा पालन-पोषण किया। प्रिय वचनो से वह सदा दुलार करती रही। पर मैं ऐसा अभागा हूँ कि मैं ने उस माता के लिए तनिक भी सुखदायक काम नही किया। वह दु ख से अंगो को घूर कर समय बिता रही हैं।

ऊपर की इन पक्तियो में वात्सल्य 'शोक का अंग बन कर' अभिव्यक्त हो रहा है, और विपाद सचारी भाव है। परिस्थितियो के अनुसार मानव-मन की भावनाएँ विविध मानसिक अनुभूतियो से सवलित होती प्राय देखी जाती हैं। इसलिए जहाँ भविष्यदत्त में विभिन्न भावो और अनुभावो का संचार दिखाई देता है वही माता कमलश्री मे शोक स्थायी भाव प्रतीत होता है। वह दु.ख में इतनी जड हो जाती है कि वात्सल्य अन्त मे पुत्र के चिर वियोग की आशका से 'शोक' में परिणत हो जाता है और करुण रस की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह पुत्र के जीने की आशा छोड देती है और कहती है कि धरती फट जा, मैं तुझ मे समा जाऊँ। गीत शैली मे वर्णित भयानक रस का उत्कृष्ट निदर्शन है—

तओ आगओ सो अराइण्णराओ महाभीमु भाभासुरो भिण्णकाओ।
असतो विसतो मुपच्छण्णमित्तो कुले सुप्पहूयाण भूयाणमित्तो।
अखोणीवलग्गो असामण्णभासो घणधार घोसो कयट्टट्टहासो।
सिरे उद्धकेसो जलततरिक्खो सचमट्ठिसेसो भिस दुण्णिरिक्खो।
सयाभूलयाभगुरावत्तगत्तो दुरालोयणो दुम्मुहो रत्तणित्तो।
फुरताहरुट्ठो समीर गिलतो ललंततजीहो हम्मि उग्गिलतो।
महापावकम्मो सुसघट्ट गाढो कयतुव्व कुद्धो करालुग्गदाढो। (५,१७)

अर्थात् जब भविष्यदत्त उस सुन्दरी से वार्तालाप कर रहा था तभी उस अरण्य का राजा अत्यन्त भीमकाय चमचमाता हुआ वह राक्षस आ पहुँचा। कुल मे जो भी अच्छे-बुरे थे वे मव इसी पिशाच के द्वारा भेंदे जा चुके थे। अधपर मे ही उस ने घने अँधेरे मे असामान्य भापा मे घोप तथा अट्टहास किया। उस के सिर के ऊपर के केश प्रकाशमान अन्तरिक्ष की भाँति थे। उस के शरीर मे चमडा और हड्डी ही शेष रह गये थे। वडी कठिनता से वह उस समय देखा जा सकता था। उस की विकराल आँखे, भयानक मुँह और लाल-लाल आँखे सैकडो अस्थिर भूवलय के आवर्त के गर्त जान पड रहे थे। वह महान् पापकर्मी अधरो को फडकाता हुआ, पवन को लीलता हुआ, लपलपाती जीभ को निकाले हुए हर्म्य को उठाता हुआ उस भवन मे प्रविष्ट हो गया।

उक्त वर्णन मे भय स्थायी भाव विस्मय और आवेग से पुष्ट हो भयानक रस की सृष्टि कर रहा है। ऐसे दृश्य किसी भी आश्रय मे अनुभावो को सहज में ही अभिव्यक्त कर देते है। यही इस की विशेपता है। आलम्बनगत विभाव की अभिव्यजना तो यहाँ अत्यन्त स्पप्ट है।

रौद्ररस की व्यंजना केवल एक ही स्थान पर हुई है, जहाँ सिन्धुनरेश की स्वत्व-छेदक बातो को सुन कर भविष्यदत्त को क्रोध आता है और उस का मुँह तमतमा जाता है। क्रोध का पूरा आवेग यहाँ भविष्यदत्त मे दिखाई देता है। चित्र है—

तं वयणु सुणेविणु भविसयत्तु णियकुल विवाय परिहवण तत्तु।
आवेसवेस विप्फुरिय णयणु जपिउ सरोसु णिद्दुरिय वयणु।
अहु दिट्ठु तुम्हि आयहु अगण्णु वाणियउ वुत्तु पुणु काइं अण्णु।
कुलकित्तिविणासणु मइलियसासणु किं वुल्लाविउ एहु खलु।
णीसारिवि घल्लहु लइ गलथल्लहु पावउ णिय दुव्वयणफलु। (१३,८)

अर्थात् उस के वचनो को सुन कर भविष्यदत्त ने जातिगत विपाक के पराभव से सन्तप्त हो कर क्रोध के आवेग से भर कर क्रोधपूर्वक मर्मभेदक वचनो को कहा। तुम ने देखा कि यह नगण्य (वेचारा वनिया का वेटा) है। पर ऐसा मत समझना। तुम ने यह वनिया से कहा सो ठीक, पर अन्य किसी से मत कहना। अपनी कुल-कीर्ति का विनाश करने के लिए, शासन को मैला करने के लिए इस दुष्ट को कल क्यो वुलाया है? उसे अभी गरदनियाँ दे निकाल कर वाहर फेको। वह अपने दुर्वचनो का फल भोगे।

वात्सल्य रस की अभिव्यजना तो इस काव्य मे स्वाभाविक रीति से हुई है। माता कमलश्री कई स्थानो पर पुत्र के प्रति ममतामयी भावनाओ को अभिव्यक्त करती है—वियोग-काल मे और सयोग में भी। यथा—

त सुणिवि जणेरि सिरि करपल्लव धरिवि थिय।
समसज्झसि हूअ णाइ विणिम्मिय कट्ठमिय॥ (९,१४)

दुक्खु दुक्खु णियमणि सजोइउ पुणु पुणु पुत्तहु वयणु पलोइउ।
हा तहिं कालि पुत्त मइ वुत्तउ गमणु विएण समाणु ण जुत्तउ।
हा पर वन्धुवत्तु महु सज्जणु जेण पुत्त तउ ण किउ विमद्दणु।
एम करेवि सुइरु कूवारउ पुणु पुणु सिरु चुंविउ सयवारउ (९,१५)

माता केवल पुत्र के प्रति वत्सल-भाव ही प्रकट नही करती, वरन् उसे आत्मतोष है कि वन्धुदत्त सचमुच सज्जन है, उस ने कम से कम पुत्र का विमर्दन तो नही किया। इस से जहाँ कमलश्री के उदात्त चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वही माँ की वेटे के प्रति सच्चे स्नेह की झलक लक्षित होती है। पुत्र के मिलने पर वह इतनी हर्षित होती है कि वहुत देर तक विलाप करती हुई वार-वार, सैकड़ो वार पुत्र का सिर चूमती रही। इस से वढ कर वात्सल्य का अन्य क्या दृष्टान्त हो सकता है?

यद्यपि अन्तिम सन्धि मे शोक का प्रसंग आया है, पर उस मे करुण रस का न तो विस्तृत सचार है और न पूरा परिपाक ही। धनवइ और भविष्यदत्त के मुनि वन जाने पर—उन की धर्मपत्नी सरूपा, सुमित्रा और भविष्यानुरूपा विलाप करती हुई कहती हैं—

हा चंचल पहु ववगय सणेह कहु मेल्लिय हउं कंटइय देह।
हा पंकयसिरि धम्माणुराइ पइसहु एत्तिउ दंसणु सुमाइ।
धणवइ विणु पत्तिए त जि गेहु पिक्खइ पजलतु दहतु देहु।
णिंदइ अप्पाणउं काउ दीणु तउ करिवि ण सक्कमि हउं णिहीणु।
धण्णाइ ताइ तिण्णिवि जणाइ छड्डेवि लग्गर तव चरणि जाइ। (२२,३)

अर्थात् हाय! प्रभु का चपल स्नेह बीत गया। रोमाचित शरीर वाली मुझे क्यो छोड गये? हाय, कमलश्री धर्मानुरागिनी दीक्षा-ग्रहण कर अर्जिका बन गयी। वह—सुमाता हो गयी। विना पति के घर देखने से शरीर जलता है, प्रज्वलित होता है। इस प्रकार अपने-आप को कोसती हुई वे कहती हैं कि हम लोग तो इतने दीन-हीन हैं कि तप करने में भी असमर्थ हैं। उन लोगो को धन्य है जो सव कुछ छोड कर आप के चरणो में जा लगे।

यहाँ पर तथा अगली पक्तियो में नागरिक जनो की वेदना एव व्यथा का अनुमान कर जो करुणा जग रही है वही शोक का अभिव्यक्त कर रही है। भाग्यनिन्दा और उच्छ्वास अनुभाव है, जो आवेग दैन्य और स्मृति से पुष्ट हो रहे हैं।

इसी प्रकार हास्य रस का एक उदाहरण देखिए—

अण्णइ वुत्तु णिहालिवि अगउ आयहिं कहिवि तिल्लु चिरु लग्गउ।
मुहि अचलु देवि हसइ समुब्भडु तरुणियणु।
लइ लायहु तिल्लु वालहिउब्भंखरिउ तणु॥
अण्ण भणइ म हसह वराई म कुण मचइ मुत्तवराई।
अण्ण भणइं णियकज्जवहुल्ली विण सुत्ति किय गलि कठुल्ली। (९,२१-२२)

अर्थात् भविष्यानुरूपा तैल के लिए सज्जित है। तैल लगाया जाने वाला है। किन्तु कोई सयानी स्त्री उस के अगो को भली भाँति देख कर कहती है कि तैल तो वहुत पहले ही लग चुका है। चतुर तरुणियाँ उस की वात समझ कर मुँह मे आँचल दे कर हँसती हैं। लो, तैल लाओ। वाला की देह क्लान्त हो रही है। सुभगे, हँसो मत—इस प्रकार हास-परिहास के वीच नगर की स्त्रियाँ ऐसी वातो का कथन करती हैं कि पाठक के हृदय में आश्रयगत अनुभूति विस्फुरित हो रसात्मकता का सचार कर देती हैं। स्पष्ट ही यहाँ हास्य प्रसन्नता से अभिव्यक्त न हो कर औत्सुक्य से तथा चपलता से अनुभूयमान प्रतीत हो रहा है।

उक्त भावनात्मक प्रसगो को देखने से पता चलता है कि भविष्यदत्तकथा में विभाव, भाव और अनुभावो की सुन्दर अभिव्यजना हुई है। लगभग सभी सचारी भाव विविध स्थलो पर सचरणशील लक्षित होते है। यही नही, उन की मूल स्थिति का अनुभवन चेष्टाओ द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि साहित्य के ग्रन्थों में सचारियो के वाह्य चिह्न भी वताये गये हैं, जो वास्तव में

उन के अनुभाव ही हैं। जैसे, गर्व में तन कर खड़ा होना, अवज्ञा करना, अँगूठा आदि दिखाना,—अवहित्था में अनभीष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखाना, दूसरी ओर देखना, चिन्ता मे दीर्घ नि श्वास लेना, सिर झुकाना, हाथ पर गाल रखना, माथा सिकोड़ना—इत्यादि।[१] इस प्रकार भाव-विधान मे काव्य विविध विशेषताओ से समन्वित और पुष्ट है।

वियोग-वर्णन

सयोगकालीन वास्तविक सुख का अनुभव करने के लिए वियोग एक अनिवार्य भूमिका है, जिस में मनुष्य का प्रेम संचित हो कर रागानुराग को रग-रग मे व्याप्त कर देता है। अतएव वियोग के विना सयोग का महत्त्व न तो लोक मे है और न काव्य मे। वाल्मीकि मे ले कर आज तक जितने प्रवन्ध काव्य लिखे गये हैं उन मे थोड़ा-बहुत वियोग-वर्णन अवश्य मिलता है। किन्तु शैलीगत भिन्नता से उन मे कुछ न कुछ भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। कही-कही यह वर्णन श्लिष्ट होता है और कही-कही वैयक्तिक अनुभूतियो की मार्मिक अभिव्यजना से ओत-प्रोत। लेकिन कही-कही इन दोनो रूपो से भिन्न लोकगत सुनी हुई वातो के आधार पर कवि तथ्यपरक वर्णन कर उस मन स्थिति को अभिव्यक्त करता है। आलोच्यमान कथाकाव्य मे सयोग और वियोग दोनो के वर्णन इसी रूप में वर्णित हैं।

प्रकृति में सहानुभूति की कल्पना कर या मानसिक वृत्तियो को प्रकृति सुन्दरी के मनोरम क्रियाकलापो में निवद्ध कर जो तादात्म्य स्थापित हो जाता है—उस मे यही प्रतीति होने लगती है कि प्रकृति हमारे सुख-दु ख मे साथ दे कर भावानुभावो के प्रदर्शन मे सहानुभूति प्रकट कर रही है। और उद्दीपन रूप में वही प्रकृति जब सुखद चेष्टाओ से हम मे मधुरतम भावो को भरती हुई लक्षित होती है तव वही वियोग काल मे वेदना और व्यथा को नाना क्रिया-कलापों मे प्रकट करती हुई जान पड़ती है। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप का भ० क० मे वर्णन नही मिलता। छल से भविष्यानुरूपा के वन्धुदत्त के साथ पोत में वैठ कर चली जाने पर भविष्यदत्त वहुत दु खी होता है। विरह से वह अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है। वार-वार प्रिया के मुख का स्मरण एव उस का चिन्तन करता है। किन्तु गुरुतर वियोग के वेग को सह न सकने से वह मूर्च्छित हो जाता है। इस समय शीतल पवन आ कर उसे जगाती है, तव कही चेतना लौटती है।

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ, सीयलमारुएण वणिवाइउ तणु अप्पाइउ। (७,८)

इस प्रकार यह वर्णन उद्दीपन रूप से विल्कुल विपरीत है।

विप्रलम्भ शृगार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड कर तीनो भेद इस में मिलते हैं। कमलश्री पति धनवइ के मान धारण कर लेने पर घर में ही अत्यन्त दु खी हो कर वियोग मे छटपटाती है। कवि उस का वर्णन करता है—

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमासा, तृतीय सस्करण, पृ० १८८।

त पणडणिहि पणउ ण समप्पइ पेम्मुम्माए मणु सतप्पइ ।
अगइ विरहदाहु ण सहति णयणइं जित्थु णाहु तहिं जति । (२,७)
तथा— पिय वयणि मयणि आसणि सयणि रइवासरि वि णा मिलइ । (२,६)

धनवइ के प्रणय मे हीन उस का मन अत्यन्त सतप्त रहने लगा । उस के अग विरहाग्नि सहन करने मे असमर्थ हो गये । उस की आँखे जाते हुए पति की ओर लग गयी । इतना ही नही, प्रिय के वचन, मदन, आसन और शयन में भी उसे कभी सुनने को नही मिल पाते । यह सामन्तयुगीन भारतीय समाज की सभवत. एक विशेप प्रवृत्ति ही वन गयी थी । भविष्यदत्त के मैनागद्वीप में छूट जाने पर भविष्यानुरूपा बहुत दु खी होती है । वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है और विचार करती है कि मै गजपुर में हूँ और पतिदेव द्वीपान्तर में है, जो सैकडो योजन दूर है । किस प्रकार से मिलना हो ? जिस द्वीप की भूमि में मनुष्य संचार नही करते वहाँ कैसे पहुँचूँ ? मुझे जितना दु.ख भोगना था—उतना भोग लिया । विना आशा में कब तक प्राण धारण करूँ ? इतने में ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक महीने में यदि मेरा पुत्र आकर नही मिला तो मै प्राणो का त्याग कर दूँगी ।

तो भविसाणुरूव विसमट्ठिय चिंतइ तुंगतवगि परिट्ठिय ।
गयउरि हउ पिययमु दीवंतरि जोयण सयइ अणेयइ अंतरि ।
संभउ कवणु एत्थु किर सगमि जहिं संचरवि णाहि महि जगमि ।
जेत्तिउ दुक्खु मज्झु तणु भुंजइ तेत्तिउ सोवि कहिमि अणुहुजइ ।
अच्छइ समसमतु दुहसायरि किं मुउ झप देइ रयणायरि ।
विणु आसइ किम मणु साहारमि लइ घल्लिवि घरसिहरहु मारमि । (८,२०)

यहाँ पर कवि ने आकाश-वाणी का प्रयोग न कर अस्वाभाविकता से कथानक को वचा लिया है । उसके औचित्य का यह सवसे वडा प्रमाण है । किन्तु भविष्यानुरूपा का करुण विलाप न होना खटकता है । करुण वात्सल्य का अवश्य सुन्दर वर्णन कमलश्री के मुख से हुआ है, जो अत्यन्त मार्मिक है । (दे० ८, १३)

इस वियोग-वर्णन में रीति-परम्परा से ग्रस्त मानवीय भावनाओ का प्रदर्शन न हो कर मनुष्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति हुई है । कमलश्री और भविष्यानुरूपा का प्रेम नायक तथा नायिका का प्रेम न हो कर आदर्श भारतीय नारी का प्रेम है, जो प्राणो के रहते हुए अपने हृदय में किसी दूसरी मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए किसी भी प्रकार तत्पर नही है । यद्यपि वियोग के सन्दर्भ में काम की दस दशाएँ कही गयी हैं और अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्यो में विशेष रूप से स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' (२१,९) में मिलती है, किन्तु यहाँ उन में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति या उद्वेग तथा मूर्छा आदि का स्वाभाविक रूप से सन्निवेश मिलता है । परन्तु उनमें वह आवेग और तृष्णा नही है, जो प्रेम-गर्भित टेक की अतिशयता में लक्षित होती है इसका

एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि यह काव्य शास्त्रीय शैली मे न रचा जाकर लोक-शैली में लिखा गया है, जिसमें जन-जीवन की अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप मे वाणी प्रदान की गयी है। अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगत मधुर अभिव्यंजना हुई है, वीभत्स रस अवश्य नही मिलता। शोक नाममात्र के लिए कहा जा सकता है। यही नही, अनुभाव और संचारी भावो की भी उचित संयोजना प्रस्तुत काव्य में हुई है। उदाहरण के लिए—भविष्यदत्त उस तिलकपुर मे चन्द्रप्रभ के मन्दिर में पूजन करने के वाद वही वाहर आ कर सो जाता है। जव जागता है और दीवाल पर लिखे अक्षरो को पढता है तो विस्मय से भर जाता है। उसके मन में तरह-तरह की शकाएँ उठती हैं कि प्रच्छन्न रूप मे कपट से मुझे कोई मन्दिर से वाहर तो नही निकालना चाहता है अथवा इन विकल्पो से क्या, बिना मरे कोई अपने मनोरथ पूरे नही कर सकता है। एक साथ कई सचारी भावो को कवि ने इन पंक्तियो में व्यजित किया है—

मुहि करयलु देवि परिचिंतइ विंभयभरिउ।
इउ काइं विहाणु असउ वा असंभउ अच्छरिउ॥
अहिणउ लिहिउ एउ विणु भतिए दीसइ पडिउ चुण्णु तलि भित्तिए।
किं पच्छण्णु कोवि वेयारइ कवडिं जिणभवणहु णोसारइ।
अहवइ एण काइ सुवियप्पिं मरणु विणाहिं अपूरिं मप्पि। (५, ६-७)

भविष्यदत्त के मन मे यहाँ एक साथ क्रम से चिन्ता, विस्मय, शंका, तर्क, भय और आवेग सचरण करते हुए लक्षित होते हैं। साथ ही शोक को सूचित करने वाला अनुभाव (मुख पर हथेली रख कर चिन्ता में डूबना) का चित्र भी कवि ने अभिव्यजित किया है। इसी प्रकार अन्य स्थलो पर क्रमश कई संचारी भावो की अभिव्यजना हुई है। एक चित्र देखिए—

त णिययकुडुवु सुमरिवि अगइं हल्लियइ।
हुअ गग्गिरवाय णयणइं अंसुजलुल्लियइ॥ (५, १२)

अर्थात् सुन्दरी भविष्यानुरूपा भविष्यदत्त को अपने परिवार के सम्बन्ध मे कहती हुई अपने कुटुम्ब का स्मरण कर काँपने लगी। उसकी वाणी गद्गद हो गयी और आँखो में आँसू छलछला आये। इन पंक्तियो में स्मृति और स्नेह के साथ ही कम्प, स्वरभग, अश्रु और स्तम्भ आदि अनुभाव भी स्वाभाविक रूप में अभिव्यजित हैं। यद्यपि शृंगार के दोनो पक्षो का चित्रण काव्य में किया गया है, पर जायसी तथा सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता एव गम्भीरता नही मिलती। कम-से-कम शब्दो मे कवि ने मार्मिक भावनाओ की व्यंजना की है। इसी प्रकार सभोग-वर्णन में स्तम्भ, रोमाच, स्वेद आदि अनुभाव नही मिलते। यद्यपि रचना में काम-क्रीडा का वर्णन है, पर हाव-विधान भी लक्षित नही होता। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्यशृंगार प्रधान न बना कर शान्त रस को अंगी मान कर रचना करना था।

संवाद-योजना—

आलोच्यमान कथाकाव्य मे संवादपूर्ण कई स्थल दृष्टिगोचर होते हैं, जिन से काव्य का चमत्कार बढ गया है और कथानक में स्वाभाविक रूप से गतिशीलता आ गयी है। मुख्य रूप से निम्नलिखित सवाद इस कथाकाव्य में द्रष्टव्य है—प्रवास करते समय पुत्र भविष्यदत्त और माता कमलश्री का वार्तालाप, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा का संवाद, भविष्यानुरूपा-भविष्यदत्त-संवाद, राक्षस-भविष्यदत्त-सवाद, भविष्यदत्त-बन्धुदत्त-संवाद, कमलश्री-भविष्यदत्त-संवाद, राजा भूपाल-भविष्यदत्त-सवाद, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा-संवाद, कमलश्री-मुनि-सवाद, कमलश्री-धनवइ-सवाद, बन्धुदत्त-सरूपा-सवाद और मनोवेग विद्याधर-भविष्यदत्त तथा मुनिवर-सवाद आदि।

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य की भाँति इस रचना में संवादो की प्रचुरता है। छोटे-छोटे कई संवाद यथास्थान नियोजित हैं। इन सवादो में नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्चातुर्य, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावो का प्रदर्शन एव यथास्थान व्यग्य का समावेश हुआ है। अतएव जहाँ सवादो के सहारे कथानक आगे बढता हुआ जान पडता है वही वातावरण तथा दृश्य का पूर्ण चित्र आँखो के सामने घूमने लगता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त को जब पता लगता है कि बन्धुदत्त वाणिज्य के लिए विदेश जा रहा है तब वह भी हर्ष से भर कर माता के पास जाता है और भाई के साथ जाने के लिए आज्ञा चाहता है। किन्तु भविष्यदत्त के वचनो को सुन कर माता की आँखें गीली हो जाती हैं, वाणी अटपटाने लगती है। वह कहती है—

हा हउ पुत्त काइ तइ जंपिउ सिविणतरि वि णाहि महु जपिउ।
एक्कु अकारणि कुवियवियप्पि दिण्णु अणतु दाहु तउ वप्पिं। (३,१०)
... .

विहि पडिकूलु अम्ह पडिसक्कइ अत्यह छेउ सहिवि को सक्कइ।
एक्क दव्विअहिलासि त्रिचित्तइं को जाणइ दाइयइ चरित्तइं।
जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ बन्धुअत्तु खलवयर्णाहि वासइ।
तो तउ करइ अमगलु जतहो मूलु वि जाइ लाहु चिततहो। (३,११)

भविष्यदत्त कहता है—

भविसयत्तु विहसेविणु जपइ तुम्हह भीरत्तणि ण समप्पइ।
अइयारिं वामोहु ण किज्जइ समवयजणि पोढत्तणु हिज्जइ। (३,१२)

इस प्रकार उक्त सवादो को भली भाँति देखने पर कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, ये संवाद बहुत बडे-बडे हैं। किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य है कि माता कमलश्री और पुत्र भविष्यदत्त के बीच होने वाले वार्तालाप ही अधिक बडे हैं, अन्य नही। दूसरे, माता कमलश्री इन सवादो में पुत्र को समझाती हुई सीख देती है। तीसरे, पात्र-

गत मनोवैज्ञानिक चरित्रो का पता हमें संवादो में मिलता है। चौथे, ये नाटकीयता से पूर्ण है। सवादों में प्रवाह एवं क्षिप्रता है। पुत्र विनयपूर्वक माता को प्रणाम कर निवेदन करता है। इसी प्रकार माता अपनी ममता को उँडेल कर हाव-भावो का प्रदर्शन करती है। अतएव वातावरण और दृश्यो के वीच संयम एवं शिष्टाचार का पालन दिखाई पड़ता है। कही-कही सवादो में माधुर्य स्पष्ट रूप से लक्षित है। यथा—

तं णिसुणिवि णिसायरु झविकउ परिचिंतइ मणेण आसंकिउ।
णउ सामण्णु कोवि णरु दीसइ जो महु समुहुं भडत्तणु दरिसइ।
इउ विरसु रसंतु मइं संघारिउ सयलु पुरु।
पडिवयणसमत्थु एहउ कोवि ण दिट्ठु णरु ॥ (५,१८)

इस प्रकार संवादो में कसावट, सरसता तथा मधुरता परिलक्षित होती है।

वस्तुत संवादो की सब से बडी विशेषता सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता कही जा सकती है। आलोच्यमान कथाकाव्य में उक्त गुणो का उचित सन्निवेश हुआ है। संवादो में वातावरण के वीच चित्रो का अभिनिवेश वस्तु को सौन्दर्य से जगमगा देता है। और यही कारण है कि पात्रो की मनोवैज्ञानिकता एवं सजीवता सवादो के वीच में से झाँकती हुई जान पड़ती है। उदाहरण के लिए—

णाह तइउ मइ णउ परियच्छिउ इत्तिउ कालु कहिमि णउ पुच्छिउ।
थिय चिंतति सुरउ वंच्छेव्वइं अवसरु कहिमि ण हुउ पुच्छेव्वइं।
कवणु देसु जहि तुहु उप्पण्णउ कवणु णयरु सुरसिरि सपुण्णउं।
राणउ कवणु तित्थु दिहिगारउ कवणु जणणि पिउ कवणु तुहारउ।
त णिसुणिवि तेण णियसहएसुवि संभरिउ।
जलु णयणिहिं मुक्कु हियवउ कलुणसरहो भरिउ ॥
सो णिय जम्मभूमि सुमरंतउ णिय जणेरि वच्छल्लु सरंतउ।
परिचिंतइ परिवट्टिय सोइं काइं एण महु तणइ विहोइं। (६,११-१२)

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि अधिकतर संवाद वडे-वडे हैं। अतएव अभिनेय की दृष्टि से उन्हें महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता। हाँ, संवादो के माध्यम से पात्रो के चरित्रो-पर विशेष रूप से प्रकाश पडता है। उक्त उदाहरण में भविष्यदत्त अपनी पत्नी की वातो को सुन कर जन्म-भूमि और माता का स्मरण करता हुआ माँ के वात्सल्य को तथा अन्य चारित्रिक गुणो को प्रकाशित करता है। भविष्यदत्त कहता है—

धणवइ णाउं जणणु अम्हारउ णरवरिंद परिवारपियारउ।
मायरि कमल सुअण दिहिगारी हरिवलदुहिय सासु तुम्हारी।
सइ चारित्तसील संपुण्णी लच्छिहि तणइं अगि उप्पण्णी।
अण्णु वि वंधुअत्तु महु दाइउ तेण समाणु वणिज्जिं आइउ। (६,१३)

स्पष्ट ही भविसयत्तकहा में संवाद सजीव, सरल और स्वाभाविक हैं। भाषा भी सवादो के अनुकूल प्रसाद एव मधुर है। अतएव रगमच की उपयोगिता को छोड कर सभी बातो में—उक्त काव्य के संवाद सफल है। और इस बात का सब से बडा प्रमाण यही जान पडता है कि उन में भापा की चुस्ती तथा संवाद की स्वाभाविकता है। सवाद में स्वाभाविकता का होना उस का प्रथम तथा अनिवार्य गुण है। इस प्रकार भविसयत्तकहा के सवाद काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पडे है।

शैली—अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की भाँति इस कथाकाव्य मे 'कडवकबन्ध' है, जो सामान्यतः दस से सोलह पक्तियो का है। कम-से-कम दस और अधिक से अधिक तीस पक्तियाँ एक कडवक में प्रयुक्त हैं। कड़वक पज्झट्टिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते है। कही-कही दुवई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी, जिस में प्रबन्ध और विपय की दृष्टि से अन्त्यानुप्रासमय छन्दोयोजना नियत पक्तियो में होती थी। साधारणतः एक कडवक में कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पक्तियाँ देखी जाती है। इसी प्रकार सोलह मात्राओ का एक पद कहा जाता है। किन्तु इस के सम्बन्ध में बिलकुल निश्चित मत नही दिया जा सकता है। क्योकि एक तो समूचे साहित्य का अनुशीलन नही हुआ है और दूसरे नियमो मे भी भेद दिखाई देता है। कविदर्पण में स्पष्ट कहा गया है कि सन्धि कड़वकबद्ध होती है, और कडवक पद्धडिया आदि चार प्रकार के छन्दो में रचा जाता है[१]। सन्धि के प्रारम्भ में तथा कडवक के अन्त में ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। ध्रुवा षट्पदी, चतुष्पदी, और द्विपदी के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। अतएव घत्ता एक सामान्य शब्द है, जो रचना-विशेप का बोधक है। यद्यपि घत्ता नाम का एक छन्द भी है, किन्तु सामान्यत किसी भी छन्द को 'घत्ता' कहा जा सकता है। सामान्यतया कड़वक के अन्त में दो पक्तियो के ही छन्द देखे जाते हैं। दोहा भी इस का अपवाद नही है। दोहा का प्रयोग अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यो मे कम दिखाई देता है। इस से यही जान पडता है कि प्रयोग शैली के विभिन्न रूप पहले से ही प्रचलित थे। महाकवि स्वयम्भू के "चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय" से भी इसी बात का सकेत मिलता है कि उन के पूर्व ही अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धडियाबन्ध में होती थी। परवर्ती कवियो मे यश कीर्ति ने 'हरिवशपुराण', वीरकवि ने 'वरागचरित', नयनन्दी ने 'सुदर्शनचरित', देवसेनगणि ने 'सुलोचनाचरित', हरिषेण ने 'धर्मपरीक्षा', अमरकीर्ति ने 'यशोधरचरित' और पुष्पदन्त ने 'महापुराण' पद्धडियाबन्ध में लिख कर अपभ्रंश की परम्परागत साहित्यिक

---

१ कडवयनिवहो सन्धी पद्धडियाईहिँ चउहिँ पुण कडव।
सन्धिमुहे कडअन्ते ध्रुवा च ध्रुवय च घत्ता वा॥
'मयणपराजयचरिउ' की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ६७

बन्धरचना का पालन किया है[1]। भगवतीदास ने 'मृगाकलेखाचरित्र' में गाथाओ का प्रयोग प्राकृत में, पद्धडिया का अपभ्रंश में और दोहा, सोरठा का हिन्दी में किया है[2]। इस से अपभ्रश के साथ पद्धड़िया छन्द के विशेष सम्बन्ध का पता लगता है। वस्तुतः प्रयोग-शैली के भेद से तीन रूप दिखाई देते हैं—पद्धडियाबन्ध, छड्डणिया या रासाबन्ध और दोहाबन्ध। पद्धडिया के कई भेदो का पता मिलता है। नयनन्दी ने 'सुदर्शन-चरित्र' में रयणमाल, चित्तलेह, चंदलेह, पारदिया, रयडा आदि पद्धडिया के भेदो का प्रयोग किया है[3]। अधिकतर दोहा छन्द मुक्तकबन्ध में प्रयुक्त है। यद्यपि पद्मकीर्ति, रयधू आदि ने अपने प्रबन्धकाव्यो में दोहा का प्रयोग किया है, पर वह परवर्ती विकास है। प्रारम्भिक युग के प्रबन्धकाव्यो में दोहा नही मिलता। फिर, मुक्तकबन्ध के लिए दोहा अत्यन्त उपयुक्त छन्द है। प्राकृत में गाथा, सस्कृत में दोधक और हिन्दी मे दोहा मुख्य रूप से मुक्तक काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।

आलोच्यमान काव्य में मुख्य रूप से पद्धड़िया छन्द प्रयुक्त है। निश्चय ही यह कथाकाव्य पद्धड़िया शैली में लिखा गया है, जो प्रबन्धकाव्य की सर्वाधिक प्रचलित शैली रही है। साधारणतया एक सन्धि में पन्द्रह से लेकर तीस कडवक तक देखे जाते हैं। किन्तु इस में ग्यारह से लेकर छब्बीस कडवक तक एक सन्धि में निबद्ध है। कड़वक के अन्त में घत्ता देने का नियम व्यापक था। घत्ता मे प्रायः दोहे के आकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। क्योकि यह एक शैली थी कि पहले दोहे का आकार का कोई छन्द हो फिर उस से बडा या भिन्न छन्द-रचना हो और कड़वक के अन्त में पहले जैसा या वही छन्द हो। इससे बन्ध-रचना में सुन्दरता तो आ ही जाती है, पर विषय और भावो की अभिव्यक्ति में भी तारतम्य का निर्वाह करने वाली शैली बँध-सी जाती है। कड़वक के अन्त में जिस छन्द का प्रयोग किया गया है—(दोहे के या भिन्न आकार के) उस की सामान्य संज्ञा 'घत्ता' है। किन्तु कडवक के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले छन्द की कोई सामान्य जाति नही कही गयी है। सम्भव है कि यह परवर्ती विकास हो और पहले के लिखे हुए प्रबन्ध काव्यो में उस का प्रयोग न हुआ हो। इस कथाकाव्य में सन्धि के आरम्भ में ही प्राय कड़वक के पूर्व दोहा के आकार का छन्द देखा जाता है, जिन में या तो जिन-वन्दना है अथवा सन्धि में वर्णित कथा का सार है। (५, १)

---

१ पद्धडिया छंदें सुमणोहरु भवियण जणमण सवण सहकरु। हरिवंशपुराण, १३, ११।
वहु भावहिं जे वरगचरिउ, पद्धडियाबन्धें उद्धरिउ। जम्बुस्वामीचरित, १ ४।
णियसत्तिए त विरएमि कव्वु, पद्धडियाबन्धें ज अडव्वु। सुदर्शनचरित, १, २।
ज गाहाबन्धे आसिउत्तु, सिरिकुन्दकुन्दगणिणा णिरुत्तु।
त एमहिं पद्धडियहिं करेमि, वरि किंपि ण गूढउ अत्थु देमि॥ सुलोचनाचरित्र, १, ६।
जा जयरामें आसि, विरइय गाहपबन्धे।
साहमि धम्मपरिक्ख, सा पद्धडियाबन्धे॥ धर्मपरीक्षा, १, १।
तीयउ चरित्तु जसहरणिवासु, पद्धडियाबन्धे किउ पयासु। षट्कर्मोपदेश, १, ७।
२ डॉ० हरिवंश कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २४५।
३ वही, पृ० १७४।

प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की वन्दना से यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त के विधान को कवि ने मान्यता दी है। (७, १) अतएव अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो में प्रयुक्त वन्ध-शैली सार्थवती है, जो विविध प्रयोजनो से भरित तथा कथानुवन्ध से समन्वित है। शैली का यही रूप आलोच्यमान कृति में द्रष्टव्य है।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है, पर उस में लोकभाषा का पूरा पुट है। इस लिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग है वही लोक-जीवन की सामान्य वातो का विवरण घरेलू वातावरण में वर्णित है। उदाहरण के लिए—सजातीय लोगो की जेवनार में षट् रसो वाले विभिन्न व्यंजनो के नामो का उल्लेख है, जिन में घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, माँडा, भात, कचरिया, पापड आदि मुख्य है।

गुणाधारिया लड्डुवा खीरखज्जा कसारं सुसारं सुहाली मणोज्जा।
पुणो कच्चरा पप्पडा दिण्ण भेया जयंताण को वण्णए दिव्व तेया। (१२,३)

डॉ० एच० जेकोवी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है, जो उत्तर प्रदेश की है।[१] यद्यपि शास्त्रीय भाषा में 'भविष्यदत्त कथा' की गणना नही की जा सकती, पर उस पर शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धनपाल की भाषा साहित्यिक भाषा है। केवल लोक-बोली का पुट या उस के शब्द-रूपो की प्रचुरता होने से हम उसे उस युग को बोली जाने वाली भाषा नही मान सकते। क्योकि प्रत्येक रचना में बोल-चाल के कुछ शब्दो का आ जाना स्वाभाविक है। इस का विचार भाषा की बनावट को ध्यान में रख कर किया जा सकता है कि वह बोली है या भाषा? धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और सस्कृत के शब्दो के प्रति झुकाव है उस से यही सिद्ध होता है कि उन की भाषा बोलचाल की न हो कर साहित्य की है। इस का एक कारण यह भी है कि धनपाल की रचना से मिलती-जुलती भाषा परवर्ती रचनाओ में हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यही नही, अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर की रचना धनपाल से डेढ सौ वर्ष पूर्व की है, जिस की भाषा धनपाल की रचना से सरल एव स्वाभाविक है। उसे हम बोलचाल की भाषा कह सकते हैं—यद्यपि उस को भाषा भी सहज रूप में बोलचाल की नही है; किन्तु धनपाल की भाषा बोलचाल की नही है। उदाहरण के लिए—

किउ अब्भुत्थाणु णराहिवेण अहिणउ पाहुडु अल्लविउ तेण। (१३,२)
(कृत अभ्युत्थान नराधिपेन अभिनव प्राभृत अर्पितं तेन)

---

१ डॉ० एच० जेकोबी फ्रॉम द इण्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० घोसाल, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बडौदा, द्वितीय खण्ड, अक सख्या ३, मार्च १९५३, पृ० २३९।

इन पक्तियो पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न कई स्थलो पर लक्षित होता है। यथा—

पुणु वि जक्खकद्दमिण पसाहिउ तिलउ। (प्रसाधित) (९,१६)

परिगलिय रयणि पयडिय विहाणु। (प्रकटित) (४, ५)

(अत्रान्तरे) एत्यंतरि कुमारु कीलतउ लीलइ णियमदिरि संपत्तउ। (सम्प्राप्त) (२,११)

रयणाहरण विहूसिय कंठि वेलासिरिव उयहिं उवकंठि। (५,९)

(रत्नाभरणविभूषितकण्ठं वेलाश्रीरिव उद्गतं उपकण्ठं)।

भविष्यदत्तकथा की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश है, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक साहित्य की भाषा रही है और जिस में उत्तर, पश्चिम तथा मध्यदेश का एक चौथाई साहित्य लिखा मिलता है। डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओ का निर्देश किया है वे भविसयत्तकहा में भली भाँति दृष्टिगोचर होती हैं।[1] आलोच्यमान काव्य की भाषा भले ही आदर्श भाषा न हो, पर परिनिष्ठित अपभ्रश अवश्य है, जिस के लक्षण हमें आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में मिलते हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि कवि धनपाल की प्रयुक्त भाषा साहित्यिक है; किन्तु बोलचाल की भाषा का पुट दिया हुआ है। डॉ० जेकोबी ने आ० हेमचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट जिस ग्राम्य अपभ्रंश का कथन किया है वह साहित्यिक एवं शास्त्रीय-अपभ्रंश से कुछ बातो में समानता रखती है। इसलिए जिस पुल्लिग 'हो' एकवचन प्रत्यय के कारण भविसयत्तकहा की भाषा को ग्राम्य कहा गया है वह उचित नही है। क्योकि उसी में 'हु' के प्रयोग विरल नही है। किन्तु डॉ० जेकोबी का कथन है कि 'हु' और 'हि' 'हो' के बदले लिखे जाते थे[2]। परन्तु तथ्य यह है कि—दोनो ही रूप अन्य साहित्यिक रचनाओ में मिलते हैं। लाखू कृत 'जिनदत्त-चरित्र' शुद्ध साहित्यिक रचना है, किन्तु उस में भी दोनो रूप देखे जाते है। फिर, प्राकृत के वैयाकरणो ने शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत जिस अपभ्रंश का निर्देश किया है वे लक्षण भविसयत्तकहा में मिलते है। उदाहरण के लिए—'प' को 'व' हो जाना (कमलवावि < कमलवापिका), 'स' को 'ह' (दह, णियसह < निश्वास) 'य' को 'ज' (जसोहण < यशोधन); श और ष को 'स' (कसण, विसाउ); 'म' को 'ह' (अलोहु, अहिमाणु, अहिसिंचिय); 'ख' को 'ह' (सुह, साहा), 'थ' को 'ह' (णाह) हो जाना इत्यादि।

वस्तुत भाषागत प्रवृत्तियो के विभिन्न शब्द-रूप भविसयत्तकहा में दिखाई देते हैं, पर काव्य-रचना का झुकाव परिनिष्ठित अपभ्रंश की ओर ही है, जिस का विधान हमें आ० हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में प्राप्त होता है। इस से यह भी स्पष्ट है कि धनपाल

---

१ डॉ० गजानन वासुदेव तगारे हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रश, पूना, १९४८, पृ० २९०।

२ डॉ० एच० जेकोबी 'इन्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिटयूट, बडौदा, खण्ड २, ३, पृ० २४०।

की भाषा उत्तरकालिक अपभ्रंश है, जिस में भाषागत परिवर्तन के रूप स्पष्ट हो चले थे। इसीलिए हमें 'हु' और 'हो' दोनों रूप मिलते हैं। किन्तु प्राधान्य 'हु' का है। यथा—

मामहु मंदिरि जणु संभासिवि पणविवि किउ संकेउ समासिवि ॥ (९,१०)
तथा— रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ किं अवइ आमलउ णिवज्झइ ॥ (२,३)
एवं— तुहु परिपुण्णु अहिट्ठिय दव्वि पहु सम्माण दाण गुण गव्वि । (३,१४)

इस प्रकार जहाँ 'हु' दिखाई देता है वह या तो भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के कारण है अथवा विभक्ति के विनिमय या विकल्प से। और जहाँ 'हो' है वह विभक्ति के कारण। उदाहरण के लिए—

एहु महंतु पुत्तु तउ वप्पहो सामिउ धणहो पउर माहप्पहो ।
सहु जणणिय गेहहु णीसारिउ अच्छइ कढकढंतु मणि खारिउ । (३, १५)

यहाँ पर 'वप्पहो', 'धणहो', 'माहप्पहो' शब्द स्पष्टत षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं। 'गेहहु' शब्द पंचमी का एकवचन है। तथा एहु, सहु प्रथमा विभक्ति एकवचन के तद्भव होने से भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के सूचक है। अतएव 'हु' और 'हो' को भाषा का निर्णायक मान लेना उचित नही जान पडता।

अलकार-योजना

प्रवन्ध काव्य में अलंकार-योजना का भी विशेष स्थान है। भावो की स्फुट अभिव्यक्ति और वस्तु के उत्कर्ष एवं प्रतीयमान चित्र या विम्ब को अभिव्यंजित करने के लिए अलंकार-योजना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी प्रतीत होती है। यदि कल्पना भावों को जगाती है तो अलकार उसे साँचा या रूप प्रदान करता है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने प्रवन्ध काव्य में अलंकार-विधान की अनिवार्यता का निर्देश किया है। किन्तु अलंकारो के चमत्कार के पीछे काव्य को चमत्कृत वनाने का प्रयोजन उचित नही है। क्योकि अलंकार भावो के पीछे वैसे ही चलते दिखाई देते हैं जैसे कि दिये के पीछे अँधेरा। वास्तव में सीधी-सादी वात में आकर्षण कम दिखाई पडता है। अलकार-योजना से उस का चमत्कार वढ जाता है। इसीलिए काव्य में उस का महत्त्व है। अलकारो की कई कोटियाँ हैं। सामान्यतः मुख्य दो कोटियाँ कही जाती हैं— साधर्म्य या औपम्यमूलक और विरोधमूलक। साधर्म्यमूलक अलंकार हैं—उपमा, परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति। इन में से उपमा को छोड कर शेष अलंकारो में औपम्य गम्यमान होता है, इसलिए उन्हें औपम्यमूलक भी कहते हैं। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारो की ही मुख्यता है। यदि सच पूछा जाय तो अलंकारो की कोई इयत्ता नही। वात कहने के जितने ढंग हो सकते हैं उतने ही अलंकार। फिर भी सादृश्य, साधर्म्य, वैधर्म्य, विरोध, हेतु, लोक-व्यवहार,

वाक्यरचना, तर्क आदि के भेद से अलंकारो को अनेक श्रेणियाँ मानी जाती हैं। परन्तु यह कहा जा सकता है कि उपमा सब से प्रधान अलंकार है, और कदाचित् अलंकारो के विकास के मूल में यही अलंकार रहा होगा। वस्तुत' विद्वानों के चित्त को अनुरंजन करने वाली स्फुट प्रतीयमान कोई वस्तु नही होती, किन्तु अन्य के द्वारा प्रतीयमान होने पर हम उसी रूप में उसे ग्रहण करते है। और इसलिए औपम्य के तीन रूप देखे जाते है—भेद, अभेद और उभयनिष्ठ।

भारतीय साहित्य में ऐसा कोई काव्य न होगा जिस में उपमा अलकार का प्रयोग न हुआ हो। इस से जहाँ उपमा की व्यापकता का पता चलता है वही उस की प्राचीनता का बोध होता है। ऐसे अलकार के प्रयोग में कवि का कौशल और औचित्य द्रष्टव्य होता है। महाकवि कालिदास की उपमाओ की सुघरता इसी में है कि वे साधर्म्य-योजना की सटीकता के साथ स्फीत विम्व प्रदान करती हैं—अभिव्यंजित करती हैं। साधर्म्य-योजना जाति, गुण, क्रिया और स्वभाव के आधार पर की जाती है। वह कही पर गम्यमान होती है और कही पर प्रतीयमान।

सादृश्यमूलक अलंकारो में उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मुख्यता से इस काव्य में देखा जाता है। उपमा के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। वह केवल सादृश्य योजक समान धर्म की प्रकाशिका न हो कर वस्तु के मूर्त और अमूर्त भाव मे भी साम्य प्रदर्शिका है। यथा—

तेण वि दिट्ठु कुमारु अकायरु वडवाणलिण णाइ रयणायरु। (५,१८)

अर्थात् उस राक्षस ने भविष्यदत्त को वैसा ही अकायर देखा जैसे समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि (वडवानल) होती है। यहाँ केवल धर्म साम्य ही नही है, अपितु वस्तु, स्वभाव, गुण और क्रिया-साम्य भी है। ऐसी उपमा वहुत कम मिलती है। अव प्रकृति-वर्णन में मानवीय रूपो तथा भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति का चित्र देखिए—

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु।
आसीविसोव्व विसविसमसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु।
दिट्ठइ विउलइ वेलाउलाइं कयविक्कयरयवयणाउलाइं। (३,२२)

अर्थात् उन्हो ने जल से भरे हुए गहरे समुद्र को स्थिर, गम्भीर और धीर पुरुष की भाँति देखा। उस विशाल तट पर किलोलें करने वाली लहरें साँप के समान थी। शब्दायमान समुद्र-तट उस हाट की भाँति था, जो रत्नो की खरीद और वेंच करने वालो से शब्द-संकुल होता है।

उक्त पंक्तियो में मूर्त की उपमा अमूर्त से होने के साथ साँप और समुद्र की लहरो की क्रिया में अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। ऐसी उपमाओ से भरित कई स्थल आलोच्यमान कथाकाव्य में हैं, जिन में कवि की प्रतिभा परिलक्षित होती है। किन्तु उपमाओ से अधिक उत्प्रेक्षाएँ काव्य में प्रयुक्त हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि धनपाल उत्प्रेक्षा के कवि है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा में कवि की कल्पना को अधिक स्वातन्त्र्य और

विकसितरूप से स्फुट भाव-भूमि मिलती है, जिस में कोई रोक-टोक नही होती। जहाँ वह कल्पना को जगाने में सहायक होती है वही भावो की उन्मुक्त अभिव्यंजना के लिए स्पष्ट एव स्फीत विम्व सामने लाती है। यही उत्प्रेक्षा का माहात्म्य है। और फिर जिस प्रकार भाषा में स्वार्थिक प्रत्यय नये शब्दो को गढने और अन्य भाषाओ से ग्रहण करने के लिए प्रवेश-द्वार के समान है वैसे ही उत्प्रेक्षा नये-नये उपमानो को साहित्य में पुरस्कृत करने के लिए खिड़की की भांति है। वाच्यमान और प्रतीयमान के भेद से कई प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ देखी जाती है। प्रस्तुत काव्य में भी उस की मूल विशेषता निहित है। प्रायः सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ इस में दिखाई देती है। उन के विस्तार में न जा कर केवल दो-चार उदाहरणो के नमूने प्रस्तुत करना पर्याप्त है।

कवि की कल्पना है कि रात काली इसलिए हो गयी कि सौत-की डाह से मानो श्री ने पथिको के ऊपर खप्पर में भर कर स्याही उडेल दी हो। (४, ५) यहाँ असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है। क्योकि सन्ध्या के वाद रात का आ जाना और कालिमा का फैल जाना स्वाभाविक है, पर सौत की डाह से स्याही का उडेलना कारण वता कर उत्प्रेक्षा की गयी है, जो वस्तुतः कारण नही है। कवि की कल्पना स्वाभाविक और नवीन जान पडती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण है—

पारिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु ण पुणु वि गवेसिउ आउ भाणु (४, ५)

रात बीत गयी। सवेरा हो गया। कवि कहता है कि यह सूरज आज फिर इसलिए निकल आया है कि कल इसका कुछ खो गया था, जिसे ढूंढने के लिए आया है। कुछ परम्परित उत्प्रेक्षाएँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह सव को आश्चर्य में डालने वाला गजपुर नाम का नगर क्या था, मानो धरती पर आकाश से उतर कर आया हुआ स्वर्ग का एक खण्ड था।

तहि गयउरु णाउं पट्टणु जणजणियच्छरिउ।
ण गयणु मुएवि सग्गखण्डु महि अवयरिउ॥ (१, ५)

यह कल्पना वाल्मीकिरामायण, स्वयम्भू के हरिवंश पुराण, पुष्पदन्त के महापुराण, यशोधरचरित, कालिदास के मेघदूत, धाहिल के पद्मसिरीचरित, नरसेन के सिद्धचक्रकथा आदि छोटे-वडे कई काव्यों में मिलती है। वास्तव में धनपाल की कुछ कल्पनाएँ निराली हैं। कवि कहता है कि थोडो दूर पर भविष्यदत्त ने एक पुरानी पगडडी देखी, जो जैनधर्म की पुरानी पुस्तक ही जान पडती थी।

थोवतरि दिट्ठु पुराण पंथु भविएण वि ण जिणसमयगथु। (४, ५)

इसी प्रकार भविष्यदत्त उस नगरी के भवनो के अधखुले गवाक्षों को देखता हुआ कहता है कि वे मानो नयी वहू के आधी आँखो की कोरो से देखे जाते हुए नयन-कटाक्ष हो।

पिक्खइ मंदिराइ फलअद्धुग्घाडिय जालगवक्खइ।
अद्धपलोइ राइ णं णववहुणयणकडक्खय॥ (४, ८)

सचमुच कवि की कल्पना यहाँ अत्यन्त उर्वर और अनुभूतिपूर्ण प्रतीत होती है। समूचा काव्य ऐसी कल्पनाओ से भरा हुआ है, जो लोक-जीवन के उपमानो की सजीवता सहेजे हुए है। इनमें अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति दोनो मे ही नवीनता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए उसने स्वच्छ वापी जल से तथा कमलो से लबालब भरी हुई देखी। इस बात को कवि अपने ढग से इस प्रकार कहता है कि आगे चल कर उसे कमलो से भरी हुई वापी ऐसी दिखाई दी मानो किसी कामिनी के छाया युक्त पयोधर हो।

अग्गइ कमला वावि सुमणोहर ण कामिणि सच्छाय पओहर। (४, १२)

यहां कितना सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत हुआ है। 'पयोधर' में श्लेष भी है। स्वरूपोत्प्रेक्षा इन पक्तियो में स्पष्ट ही गम्यमान है। कवि ने एक-एक वस्तु की सुन्दर से सुन्दर उत्प्रेक्षा कर भावो का बिम्बार्थ ग्रहण कराया है। ये उक्तियाँ निश्चय ही काव्य की शोभा विधायक तथा भावो की बिम्ब-योजना मे शक्ति समन्वित है। अन्य अलंकारो के उदाहरण इस प्रकार है—

(१) हट्टमग्गु कुलसील णिउत्तहिं सोह ण देइ रहिउ वणिउत्तहिं[1]। (विनोक्ति)

(२) रुक्खहु णामि फलु सवज्झइ किं अबइ आमलउ णिवज्झइ[2]। (वैधर्म्य दृष्टान्त)

(३) जो भक्खइ मंसु तासु कहिमि किं होइ दय[3]। (काव्यलिंग)

(४) जिम-जिम ताहि आस णउ पूरइ तिम-तिम पणइणि हियइ विसूरइ[4]। (विशेपोक्ति)

(५) असिरिव सिरिवत्त सजल वरग वरगणवि।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह निरजणवि[5]॥ (विरोधाभास)

(६) तो तउ करइ अमगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिततहो[6]। (लोकोक्ति)

(७) कलि-तरुवरहो मूलु छिंदिज्जइ[7]। (रूपक)

(८) किउ अपमाणु णिउत्तु मुहुल्लउ अहरउ णावइ दाडिमहुल्लउ[8]। (व्यतिरेक)

(९) जोव्वणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पडियउ।
चलमम्मणवयणुल्लावएहिं जो परतियहिं ण खडियउ[9]॥ (अर्थान्तरन्यास)

---

१ कुल-शील में नियुक्त होने पर भी बिना वणिक्पुत्रों के वहाँ के हाट-मार्ग शोभित नहीं हो रहे थे।

२ वृक्ष के नाम के अनुसार फल लगते हैं। क्या आम का फल आमले के पेड में लगता है?

३ जो मांस खाता है उसके दया कहाँ से हो सकती है?

४ वह प्रणयिनी जैसे-जैसे प्रियतम की आशाओं, अभिलाषाओं को पूर्ण करती थी वैसे ही उसे सन्ताप उत्पन्न होता था, हृदय विसूरता था।

५ वह निर्धन होने पर भी श्रीमती थी। करुणापूर्ण श्रेष्ठ स्त्री होकर भी वरांगना (वेश्या) नही थी। मुग्धा नायिका होने पर भी विचारशील थी। आँखो में बिना अजन लगाये आकर्षक एव मोहने वाली थी।

६ विघ्नों के रहते हुए जो तप करता है वह लाभ की आशा में मूल भी छोडता है।

७ कलह रूपी वृक्ष की जड़ भी नष्ट कर देना चाहिए।

८ मुख से संलग्न अधर (निचले ओंठ) ने अनार के फूल को नीचा दिखा कर उसका अपमान किया।

९ यौवनकालीन विकार रस के प्रसरित होने पर तथा चचल मार्मिक वचनों के आलाप होने पर जो डिगते नहीं वे ही विद्वान् तथा पण्डित है।

छन्द

भाषा, शैली और अलंकारो की भाँति अपभ्रंशो के छन्दो में भी देशीपन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपभ्रंश के काव्यो में मुख्यत मात्रिक छन्दो का प्रयोग हुआ है। मात्रिक-रचना परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की निजी विशेषता है। क्योकि वैदिक वृत्त वर्णमय हैं। पद में वर्ण और स्वर मुख्य होते हैं। यदि हम पद को अक्षरमय मानें तो वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द हैं—गायत्री अनुष्टुभ्, जगती, त्रिष्टुभ्, पक्ति, वृहती और उष्णिक्। इन वैदिक वृत्तो की विशेषता अक्षरपरिमाण में निहित है। मात्रिक छन्दो का प्रयोग परवर्ती विकास है। जिसमें नियत वर्णो का समावेश होता है उसे वृत्त कहते है। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य जाति कहा जाता है। प्राचीनो के अनुसार पद्य के दो भेद हैं—वृत्त और जाति[1]। काव्य-परम्परा के उत्तरवर्ती काल में मात्रा तथा अक्षरो की नियत संख्या से सामान्य रूप का ही बोध होने लगा था इसलिए उसे छन्द नाम से अभिहित किया जाने लगा। छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनो प्रकार के छन्द-रूपो का वाचक है। प्रारम्भिक काव्यो में गणवृत्त नही थे। उनमें मात्रिक और अक्षर वृत्त ही प्रयुक्त होते थे। किन्तु परवर्ती संस्कृत-साहित्य मे पाद-रचना गण के आधार पर की जाने लगी थी। गण तीन वर्णो से बनता है। सस्कृत के काव्यो में गण-वृत्तो का भलीभाँति प्रचलन होने पर प्राकृत-काव्यो में भी उनका समावेश होने लगा। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति साहित्यिक रूढियो के साथ ही प्राकृत से आयी जान पडती है।

अल्सडोर्फ ने वृत्तो के दो भेदो का निरूपण किया है—गणवृत्त और मात्रिक[2]। किन्तु स्पष्ट रूप से हमें छन्दो के तीन भेद दिखाई देते हैं—अक्षरवृत्त, गणवृत्त और मात्रिकवृत्त, लौकिक छन्दो के भी ये तीन भेद कहे गये हैं[3]। कहा जाता है कि लौकिक छन्दो की उत्पत्ति वैदिक वृत्तो से हुई है, परन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि वृत्त तथा जाति-बन्धो से हट कर समय-समय पर नवीन बन्ध एव छन्दो की रचना साहित्य में होती रही है। कुछ ऐसे छन्दो का पता चला है जो लय तथा राग-रागनियो के अनुकूल ढल कर लोक-बोलियो में सगीत और भावों की सृष्टि करते है[4]। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय साहित्य का विशेष महत्त्व है।

इस कथाकाव्य में निम्न-लिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त है[5]—

---

१ पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसख्यात जातिर्मात्राकृता भवेत्॥ नारायण।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति त्रिधा। —अग्निपुराण, ३३७।

२ अपभ्रंश स्टडियन, १९३७, पृ० ४६।

३ आदौ तावद्द गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्तत परम्।
तृतीयमक्षरछन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥—छन्द शास्त्र पृ० ४६।

४ देवेन्द्र कुमार जैन "प्राकृतछन्दकोश" हिन्दुस्तानी, भाग २२, अक ३-४, पृ० ४०-४६।

५ श्री दलाल और गुणे 'भविसयत्तकहा' की भूमिका, पृ० २८-३६।

पज्झटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहट्ठा, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवगम, कलहंस, गाथा, घत्ता, उल्लाला, अभिसारिका, विभ्रमविलासवदन, किन्नरमिथुनविलास, मर्कटिका, चामर, भुजगप्रयात, शखनारी, लक्ष्मीवर और मन्दार ।

पज्झटिका या पद्धड़ी

यद्यपि दोहा अपभ्रंश का औरस छन्द कहा जाता है, किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यो में स्वतन्त्र रूप मे इस के दर्शन नही होते । पद्धडिया छन्द अवश्य प्राय. सभी काव्यो में बन्ध रूप मे मिलता है । इस की प्राचीनता का उल्लेख भी है । स्वय स्वयम्भू ने स्वीकार किया है कि उन्होने पद्धडिया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया, जो छड्डणिया, दुवई और ध्रुवक से जडा हुआ है।[1] 'स्वयम्भूछन्द' में इन का विस्तृत विवेचन मिलता है । वस्तुत. पद्धडिया और घत्ता प्रयोग-शैली के छन्द है, जो बन्ध-रचना के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश-काव्यो में प्रयुक्त हुए हैं । पद्धडिया में चतुर्मात्र गण तथा चारो पद समान होते हैं । कुल चौंसठ मात्राएँ होती हैं । पूर्वार्द्ध मे या उत्तरार्द्ध में यमक होता है ।[2] किन्तु प्राकृतपैंगलम् में यमक का उल्लेख न हो कर प्रत्येक चरण के अन्त मे जगण की रचना आवश्यक कही गयी है । इस का उदाहरण है—

> किं करमि खोणविहवप्पहाइ णउ लहमि सोह सज्जण सहाइ ।
> अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोइ धणु सपय विणु पुण्णहिं ण होइ । (१,२)

यह पद्धडिया छन्द है । इस में चार चरण हैं । चारो में समान रूप से सोलह-सोलह मात्राएँ है । अन्त में जगण (मध्य गुरु) है ।

अडिल्ला

आ० स्वयम्भू ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से कडवको की बहुविध रचना होती है, जिन में पद्धडिया, छड्डुणि, घत्ता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है । उदाहरण के लिए, जिस कडवक में पद्धड़ी छन्द का प्रयोग होता है वह कडवक सामान्यत सोलह पक्तियो का होता है ।[3] किन्तु आलोच्यमान ग्रन्थ में इस नियम का पालन नही हुआ है । चार पद्धडिया और एक घत्ता के क्रम से आठ से सोलह तथा चौबीस पक्तियों तक की कडवक-रचना हुई है । अडिल्ला में भी सोलह मात्राएँ होती है । दोनो में अन्तर यह है कि अडिल्ला में कही भी जगण का प्रयोग नही होता है और दो पादो के अन्त में यमक तथा चरण के अन्त में दो लघु मात्राएँ होती हैं[4],

---

१ छड्डुणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय ।—हरिवंशपुराण, (१, २) ।

२ चत्वारि पादा षोडशमात्रा आद्यार्द्धे उत्तरार्द्धे च यमक । सन्देशरासक अवचूरिका । प्राकृतपैंगलम् १,१२५ । स्वयम्भूछन्द, ८,२० ।

३ पद्धडिआ पुण जेइ करेन्ति ते सोडह मत्तउ पउ धरेन्ति ।
बिहिं पअहिं जमउ ते णिम्मअन्ति कडवअ अट्ठहि जम अहिंरअन्ति ॥ वही (८,१५)

४ सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह वे वि जमक्का भेउ अडिल्लह ।
हो ण पओहर किंपि अडिल्लह अन्त सुपिअ भण छन्दु अडिल्लह ॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,१२७)

किन्तु पद्धडिया में यमक आवश्यक नही है; पर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण-रचना अनिवार्य है। इस का उदाहरण है—

अखलिउ सालंकारु सणेउरु पसरिउ पिंडवासु अतेउरु।
सीहवारु सीहासणछत्तइं एवमाइ अण्णइं मि विढत्तइं। (१३,१०)

इस प्रकार अपभ्रंश के छन्दो में हमे दो बातें विशेष रूप से दिखाई देती है। एक तो यह कि वन्ध-रचना के निमित्त उन का प्रयोग होता है और दूसरे अलकार-रचना छन्दो में गर्भित रहती है। यद्यपि सभी छन्दों में यह प्रवृत्ति नही दिखाई पडती है, किन्तु यह भी एक प्रवृत्ति है। सामान्यत जैसा कि पीछे कहा है कि एक कडवक मे आठ यमक या सोलह पक्तियाँ होती हैं। सोलह पक्तियो में पद्धडी या अडिल्ला के चार छन्द होते हैं। किन्तु यह नियम व्यापक नही है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि पहले घत्ता देने का नियम नही रहा होगा। महाकवि स्वयम्भू के समय से ही इस का कदाचित् प्रचलन हुआ है। क्योकि वन्ध-रचना में किसी छन्द को घत्ता नाम दिया जा सकता है। जिस प्रकार सन्धि के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न छन्दो को ध्रुवक कहते है वैसे ही कडवक के आदि या अन्त में प्रयुक्त स्वतन्त्र छन्द की कोई अभिधा नही थी। कोई भी छन्द आदि या अन्त मे प्रयुक्त हो सकता था और जो छन्द प्रयुक्त होता था उस का वही नाम होता था। 'स्वयम्भूछन्द' में कहा गया है कि सन्धिवद्ध रचनाओ में घत्ता, दुवई, गाथा, अडिल्ला कडवक के अन्त में और पद्धडिया तथा छड्डणि प्रारम्भ में प्रयुक्त होते हैं।[1] इस प्रकार वन्ध-रचना तथा तद्रूप छन्दो का विधान-अपभ्रंश-प्रवन्ध काव्यो में आठवी शताब्दी में ही हो चुका था। परवर्ती विकास-क्रम में अन्य कई महत्त्वपूर्ण बातें मिलती हैं।

घत्ता

इस छन्द में वासठ मात्राएँ होती हैं। इस के आधे भाग में दसवी, अठारहवी और इकतीसवी मात्रा पर विराम होता है। दोनो चरणो में चतुर्मात्रिक सात गण तथा अन्त मे तीन-तीन लघुमात्राएँ होती हैं।[2]

घत्ता का उदाहरण है—

विहुणिय सिरु भरडक्खिय लोयणु पइ पइ त्रिभइ अणिमिसलोयणु।
णवतरुपल्लवदल सोमालउ हिंडइ तित्थु महापुरि वालउ॥ (४, ७)

भविष्यदत्तकथा में घत्ता के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। किसी में यदि तेईस मात्राएँ है तो किसो में सत्ताईस, किसी में उनतोस, तीस, इकतीस और वत्तीस

१ सन्धिहि आइहिं घत्ता दुवई गाहाडिल्ला।
मत्ता पद्धडिआए छड्डणि आवि पडिल्ला॥ स्वयम्भूछन्द, (८,३५)।

२ पिंगल कइ दिट्ठउ छन्द उकिट्ठउ घत्त मत्त वासट्ठि करि।
चउ मत्त सत्त गण वे वि पाअ भण तिण्णि तिण्णि लहु अन्त धरि॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,९९)।
पढम दह वीसामो वीए मत्ताइ अट्ठाइ, तीए तेरह विरई घत्ता मत्ताइ वासट्ठि॥ वही (१,१००)

मात्राएँ एक पंक्ति अर्थात् पादयुगल में हैं। परन्तु कवि ने जिस छन्द का प्रयोग किया है उस के नियमो का पूरा पालन हुआ है। भले ही मात्रा के पीछे शब्दो में हेर-फेर करना पडे, पर छन्दोभंग दृष्टिगोचर नही होता।

दुवई

संस्कृत में इसे द्विपदी कहते हैं। द्विपदी का अर्थ दो पद है। वस्तुत. इस में पाद चार प्रतीत होते हुए भी दो ही होते हैं। केवल दो पदो में पूरी बात कह दी जाती है। इस के भी कई रूप या प्रकार मिलते हैं। प्रस्तुत काव्य में सन्धि के प्रारम्भ में ही नही मध्य में भी तथा कड़वक के अन्त में दुवई का प्रयोग हुआ है।

दुवई के एक पद में अट्ठाईस और दोनो में मिला कर छप्पन मात्राएँ होती है। इस में एक षट्कल, पांच चतुष्कल और अन्त में एक गुरु होता है।[1] इस का उदाहरण है—

पाणिग्गहिण जाइ जामायहु अहियमणाणुराइणा।
जं चितिउ मणेण णीसेसु वि तं तहु दिण्णु राइणा॥ (१५, २)

मरहट्ठा

इस में चार पक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ होती है। आठ मात्रा और फिर ग्यारह के स्थान पर विराम होता है। प्रारम्भ में षट्कल, फिर पंचकल तथा चतुष्कल और अन्त में क्रमश गुरु, लघु तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं।[2]

चामर

इस छन्द के प्रत्येक चरण में तेईस मात्राएँ होती हैं। आठवी मात्रा गुरु आर सातवी लघु होती है। इस के आदि और अन्त में क्रमश. गुरु और लघु तथा लघु और गुरु मात्रा होती है। इस में पन्द्रह वर्ण और तेईस मात्राएँ एक पाद में कही गयी हैं।[3]

---

१ छक्कलु मुह सठावि कइ चक्कलु पच ठवेहु।
अतहि एक्कड हार दइ दोअइ छद कहेहु॥ प्राकृतपैगलम्, (१, १५४)
पढम गणे कलछक्क चउक्कला पचहुंति कमलता।
गुरुमज्झउ सव्व लहुआ दुवईए वीअ छट्ठसा॥ सन्देशरासक-अवचूरिका, (२, ११६)

२ एहु छद सुलक्खण भणइ विअक्खण जपइ पिंगल णाउ,
विसमइ दह अक्खर पुणु अट्ठक्खर पुणु एगारह ठाउ।
गण आइहि छक्कलु पच चउक्कलु अन्त गुरु लहु देहु,
सउ सोलह अग्गल मत्त समग्गल भण मरहट्ठा एहु॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, २०८)

3 चामरस्स त्रीस मत्त तीणि मत्त अग्गला,
अट्ठ हार मत्त सार ठाइ ठाइ णिम्मला।
आइ अत हार सार कामिणी मुणिज्जए,
अक्खरा दहाइ पच पिंगले भणिज्जए॥ प्राकृतपैगलम्, (२, १५८)

इस का उदाहरण है—

आघुट्टइं ताइं सत्त परमसिद्धक्खरइं ।
सम्मत्ति जाइ कयकल्लाणपरपरइं ॥ (५, १६)

इस के दोनो पादो में पन्द्रह-पन्द्रह वर्ण और तेईस-तेईस मात्राएँ हैं। यद्यपि पहले पाद में सोलह वर्ण हैं, पर दोनो बातो में सर्वथा निर्दोष उदाहरण मिलना कठिन है।

भुजंगप्रयात

इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह वर्ण तथा बीस मात्राएँ होती है। इस में चार यगण होते हैं।[1] उदाहरण है—

पयट्टो वणिदो वणे तम्मि काले,
पइट्ठो तहिं दुण्गिरिक्खे खयाले।
दिसामण्डलं जत्थ णाउ अलक्खं,
पहाय पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ॥ (४, ३)

शंखनारी

इस छन्द की रचना भुजगप्रयात के आधे पाद को लेकर की जाती है। इस के प्रत्येक चरण में छह वर्ण अर्थात् दो यगण होते हैं। समूचे छन्द में चार चरण तथा चौबीस वर्ण होते हैं[2]। उदाहरण इस प्रकार है—

रणे णीसरते भयं वीसंरते।
महावाणि वग्गे पुरे हट्ट मग्गे ॥ (१४, ८)

मरहट्ठा

इस में प्रत्येक पक्ति में उनतीस मात्राएँ तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

तहिं घणतरु समोवि मयणायदीवि हिंडंति ते वणिद।
दूरज्झिय पमाय परिमुक्क चाय चक्कलिय गोढविंद।
केवि जलु आहरति कुंभइं भरति आवंति त जि लेवि।
तरुफल चुणति गेयइ कुणति कुसुमइं खुडन्ति। (३, २४)

श्री दलाल और गुणे ने भ० क० की भूमिका में यही उदाहरण दिया है। किन्तु विचार करने पर यह खरा नही उतरता है। इस की प्रत्येक पंक्ति की मात्राएँ भिन्न हैं। कल रचना की दृष्टि से आरम्भ की दो पक्तियो में मरहट्ठा छन्द मान सकते हैं। अन्त में क्रमश गुरु और लघु भी हैं। परन्तु अन्य पंक्तियो में उक्त लक्षण खरा नही उतरता। फिर, छन्द पूरे कडवक में प्राय' एक ही देखा जाता है। केवल प्रारम्भ में तथा अन्त में कही-कही छन्द में भेद मिलता है।

---

१ अहिगण चारि पसिद्धा सोलहचरणेण पिंगलो भणइ।
तीणि सआ बीसग्गल मत्तसखा समग्गाइ ॥ वही, (२, १२५)।

२ खडावण्णबद्धो भुअगापअद्धो।
पआ पाअ चारी कही सखणारी ॥ वही, (२, ५२)।

सिंहावलोकन

इस छन्द में चार चरण और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। इस में चतुष्कल तथा सर्वलघु की रचना की जाती है, और किसी भी चरण में जगण, भगण या द्विगुरु चतुष्कल न आने पावे—इस का ध्यान रखना आवश्यक होता है।[1] उदाहरण है—

घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं
घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं।
घरि घरि वहु चंदण छडय दिण्ण
मचकुंद वणय दवणय पइण्ण ॥ (८,९)

काव्य

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक पाद के आदि और अन्त में दो षट्कल तथा मध्य में तीन चतुष्कल होते हैं। द्वितीय चतुष्कल में जगण या विप्रगण (चार लघु) होना चाहिए।[2] इस का प्रयोग छप्पय के प्रथम चार चरणो में वस्तु के रूप में तथा कही-कही स्वतन्त्र रूप से भी देखा जाता है। स्वतन्त्र रूप में—वस्तुरूप में इस के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

पियविरहाणलेण संतत्तउ सो हिंडंतउ।
पइसइ चदकंति चैतालइ सव्व सुहालइ ॥ (७, ८)

तथा—

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ।
सीयलमारुएण वणिवाइउ तणु अप्पाइउ ॥ (वही)

प्लवंगम

यह इक्कीस मात्राओ का छन्द है। इस में तीन षट्कल, चरण के आदि में गुरु तथा अन्त में लघु एवं गुरु होता है। किसी में आरम्भ में गुरु देखा जाता है और किसी में अन्त में। तीन षट्कल (अठारह मात्राएँ) के साथ एक गुरु और एक लघु होता है[3]। उदाहरण है—

---

१. गण विप्प सगण धरि पअह पअ
भण सिंहअलोअण छन्द वरं।
गुणि गण मण वुज्झहु णाअ भणा,
णहि जगणु ण भगणु ण कण्ण गणा ॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, १८३)

२ आइ अन्त दुहु छक्कलउ तिण्णि तुरंगम मज्झ।
तीए जगणु कि विप्पगणु कव्वह लक्खण वुज्झ ॥ वही, (१, १०६)

३ पअ पअ आइहि गुरुआ पिंगल भणेइ सअल णिब्भति।
छन्द पवंगम दिट्ठो मत्ताण एकवीसती ॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,१८)
तिक्कलु चउकल पचक्ल तिअ गण दूर करेहु।
छक्कलु तिण्णि पलत जेहि लहु गुरु अत मुणेहु ॥ (वही, १, १८)

सा वरसिज्ज समारिवि दिण्ण पडिग्गहय ।
धूववत्तिउद्दीविय दीविय कणयमय ।
पण्णु फुल्लु हरियंदणु घुसिणु समाहरिवि ॥
सजलंतरि भिंगारहं सव्वट्टउ करिवि ॥ (१२, १२)

अन्तिम पंक्ति सदोष है ।

कलहंस

इस छन्द में तेईस मात्राएँ एक चरण में कही गयी हैं । इस में चार चरण होते हैं । चरण में प्रति दसवी मात्रा पर यति होती है ।[1] इस का उदाहरण है—

पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भण्डसमिद्धइं,
पयडिय पण्णयाइं णं णाइणि मउडहं चिंघइ ।
एक्क घणाहिलास पुरुसाइवलं रंधिपलित्तइं,
वरइत्तइजुवाइ णं वड्ढु कुमारिहुं चित्तइं ॥ (४, ८)

गाथा

गाथा के सब से अधिक भेदो का उल्लेख हमें प्राकृत के छन्दकोशो में मिलता है । प्राकृतपैंगलम् में इस के सत्ताईस भेदो का कथन है ।[2] किन्तु छन्दोनुशासन में इस के सहस्रो विकल्पो का उल्लेख है । उस में कहा गया है कि गाथा आर्या की भांति ही संस्कृत से भिन्न भाषाओ में प्रयुक्त होता है ।[3] वस्तुत आर्या आर्य जाति की साहित्यिक बन्ध-रचना का सूचक है । अतएव प्राचीनता के साथ-साथ शिष्टता एव पूज्यता का भाव भी लिये हुए है । परन्तु गाथा लोकगाथाओ में प्रयुक्त होने वाला छन्द है, जो सर्वथा स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ है । अतएव आ० हेमचन्द्र ने समझने के लिए उसे आर्या की भांति कहा है । सच बात तो यह है कि प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण बहुत बाद में लिखा गया । क्योकि बोलचाल की भाषा के व्याकरण नही लिखे जाते । जब तक भाषा स्थिर नही हो जाती उस के नियमो का अभिधान करना सुसम्मत नही होता । इसी प्रकार सम्मत लक्षणो के जाने विना शास्त्रीय साहित्य भी नही लिखा मिलता । और जब तक साहित्य नही होता तब तक विविध छन्दो की शैली और परम्परा का विकास नही हो पाता । अतएव सभव है कि लोकयुगीन गाथा को देख कर उस की समता पर आर्या छन्द की रचना हुई हो । अपभ्रश-काल में तो विभिन्न मात्रिक छन्द वर्णवृत्तों में ढाले गये, जो इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं कि पहले निर्मिति लोक में होती है और बाद में उस की रचना साहित्य में की जाती है । आलोच्यमान कथाकाव्य मे गाथा का उदाहरण है :—

१ समे नव ओजे चतुर्दश कलहस । छन्दोऽनुशासन, (६ २०, २४)
२ लच्छी रिद्धी बुद्धी लज्जा सख माअ देहीआ । प्रा० पै० (१, ६०-६१)
३ आर्येव सस्कृतेतरभाषासु गाथासञ्ज्ञेति गाथाग्रहणम् । अत्र पूर्वार्धे प्रथमे च विकल्पाश्चत्वार । अन्योऽन्यताडनाया द्वादशसहस्राण्यष्टौ शतानि । एवमपरार्धेऽपि—छन्दोऽनुशासन, (४, १)

तहि वणगहणि वहल तरुतंडवि गमिय रयणि अइ मुत्तामंडवि ।
पसरि पइट्ठु गहिरु गिरिकंदरु, तं लंघिवि दिट्ठउ वरपुरवरु । (९, १२)

श्री दलाल और गुणे ने गाथा का यह उदाहरण दिया है, किन्तु सभी प्रकार की गाथाओ में पूर्वार्द्ध में तीस और उत्तरार्द्ध में सत्ताईस मात्राएँ कही गयी हैं, जो उक्त उदाहरण में नही हैं । वस्तुत. यह संकीर्णस्कन्वक है, जिसे छन्दकोश में गाथिनी कहा गया है । इस के पूर्वार्द्ध में तीस मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध में वत्तोस होती है ।[1] भ० क० में इस के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं ।

भविसयत्तकहा मे समाज और संस्कृति

आलोच्यमान काव्य मे राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है । भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिप, तन्त्र-मन्त्रादिक ही नही सीखता है, वरन् विविध आयुधों का विविध प्रकार से संचालन, संग्राम में विभिन्न चातुरियों से वचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोडे की सवारी आदि की भी शिक्षा प्राप्त करता है, जो उस युग की विशेष कलाएँ थी—

जोइसतंतमंतवहुभेयइं वहुविण्णाणजाणगुणछेयइं ।
विविहाउहइ विविहसंचरणइं रणि हत्थापहत्थवावरणइं ।
दिण्ण पहर पडिपहर पमुक्कइं खलणवलणवंचण लाहुक्कइं ।
मल्लजुज्झ आवग्गण संचइ ढोक्काकत्तरिकरणपवंचइ ।
गयतुरंग परिवाहण सण्णइ सारासार परिक्खण गण्णइं । (२।२)

उस युग में स्त्रियाँ विभिन्न कलाओ में तथा विशेपकर संगीत और वीणालापन में निपुण होती थो । सरूपा इन कलाओं से युक्त थी—

वीणालावणिगेयपरिक्खणु कुडिलवियारि सरोसणिरिक्खणु । (३,३)

सामाजिक वातावरण और लोकरूढ़ियो से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओ की छाप से अकित है, जिस में भविष्यदत्त का रण-कौशल प्रकट करना, धनवइका युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार छोड़ना आदि ऐसी वातें हैं, जो राजपूत काल की निजी विशेपताएँ रही हैं ।

लोकजीवन और लोकरूढ़ियाँ

लोकजीवन में परिव्याप्त सामान्य मान्यताओ का समावेश भलीभाँति इस काव्य में हुआ है । वन्धुदत्त के द्वारा छल से छोडे जाने पर भविष्यदत्त उस भयानक जंगल में रात विताता है । सवेरा होने पर फिर से वह वन में भटकता है कि इतने में ही उसे शुभसूचक चिह्न दिखाई देने लगते हैं । अच्छी वयार वहने लगती है । वांयी ओर मधुर ध्वनि करता हुआ लावा पक्षी और दाहिनी ओर मैना दृष्टिगत होती है । दाहिनी

---

[1] गीतिस्कन्धके संकीर्णम् । वही (४, १७)

आँख और भुजा फड़कने लगती हैं—मानो ये बता रही हो कि यह मार्ग है, इस से चले जाओ। (४,५)। इसी प्रकार पुत्र के वियोग में संतप्त कमलश्री भोजन-पान, शयन, वचन सब कुछ छोड देती है। उसे कुछ भी अच्छा नही लगता। केवल खिसकते हुए कंगन वाले हाथो से कौओ को उडाती है। यदि कही चतुरता से कौआ बोलता है तो वह समझती है कि मेरा भविसयत्त मार्ग में आ रहा है। अत. वह कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में ले आओ—

आसणु सयणु वयणु णउ भावइ सिढिलवलय वायसु उड्डावइ।
रडि वायस जइ किंपि वियाणहिं भविसयत्तु महु पंगणि आणहिं। (६,१)

स्पष्ट ही उस युग में प्रिय-वियोग में भारतीय ललनाएँ कौओ को उडाती थी और उन के माध्यम से पति तक सन्देश पहुँचाती थी—

वायसु उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति॥ (हे० प्रा० ८,४,३५२)

पुत्र के परदेश-गमन के अवसर पर माताएँ चन्दन का तिलक बेटे को लगा कर दही, दूर्वा और अक्षत उस के सिर पर डाल कर पूजा-वन्दना करती थी। यह मागलिक कामना लोकाचार है, जो प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित है। भविष्यदत्त की यात्रा के अवसर पर कमलश्री भी उस की पूजा करती है और बाद में उपदेश देती है—

सावि सिप्पि चदणहु भरेविणु अहिणवकंचणपत्ति करेविणु।
वदणु करिवि वयणु अवलोइवि दहिदुव्वक्खय सिरि सजोइवि। (३,१७)

इसी प्रकार जल-देवता का पूजन भी एक लोक-रूढि थी। जन सामान्य का विश्वास था कि यदि वरुण देवता की अर्चना नही की गयी तो कोई न कोई अनिष्ट हो सकता है। बन्धुदत्त जब मैनागद्वीप से लौटता हुआ घर के लिए प्रस्थान करता है तो वही समुद्र-तट पर शुभ मुहूर्त में चन्दन का चौक पूर कर पुष्प और अक्षतो से जल-देवता की पूजा करता है तथा दीपक बाल कर आरती उतारता है—

इत्थंतरि सुमुहुत्तु समारिउ किउ चउक्कु चदणु वद्धारिउ।
पुज्जिय जलदेवय वित्थारिं पुप्फक्खय वलिदीवगारिं। (७,३)

इसी प्रकार जलदेवता का प्रत्यक्ष होना और पोत का विपरीत दिशा में बहना आदि लोक-विश्वास हैं, जिनमें भारतीय जनता की आस्था दृढ एवं अत्यन्त सबल है—

हुअ पच्चक्ख महाजलदेवय हल्लोहलिउ लोउ वहणट्ठिउ।
चलिउ पवणु विवरीउ परिट्ठिउ। (७,११)

कवि धनपाल के समय में बहु विवाह की प्रथा थी। अतएव धनवइ और भविष्य-दत्त दोनो के दो-दो विवाह होते हैं। समाज में वैश्यो का अच्छा स्थान था। राजा उन का आदर-सम्मान करता था। नगरसेठ अत्यन्त प्रभावशाली होता था। व्यापार ही

राज्य की आय वढाने का प्रमुख साधन था। इस लिए जो लोग धन कमाने के लिए द्वीपो की यात्रा करते थे, राजा उन्हें सभी प्रकार की सुविधा राज्य की ओर से प्रदान करता था। समाज में यदि किसी प्रकार की अनुशासनहीनता या अव्यवस्था हो तो राजा उसे दूर करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा लोग विशेष रूप से कानो में सोने के वने हुए कुण्डल, हाथो में कडे और माथे पर मुकुट धारण करते थे—

भविसत्तुणरिंदु कडयमउडकुंडलधरहिं। (२०,९)

विवाह एव मागलिक कार्यों में वहुत अधिक द्रव्य-व्यय किया जाता था। नागरिक जनो को भोजन-पान, विलेपन के अतिरिक्त यथायोग्य वस्त्र भी भेंट में दिये जाते थे—

तवोलु विलेवणु वत्थु लेवि जं जासु जोग्गु तं तासु देवि। (१,९)

वडे लोगो के विवाह में राजा भी सम्मिलित होता था। राजा के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। लोग घर-घर उत्सव मनाते थे। मांगलिक कार्यों में मुख्य रूप से दमामा, शंख, तुरही और मादल वजाये जाते थे। किन्तु युद्ध के समय विशेपत. नगाड़ा वजाते थे। जय-मगल की घोषणा की जाती थी। वालको की भाँति कन्याएँ भी विविध कलाओ की शिक्षा प्राप्त करती थी। वे गेंद से खेलती थी—

झिंदुअहिं रमंतिहिं णयणइट्ठु पंगुरणविवरिथणकलसु इट्ठु। (१,८)

वर कन्या को देखे विना विवाह नही करता था। किन्तु समाज में पर्दा-प्रथा भलीभाँति प्रचलित थी। वयस्क कन्याएं तक पर्दा करती थी—

तो इक्क वयकण्ण पगुरणहिं सुहर्डहिं णारसीहहिं। (१४,१५)

शृगार-प्रसाधन में महिलाएँ अत्यन्त रुचि रखती थी। वडी घर की ललनाएँ चन्दन से उवटन करती थी। सुवासित पदार्थो का लेपन करती थी। विविध प्रकार के आभूषणो को धारण करती थी। भविष्यदत्त के सकुशल घर लौट आने पर तथा भविष्यानुरूपा को पति का सन्देश देने के लिए जाते समय कमलश्री विभिन्न आभूषणो का शृंगार करती है—

कमलइं पुत्तपयाव फुरंतिए	लइउ दिव्वु आहरणु तुरंतिए।
वद्धु कडिल्लि अलक्खिय णामउ	उप्परि पीडिउ रसणादामउ।
मुक्कउ किंकिणीउ णउ सकिउ	भरिवि रयणकचुवउ तडक्किउ।
मुद्धमरालजुयल किउ छण्णउं	कम्वु कण्ठ कंदलिइ रवण्णउ।
पीणघणत्थणमण्डलहारिं	सिरुधम्मिलकुसुमपब्भारिं।
कण्णहिं कुडलाइं आवद्धइ	उप्परिवेढियाइं पहचिंवइं।
पूरिउ रयणचूडुमणिवलयहिं	दिण्णइ केऊरइं वाहुलयहिं। (९,१७)

जान पडता है कि करधनी, हार, कुण्डल और केशकलाप में कुसुमो का प्रसाधन सामान्य वनिताएँ भी करती थी। इसी प्रकार अँगूठी, भुजवन्द, कगन, विछुए, कटिसूत्र, मणिसूत्र आदि का भी सामान्य जनता मे प्रचलन था। ये आभूषण तरह-तरह की शिल्प-

रचना से मुद्रित होते थे। स्त्रियाँ गहनों से हाथ-पैर की अँगुलियाँ और प्रकोष्ठ भर लिया करती थी—

अंगुलीउ मणिमुज्जावत्तउ वीसहिं अंगुलीहिं पक्खित्तउ।
पयमणिवद्धहिं णेउरजुयलउ सुहसजविय महुररवमुहलउ।
जघाजुयलि रयणि पज्जत्तउ कडियलि रमणि कणयकडिसुत्तउ।
मुहमणिचूडहु ककणजुयलउ सोहिउ अट्ठहारि वच्छयलउ। (९,१७)।

मांगलिक कार्यों के लिए चौक पूरना, मंगल कलस सजाना, देवताओ का आह्वान करना आदि लोकरूढियाँ प्रचलित थी।

उस काल में युद्ध किसी सुन्दरी या राज्य-विस्तार के निमित्त होते थे। आलोच्यमान काव्य में पोदनपुर का राजा चित्राग अपने सन्देश में दो ही बातें राजा भूपाल के सामने रखता है-मेरी अधीनता स्वीकार करो और भविष्यदत्त की दोनो पत्नियो को स्वेच्छा से भेंट कर दो—

अहु कण्णहि कारणि काइ महारणि जाय तुम्ह विवरीयमइ।
अज्जवि पियवत्तइ इक्कि सुमित्तइ हउं परिओसउ पुहइवइ॥ (१३,११)

उस समय कई छोटे-छोटे राज्य थे। चित्राग सिन्धुपति कन्धर का पुत्र था। अनन्तपाल चम्पा का राजा था। मच्छ, कच्छ और कन्धार देश के राजा भी इस सग्राम में सम्मिलित थे। ये सब पाचालदेश के राजा की ओर थे। चित्राग उन सबका नायक था। इस से पता लगता है कि इस प्रकार के युद्ध उस युग में सामान्यत: प्रचलित थे। राज्य के छोटे होने पर कोई भी चार राजा मिल कर सरलता से धावा बोल देते थे। राजा भूपाल तथा उस के मन्त्री जनों के पैरो के नीचे से धरती इसी लिए खिसक गयी थी। किन्तु भविष्यदत्त ने सच्चे उत्साह, साहस एवं पराक्रम का परिचय दे कर देश की तथा अपनी लाज रख ली। धर्म के मूल में सत्य और न्याय की रक्षा मुख्य है, जिसे चरितार्थ कर कवि ने व्यावहारिक नय का रहस्य खोल कर रख दिया है।

विबुध श्रीधर और भविसयत्तचरिय

जैन-साहित्य में श्रीधर और विबुध श्रीधर नाम के कई विद्वानो का पता लगता है। प० परमानन्द शास्त्री ने श्रीधर नामक सात विद्वानो का परिचय दिया है।[1] सस्कृत भाषा में लिखित विश्वलोचनकोश के रचयिता आचार्य श्रीधरसेन और श्रुतावतार की रचना करने वाले धरसेन या श्रीधरसेन निश्चित ही अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भिन्न थे। अपभ्रशकाव्य पार्श्वनाथचरित के कर्ता श्रीधर थे, विबुध श्रीधर नही।[2]

---

१ प० परमानन्द जैन शास्त्री 'श्रीधर या विबुध श्रीधर नाम के विद्वान्', अनेकान्त, वर्ष ८ किरण १२, पृ० ४६२।

२ इय सिरिपासचरित्त रइय बुहसिरिहरेण गुणभरिय। पार्श्वनाथचरित, १,१।

विबुध कवि की उपाधि जान पडती है, पर बुध शब्द पंडित या विद्वान् अर्थ का वाचक है। अतएव वे अन्य कवियो से भिन्न है। चौथे विबुध श्रीधर संस्कृत के भविष्यदत्त-चरित के लेखक हैं, जो अपभ्रंश के विबुध श्रीधर के समकालिक प्रतीत होते हैं। पाँचवें विबुध श्रीधर सुकुमालचरित के रचयिता हैं, जिन्होने अपभ्रंश भाषा के पद्धड़िया छन्द मे तथा छह सन्धियो में काव्य-रचना की है।[1] कवि श्रीधर वर्द्धमान चरित के भी लेखक थे। यह काव्य दस सन्धियो में निवद्ध है।[2] इनके सम्बन्ध में कुछ कहना वहुत ही कठिन है। कवि के उल्लेख से यही पता लगता है कि इन्होने चन्द्रप्रभचरित और शान्तिनाथचरित काव्यो की भी रचना की थी।[3] वर्द्धमानचरित की एक अपूर्ण प्रति दूनी भण्डार, जयपुर में मिलती है। कवि अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे और हरियाना के निवासी थे।

परिचय

अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर ने भविसयत्तचरिय की रचना चन्द्रवाड़ नगर में स्थित माथुरवशीय नारायण के पुत्र सुपट्टसाहु की प्रेरणा से की थी।[4] समूचा काव्य नारायणसाहु की भार्या रूपिणी के निमित्त लिखा गया है।[5] यह काव्य छह परिच्छेदो में निवद्ध है। इस में भविष्यदत्त की कथा काव्य रूप में वर्णित है। सुपट्टसाहु नारायण के पुत्र थे। उन के ज्येष्ठ भ्राता का नाम वासुदेव था।[6] कवि ने अपने सम्वन्ध में कुछ भी नही लिखा। ग्रन्थ-रचना का उल्लेख अवश्य मिलता है। इस काव्य की रचना कवि के अनुसार वि० सं० १२३० में फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में दशमी तिथि रविवार को सम्पूर्ण हुई।[7] ग्रन्थ के अन्त में कवि ने सुपट्ट साहु और रुप्पिणी की प्रशंसा करते हुए पूरा विवरण दिया है। वह साहु पूर्व समय में इस पृथ्वी तल पर अपने गुणों से अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस के सीता नाम की गृहिणी थी, जो विनय तथा निर्मल गुणो से भूषित थी। उन के हाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनो के जगविख्यात देवचन्द

---

१ प० परमानन्द शास्त्री अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १२, पृ० ४६४।

२ वही, पृ० ४६६।

३ वही, पृ० ४६६।

४ सिरिचन्दवारणयरट्ठिएण जिणधम्मकरण उक्कठिएण।
माहुर कुलगयणतमीहरेण विवुहयणसुखयामणधणहरेण।
मइवर सुपट्ट णामालएण विणएण भणिउ जोडेवि पाणि। भविष्यदत्त चरित, १,२।

५ इय सिरि भविसयत्तचरिए विवुहसिरि सुकइ सिरिहर विरइए साहु णरायणभज्जा रुप्पिणि णामकिए। वही।

६ णारायणदेहसमुब्भवेण मणवयणकायणिंदियभवेण।
सिरिवासुएव गुरुभायरेण भवजलणिहिणिवडणकायरेण ॥ (१,२)।

७ विक्कमाइच्चकाले पवहतए सुहयारएविसाले।
वारहसयवरिसहिं परिगएहिं दुगुणियपणरह वच्छरजुएहिं।
फग्गुणमासम्मि वलक्खपक्खे दसमिहिदिणे तिमिरुक्करविवक्खें।
रविवारिसमाणिउ एउ सत्थु जिह मह गरियाणिउ सुप्पसत्थु ॥ (६,३०)।

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह माथुरकुल का भूषण, गुणरत्नो की खान था। जैनधर्म में उस की प्रगाढ श्रद्धा थी। लक्ष्मी के समान उस की माढी नामक धर्मपत्नी थी। उस के गर्भ से कनक वर्ण के समान साधारण नाम के पुत्र ने जन्म लिया। उस के दो पुत्र हुए। दूसरे का नाम नारायण था। इसी नारायण की भार्या रुप्पिणी थी, जिसने इस ग्रन्थ को लिखवाया था। कामदेव के समान उन दोनो के पट्टु नाम का पुत्र था। दूसरे पुत्र का नाम वासुदेव था। तीसरा यशदेव कहा गया है। उन के कुल पाँच पुत्र थे। सभी धर्म का पालन करने वाले अच्छे गुणो से विभूषित थे।

यह काव्य १५३० श्लोक ग्रन्थ प्रमाण है।[1] इस ग्रन्थ के लेखक कवि श्रीधर मुनि थे। सुपट्ट साहु उन की अनन्य भक्ति से दान, पूजा, व्रत आदि धार्मिक अनुष्ठानो में अनुरक्त रहता था।[2] कवि ने उसे सम्यक्त्व से अलकृत, सच्चा धार्मिक होने से अभिनन्दन योग्य कहा है। इस काव्य में भविष्यदत्त के उत्पन्न होने से ले कर उस के निर्वाणगमन तक की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है।

कथानक

तीर्थंकरो की वन्दना के पश्चात् कवि यथाशक्ति एवं बुद्धि के अनुसार इस श्रेष्ठ काव्य को रचने का प्रयोजन बतलाता हुआ कहता है कि चन्द्रवाड नगर में रहने वाले माथुर कुल में उत्पन्न सुपट्ट नामक साहु ने हाथ जोड़ कर अपनी माता के लिए मुझ से भविष्यदत्तचरित्र एवं पंचमी उपवास के पवित्र फल के वर्णन स्वरूप ग्रन्थ रचने को कहा। कवि ने उत्तर में कहा—भो सुप्पट, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ मेरी बुद्धि में आता है उसे ज्यो का त्यो वर्णित कर कहता हूँ।

इस जम्बूद्वीप के अत्यन्त रम्य सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में शोभायमान एक कुरुजंगल नामक देश है। वह देश गोधन, नाना पशु-पक्षी, विविध कुसुम तथा सरोवर, सरिताओ आदि से अत्यन्त समृद्ध है। उस देश में हस्तिनागपुर है, जहाँ के लोग दान-पूजा आदि धार्मिक कृत्यों में सदा दत्तचित्त रहते हैं। वहाँ सब प्रकार के सुख हैं। जनता धन-धान्य से समृद्ध है। यह वही नगर है जिस में बहुत पहले ऋषभ जिनेन्द्र कुरुवश को अलंकृत करने वाले उत्पन्न हुए थे। यही सोमप्रभ राजा ने जन्म लिया था, जो इन्द्र के समान प्रभावशाली था। सोमप्रभ के मेघेश्वर नामक पुत्र हुआ, जो इसी नगर का चक्रवर्ती था। उस के पश्चात् सनत्कुमार चक्रवर्ती हुआ। तदनन्तर शान्ति, कुन्थु और अरह नामक तीनो चक्रवर्ती यहाँ हुए। और भी अन्य श्रेष्ठ तथा प्रतापशाली राजा इस नगरी में उत्पन्न हुए। जिनवर चन्द्रप्रभ के समय में यहाँ भूपाल (भूवालु) नाम का राजा राज्य करता था। वह विविध भूषाओ से अलंकृत ऐसा जान

---

१ एयहो सत्थहो संखपसाहिय पंचदहजिसयफुड्डतीयसाहिय। (६,३३)।

२ सम्मत्तालंकिउ धम्मि असंकिउ दाणविहाणविसत्तउ।
सुप्पट्टु अहिणंदउ जिणपयवंदउ तवसिरिहरमुणिभत्तउ॥ (६,३३)।

पडता था मानो जनता के अनुराग से स्वर्ग को छोड़ कर स्वयं इन्द्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो। उस का यश गुफाओ और पर्वतो तक में लोगो के द्वारा गाया जाता था। इसी नगर में अत्यन्त रूपवान् धनपति नामक सेठ रहता था। वह नाना कलाओ से अलंकृत, गुणो से विभूषित और वैभव से सम्पन्न था। राजा ने अत्यन्त सम्मान पूर्वक उसे नगरसेठ के पट्ट पर समासीन किया। इसी अवसर पर सेठ धनेश्वर ने अत्यन्त रूपवती कमलश्री नाम की पुत्री का विवाह गाजे-बाजे के साथ धनपति से कर दिया। सेठ धनपति और कमलश्री बहुत समय तक काम-सुख का अनुभव करते हुए विभिन्न क्रीडाओ में समय बिताते रहे, किन्तु कोई सन्तान-प्राप्ति नही हुई। एक दिन उस नगर में सुगुप्ति नाम के मुनि का आगमन हुआ। कमलश्री ने दोनो हाथों को जोड़ कर भक्ति पूर्वक उन मुनि की पूजा-वन्दना की और पूछा कि हे स्वामिन्! मुझ मन्दभागिनी के कोई पुत्र होगा या नही। यह सुन कर मुनिदेव ने मधुर वाणी में समाश्वस्त करते हुए कहा—हे कमलश्री, कमल के समान ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। इन वचनो को विश्वासपूर्वक गाँठ में बाँध कर वह निश्चिन्त हुई। उस ने मुनि को आहार-दान दिया और सुख पूर्वक रहने लगी। कुछ समय बाद उस के गर्भ रह गया, और उत्तम दिन में अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा और रानी बधाई देने आये तथा वस्त्राभूषणो से सुशोभित किया। बड़ा उत्सव मनाया गया। बालक धीरे-धीरे चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हुआ। पाँच वर्ष का समय घर में ही खेलते-कूदते बीत गया। दोनो हाथो में चूरा (कडे) पहने हुए, नूपुरों को पैरो में बाँधे हुए बाहर से जब उन्हें शब्दायमान करता हुआ वह घर में आता था तब जननी को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। इस प्रकार खेल-कूद में बालक भविष्यदत्त आठ वर्ष का हो गया। तब समारोह के साथ माता-पिता ने उसे उपाध्याय के घर पढ़ने को बिठा दिया। भविष्य-दत्त अल्प समय में ही लक्षण, अलंकार, छन्द, काव्य, आगम, नाटक आदि का अध्ययन कर शास्त्रो के अर्थ तथा विचारो से संयुक्त हो गया।

द्वितीय परिच्छेद में कवि ने धनपति और कमलश्री के अनुरागहीनता के कारण को बतलाते हुए लिखा कि पहले कमलश्री ने मुनिराज की निन्दा की थी इस लिए वह दुर्भाग्य को प्राप्त हुई, और एक दिन उस के पति ने उस से यहाँ तक कह दिया कि तुम में कोई दोष नही है, पर मुझे तुम भुजगिनी के समान प्राण लेने वाली जान पडती हो। बेचारी कमलश्री रोती हुई अपने पिता के घर पहुँचती है। उसे अकेली रोती हुई देख कर पिता के मन में शंका उत्पन्न हुई। इसी समय धनपति का भेजा हुआ एक गुणवान् पुरुप कमलश्री को संबोधने और वृत्तान्त सुनाने आता है, और कहता है कि आप की पुत्री में कोई दोष नहीं है, इस लिए इसे घर में रख लीजिए। कमलश्री वियोग में किसी प्रकार पिता के घर अपना समय बिताने लगी। इधर कमलश्री धर्म पूर्वक अपना समय बिता रही थी और भविष्यदत्त की शिक्षा-विधि चला रही थी, उधर नगर में सेठ धनपति धनदत्त की सरूपा (सुरूवा) नामक पुत्री से व्याह कर

भोग ऐश्वर्य के आनन्द को लूट रहा था। उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह साक्षात् कामदेव के समान था। सरूपा और बन्धुदत्त को प्राप्त कर सेठ धनपति कमलश्री को बिलकुल भूल गया। बन्धुदत्त धीरे-धीरे बढ कर युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मित्रों के साथ वह उद्यान में गया। वहाँ मित्रों की सम्मति से स्वर्णद्वीप जाकर व्यापार कर द्रव्य कमाने की योजना प्रस्तावित हुई। धनपति ने राजा भूपाल से निवेदन किया। उन्होने डुग्गी पिटवा कर पूरे नगर में इस की सूचना पहुँचवा दी। यह समाचार पा कर पाँच सौ मित्र बन्धुदत्त के साथ चलने को तैयार हो गये। भविष्यदत्त ने माता के सामने बन्धुदत्त के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु कमलश्री ने यह कह कर बहुत रोका कि वह सौतेला भाई है और इस लिए जहाँ भी अवसर पायेगा वहाँ तुम्हें निश्चित मार डालेगा; पर भविष्यदत्त अपनी इच्छा पर दृढ रहा तथा जाने के लिए तैयार हो गया। वह बन्धुदत्त से मिला। सरूवा ने यह सुन कर कि भविष्यदत्त साथ में जाने को तैयार है, बन्धुदत्त को बहुत सिखाया-पढ़ाया और कहा कि जब भी अवसर हाथ लगे उसे जीता मत छोडना। अच्छे दिन में सभी पोत में बैठ कर दक्षिण दिशा के पूर्व कोण के अन्तर की ओर चल पडे। मार्ग में तूफान आ गया, सभी बहुत घबराये। जिनदेव का स्मरण करने से संकट टल गया। आगे बढ़ने पर दूसरे दिन पवन उन के अनुकूल हो गया। और आगे चल कर मदन (मणय) द्वीप के किनारे लग गये। द्वीप अत्यन्त मनोहर था। सुपारी, लौंग, अनार, जवीर आदि फलों की विपुलता थी। नारियलो की तो भरमार थी। सब वहाँ उतरे। पोत में ईंधन आदि चढा कर, सभी को बुला कर और भविष्यदत्त को छोड कर बन्धुदत्त ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उस के बाद उस ने सब को बताया कि उस से मेरा वैर है, इस लिए किसी ने कुछ भी नहीं कहा। किन्तु मन ही मन सब ने उस की निर्दयता को धिक्कारा। जब भविष्यदत्त ने पोत को जाते हुए देखा तब नाना प्रकार के फलो को सम्हालता हुआ शीघ्रता से दौडा और चिल्लाया कि मुझे चढाओ, जहाज चला। किन्तु उस का भाग कर जहाज पकड़ना निरर्थक रहा। भविष्यदत्त मन में विचार करता है कि माँ ने बार-बार कितना रोका था, पर मैं नही माना। विना पुण्य के मनुष्य की चाहना पूरी नही होती। अपनी पुण्यहीनता का विचार कर भविष्यदत्त प्रलाप करता हुआ संताप से बार-बार झूरने लगा। भीषण वन में भटकता हुआ वह अन्त में समतल भूमि में पहुँचा, जहाँ एक अत्यन्त स्वच्छ शिला बिछी हुई थी। पास में ही झरना झर रहा था। मुख का आचमन कर उस ने वही जिनदेव की भावपूजा की और फलो का भोजन किया। इतने में ही साँझ हो गयी, चारो ओर अन्धकार फैल गया। भविष्यदत्त वही शिला पर सो गया।

तीसरे परिच्छेद में भविष्यदत्त जिनदेव का स्मरण करता हुआ प्रभात में शयन से उठता है और बार-बार चिन्ता करता हुआ चल पडता है। चलते-चलते वह थक कर चूर हो जाता है और अन्त में तिलकपुर पहुँचता है। नगर परिखा और कोट से घिरा

हुआ था। गोपुर तथा घर भलीभाँति सजे हुए थे। किन्तु वहाँ पर एक भी मनुष्य नही दिखाई दिया। भविष्यदत्त उस पुर की शोभा को देख कर ठगा-सा रह गया। वही उसे चन्द्रप्रभ जिन का मन्दिर दिखाई दिया। उस के भीतर प्रवेश कर उस ने भक्तिभाव से पूजन किया। यही से कवि एक अन्य कथानक को ऊपर से जोड़ देता है, जो इस प्रकार है—इसी वीच पूर्व विदेह क्षेत्र में यशोधर नाम के मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वहाँ जा कर विद्युत्प्रभ ने उन से अपना पूर्व वृत्तान्त पूछा। केवलज्ञानी मुनि ने उत्तर में कहा कि हस्तिनागपुर में वणिक् सेठ धनपति और कमलश्री से उत्पन्न भविष्यदत्त पूर्व जन्म में तुम्हारा मित्र था, जो इस समय भाई से धोखा खा कर तिलकपुर में भटक कर पहुँच गया है। वह बारह वर्ष तक उस नगर में भविष्यानुरूपा के साथ पाणिग्रहण पूर्वक सुखो का उपभोग करने के वाद वन्धु-वान्धवो से जा कर मिलेगा। मुनि के इन वचनो को सुन कर उन्हें प्रणाम कर वह भविष्यदत्त को देखने के लिए चल पडा। उस नगर में पहुँच कर वह देखता है कि मेरा मित्र सो रहा है। उसे जगाना उचित न समझ कर उस ने खड़िया से दीवाल पर अक्षरो की कुछ पंक्तियाँ लिख दी। फिर, क्षण भर में मानभद्र को बुला कर कहा कि तुम इसे माता-पिता के पास हस्तिनागपुर सुख से भेज देना। सो कर उठने पर भविष्यदत्त ने देखा कि दीवाल पर कुछ लिखा है। वार-वार ध्यान से देख कर उस ने उन अक्षरों को पढ़ा और लिखे अनुसार वह उत्तर दिशा में स्थित पाँचवें घर पर जा पहुँचा। वहाँ भविष्यानुरूपा (भविसाणुरूव) नाम की सुन्दरी रहती थी। उस ने जव भविष्यदत्त को देखा तव अत्यन्त हर्षित हुई। उस ने ललित वचनो में भविष्यदत्त का परिचय पूछा। उस ने आने का सव वृत्तान्त वताया। इसी समय एक विकराल असुर वहाँ आया और भविष्यदत्त को मारने के लिए दौड़ा। किन्तु भविष्यदत्त ने दृढतापूर्वक उसे रोक दिया। जव वह अत्यन्त निकट आ गया तव उस का कोप शान्त हो गया और वह चला गया। असुर जाते-जाते उस कुमारी को भविष्यदत्त के लिए सौंप गया और कह गया कि तुम्हारे लिए ही मैं ने इसे वचा कर रखा है। भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाओ तथा मनोविनोदो में काल यापन करता हुआ सुख से रहने लगा।

उधर कमलश्री अत्यन्त सन्तापित हो कर पुत्र के वियोग में छीजने लगी। पुत्र के दर्शन के लिए वह अधिकाश समय जिनमन्दिर में विताने लगी। इसी समय सुव्रता नाम की अर्जिका से कमलश्री ने सव वृत्तान्त कहा। उन्होने सित पचमी के दिन उपवास तथा श्रुत-पंचमी व्रत पालन करने का उपदेश दिया। रत्नत्रय की भाँति यह व्रत असाढ, कातिक और फागुन की सित पंचमी को विधान-पूजन और उपवास के साथ पाला जाता है। इस क्रम से इकसठ महीने तक व्रत को साध कर फिर उद्यापन विधि से समाप्त करना चाहिए। कमलश्री भूखी-प्यासी रह कर मलिन मुख से पुत्र का ध्यान करती हुई व्रत-उपवास पूर्वक रहने लगी। उसे अत्यन्त दु.खी जान कर अर्जिका ने कमलश्री को

साथ में ले जा कर ऋषभ नामक मुनि से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि बारह बरस के बाद वैसाख सुदी पचमी के दिन वह स्त्री-रत्न, स्वर्ण, रत्न आदि से सम्पन्न हो कर घर वापस आयेगा। मेरे इन वचनो को निश्चित मानो। कमलश्री भी उन पर विश्वास रख निश्चिन्त हो कर व्रतो का पालन करती रही।

चतुर्थ परिच्छेद का आरम्भ भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा के मधुर आख्यान से होता है। भविष्यानुरूपा पति से अपनी ससुराल के सम्बन्ध मे पूछती है। भविष्यदत्त सब वर्णन कर सुनाता है। फिर दोनों ही एक मत हो उस नगर से धन, कचन, रत्न, मणि आदि साथ मे ले कर हस्तिनागपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। वे दोनो समुद्र के तट पर पहुँचते है। इतने में बहुत समय के बाद वणिक्दल के साथ बन्धुदत्त उसी मार्ग से जहाज मे लौटता हुआ कुतूहल के साथ उन को देख कर वहां पर उतर पड़ता है और सब के साथ भविष्यदत्त से मिलता है। वह भाई से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा मांगता है। भविष्यदत्त उन सब का वस्त्राभूषणो से स्वागत कर उन्हें षड्रस-व्यजनो का भोजन चांदी के थालो में कराता है। बन्धुदत्त इस समय भी अपना कपट-पूर्ण व्यवहार नही छोड़ता। वह भाई से उल्लास के साथ कहता है कि ऐसा करो जिस से हम सब धन-कन-कचन से युक्त एक साथ बन्धु-बान्धवो से जा कर मिल सकें। भविष्यदत्त अपना सब सामान और धन, रत्न आदि जहाज पर चढवा देता है और भविष्यानुरूपा भी उस पर बैठ जाती है। इतने में उसे स्मरण हो आता है कि मेरी नागमुद्रा तिलकपुर मे सेज पर छूट गयी है। वह पतिदेव से लाने के लिए निवेदन करती है। इधर भविष्यदत्त मुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चलवा देता है। भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देख कर शून्य मन हो जाता है। उसे बहुत अधिक सन्ताप होता है और कई तरह से प्रलाप करने लगता है। वन के पक्षी उसे समझाते हैं और वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर मे पहुँचता है। भगवान् का पूजन करने से उस का चित्त शान्त होता है। उधर भविष्यानुरूपा पति का स्मरण करती हुई बहुत दु:खी होती है। बन्धुदत्त कामभाव से उस के पास जाता है और करुण याचना करता है। वह समुद्र में डूब कर प्राणो का छोड़ने का विचार करती है। किन्तु वनदेवी स्वप्न मे उसे सम्बोधती है और कहती है कि एक महीने के भीतर तुम्हारे स्वामी बहुत द्रव्य से युक्त तुम से आ कर मिलेंगे इस लिए मरने का विचार छोड़ कर कुछ दिन और प्रतीक्षा करो। उस ने यह भी कहा कि तुम्हारे शील के प्रभाव से ही जहाज किनारे लग सका है। सब लोग अपने घर पहुँच जाते हैं। बडा आनन्द मनाते है। कमलश्री सरूपा से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है, पर वह कुछ भी नही कहती। तब बन्धुदत्त से पूछती है। वह उत्तर में कहता है कि वह वही रह गया है। तब चिन्तित हो कर अर्जिका तथा मुनि से पूछती है। वे बतलाते है कि बीसवें दिन तुम्हारा पुत्र घर आयेगा। बन्धुदत्त राजा के पास जाता है। वह उपार्जित द्रव्य उसे सौंपता है। भविष्यानुरूपा के साथ विधिवत् पाणिग्रहण की तैयारी होने लगती है। इसी बीच

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के आदेश से मणिभद्र तिलकपुर पहुँचता है, जहाँ भविष्यदत्त पूजा-विधि सम्पन्न कर रहा था। वह विद्याधर उस से आने का समस्त वृत्त कहता है और समझाता है। उस ने तुरत ही सोने का रत्नजटित एक विमान तैयार कर उसे रत्नों से भर दिया। भविष्यदत्त आवश्यकीय वस्तुओं को ले कर विमान में बैठ कर घर के आँगन में आ उतरा। उस समय कमलश्री अर्जिका के पास थी। उन्होंने उस से कहा—लो उठो, तुम्हारा वेटा आ गया। माँ को देखते ही भविष्यदत्त उस के पैरों लगा और माँ ने उसे छाती से लगा लिया। उस ने उसे वहुत असीसें दी और फिर अर्जिका के पास ले गयी। वहाँ से आ कर माँ ने वेटे को वन्धुदत्त और भविष्यानुरूपा के विवाह का सब वृत्तान्त सुनाया। वेटे ने भी आदि से ले कर अन्त तक का सब वृत्त कह सुनाया। सवेरे भविष्यदत्त राजा को धन-द्रव्य देने गया। राजा ने उस से वहुत कुछ पूछा, पर वह चुप रहा। दूसरे दिन राजा के पास भविष्यदत्त के मामा ने जा कर कहा कि हमारे भानजे के साथ वन्धुदत्त का झगडा है। राजा ने धनपति सेठ को वुला कर उत्तर मांगा, पर सेठ ने घर में विवाह होने से इस प्रसंग को टालना चाहा। तव राजा ने उसे वलात् वुलवाया। कमलश्री ने जा कर राजा के सामने मुंदरी तथा वस्त्राभूषण उपस्थित किये। सेठ ने यह झगडा जान कर वन्धुदत्त से वहुत कुछ पूछा, पर उस ने सच नही वताया। दूसरे दिन राज-मन्दिर में सभा हुई। वन्धुदत्त बोला मेरा कोई झगडा नही है। किन्तु भविष्यदत्त को देख कर उस का मन काँप गया। सव रहस्य प्रत्यक्ष हो गया। राजा को जव वन्धुदत्त की करतूतो का पता लगा तो तुरंन्त तलवार हाथ मे ले कर उसे मारने के लिए तैयार हो गया। किन्तु भविष्यदत्त ने राजा को रोका और दण्ड देने से वचाया। राजा ने भविष्यदत्त को आधा सिंहासन दिया और अपनी पुत्री को देने का वचन दिया। कमलश्री को इस से अत्यन्त सन्तोष हुआ। धनपति ने कमलश्री के प्रति किये गये व्यवहार के लिए राजा के समक्ष क्षमा मांगी। वन्धुदत्त से उस के पैरो में पड़ कर प्रणाम करवाया। भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा की ठाट-वाट से पाणिग्रहण-विधि सम्पन्न हुई। राजा ने आधा राज्य और अपनी पुत्री सुमित्रा को भी विधि पूर्वक भविष्यदत्त को सौंप दी।

पांचवें परिच्छेद का 'भविष्यदत्त के राज्य करने से' आरम्भ होता है। गृहिणी और राज्य सुख का भोग करते हुए भविष्यदत्त का वहुत समय वीत गया। इस बीच भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न हुआ और पति के पूछने पर उस ने तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त की। इतने में मनोवेग नाम का एक विद्याधर राजा के पास आया और फिर उस ने भविष्यदत्त से कहा कि मेरी माता तुम्हारे घर में प्रिया के गर्भ में आयी हैं, ऐसा मुझ से मुनिराज ने कहा है। इस लिए आप मुझे कुछ करने की आज्ञा प्रदान करें। भविष्यदत्त प्रिया के साथ विमान में बैठ कर विद्याधर के साथ तिलकद्वीप के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसे वही शिला, झरना आदि मिले। वहाँ पहुँच कर भक्तिपूर्वक जिनपूजन किया और आनन्द पूर्वक विहार किया। वहाँ उन्हे

चारण मुनि युगल दृष्टिगोचर हुए। उन से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर विमान से वापस घर लौट आये।

कुछ समय के बाद भविष्यानुरूपा के सोमप्रभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस के कुछ वर्षों के पश्चात् एक दूसरा कंचनप्रभ नाम का पुत्र हुआ। फिर, दो पुत्रियाँ हुईं, जिन का नाम तारा और सुतारा था। सुमित्रा के भी धरणीपति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। दूसरी उस के धारिणी नाम की पुत्री हुई। ये सभी सुन्दर और रूपवंत थे। निष्कंटक राज्य करते हुए भविष्यदत्त को बहुत समय बीत गया। इस बीच मणिभद्र की सहायता से सिंहलद्वीप तक अपनी कीर्ति को फैला कर अनेक राजाओ को अपने अधीन कर लिया। एक दिन चारण ऋद्धिधारी मुनिवर के आगमन को सुन कर धनपति और कमलश्री के साथ भविष्यदत्त परिवार सहित मुनि-वन्दना के लिए गया और उन से श्रावक का धर्म पूछा। मुनिराज ने अष्ट मूल गुण पालन करने का उपदेश किया।

छठें परिच्छेद में भविष्यदत्त के निर्वाण का विवरण देते हुए कवि ने ग्रन्थ को समाप्त किया। सेठ धनपति मुनिराज से अपने पूर्व भवो को पूछता है। मुनि पहले भवों की कथा कह कर तीन भवो के पश्चात् भविष्यदत्त के मोक्ष जाने की बात कहते हैं, जिसे सुन सभी हर्षित होते हैं। कमलश्री सुव्रता के साथ अर्जिका हो जाती है और धनपति एक वस्त्र धारण कर ऐलक की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। धनपति कठोर तप को तप कर दसवें स्वर्ग में जा कर सुरपति होते हैं और कमलश्री स्त्रीलिंग का छेद कर रत्नचूल नाम का देव होती है। भविष्यानुरूपा भी स्वर्ग में जा कर देव हुई और वहाँ से पृथ्वीतल पर आ कर पुत्र हुई। कमलश्री नन्दिवर्द्धन नामक नृप हुई। भविष्यदत्त पन्द्रह हजार राजाओ के साथ मुनिव्रत धारण कर क्रम से भवों का छेदन कर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भविष्यदत्तकथा और उस की परम्परा

धनपाल की भविष्यदत्त कथा काव्य के लिए कोई नवीन वस्तु नही थी। क्योकि इस के पूर्व महेश्वरसूरि प्राकृत में 'ज्ञानपचमीकथा' लिख चुके थे। किन्तु दोनो कथाओ में अन्तर है। महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकथा में दस आख्यान हैं। उस में भविष्य-दत्त की कथा श्वेताम्बर-परम्परा में वर्णित है। इस परम्परा में इस कथा के अन्य नाम हैं—सौभाग्यपंचमीकथा, श्रुतपंचमी वर्णनरूप ज्ञानपचमी कथा और वरदत्तगुणमंजरीकथा। मुख्य रूप से ज्ञानपंचमीकथा में वरदत्त और गुणमजरी की कथा वर्णित मिलती है। परन्तु महेश्वरसूरि की ज्ञानपचमी में कुछ अन्तर है। इस में कथा इस प्रकार है—'दक्षिण भारत में गजपुर नाम के नगर में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में धणवइ सेठ रहता था, जिस के कमलश्री नाम की सुन्दर पत्नी थी। उन दोनो के भविष्यदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में ही वह सर्व विद्याओ में पारंगत हो गया। सहसा सेठ का मन कमलश्री से उचट गया और उस ने वरदत्त सेठ तथा

मनोरमा की पुत्री नागसरूपा से विवाह कर लिया। उस से वन्धुदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। पाँच सौ साथियो के साथ दोनों स्वर्ण द्वीप में गये। मार्ग में मयनागद्वीप मे छल से वन्धुदत्त भविष्यदत्त को छोड देता है। भविष्यदत्त कंचन से परिपूर्ण नगरी में गुफा में से हो कर पहुँचता है। पूर्व विदेह में जसोधर मुनि से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर अच्युतकल्प का महेन्द्र मित्र भविष्यदत्त के पास जाता है और दीवाल पर अक्षर लिख कर लौट आता है। भविष्यदत्त उन अक्षरो को पढ कर पाँचवें घर पर पहुँचता है। सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है। कमलश्री समाविगुप्त नामक मुनिराज से पुत्र-प्राप्ति के निमित्त नागपंचमी का व्रत ग्रहण करती है। अन्त में भविष्यदत्त घर लौट कर आता है। जब राजा को वन्धुदत्त के दुष्कृत्य का पता लगता है तव वह वन्धुदत्त को दण्ड देता है और भविष्यदत्त के साथ अपनी कन्या का विवाहकृत्य पूरा कर आधा राज्य प्रदान करता है। भविष्यदत्त की पत्नी भविष्यदत्ता के दोहला होता है। दोनों ही तिलकद्वीप में जाते हैं। वहाँ युगल मुनिवर के दर्शन होते हैं। वहुत समय तक सुख भोग करने के उपरान्त एक दिन नगर में मुनिराज का आगमन सुन कर भविष्यदत्त दर्शन करवे जाता है और दीक्षा ग्रहण कर लेता हैं।' इस प्रकार युद्ध-विवरण को छोड कर कथानक लगभग दोनो में समान है। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्तकथा की वस्तु स्पष्टत' विवुध श्रीधर रचित 'भविष्यदत्तचरित्र' से ली गयी है। कथानक-वन्ध तथा शैली में भी दोनो में साम्य लक्षित होता है। केवल विवुध श्रीधर ने धनेश्वर और लच्छी के पुत्री कमलश्री का होना कहा है और धनपाल ने उसे हरिवल तथा लच्छी की पुत्री कहा है। शेष वातें दोनो में समान हैं।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा ख्यातवृत्त रही है। अतएव प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। जिनरत्नकोश में दस ज्ञानपंचमी कथाओ का उल्लेख है।[1] इसी प्रकार मंजुश्री विरचित 'कार्तिकसौभाग्यपचमीमाहात्म्य' कथा सस्कृत में तथा पद्मसुन्दर कृत भविष्यदत्तचरित्र (नाटक) का उल्लेख मिलता है।[2] इन के अतिरिक्त अपभ्रंश में विवुध श्रीधर रचित भविष्यदत्तचरित्र तथा संस्कृत में पं० श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र का उल्लेख ही नही रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। हिन्दी में ब्र० रायमल्ल विरचित भविष्यदत्तचौपई मिलती हैं, जिसे पंचमीकथा या पंचमीरास भी कहते हैं। वनवारी कृत भविसदत्तचरित्र संवत् १६६६ की रचना है, जो चौपाई वन्ध में निवद्ध है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमीव्रतकथा को ले कर कई अज्ञात लेखको की भी रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में वणारसी कृत ज्ञानपंचमी चैत्यवन्दन, ज्ञानपंचमी उद्यापनविधि स्वाध्याय, विजयलक्ष्मीसूरि रचित ज्ञानपंचमीदेववन्दन, ज्ञानपंचमीस्वाध्याय और गुणविजय

१. एच० डी० वेलणकर जिनरत्नकोश, पृ० १४८।
२. वही, पृ० ८१।

कृत ज्ञानपंचमीस्तवन आदि रचनाएँ मिलती हैं।[1] संस्कृत में मेघविजय विरचित पंचमी-कथा और क्षमाकल्याण कृत सौभाग्यपंचमीकथा काव्यो का उल्लेख मिलता है।[2] हिन्दी में जिनउदय गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू की ज्ञानपंचमीचउपई का भी उल्लेख हैं।[3] मुक्तिविमल कृत ज्ञानपंचमी तो बहुत पहले प्रकाशित (१९१६ ई०) हो चुकी है। हिन्दी में तो छोटी-बडी प्रकाशित-अप्रकाशित कई रचनाएँ मिलती हैं। बनवारीलाल विरचित भविष्यदत्तचरित्र तो धनपाल की भविष्यदत्तकथा का हिन्दी पद्यानुवाद ही जान पडता है। इसी प्रकार साहु रत्नपाल भण्डारी लिखित दोहा-चौपाई छन्दोबद्ध भविष्यदत्तश्रुतपंचमी की कथा भी धनपाल के कथाकाव्य का पद्यानुवाद है। यह सवत् सतरह सौ सत्तावन की रचना है। परन्तु अविकल अनुवाद दोनो में से एक भी नही है। हाँ, सिन्धुनरेश के युद्ध का विवरण दोनो में मिलता है। इस प्रकार महेश्वरसूरि से ले कर (नवमी शताब्दी से पूर्व) पन्नालाल चौधरी (उन्नीसवी शताब्दी) तक भविष्यदत्तकथा निरन्तर भारतीय भाषाओ में लिखी जाती रही है। इस से कथा के महत्त्व का पता लगता है।

सस्कृत के कवि विवुध श्रीधर

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र पन्द्रह सर्गो की रचना है। इस की ग्रन्थ-संख्या पन्द्रह सौ बत्तीस है। अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और इन की रचना कथावस्तु में बिलकुल समान है। भाषा सरल एवं प्रसाद गुण से युक्त है। कही-कही महाकवि कालिदास की शैली तथा भावो का प्रभाव दिखाई देता है। यथा-स्थान सूक्ति तथा नीतिमूलक वाक्यो के प्रयोग से काव्य सजीव बन गया है। कवि ने इस कथा को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर श्रुति रूप में ज्यो की त्यो अपना कर लेखबद्ध कर अपने आप को अभिव्यक्त किया है। इस की एक प्रतिलिपि प्रति आमेरशास्त्र-भण्डार, जयपुर में है, जो विक्रम संवत् १५५५ की लिखी हुई है। निश्चय ही यह काव्य अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तचरित्र के पश्चात् लिखा गया है।

अपभ्र ंश-कवि विबुध श्रीधर

कई बातो में अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और उन के काव्य का महत्त्व है। पहली तो यह कि धनवइ कमलश्री को इस लिए नही छोडता है कि बालक भविष्यदत्त रतिगृह में था और उसे देख कर सेठ के मन में अन्यथा भाव उत्पन्न हुए और उस ने पत्नी को मायके जाने के लिए कह दिया, किन्तु वह किसी बात पर रुष्ट हो जाता है जिस से उस का हृदय उस से निकल जाता है और वह छोड देता है। महेश्वरसूरि की कथा में इस का सकेतमात्र है कि बिना किसी दोष के सहसा ही वह उसे छोड

---

१ महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा की प्रस्तावना, पृ० ७।

२ मोहनलाल दुलीचन्द देसाई—जैनसाहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ० ६५३।

३ नेमिचन्द्र शास्त्री जैनसाहित्य परिशीलन, पृ० २०६।

देता है। संस्कृत की कथा में विवुध श्रीधर की कमलश्री विनय के साथ पति से पूछती है कि आप किस कारण से मुझ से कुपित हो गये हैं, क्योंकि विना कारण तो पशु पर भी कोई कुपित नही होता। किन्तु सेठ कहता है कि नही, तुम से कुछ भी दु'ख नही है; किन्तु तुम्हें देखते ही हृदय में आग लग जाती है। परन्तु अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर की कमलश्री पति से तर्क-वितर्क न कर प्रेम से पूछती है कि क्या आप मुझ पर रुष्ट हैं? मुझे इस प्रकार अकेली क्यो कर दिया? यदि मुझ में कोई दोष हो तो वताइए। वह अकारण ही अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ कहता है कि तुम में कोई दोष नही है। धनपाल ने वातावरण उत्पन्न कर उस में स्वाभाविकता ला दी है, पर पाठक के मन में यह प्रश्नवाचक चिह्न लगा ही रह जाता है कि अकारण पति ने कमलश्री को क्यो छोड़ दिया? धनपाल ने इस का समाधान यही दिया है कि पूर्व कर्मों के अनिष्ट से ही धनवइ ने पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार किया। इस लिए ज्यो-ज्यो कमलश्री उस की आशाओं को पूरा करती है त्यो-त्यों उस का हृदय विसूरता है। अन्त में जब वह घर मे ही वियोगिनी की भाँति दुःखो को झेलने लगी तव किसी प्रकार माता-पिता के घर चली गयी। यहाँ कवि ने कर्मों को अदृष्ट कारण वता कर कथा की अस्वाभाविकता को वचा लिया है।

विबुध श्रीधर की भविष्यदत्तकथा

अपभ्रंश में लिखा हुआ यह कथाकाव्य धनपाल की भविष्यदत्तकथा से पहले की रचना है। काव्य का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है। फिर, कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय दे कर भविष्यदत्त के चरित्र के वर्णन का उपक्रम किया है। इस काव्य में छह परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद कड़वकों में निवद्ध हैं। वन्ध-रचना में यद्यपि कवि ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर साहित्यिक रूढियो का परिपालन नही हुआ है।

भाव-पक्ष

प्रत्येक काव्य की गुण-दोष की विवेचना के लिए उस के भाव और कला-पक्ष दोनों का सम्यक् विवेचन और अभिव्यंजना के अनुरूप उस की परख आवश्यक है। काव्य का सौन्दर्य इन्ही दो कूलो के मध्य तरंगित देखा जाता है। भाव-पक्ष में मर्मस्पर्शी भावनाओ और रसान्विति की मुख्यता निहित होती है। कला-पक्ष में रस, अलंकार, छन्द, भाषा और शैली मुख्य हैं।

यद्यपि इस काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं, पर घरेलू वातावरण से ओतप्रोत कमलश्री का वह दृश्य दर्शनीय है जब वह धीरे-धीरे माता के घर पहुँचती है। माता उसे अपनी आँखो से क्षीण शरीर से युक्त देख कर कहती है कि क्या तुम्हारा प्रेम चुक गया है? कमलश्री माता को दुखी देख कर कहती है कि माता दु ख क्षणिक है, इस लिए दु.ख मत करो, मन स्थिर करो (२,५)। धनपाल के काव्य में कमलश्री

माता को उपदेश देती हुई नही दिखाई देती। वह माता के गले से लिपट जाती है और रोती है। माता उसे समझाती है। कमलश्री रोती हुई तो यहाँ भी दिखाई देती है, पर उस का विवेक जाग्रत है। उस में गलदश्रु भावुकता नही है। गीतशैली में भावो की अभिव्यक्ति होने से उस में भावात्मक चित्र सजीव हो उठा है।

बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छल से मैनागद्वीप में छोड़ जाने के पश्चात् जब लौट कर उसी मार्ग से आता है तब भविष्यदत्त को सामने देख कर लज्जा से उस का मुख नीचा हो जाता है। वह कहता है—हे भाई, मुझ पर क्षमा करो। मैं कृतघ्नी निश्चय ही कोयल की भाँति हूँ। मै ने तुम्हारे विरह में वैसे ही दुःख पाया है जैसे कि गरमी के दिनों में बिना पानी के वृक्ष संतप्त होते हैं।

तं मज्झुप्परि खम करहि भाय   हउं णिग्घिणु खलु कोइल णिणाय।
हउं तुह विरहे संपत्तु दुक्खु   जिह पाणिएण विणु गिम्हे रुक्खु॥ (४,५)

यहाँ कवि ने भाई के मन की होने वाली स्वाभाविक मन.स्थिति का वर्णन कर लज्जा और ग्लानि के भावो को तिरोहित कर बन्धुदत्त के कपटपूर्ण हृदय का सकेत कर दिया है। इसी लिए वह भविष्यदत्त से कहता है कि अब ऐसा करो कि हम सब एक साथ बन्धु-बान्धवो से जा कर मिलें। भविष्यदत्त उस की चाल को न समझ कर उस के साथ जाने को तैयार हो जाता है। कथावस्तु की दूसरी विशेषता का हमें यहाँ पता लगता है जब भविष्यानुरूपा पति से कहती है कि मैं सेज पर नागमुद्रिका भूल आयी हूँ, इस लिए उसे ले आइए। इधर भविष्यदत्त मुंदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त अवसर पा कर पोत चलवा देता है। कई कथाओ में भविष्यदत्त का नागमुंदरी लेने जाने का कारण प्रदर्शित नही है। यह विबुध श्रीधर की अपनी विशेषता है। यदि कालिदास ने शाप की कल्पना कर शाकुन्तल की वस्तु की अस्वाभाविकता बचा ली तो विबुध श्रीधर ने नागमुंदरी की कल्पना कर स्वाभाविकता की रक्षा की है। क्योकि यह कह देने से कि छल से बन्धुदत्त फिर से भविष्यदत्त को छोड़ कर चल दिया पाठको को सन्तोष नही होता। फिर, पहले का कारण तो स्वाभाविक था कि भविष्यदत्त पहली बार उस वन में, द्वीप में आया था और पुष्पप्रिय था इस लिए दूर तक वनराजि को देखता निकल गया और इसी बीच बन्धुदत्त ने अवसर पा कर उसे वही छोड़ दिया। किन्तु यहाँ ऐसी क्या बात थी? नागमुंदरी भविष्यानुरूपा को बहुत प्रिय थी, इस लिए भविष्यदत्त उसे लेने चला गया। कथा की यह स्वाभाविकता विबुध श्रीधर और धनपाल दोनो में है।

मार्मिकता की दृष्टि से वह स्थल अत्यन्त सरस है, जहाँ बन्धुदत्त से दूसरी बार छले जाने पर भविष्यदत्त बहुत दुखी होता है और कई प्रकार से विलाप करता है। इस समय उस की वही दशा होती है जो सीता के हरण किये जाने पर श्रीरामचन्द्र की हुई थी। वन के पक्षी भविष्यदत्त को सम्बोधते हुए कहते हैं—

ते भणहिं णाइ भो भविसयत्त पियविरह जाय महदयसयत्त ।
मा करहि सोउ णियमणि मइल्ल जिणधम्मकम्म विरयण छइल्ल ।
संजोय विओयइ हुंति जाणु सव्वहं जणाहं मा भंति आणु ।

अर्थात् वे पक्षी कहते है कि हे भविष्यदत्त ! प्रिय के वियोग में बहुत दुःख होता है, पर शोक कर अपना मन मैला न करो । क्योकि तुम जिनधर्म के कार्यों को करने में चतुर हो और इस लिए जानते ही हो कि कर्मो के विपाक से सयोग और वियोग होता है। सभी लोगो को ये सुख-दुःख देते हैं । इस में किसी प्रकार की भ्रान्ति न करो ।

इसी प्रकार पुत्र के वियोग में कमलश्री अत्यन्त दुखी होती है । वह नहाना-धोना और बोलना तक छोड देती है । उस की माँ समझाती है, पर उस का मन नहीं मानता । जैसे-तैसे उस के दिन बीतते हैं । वस्तुत. वियोग जीवन में अनिवार्य है । विना उस के प्रेम आँच में तप कर खरा नही होता, किन्तु संसारी जीवो की परिणति आकुलता-व्याकुलतामय अधिक होती है, इस लिए वे वियोग का मूल्य नही आँक पाते ।

गीतिशैली में वन एवं प्रकृति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि भविष्यदत्त ने उस भयानक वन में मदजल से भरे हुए श्रेष्ठ हाथियो को देखा । कही पर शाखामृग (बन्दर) निर्भय हो कर डालियो से चिपके हुए थे, कही पर छोटे और कही पर आकाश को छूने वाले वृक्षों की शाखाओ पर लोटते हुए, हरे फलो को तोडते हुए बन्दर दिखाई दे रहे थे । कही पर पुष्ट देह वाले सुअर घूम रहे थे और कही रोष से से भर कर किसी को भग्न कर महाबाघ पेडो से आ लगे थे । कही-कही पर विकराल काल के समान पशु दिखाई पड़ रहे थे और कही पर मोटे-ताजे सियार परस्पर जूझ रहे थे । उसी के पास में झरना वह रहा था, जो पहाड की गुफाओ को अपने कलकल शब्द से भर रहा था—

तें बाहुडडेण कमलसिरिपुत्तेण
दिट्ठाइ तिरियाइं वहुदुखभरियाइं
गयवरहो जंतासु मयजलविलित्तासु
कित्थुवि मयाहीसु अणुलग्गु णिरभीसु
कित्थुवि महीयाहं गयणयलवि गयाहं
साहासु लोडंतु हरिफलइं तोडंतु
केत्थुवि वराहाहं वलवंतदेहाहं
महवग्घु आलग्गु रोसेण परिभग्गु
केत्थुवि विरालाइं दिट्ठइं करालाइं
केत्थुवि सियालाइं जुज्झंति थूलाइं
तहे पासे णिज्झरइ सरतइं गिरिकन्दरविवराइं भरंतइं ।

इस प्रकार वर्णन स्वाभाविक है । इस में अलंकरण या चमत्कार विलकुल नही है । देखी हुई वस्तुओ का ज्यों का त्यो वर्णन है । प्रकृति का यह वर्णन आलम्बन रूप

में हुआ है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो की यह विशेषता है कि उन में प्रकृति का आलम्बनात्मक वर्णन ही मुख्य है। नायक की वियोग को अवस्था में प्रकृति की वस्तुएँ न तो आँसू ही वहाती हैं और न प्रिय के वियोग में स्मृतियो को उद्दीप्त कर सहानुभूति ही प्रकट करती है। इस में कवि की निवृत्ति भावना ही मुख्य जान पडती है, जो पूर्व पक्ष में संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ का चित्रण कर अन्त में उस की यथार्थता का रहस्योद्घाटन करती है। परन्तु इस का यह अर्थ नही है कि जनसुलभ अनुभूतियो और मानवीय सवेदनाओ की करुण अभिव्यक्ति का अभाव है। यथार्थत. राग-विराग की कोमलतम अनुभूतियो से काव्यात्मक अभिव्यजना समन्वित है, जिस में जीवन का परिवेश धार्मिक भावनाओं से मण्डित है। इस लिए प्रसगत वियोगजन्य अनुभूतियो की मार्मिकता भी लक्षित होती है। पुत्र के वियोग में कमलश्री अत्यन्त संतप्त है। उस का मन किसी भी काम में नही लगता है। वह पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि मन, मेरा हृदय क्यो नही फूट जाता ? कमलश्री रात-दिन रोती है। उस की आँखो से टपकते हुए आँसू जलधारा की वत्तियाँ (वर्तिकाएँ) ही वन जाते हैं। भूखी-प्यासी और क्षीण शरीर वाली होने से अपने मैले शरीर पर ध्यान ही नही दे पाती।

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि   ण करमि कमल मुहुल्लउ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु   फुट्टु ण मण हियउल्लउ। (३,१६)
रोवइ धुवइ णयण चुव अंसुव   जलधारहिं वत्तओ।
भुक्खइं खीण देह तण्हाइय   ण मुणइं मलिण गत्तओ। (४,५)

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने पुष्पक विमान में लका से लौटते समय रामचन्द्र के मुख से मार्ग में मिलने वाले वन, पर्वत, आश्रम आदि का सीता को निर्दिष्ट कर उल्लेख किया है उसी प्रकार भविष्यदत्त भी विवुध श्रीधर के कथाकाव्य में दोहला युक्त भविष्यानुरूपा को मार्ग में शिला, झरना, पर्वत, वृक्ष आदि का स्मरण कराता हुआ विमान से तिलकद्वीप पहुँचता है, जिस का कवि ने सटीक वर्णन किया है। (५,३) किन्तु एक-एक वस्तु का जैसा काव्यात्मक एवं यथार्थ चित्रण कवि धनपाल ने किया है वैसा विवुध श्रीधर के काव्य में नही मिलता। समूची कथा लोक शैली में वर्णित प्रतीत होती है। रूप-वर्णन का एक चित्र देखिए—

वालहरिणि चंचलयर णयणी   पुण्णिम इंदविंवसम वयणी।
रायहंसगामिणि ललियंगी   अवयवेहिं सव्वेहिवि चंगी॥

अर्थात् वाल हिरनी के समान स्वरूपा के नयन थे। पूनम के चंदा जैसा उस का मुख था। राजहस के समान मन्द गति थी। ललित अंगो वाली थी। उस के सभी अंग निरवद्य थे। इसी प्रकार वाल भविष्यदत्त का वर्णन देखिए—

कालेण गलिय तहो पंचवरिस   कीलंतहो घरि सजणिय हरिस।
सो कविल केस जड कलिय सीसु   धूली उद्धूलिय तणु विहीसु।

करजुवल कडुल्ला सोहमाणु पायहि णेउर रंखोलमाणु ।
वाहिर हो मावइ गेहु जाम वड्ढइ जणणिहें आणंदु ताम ।

अर्थात् जब वालक पाँच बरस का हो गया तब घर में खेलता हुआ जननी को हर्ष बढ़ाने लगा । उस के सिर के बाल भूरे थे । शरीर को धूलि से धूसरित कर वह सोहने लगा । उस के दोनो हाथो में चूरा (कड़े) शोभायमान थे । पैरों में घुँघरू शब्दायमान थे । जिस समय वह बाहर से भीतर घर में आता था तब जननी उसे देख कर आनन्द से फूल उठती थी ।

इन वर्णनो को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कवित्व शक्ति से भरपूर है, पर कल्पनात्मक वैभव, बिम्बार्थ-योजना और अलंकरणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्तकथा में लक्षित होती है वह इस काव्य में नही है ।

भाषा

भाषा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है । सीधी-सादी एवं सरल भाषा में यह पूरा काव्य निबद्ध है । इस में धनपाल के काव्य की भाँति लोक तथा शास्त्र एवं साहित्य की भाषा का मेल न हो कर जन-बोलीका रूप दिखाई पड़ता है । काव्य के वर्णनो से भी इस बात की पुष्टि होती है । यथा—

कहिंवि तूर वज्जंति णिब्भरं
कहिंवि लोय जोयहिं परोप्परं
जिणमन्दिरे घण्टा टणटणाले .... ।

लोकशैली में वर्णित गीतों से भी यही धारणा बनती है । फिर, कवि की रागात्मिका बुद्धि घरेलू वातावरण को चित्रित करने में जैसी रमी है, वैसी प्रकृति-वर्णन-रूप तथा अन्य घटनाओ की प्रभावान्विति एव रस-व्यंजना में उस का चमत्कार नही दिखाई पड़ता । फिर भी, कुल मिला कर रचना का प्रभाव ठीक ही है ।

विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तकथा की भाषा चलती हुई और प्रसाद गुण युक्त है । तेरहवी शताब्दी की जनसामान्य में प्रचलित भाषा के शब्द-रूप इस रचना में स्पष्टतः मिलते हैं । जैसे—जावहि (ज्यो ही), तावहि (त्यो ही), वारवार, णिरारिउ (निनारी, पद्मावत), फोफल (सुपारी), करीर, तिंदु, बिल्ल (बेल), करवंद (करोंदा), झत्ति (झट से), सपत्तउ (सपाटे से, भ्रमरवत् त्वरता), करंती, हरती इत्यादि । भाषा भावो के अनुकूल और मधुर है । यथा—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जंतु सुहयारउ ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढदेवलहि पियारउ ॥

रचना में कृदन्त शब्द-रूपो की प्रचुरता है । क्रिया में लिंग भी इस में स्पष्ट रूप मिलता है । उदाहरण के लिए—

गय मंदिरु सज्जणसुह जणणहो ।

जा परिवारेँ सहुं आवंतो णिय सहोहिँ परियरिय रुवंति ।

इसी प्रकार एकल्ली, चगी, भुक्खइं, संचल्ली आदि रूपों में स्त्रीलिंग का प्रयोग स्पष्ट है । कहा जा सकता है कि ऐसे प्रयोग कृदन्त क्रियाओ में देखे जाते हैं । यह सच है कि मुख्य रूप से कृदन्त क्रियाओ में स्त्रीलिंग का आभास होता है और वे शब्द-रूप स्पष्टतः समझ में आ जाते हैं । किन्तु नाम-रूपों में तथा वर्तमानकालिक क्रियाओ में भी क्रिया में लिंग दिखाई देता है । जैसे कि—

पर सुमरंति हे सुउ होइ महु फुट्टु ण मण हियउल्लउ ।

यहाँ पर 'सुमरंति' का अर्थ स्मरण करती है; न कि याद करती हुई । ऐसे कई प्रयोग इस काव्य में हैं । भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियो तथा सूक्तियो का भी प्रयोग हुआ है । बोलचाल में प्राय प्रयोग करते हैं कि ले-दे कर अर्थात् वड़ी कठिनाई से किसी प्रकार काम हुआ । उसी के लिए कवि ने "सो लिंतु दिंतु तहिं दिण गमइ" का प्रयोग किया है जो जनसामान्य की बोली का स्मरण दिलाता है । इसी प्रकार सूक्तियाँ भी लोक सामान्य में प्रचलित मिलती हैं । यथा—

विणु उज्जमेण णउ किंपि होइ ।

अर्थात् विना उद्यम के कोई काम नही वनता ।

जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ । (२,१९)

अर्थात् जो विना पुण्य के लक्ष्मी की अभिलाषा करता है वह वैसे ही है जैसे कि विना धन के शत्रु को प्रसन्न करना ।

जहिं रुच्चइ तहिं फिरि फिरि रमइं । (३,१६)

अर्थात् जहाँ अच्छा लगता है वहाँ मनुष्य बार-बार जाता है ।

इस प्रकार विबुध श्रीधर की भाषा को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भ० क० में प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है । यथा—

अवसरु पावेवि मारइ णिच्छउ पइ एत्थुवि पुरवरि एहु अच्छउ ।

अहवा ठाइ ण केम वि वारिउ पइसिहुं सरहसु जाइ णिरारिउ ।

अर्थात् सरूपा बन्धुदत्त को समझाती हुई कहती है कि तुम अवसर पा कर उस को (भविष्यदत्त को) निश्चय से मार डालना । किन्तु वहाँ पुर के लोग भी होंगे । वे यदि रोकें तो वेग से अलग कर देना ।

वहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ ।

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जतु सुहयारउ ।

पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढदेवलहि पियारउ ॥

अर्थात् किन्तु उस पट्टन में एक भी आता-जाता मनुज सुखकारक नही दिखाई दिया । परन्तु मनोहर मठ और प्यारे देवालय दिखाई दिये ।

शैली

यह काव्य कडवकवद्ध शैली में रचित है। इस में कुल तीन सौ सैंतीस कडवक है। कडवक-रचना में कडवक के आरम्भ में अधिकतर दुवई और अन्त मे दुवई का प्रयोग मिलता है। कही-कही आरम्भ में दोहा या चौपाई और अन्त में दुवई तथा घत्ता-प्रयुक्त हैं। दुवई की भाँति घत्ता भी कडवक के अन्त में अधिकतर जुड़ा हुआ दिखाई पडता है। इस में एक परिच्छेद में पन्द्रह से ले कर तैंतीस कड़वक तक प्रयुक्त हैं। एक कड़वक में दस पंक्तियो से ले कर तेरह पंक्तियो तक में पद्धड़िया छन्द का प्रयोग हुआ है।

छन्द की दृष्टि से यह कथाकाव्य पद्धडिया शैली में लिखा गया है, जो अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्य की प्रचलित शैली रही है। समूचा काव्य पद्धडिया छन्द में मुख्य रूप से तथा कड़वकशैली में निवद्ध है। अपभ्रंश में घत्ता की सामान्य संज्ञा रही है, पर छन्द के रूप मे भी उस का प्रयोग देखा जाता है। कडवक के अन्त में जिस भिन्न छन्द को छोड कर कडवक की समाप्ति की जाती है उसे घत्ता कहते है। किन्तु इस कडवक-रचना के अन्त मे घत्ता के रूप में प्रायः छन्द का प्रयोग देखा जाता है। सम्भवतः इसीलिए उस कडवक का नाम घत्ता पड़ गया प्रतीत होता है।

साहित्यिक रचना का विचार करते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोच्यमान काव्य की शैली प्रसाद एवं सरल होने पर भी सरस तथा माधुर्य गुणो से युक्त है। कवि की शैली संक्षिप्त तथा काव्य-सौष्ठव से भरित है। उदाहरण के लिए, निम्न-लिखित दो पंक्तियों में कमलश्री की वियोग-दशा का कितना सजीव चित्र अंकित कर दिया है—

रोवइ धुवइ णयण चुव अंसुव जलधाराहि वत्तओ।
भुक्खइं खीण देह तण्हाइय ण मुणइं मलिण गत्तओ॥ (४,५)

संक्षेप में, कवि की शैली भाव, भाषा तथा रचना के सर्वथा उपयुक्त एवं संक्षिप्त है।

संवाद

प्रस्तुत काव्य में संवाद अत्यन्त मधुर एवं ललित हैं। विरुद्ध चरित्र वाले पात्रों के मुख से भी कवि ने मधुर शब्दो में वढिया वार्तालाप अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए, सरूपा भविष्यदत्त के सम्वन्ध में कहती हुई वन्धुदत्त से कहती है—

एहु पुत्तु जेट्ठउ धणसामिउ महु भत्तारहो गयवरगामिउ।
जइ एयहो मिलतिए वणिवर दविणवंत रूवें जिय रइवर।

उक्त पंक्तियो में जहाँ सरूपा मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या को प्रकट करती है वही नायक के चारित्रिक गुणो पर भी प्रकाश पडता है। आगे की पक्तियो में और भी स्पष्ट है। इस प्रकार संवादो के माध्यम से कवि ने पात्रो की वैयक्तिक अनुभूतियो के साथ ही उन के चरित्रो पर भी प्रकाश डाला है।

भाषा की दृष्टि से इस रचना के संवाद अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल हैं। उन में स्वाभाविकता और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग सर्वथा उचित तथा मधुर है। जैसे कि—

वहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ।
मइं वारिओसि णवणलिण मुहुं जुत्तउ ण होइ फुडु गमणु तुहुं।

कमलश्री अभी प्रसूति से उठी है। पुर की वनिताएँ आ कर उस से पूछती हैं—क्यों वहुत दिनो में तुम्हारे पुत्र हुआ? मैं इस नये कमल-मुख पर वलिहारी हूँ। अब तुम्हें चलना-फिरना युक्त नही है।

इस प्रकार संवादो में माधुर्य छलकता हुआ लक्षित होता है। घरेलूपन तथा वोलचाल की स्वाभाविकता से सवादो में सजीवता सर्वत्र दिखाई पडती है (४,५)।

प्रवन्ध-रचना

प्रवन्ध-रचना में वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता तथा काव्य-रूढियो का पालन प्रस्तुत काव्य में भी देखा जाता है। किन्तु अपभ्रंश के अन्य प्रवन्धकाव्यो से इस में काव्य-रूढियाँ कम मिलती हैं। काव्य-रूढियो में ये वातें इस कथाकाव्य में हैं— मगलाचरण, स्ववश-कीर्तन, आत्मपरिचय और ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन। यद्यपि कथा के स्वाभाविक विकास से तथा घटनाओ की गतिशीलता से प्रबन्ध-रचना स्वाभाविक वन पडी हैं, किन्तु अवान्तर कथाओं के उल्लेख से कहीं-कही कथानक दव-सा गया जान पडता है। कुल मिला कर रचना स्फीत एवं प्रेरक है।

अलंकार

काव्य में साधर्म्य मूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। भाषा के सामान्य व्यवहार में जिन अलंकारो का स्वाभाविक रूप से प्रयोग होता है लगभग वे ही अलंकार इस रचना में प्रयुक्त हैं। इस रचना को भलीभाँति देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश के कवियो ने अधिकतर लोक भाषा, शैली, अलकार और छन्दो का प्रयोग किया है। वे शास्त्रीयता से हट कर लोक-रचना-शैली में प्रवृत्त हुए है। यही उन की सव से वडी विशेषता है। अलकारो में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। कुछ अलंकार इस प्रकार है—

तहि सिट्ठि सुरवउ घणवइ हूवउ सयलकलालकरिय मणु।
जणवइ मण्णिज्जइ णिरु पुज्जिज्जउ णं अवयरिउ सिरिरमणु ॥१,७

(स्वरूपोत्प्रेक्षा)

एउ जाणेविणु सोउ ण किज्जइ मइं वडणा गरलुव वज्जिज्जइ।

(उपमा)

वालहरिणि चंचलयर णयणी पुण्णिम इंदविंव सम वयणी। (उपमा)
जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ सो घणेण विणु सत्तु पसाहइ। (दृष्टान्त)
विणु उज्जमेण णउ किंपि होइ एहउ आहासइ परम जोइ। (लोकोक्ति)
तं देखेविणु सो संकियउ एरिसउ मग्गु एहु किं कियउ।
णरु एक्कु वि दीसइ एत्थु णउ विणु मणुयहि भय संजाइउ। (विनोक्ति)

अन्य अलंकारो में रूपक, अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग आदि इस काव्य में मिलते है, जो स्वाभाविक रूप में निहित हैं। वोलचाल के रूप मे प्रयुक्त होने के कारण इन अलंकारो को ढूंढ निकालने में कठिनाई का अनुभव होता है। क्योकि अलंकारो का प्रयोग चमत्कार के लिए न हो कर भापागत प्रयोगो में हुआ है, जिन का हम रात-दिन प्रयोग करते रहते हैं और इसी लिए साहित्यिक भाषा और अलंकारो के प्रयोगो में जो स्पष्ट भेद दिखाई पडता है उन का इनमें सरलता से पता नही लगता। वस्तुतः कवि की यह सव से वडी सिद्धि है कि वह जैसा अनुभव करता है और उस की अनुभूति में जो रस अनुस्यूत होता है उसे वह विविध कल्पनाओ एवं चित्रो के विम्वार्थ के माध्यम से वैसी ही रस-सृष्टि कर अभिव्यंजित कर दे। हमारी दृष्टि में धनपाल और विवुध श्रीधर दोनो को इस में सफलता मिली है।

छन्द

इस कथाकाव्य मे मुख्य रूप से पद्धडिया छन्द का प्रयोग हुआ है। कडवक रूप में प्रयुक्त अन्य छन्द है—दुवई, चौपाई, घत्ता और दोहा। संस्कृत के प्रवन्धकाव्यो की भाँति सन्धि या परिच्छेद के अन्त मे छन्द परिवर्तन का नियम इस काव्य में नही मिलता। सामान्यत कडवक के अन्त में दुवई या उस की जाति के किसी छन्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इस में कडवक के आरम्भ में दुवई, मध्य में पद्धडिया और अन्त में घत्ता या दुवई का प्रयोग मिलता है। दुवई, चौपाई और दोहा छन्दो में कोई नवीनता नही मिलती, पर घत्ता के कई रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिए—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुअ एंतु जंतु सुहयारउ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढ देवलहि पियारउ॥

उक्त घत्ता छन्द में १५,१२ के क्रम से एक पक्ति में सत्ताईस और कुल चौवन मात्राएँ हैं। श्री वेलणकर ने घत्ता के नौ भेदो का सूची में उल्लेख किया है।[1] किन्तु उन नौ भेदो से उपर्युक्त लक्षण भिन्न है। "छन्दोऽनुशासन" मे इस से मिलता-जुलता चन्द्रलेखिका छन्द है।[2] दूसरा उदाहरण है—

---

१ एच० डी० वेलणकर छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५४।
२ वही पृ० ३५४। कविदर्पण के अनुसार—८,८,११ के क्रम से, पर उक्त छन्द में यह क्रम नहीं है। चन्द्रलेखिका छन्द का लक्षण है—
समे द्वादश ओजे पचदश चन्द्रलेखिका।—छन्दोऽनुशासन, ६,२०,४४।

देक्खालइ णरणाहु तहुण इह अइ मुत्तउ तरवरु वुच्चइ।
एह सिलाए णिज्झरण देक्खंतहो मणु कासु ण रुच्चइ ॥ (५,३)

इस की दोनो पंक्तियो में उनतीस-उनतीस मात्राएँ हैं। यह षड्पदी छन्द है। इस में १०,८,११ के क्रम से उनतीस मात्राएँ होती है।[१] इसी प्रकार १६-१६ प्रथम और तृतीय-चरण में तथा १२-१२ द्वितीय और चतुर्थ चरण के क्रम से अट्ठाईस मात्राओ का घत्ता भी मिलता है—

ता मणइ किसोयरि कमलसिरि, ण करमि कमल महुल्लउ।
पर सुमरति हे सुउ होइ महु, फुट्टु ण मण हियउल्लउ ॥ (३,१६)

इसी प्रकार इकतीस और बत्तीस मात्राओ के पद वाले घत्ता छन्द भी इस काव्य में प्रयुक्त हैं। इस प्रकार घत्ता के कई भेद अकेली इस रचना में मिलते है।

---

१ वही, पृ० ३५४।

चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्य

विलासवईकहा

कवि का परिचय

विलासवईकहा के लेखक श्वेताम्बर जैन मुनि सिद्धसेनसूरि हैं, जिन का उपनाम साधारण है। कवि का गृहस्थ दशा का नाम साधारण है और मुनि अवस्था का सिद्धसेनसूरि।[1] साधारण सिद्धसेन का जन्म वाणिज्य नामक मूलकुल में कौटिक गण को वज्र शाखा के अन्तर्गत चन्द्र वंश में हुआ था[2]। कवि का जन्मस्थान धंधुका नगर है, जो आज भी गुजरात में इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह वही नगर है जिस में सुपासनाहचरिअ के लेखक लक्ष्मणगणि और आ० हेमचन्द्र ने जन्म लिया था। कवि के गुरु का नाम यशोदेवसूरि था। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए कवि ने स्वय कहा है कि मैं जड़मति मथुरा देश में यशोभद्रसूरि के गच्छ में उत्पन्न श्री बप्पभट्ट सूरि शिष्य के श्री शान्तिसूरि तथा उन के शिष्य यशोदेवसूरि का शिष्य हूँ।[3] आलोच्यमान ग्रन्थ की रचना गोपगिरि शिखर पर रहने वाले भिल्लमाल कुल के सर्वप्रधान लक्ष्मीधर शाह के कहने से हुई।[4] कवि के वंश में परम्परा से साहित्यानुराग बना था। इस लिए उस ने अपने को कवियो की सतान कहा है।

जैन साहित्य में सिद्धसेन नाम के कई विद्वानो का उल्लेख मिलता है। पहले सिद्धसेन दिगम्बर आचार्य थे। उन का उपनाम दिवाकर था। सिद्धसेन दिवाकर का समय लगभग ५७५-६०० ई० कहा जाता है।[5] क्योकि आ० अकलंकदेव सिद्धसेन

१, साहारणो जि नाम सुपसिद्धो अत्थि पुव्वनामेण १,४।

२ ठाणिज्जे (वाणिज्जे) मूलकुले कोडिय गणि विउल वइरसाहाए।
विमलम्मिय चदकुले व सम्मिय कव्वकन्नाण (सव्वकव्लाण) सताणे ॥ १,१ ॥

३ रायसहा सेहरि सिरि वप्पभट्टसूरिस्स।
जसभद्दसूरिगच्छे महुरादेशे सिरोहाए ॥ १,२ ॥
आसि सिरिसतसूरी तस्स पय आसि सूरिजसदेवो।
सिरि सिद्धसेणसूरी तस्स वि सीसो जडमई सो ॥ १,३ ॥

४ सिरि भिल्लमालकुलगयणचद गोवइरि सिहरनिलयस्स।
वयणेण साहुलच्छीहरस्स रइया कहा तेण ॥ १,५ ॥

५. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन 'अकलङ्कदेव और उन का समय' जैनसन्देश, शोधाक २, १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ४८।

दिवाकर के सन्मतितर्क से भलीभाँति परिचित थे। और आठवी शताब्दी के आ० हरिभद्रसूरि ने 'अकलकन्याय' का स्पष्ट उल्लेख किया है। फिर, सन्मतितर्क के टीकाकार मल्लवादी का समय लगभग छठी शताब्दी कूता जाता है। अतएव दिवाकर का समय छठी शताब्दी के वाद का तो निश्चित रूप से नही है। वे पाँचवी-छठी शताब्दी के वीच किसी समय में हुए थे। सन्मतितर्क के अतिरिक्त कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तथा शक्रस्तवन के रचयिता भी सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं।[1] इन के अतिरिक्त उन के लिखे हुए द्वात्रिंशद्त्रिंशिका तथा वेदवादद्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थो का भी उल्लेख मिलता है।[2] जिनरत्नकोश में द्वात्रिंशद्त्रिंशिका के साथ ही द्वात्रिंशिकाएकविशति के उपलव्ध होने का विवरण सकलित है।[3] इसी प्रकार 'वृहत्षड्दर्शनसमुच्चय' के लेखक सिद्धसेन दिवाकर माने जाते हैं। श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो ही उन्हें अपना-अपना आचार्य मानते हैं।[4] इस से पता चलता है कि सिद्धसेन दिवाकर अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्हें दिगम्वर और श्वेताम्वर दोनो ही सम्प्रदाय के लोग मानते आ रहे हैं। उन की प्रसिद्धि का इस से वडा प्रमाण अन्य क्या मिल सकता है ?

सिद्धसेन नाम के विभिन्न विद्वान्

दिगम्वर सम्प्रदाय के आचार्यों एव कवियो के उल्लेखो के आधार पर इस वात के कई प्रमाण मिलते हैं कि सिद्धसेन दिगम्वर आचार्य एव एक कवि थे। किन्तु निश्चय रूप से यह कहना वहुत कठिन है कि उल्लिखित सिद्धसेन ही सिद्धसेन दिवाकर थे। फिर भी, प्राप्त प्रमाणों के अनुसार उन का दिगम्वर सम्प्रदाय का होना निर्विवाद सिद्ध है, जो इस प्रकार है—

प्रथम, भ० यश कीर्ति ने दिगम्वर आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और देवनन्दी के साथ ही जिनसेन और सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।[5] मुनि कनकामर ने भी अकलंकदेव, समन्तभद्र, जयदेव और स्वयम्भू के साथ पुष्पदन्त तथा सिद्धसेन का उल्लेख किया है।[6] इसी प्रकार धनपाल द्वितीय ने "वाहुवलिचरित" में और हरिषेण ने "धर्म-परीक्षा" में सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।[7] वस्तुत. सिद्धसेन उन का नाम था और दिवाकर उपाधि। इसलिए उन का नाम सिद्धसेन ही लिखा मिलता है। दूसरे,

१ राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, पृ० ३०१।

२. प० सुखलाल सघवी 'प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन दिवाकर', प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ३७६, ३८४।

३ जिनरत्नकोश, प्रथम जिल्द, पृ० १८३।

४ जैन ग्रन्थावली, पृ० ६४।

५ जिणसेण सिद्धसेण वि भयत, परवाइदप्प भजण कयत।—भ० यश कीर्तिविरचित चन्द्रप्रभ-चरित प्रशस्ति।

६ करकण्डचरिउ, १ २ ८-६।

७ सिरसिद्धसेण पवयण विणाउ जिणसेणें विरइउआरि सेउ।—वाहुवलिचरित की प्रशस्ति। तो वि जिणिंद धम्मअणुराएँ वुहसिरिसिद्धसेण सुपसाए।—धर्मपरीक्षा, १. १ १०।

आ० कुन्दकुन्द के अनुसार ही सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय की अभेदता का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार षड्नयवाद की स्थापना दिगम्बर आम्नाय के अनुकूल है।[१] तीसरे, उन के सन्मतितर्क का प्रभाव आ० अकलंक और क्षमाश्रमण पर समान रूप से लक्षित होता है, पर न्यायावतार का कोई प्रभाव अकलंक स्वामी पर दृष्टिगत नही होता है। चौथे, दिवाकर ने क्षमाश्रमण की आगम विरुद्ध मान्यता का विरोध किया है।[२] अतएव निश्चय ही सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे, जिन का उल्लेख अपभ्रंश-कवियो ने किया है। न्यायावतार के कर्त्ता उन से भिन्न परवर्ती आचार्य थे।

न्यायावतार नामक दर्शन ग्रन्थ के रचयिता आ० सिद्धसेन श्वेताम्बर विद्वान् थे। उन का समय लगभग आठवी शताब्दी कहा जाता है। डॉ० जगदीशचन्द्र ने जीतकल्पसूत्र पर आ० सिद्धसेन की चूर्णिरचना का उल्लेख किया है।[3] किन्तु उन के समय का निश्चय न होने से उन के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार प० महेन्द्रकुमार शास्त्री ने तत्त्वार्थभाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणि का उल्लेख किया है, जो आठवी शताब्दी के विद्वान् थे।[४] मेरे विचार में सिद्धसेनगणि और सिद्धसेन दोनो एक ही विद्वान् थे, जिन का उल्लेख प्रो० मालवणिया ने किया है।[५] प० महेन्द्र-कुमार जी के अनुसार उन्होने तत्त्वार्थभाष्य की टीका लिखी थी। प्रो० मालवणिया जी ने उन की लिखी हुई वृहत्काय वृत्तियो की रचना का उल्लेख किया है। इन के अतिरिक्त देवगुप्त के शिष्य सिद्धसूरि के द्वारा 'नमिऊणक्षेत्रसमास' की वृत्ति तथा 'सम्यक्त्व-रहस्यस्तोत्र' लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।[६]

उपलब्ध रचनाओ के आधार पर सिद्धसेनसूरि नामक तीन विद्वानो का पता चलता है। पहले आचार्य दसवी शताब्दी या उस के पूर्व के हैं। इन का उल्लेख वीरसूरि ने अपने चन्द्रप्रभचरित्र नामक प्राकृत काव्य में किया है, जिस का रचना-काल वि० स० ११३८ है।[७] दूसरे विद्वान् आलोच्यमान काव्य के रचयिता साधारण सिद्धसेन-सूरि हैं। स्वय कवि ने स्तुतियो तथा स्तोत्रो को लिखने तथा उन की प्रसिद्धि का उल्लेख किया है।[८] अतएव नमस्कारमाहात्म्य के कर्त्ता सिद्धसेनाचार्य यही प्रतीत होते हैं।[९] तीसरे आचार्य सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य हैं, जिन का समय बारहवी

---

१ प० महेन्द्रकुमार शास्त्री न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७२।
२ वही, पृ० ७८।
३ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० १६१।
४ न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७८ तथा १०४।
५ श्री दलसुखभाई मालवणिया जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, पृ० ८।
६ जैनग्रन्थावली, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, बम्बई की ओर से प्रकाशित, पृ० १२०, १४६।
७ वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ११६।
८. थुइ थोत्ता बहुभेया जस्स पढिज्जति देसेसु। १,४
९. वेलणकर केटलाग ऑव सस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स खण्ड तृतीय-चतुर्थ, पृ० ४६५।

शताब्दी है।[1] प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि और देवभद्रसूरि के शिष्य सिद्धसेनसूरि दोनो एक ही विद्वान् हैं। क्योकि इन सिद्धसेनसूरि का लिखा हुआ पद्मप्रभचरित्र नाम का काव्य भण्डारो में उपलब्ध है। इस का उल्लेख जिनरत्नकोश में भी है। कवि के द्वारा लिखी हुई प्रशस्ति से पता चलता है कि वे राजागच्छ के देवभद्रसूरि के शिष्य थे। उन का यह उल्लेख प्रवचनसारोद्धार की टीका में मिलता है।[२] इस प्रकार निश्चित रूप से सिद्धसेनसूरि नाम के तीन विद्वान् हुए, जिन्होने धार्मिक ग्रन्थो के अतिरिक्त काव्य भी रचे थे।

साधारण सिद्धसेन और बारहवी शताब्दी के सिद्धसेनसूरि दोनो भिन्न-भिन्न आचार्य थे। क्योंकि साधारण सिद्धसेन यशोदेवसूरि के शिष्य थे और सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य। दोनो के गच्छ भी अलग-अलग थे। श्री देवभद्रसूरि का जन्म श्रीचन्द्र गच्छ में हुआ था। उन्ही के शिष्य सिद्धसेनसूरि थे। सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनि चन्द्रसूरि हुए, जो उस समय के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य थे।[3]

रचना-काल

विलासवईकहा अपभ्रंश के उपलब्ध प्रेमाख्यानक कथाकाव्यो में सब से प्राचीन रचना है। प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यो की भाँति यह प्रेमकथाकाव्य है, जिसमें जीवन की सफलता का रहस्य सच्चे प्रेम में प्रदर्शित है। इस कथाकाव्य का रचना-काल वि० सं० ११२३ है।[४] इस का रचना स्थान धधुका नगर है। धन्धुका नगर गुजरात देश में अहमदाबाद के निकट है। प० बेचरदास दोशी के विचार में इस कथा के लेखक गुजरात प्रदेश के एक जैन साधु थे।[५]

रचनाएँ

कवि सिद्धसेनसूरि ने यद्यपि अपनी रचनाओ के सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है, पर उन की इस अकेली रचना को देख कर यह सहज में अनुमान हो जाता है कि अन्य रचनाएँ भी उन्होने लिखी होगी। इस बात का तो स्वय कवि ने उल्लेख किया है कि उन के लिखे हुए स्तोत्र आदरपूर्वक पढे जाते थे। ये स्तोत्र संस्कृत और प्राकृत दोनो में लिखे गये थे। 'नमस्कारमाहात्म्य' के अतिरिक्त अन्य कई स्तोत्र और स्तुतियाँ भी

---

१ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४८८

२ वेलणकर जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० २३४

४ सिरिचदगच्छगयणे जाओ सिरिदेवभद्दसूरिखी।
पयडिय पसत्थ सत्थो चित्तजसो (1)।
तस्सिरि सिद्धसेणसूरि समुग्गुणगणग्घविओ।
मुणिचदसूरि पवरो तीओ लोयम्मि विक्खाओ॥

—प्राकृत काव्य महीपालचरित्र की अन्तिम प्रशस्ति।

४ एक्कारसहिं सएहिं गएहिं तेवीस वरिसअहिगहि।
पोस चउद्दसि सोमे सिद्धा धधुक्कय पुरम्मि॥ १,७।

५ प० बेचरदास दोशी 'विलासवती' भारतीय विद्या वर्ष ५, अक ६, पृ० २२१।

सिद्धसेन के नाम से मिलती हैं, जो सम्भवतः साधारण सिद्धसेन की रचनाएँ कही जा सकती हैं। इन रचनाओ में शाश्वत्जिनस्तुति (प्राकृत में), वर्द्धमानद्वात्रिंशिका तथा अर्हत्स्तवन (संस्कृत गद्य) का उल्लेख मिलता है।[१] स्तोत्र रचयिताओ में सिद्धसेन दिवाकर और साधारण सिद्धसेनसूरि का नाम लिया जाता है। अतएव उक्त रचनाएँ दोनो में से किसी एक विद्वान् की लिखी हुई होनी चाहिए। इस प्रकार स्तोत्र तथा स्तवन या स्तुतियो को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप में कवि के द्वारा अन्य किसी वृहत् रचना का उल्लेख या सकेत नही मिलता।

कथा का आधार

विलासवती की कथा श्री हरिभद्रसूरि कृत 'समराइच्चकहा' से उद्धृत है। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है[२]। समरादित्यकथा में राजा गुणसेन की नौ भवों की कथाओ का रोचक एवं सरस वर्णन है। उनके पाँचवें भव की कथा में राजा सूरतेज और पट्टरानी लीलावती की मुख्य कथा के अन्तर्गत सनत्कुमार की उक्त कथा वर्णित है। कथा संवाद से आरम्भ होती है। स्वयं आचार्य सनत्कुमार मुनि दीक्षा लेने का कारण तथा अपने जीवन की प्रधान घटना का उल्लेख करते हुए काकन्दी नगरी के राजा सूरतेज और रानी लीलावती के पुत्र जयकुमार को यह कथा सुनाते हैं। वस्तु रूप में कथा स्वाभाविक हो कर भी रंगीन कल्पनाओ से तथा दैवी संयोगों से अनुरंजित है। इस प्रकार जयकुमार के पूछने पर आचार्य अपनी बीती कथा सुनाते हैं। अन्य कथाओ की अपेक्षा यह कथा शुद्ध लोककथा जान पड़ती है, जिन में धार्मिक अंश बहुत कम है और बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है।

परम्परा

प्राकृत-साहित्य में 'समराइच्चकहा' प्रसिद्ध कथाकाव्य कोश है, जिस में लोक-प्रचलित कथाओ का सरस वर्णन धार्मिक परिप्रेक्ष्य में निहित है। आ० हरिभद्रसूरि ही इन कथाओ के काव्य रूप में कदाचित् सब से पहले प्रयोक्ता थे। उन की समरादित्य कथा के आधार पर दसवी से उन्नीसवी शताब्दी तक प्राकृत, सस्कृत, गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओ में समरादित्य तथा उसके अन्तर्गत अन्य उपकथाओ की रचना होती रही है। वस्तु रूप मे उन में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। इस प्रकार समराइच्च कहा वर्षों तक भारतीय साहित्य में उपजीव्य ग्रन्थ बनी रही है। प्राकृत में मार्कण्डेय कृत विलासवती कथा का उल्लेख मिलता है, जो सतरहवी शताब्दी की रचना कही जाती है[3]। इसी प्रकार जिनहर्ष रचित वि० सं० १७२८ की लिखी हुई लीलावती

---

१ जैनग्रन्थावली, पृ० २६२, २८६ तथा २७३।

२ समराइच्चकहाउ उद्धरिया मुद्धसंधिवधेण।
कोऊहलेण एसा पसन्नवयणा विलासवई॥ १, ६॥

३ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ६३०।

रास नामक रचना उपलब्ध हुई है।[1] इससे स्पष्ट है कि—कथाकाव्य के रूप में लिखी हुई काव्यविधा की दृष्टि से विलासवती के उपाख्यान के आधार पर यह पहली रचना है। जिनरत्नकोश में उल्लिखित लक्ष्मीधर महर्षि कृत—विलासवती कथा भी परवर्ती रचना जान पडती है[2]।

कथावस्तु

इस भारतवर्प में श्वेताम्बी नाम की नगरी में यशोवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम सनत्कुमार था, जो अत्यन्त सुन्दर और गुणवान् था। एक दिन कोतवाल चोरो को बाँध कर राजमार्ग में लिये जा रहा था। चोरो ने कुमार को देख कर उन से प्रार्थना की। युवराज की आज्ञा से कोतवाल ने चोरो को बन्धन मु क्त कर दिया। किन्तु नागरिक जन राजा के पास गये और चोरो के उपद्रव का सम्पूर्ण वृत्तान्त तथा राजकुमार द्वारा उन को छुड़वा देने का वृत्त सुनाया। राजा ने क्रोधित हो उन चोरो को मृत्युदण्ड दे दिया। कुमार को जब इस घटना का पता चला तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। सनत्कुमार पिता से रूठ कर मित्र वसुभूति के साथ राज्य की सीमा से बाहर ताम्रलिप्ति नगरी में चला गया। उस समय वहाँ राजा ईशानचन्द्र राज्य कर रहे थे। अपने यहाँ सनत्कुमार के आगमन की बात सुन कर राजा ने उस का बडा सम्मान किया और राजकुमारोचित आवास की व्यवस्था कर दी। कुछ दिनो के बाद राजा ने कुमार को स्वतन्त्रतापूर्वक शासन का कार्य-भार सम्हालने को कहा, पर सनत्कुमार ने उसे स्वीकार नहीं किया। एक बार वसन्त के समय में कुमार अपने मित्र के साथ वसन्तोत्सव मनाने के लिए राजमार्ग से उपवन की ओर जा रहा था कि राजा की कन्या ने अपने हाथों से बकौली (मौलसिरी) की गूँथी हुई माला राजकुमार के ऊपर खिडकी से फेंक दी। कुमार ने सिर ऊपर उठा कर देखा तो अनिन्द्य सुन्दरी को देख कर कामभाव से पीडित हो गया। उस के मित्र ने वह माला ठीक से कुमार के कण्ठ में पहना दी। उसी समय से कुमार के मन में उस राजकन्या विलासवती के प्रति अनुराग का अंकुर जग गया। वह सब कुछ भूल कर उस का ही ध्यान करने लगा। उस दिन उपवन में उस का मन उडा-उडा-सा रहा और रात में भी ठीक से नीद न आने से सिर में पीडा बनी रही। दूसरे दिन प्रात काल मित्र के साथ वह गृह-उद्यान में गया। वहाँ वसुभूति ने मित्र को उदास देख कर उस का कारण पूछा। कुमार के न बताने पर स्वय उस ने राजकुमारी के प्रेम-भाव को सूचित कर दिया। मित्र ने कुमार को समझाया कि सन्ताप नही करो, वह स्वयं तुम्हें चाहती है इस लिए समागम अवश्य होगा। मैं भी कोई उपाय सोचूँगा। वसुभूति ने विलासवती की सेविका धात्री-पुत्री अनंगसुन्दरी से सम्पर्क स्थापित किया।

---

१ अगरचन्द नाहटा 'उपाध्याय लाभवर्द्धन और उन की रचनाएँ, शोध-पत्रिका, वर्ष १२, अक ४, पृ० २६।

२ जिनरत्नकोश, पृ० ३५८।

इस बीच कई दिन बीत गये। राजकुमार अत्यन्त व्यथित रहने लगा। उसे अपने मित्र की इस कार्यवाही का कुछ भी पता नहीं चला। एक दिन मित्र ने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि मैं आज अनंगसुन्दरी के घर गया था। उसे उदास देख कर मैंने पूछा कि तुम मुरझा क्यों रही हो। उस ने बताया कि अपना दुःख तुम्हारे आगे कहने से क्या लाभ। मैंने कहा कि मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर सकूँगा। मेरे वचनों मे आश्वस्त हो कर उस ने कहा—'हे महाराज, राजकुमारी विलासवती मुझे अपने मे अलग नही मानती। इसलिए काम के संताप से पीडित उस ने मुझे अपनी स्थिति भली-भाँति बता दी है। वह आप के मित्र राजकुमार को वरना चाहती है। मैंने उन से मिलाने का वचन दे दिया है। किन्तु प्रथम दर्शन के बाद से आज तक वे कही दिखाई नही दिये। और इसी लिए कुमारी मेरे कार्य को संदिग्ध जान कर शय्या का त्याग कर एकान्त में कामाग्नि मे झुलसी जा रही है। वह राजमार्ग की ओर टकटकी लगा कर घण्टो बैठी रहती है। उस ने मुझ से कहा है कि तुम मुझे उन से मिला दो। कुमारी उस समय सखियो की गोद में पडी हुई थी। मैंने पंखा डुलाया, चन्दन छिडका तब कही चेतना लौटी। मैंने झूठ में ही उन के साथ समागम का वचन दे दिया है। इसी बीच माता के आ जाने से मैं कुमारी को छोड कर अपने घर आ गयी हूँ। यही मेरी चिन्ता का कारण है।' तब मैंने उस से कहा कि उस युवक को मैं जानता हूँ, इस लिए ऐसा उपाय करो जिस से तुम्हारी स्वामिनी सुखी हो। तब उस ने आप के सम्बन्ध में पूछा तो मैंने सब सच-सच बता दिया।

मित्र वसुभूति की इन बातो को सुन कर सनत्कुमार ने बिना उत्सव के उत्सव मनाया। मित्र को पुरस्कृत किया। तब वे दोनो बगीचे में गये। इतने में अनंगसुन्दरी आ पहुँची। उस की बात सुन कर वसुभूति ने कुमार से कहा कि—अपने को चन्दन-लतागृह में चलना चाहिए। वहाँ सखियो से परिवृत राजहंसी के समान विलासवती कुमार को दिखलाई दी। अनंगसुन्दरी ने कुमार को विलासवती के आसन पर बिठाया। बहुत सम्मान किया। इतने में ही कन्या एवं अन्तःपुर के रक्षक मित्रभूति ने आ कर निवेदन किया कि राजा विलासवती को वीणावादन के लिए स्मरण कर रहे हैं। कुमारी तिरछी दृष्टि से कुमार को देखती हुई मन्दगति से अपने भवन को लौट गयी। मित्र के साथ राजकुमार भी बगीचे से निकल पडे। वही द्वार पर राजपत्नी कुमार को देख कर उस पर रीझ गयी। वे दोनो अपने घर लौट गये। सन्ध्या के समय अनंगसुन्दरी ने विलासवती की भेजी हुई सामग्री (सिन्दुवार के फूलो से गूँथी हुई सुगन्धित माला और पान) कुमार को भेंट में दी। कुमार ने सामगी सादर ग्रहण कर ली। बदले में अनंग-सुन्दरी को भुवनसार नामक कण्ठाभरण कुमार ने दिया। धीरे-धीरे दोनो में गाढ अनुराग हो गया।

किसी एक दिन राजकुल की दासी ने आ कर सनत्कुमार से कहा कि—रानी अनंगवती आप को बुला रही हैं। महाराज का विश्वासपात्र होने से तथा राजकुमारी

की माता की आज्ञा होने से कुमार उन के पास चला गया। कुमार को आया देख कर रानी ने काम प्रस्ताव रख दिया, जिसे कुमार ने अस्वीकार कर दिया। जब कुमार ने माता को उपदेश दिया तब रानी हँस कर कहने लगी कि यह तो लोकाचार ही है। मैंने तो विनोद किया था। कुमार भी उसे प्रणाम कर अपने घर लौट आया। कुछ समय बाद कोतवाल विनयन्धर सनत्कुमार के पास आ कर बोला कि राजा ने आप का वध करने के लिए मुझे आदेश दिया है। कारण यह है कि बाहर से राजा के आते ही रानी अनंगवती ने रोते हुए क्षत-विक्षत बदन से कुमार के कई दिनो से तंग करने तथा अस्वीकार करने पर यह दशा करने का आरोप लगाया है, जिस से राजा ने मुझे यह आज्ञा दी है। किन्तु मेरे ऊपर आप के पिता का अत्यन्त उपकार होने से मैं किंकर्तव्यविमूढ हो रहा हूँ। विनयन्धर ने फिर कहा—कि इस मे आप का दोष नही है और राजा से मैं निवेदन करूँगा, जिस से वे आप पर विश्वास कर सकेंगे। किन्तु कुमार ने कहा—नही, दुष्ट राजपत्नी की रक्षा होनी चाहिए। अन्य कोई उपाय सोचना चाहिए। कुमार विनयन्धर से कहता है कि मैं मित्र वसुभूति के साथ देशान्तर में जाना चाहता हूँ। वह कहता है—ठीक है। एक जहाज स्वर्णभूमि को आज ही रात को जाने वाला है। विनयन्धर ने सन्ध्या को ही उन दोनो को जहाज के स्वामी समुद्रदत्त को सौंप दिया।

दो महीने में वे दोनो स्वर्णभूमि में पहुँच गये। जहाज से उतर कर कुमार अपने मित्र के साथ श्रीपुर नाम के नगर में गया। वहाँ श्वेताम्बी के रहने वाले समृद्धिदत्त नामक सेठ-पुत्र से उस की भेंट हो गयी। वही बचपन के मित्र मनोरथदत्त से कुमार का समागम हुआ। मनोरथदत्त उन्हें अपने घर ले गया। दोनो का राजोचित सम्मान-भोजन-पान आदि का प्रबन्ध हो गया। राजकुमार ने अपने मामा के पास सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट की। मनोरथदत्त ने अत्यन्त अनुरोध के पश्चात् दोनो को विदाई दी। जाते समय उस ने सनत्कुमार को नयनमोहन नामक रत्नजडित चादर भेंट में दी। इस चादर की यह विशेषता थी कि ओढने वाला सब को देख सकता था, पर उसे कोई नही देख सकता था। उस सिद्धि की चादर को ले कर कुमार मित्र के साथ जहाज में बैठ कर सिंहलद्वीप के लिए रवाना हुआ। मार्ग में तूफान तथा ज्वारभाटा आने से जहाज छिन्न-भिन्न हो गया और जहाज के सभी प्राणी वियुक्त हो गये। बहते हुए कुमार को एक काष्ठफलक आ मिला। उस के सहारे वह तीन दिन और तीन रात बिता कर समुद्र तट पर जा लगा।

कुछ दूर जा कर कुमार जामुन के वृक्ष के पास बैठ गया। इसी समय सन्ध्या हो गयी। फलो को खा कर कुमार ने क्षुधा शान्त की। शिला की सेज तैयार की। इतने में ही थोडी दूर पर उसे एक तापस बाला दिखाई दी। वह कुमार को विलासवती ही जान पडी। कुमार के पूछने पर भी बिना उत्तर दिए वह चली गयी। रात को स्वप्न में कुमार ने अपने ऊपर डाली गयी दिव्य कुसुममाला देखी जो कण्ठ में धारण

कर ली गयी। सूर्योदय होने पर कुमार ने एक अधेड़ अवस्था वाली तापसी को देखा। वह विशेष रूप से कुमार को देख कर बोली—हे राजपुत्र, जुग-जुग जिओ। फिर, वह तापसी अपना वृत्तान्त सुनाने लगी। उस ने कहा कि हे कुमार, सुनो। इस भरतक्षेत्र में वैताढ्य नाम का पर्वत है। उस पर गन्धसमृद्ध नामक विद्याधर नगर है। वहाँ के राजा सहस्रबल और रानी सुप्रभा की मैं मदनमंजरी नाम की बेटी हूँ। विलासपुर के राजा विद्याधर नरेन्द्र के पुत्र पवनगति से मेरा विवाह हुआ था। बहुत दिनो तक विषय-सुखो को भोगने के बाद एक दिन हम दोनो विमान में बैठ कर नन्दन वन में गये। हम लोग क्रीड़ा करने में प्रवृत्त ही हो रहे थे कि सोने की शिला से गिर कर पवनगति का देहान्त हो गया। मैं बहुत विलाप करती रही। मेरी आकाशगामिनी विद्या मुझ से विस्मृत हो गयी। इसी समय तपस्वी देवानन्द नाम के विद्याधर आये। उन्होने मुझे उपदेश दिया। विद्या भूलने का कारण सिद्धायतनकूट का उल्लंघन बताया। उन से व्रत ग्रहण कर मैं भी दीक्षित हो गयी। दूसरे दिन फूल तथा ईंधन लेने के लिए समुद्र के किनारे गयी। वहाँ काष्ठफलक पर लगी हुई सुन्दर कन्या को देखा। उसे मैं धीरज बँधा कर आश्रम में ले गयी। कुलपति ने बताया कि यह ताम्रलिप्ति के राजा ईशान-चन्द्र की पुत्री विलासवती है। यशोवर्मा के पुत्र राजकुमार सनत्कुमार पर आसक्त हो जाने से, लोकमुख से यह सुन कर कि राजकुमार का वध हो गया विलासवती स्नेह से व्याकुल हो प्राणान्त करने के लिए आधी रात को श्मशान के लिए अकेली चल पड़ी। राजमार्ग में चोरो के हाथ पड गयी। उन्होने आभूषण उतार कर सार्थवाह के हाथ इसे बेच दिया। मार्ग में पोत भग्न हो जाने से तीन रात समुद्र में तैर कर यहाँ किनारे आ लगी है। अब पति को पा कर यह भोगो को भोगेगी।

राजपुत्री के कहने से मैं यहाँ आयी हूँ। अतएव आप चलिए। वह मरणासन्न है। सनत्कुमार तापसी के साथ आश्रम में जाता है। दोनो का सानन्द विवाह सम्पन्न होता है। कुछ दिनो तक भोग-विलास करने के पश्चात् स्वदेश लौटने का विचार करते हैं। तापसी से पूछ कर वे दोनो वहाँ से चल पडे। ध्वजाहीन पोत को चलने के लिए तैयार किया। इसी समय मल्लाह ने आ कर बताया कि महाराज, कटाहद्वीपवासी सानुदेव सार्थवाह ने मलय देश में स्थित ध्वजाहीन पोत को देख कर आप को लिवाने के लिए हमे भेजा है। पत्नी सहित आप चलिए। सार्थवाहपुत्र ने कुमार का बहुत सम्मान किया। सभी ने पोत में बैठ कर यात्रा की।

कुछ दिनो के बाद एक पहर रात रहते सनत्कुमार और सानुदेव निर्वृत होने के लिए एक साथ उठ बैठे। सार्थवाह पुत्र ने अवसर पा कर विलासवती के रूप के लोभ से कुमार को समुद्र के किनारे रुकने के लिए कह कर पीछे से धक्का दे दिया। सनत्कुमार समुद्र में गिर पडा। भाग्य से काष्ठफलक हाथ लग गया। पाँच दिनो में वह मलयकूल पहुँचा। वहाँ नारंगफलो का भोजन कर वह समुद्र के किनारे-किनारे एक मील दूर निकल गया। इतने में उसे काष्ठफलक के पास मरणासन्न विलासवती दृष्टि-

गत हुई। विलासवती ने पोत के भग्न होने तथा वहाँ तक आ पहुँचने का वृत्तान्त सुनाया। फिर, पीने के लिए पानी माँगा। कुमार उसे वड़ के पेड के पास विठा कर नयनमोहन चादर दे कर पानी लाने के लिए चला गया। लौट कर आने पर जब कही विलासवती नही दिखाई दी तो कुमार अत्यन्त चिन्तित हुआ। वह उसे ढूँढता हुआ घने वन मे निकल गया। वहाँ उस ने देखा कि काला अजगर नयनमोहन पट को लील रहा है। कुमार ने समझ लिया कि देवी का प्राणान्त हो गया है। अतएव मरण के लिए उद्यत हो कर वह भी अजगर के पास चला गया। किन्तु उसे देख कर अजगर ने शरीर सिकोड लिया। तव कुमार ने उस के माथे पर जोर से पैर दे मारा। तव भय से अजगर ने चादर उगल दी। उसे ले कर कुमार वड के पास सोयी हुई प्रियतमा के पास पहुँचा। वहाँ एक डाली पर फन्दा फाँद कर उस ने गला फँसाया ही था कि एक ऋषि ने आ कर इस अकार्य से उसे वचा लिया। उन्होने वताया कि मलय पर्वत के मनोरथापूर्वक शिखर से योगपूर्वक गिरने से मनोरथ की पूर्ति हो जाती है। सनत्कुमार वहाँ गया। तीसरे दिन जैसे ही वह साँस साध कर गिरने लगा कि विद्याधर ने अधर मे ही उसे ग्रहण कर लिया। विलासवती का वृत्तान्त सुन कर उस ने वताया कि वह अभी मरी नही है। क्योकि यहाँ पर विद्याधरों के स्वामी चक्रसेन ने अप्रतिहत चक्र नाम की महाविद्या का साधन आरम्भ किया है। उन की साधना के प्रभाव से अड़तालीस योजन तक क्षेत्रशुद्धि हो जायेगी। और इस लिए अजगर ने तुम्हें देख कर कुण्डली लगा ली थी। विद्याधर की इन बातो से कुमार आश्वस्त हो गया।

दूसरे दिन चक्रसेन विद्याधर की विद्यासिद्धि का वृत्त ज्ञात कर कुमार उस विद्याधर के साथ चक्रसेन के पास मलयशिखर पर गया। विद्याधर स्वामी ने उसे धीरज वँधाया। इतने में दो विद्याधर विलासवती को साथ में ले कर आ पहुँचे। उन्होंने वताया कि अजगर के भय से चादर फेंक कर विलाप करती हुई इस सुन्दरी को मृत्यु के भय से यहाँ ले आये हैं। विद्याधर पति ने सनत्कुमार को अजितवला नाम की महाविद्या प्रदान की। इसी समय महाविद्या की सिद्धि की सूचना देते हुए की भाँति तापस का वेश धारण किये हुए मित्र वसुभूति आ पहुँचा। विलासवती और कुमार उस से मिल कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वसुभूति ने वताया कि किस प्रकार समुद्र में पोत के भग्न हो जाने से काष्ठफलक के सहारे पाँच दिनों तक रहने के उपरान्त यहाँ के तट पर आ लगा, और कुलपति के आश्रम में आप का वृत्त जान कर ढूँढता हुआ यहाँ आया हूँ।

सनत्कुमार ने विधिपूर्वक एक लाख मन्त्र का जप आरम्भ किया। कई प्रकार के विघ्न आये, पर वह विचलित नही हुआ। अन्त मे उसे अजितवला विद्या सिद्ध हो गयी। इसी मलयशिखर की गुफा से अनंगरति नाम का विद्याधर विलासवती का अपहरण कर वैताढ्य पर्वत पर स्थित रथनूपुर चक्रवाल नाम के नगर में ले गया। विद्या के वल से सनत्कुमार ने पता लगाया। दूत को भेजा। किन्तु अनगरति समर के लिए

उद्यत हो गया। अन्त मे युद्ध हुआ। अनंगरति युद्ध में पराजित हो गया। सनत्कुमार का राज्याभिषेक हुआ। कुछ दिनो के बाद कुमार विलासवती और विद्याधरो के साथ माता-पिता से मिलने गया। वापस लौट कर आने पर बहुत समय के बाद उन दोनो के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिस का नाम अजितबल रखा गया। अजितबल के युवक होने पर सनत्कुमार ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। इसी बीच विद्याधर श्रमण से पूर्व भवो का वृत्तान्त सुन कर सनत्कुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया। अन्त मे घर-बार छोड कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण गमन होता है।

प्रबन्ध-रचना

विलासवतीकथा की वस्तु प्रकृतियो, सन्धियो तथा कार्यान्विति से युक्त है। नायिका की प्राप्ति के लिए मित्र वसुभूति द्वारा जो उपक्रम किया जाता है, वह प्रारम्भ के अन्तर्गत आता है। नायिका भी नायक से मिलने का प्रयत्न करती है। नायिका से वियुक्त हो जाने के बाद सनत्कुमार विलासवती को प्राप्ति की आशा में ही जीवित रहता है। स्वप्न में भी वह उसी की प्राप्ति का विचार करता है। किन्तु अभिलषित की प्राप्ति होने के पश्चात् फलागम में तथा नियत के विद्यमान रहने में कई प्रकार के सकट आते है, जिन्हे नायक साहस, धैर्य और शूर-वीरता के साथ पार कर वास्तविक रूप में विलासवती को प्राप्त कर विद्याधरों का राजा बनता है। इस प्रकार कार्यावस्थाओ की सहायक प्रकृतियो तथा सन्धियो का भी पूर्ण सन्निवेश इस रचना में लक्षित होता है।

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु अन्य कथाकाव्यो की भाँति वर्णनो में न उलझकर एकाएक आरम्भ हो जाती है। नायक के जीवन में बाह्य सघर्ष और आन्तरिक सघर्षो की मुख्यता होने से घटनाओ में कई मोड दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें कथानक आकस्मिकता के साथ गतिशील दिखाई पड़ता है। घटनाओ के उठाव में वातावरण तथा सयोग का अद्भुत सामजस्य है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढती हुई उग्र होती जाती हैं, जिससे कथा में जहाँ औत्सुक्य और कौतूहल बना रहता है वही वे अन्त मे चरम अवस्था पर पहुँच जाती हैं। और विद्याधरो से युद्ध होने पर जय पराजय को स्थिति में धीरे-धीरे उतार होने लगता है तथा कार्य की प्राप्ति हो जाने पर घटनाएँ सब शान्त हो जाती हैं। अतएव कथा को गति देने वाली घटनाओं का आरम्भ, विकास तथा समाहार भी क्रमश नाटक, उपन्यास तथा कहानी की भाँति इस कथाकाव्य में हुआ है।

इस कथाकाव्य में अन्य कथाओ की भाँति कथा धार्मिक वातावरण में संचरण न कर शुद्ध लोक-जीवन में प्रवेश करती हुई दिखाई पडती है। अतएव इस कथा पर धर्म या सम्प्रदाय-विशेष का आवरण न हो कर सामान्य कथा का चित्रण है। अन्त में अवश्य साम्प्रदायिक मान्यताओ का समावेश हुआ है, जो अलग से या ऊपर से चिपकाई हुई-सी जान पड़ती है।

कथा का सगठन जटिल न हो कर सरल है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के लिए घटनाओ तथा कथाओं की अलग से योजना न हो कर पूर्ववर्ती घटनाओ का ही उत्तरार्द्ध से पूर्ण लगाव है। इन घटनाओ को, जिन में एक के बाद एक कडी जुडती जाती हैं तथा आधिकारिक कथा के साथ वस्तु रूप में जो बहुत दूर तक चलती हैं, दशरूपककार ने 'पताकाकथा' नाम अभिहित किया है।[१] विनयधर तथा विद्याधरो की घटनाएँ ऐसी ही हैं, जो अन्त तक कथा के साथ चलती हैं। किन्तु वस्तुत वह पताका न हो कर प्रकरी है।[२]

इस प्रकार कथानक में प्रवाह और गतिशीलता है। कही भी उखडापन लक्षित नही होता। और न घटनाएँ कथा की प्रगति में बाधक हैं। बीच-बीच में वर्णनो के उचित समावेश से जहाँ कथा में रोचकता आ गयी है, वही काव्यात्मक सौन्दर्य भी निखर उठा है। अतएव प्रबन्ध-रचना में अपभ्रंश के कथाकाव्यो में यह एक उत्कृष्ट रचना है।

अपभ्रंश के प्राय सभी प्रबन्ध काव्यो में साहित्यिक रूढियो का पालन देखा जाता है। किन्तु आलोच्यमान कथाकाव्य में अन्य प्रबन्धो की अपेक्षा काव्य-रूढियाँ कम है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौबीसी-वन्दना, पंच परमेष्ठियो को नमस्कार तथा सरस्वती की वन्दना है। फिर, सज्जन-दुर्जन-वर्णन के अनन्तर वस्तु का वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध के अनुबन्ध में ग्यारहवी शताब्दी तक अपभ्रश के कुछ प्रबन्धो पर प्राकृत काव्यो का प्रभाव बना हुआ था। अतएव कवि ने न तो आत्म विनय ही प्रकाशित की है और न पूर्व कवियो का स्मरण किया है। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते समय अवश्य लेखक ने अपने को जडमति कहा है।

यह काव्य तीन हजार छह सौ बीस श्लोक प्रमाण है।[१] यह ग्यारह सन्धियो में निबद्ध है।[३] इस कथा की रचना भिल्लमाल कुल के सर्वश्रेष्ठ गोपगिरि शिखर पर रहने वाले लक्ष्मीधर शाह के अनुरोध से हुई है।[४] अपभ्रश के कई काव्यों में इस प्रकार किसी सेठ-साहुकार या अन्य धर्मप्रेमी सज्जन के कहने से ग्रन्थ-रचना का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी काव्य में उन के गुणो का उल्लेख एव प्रशसा भी है। अतएव ये सभी कथाएँ सोद्देश्य नियोजित हैं, जिन्हें कवि ने धर्मकथा नाम दिया है। किन्तु बन्ध-रचना

१ सानुबन्ध पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक्। दूर मदनुवर्तते प्रासगिक सा पताका, सुग्रीवादि वृत्तान्तवत्।—दशरूपक, १, १३।

२ वही, १, १३।

३ एसा या गणिज्जती पाएणा णुट्ठभेण छदेण।
सपुण्णाइ जाया छत्तीससयाइ वीसाइ॥—अन्तिम प्रशस्ति, ८।

४ समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्धसधिवधेण—वही, ६।

५ सिरि भिल्लमालकुलगयणचद गोवइरि सिहरनिलयस्स।
वयणेण साहुलच्छीहरस्स रइया कहा तेण॥—वही, ५।

में ये कथाकाव्य स्पष्ट रूप से संस्कृत तथा प्राकृत के प्रवन्धकाव्यों के अनुरूप हैं और वस्तुरूप में लोककथाएँ हैं। प्रवन्धकाव्य की इस रचना में कार्य-कारण योजना, घटनाओ को मोड़ो के अनुकूल विस्तृत और संक्षिप्त वनाना तथा गतिशील वनाये रखना और रसाभिव्यंजना आदि से अन्त तक परिव्याप्त लक्षित होती है। वि० क० में प्रवन्ध-रचना के ये सभी तत्त्व एवं गुण निहित हैं।

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत नगर-वर्णन, समुद्र यात्रा-वर्णन, उद्यान-वर्णन, शकुन-वर्णन, विद्यासिद्धि-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन, सागर-वर्णन, वसन्त-वर्णन, गंगानदी का वर्णन, युद्धयात्रा तथा युद्ध का वर्णन और उत्सव-वर्णन आदि मुख्य हैं। ये वर्णन अलंकृत शैली में न हो कर लोकप्रचलित शैली मे स्वानुभूति से प्रकाशित हैं। वर्णन प्रवाह पूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त हैं। अतएव इन में उक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन न हो कर वस्तु का यथातथ्य वर्णन स्फीत बिम्वो द्वारा अभिव्यंजित है। किन्तु शव्द-रचना काव्यागों से समन्वित तथा माधुर्य पूर्ण है। कही-कही तो भाषा अत्यन्त सरल है।

नगर-वर्णन

इस भारतवर्ष में अत्यन्त सुन्दर श्वेताम्वी नाम की नगरी है। उस में धवल प्रासाद तथा देव-मन्दिरो की पंक्तियाँ लोगो का मन हरने वाली हैं। वहाँ के प्रमुख लोग वाणिज्य करते हैं जो चिर काल से परम्परागत हैं। उन के भवनो पर लगी हुई ध्वजापताकाएँ पवन से प्रकम्पित होती हुई ऐसी जान पड़ती हैं मानो देव-देवेन्द्रो को वुला रही हो। उस नगर का राजा यशोवर्मा अत्यन्त प्रसिद्ध है।

भरहवासि सुमणोभिराम वरनयरि अत्थि सेयविय ताम।
स रयज्ज धवलपासाय सोह देवउलपंति ता तोसिय जणोह।
पमुइय सउन्नज्जण सवणिज्ज वहु दिवस सहस्सेहिं वन्न णिज्ज।
पवणुद्धय धयपतिहिं विहाइ हक्कारइ अमरसमूहु वाइ।
पडिवक्खरुक्खउक्खणिय कंदु जसुवंमु नामु तहिं नरवरिंदु। (१,३)

उस रयनूपुर नाम के नगर में अनेक प्रकार के मणि और रत्नो की रचना स्फुरायमान हो रही थी। प्राकार सोने के वने हुए थे। जहाँ पर वडे-वडे भवन देवताओ के भवनो के समान उज्ज्वल रत्नो के वने हुए थे। सभी लोग धन-धान्य से समृद्ध थे। उस नगर के हाट-मार्ग चौडे-चौडे श्वेत-स्वच्छ तथा अत्यन्त मनोहर थे। वहाँ पर गगनचुम्वी देवमन्दिर थे। वहाँ के वन फल-फूलो से समृद्ध नन्दन-वन ही जान पडते थे। सरोवर, वापी, कुएँ तथा जलाशय आदि अत्यन्त मनोज्ञ थे। वहाँ के वाग-वगीचो में कामिनी स्त्रियाँ विलास करती थी।

जहिं नाणामणि रयणेहि समेउ पायारु कणयनिम्मिउ सतेउ ।
जहिं उज्जलरयणविणिम्मियाइं सुरलोयसरिच्छइं हम्मियाइं ।
वहु भंड भरिय संपय सभग्गु रायंति मणोहर हट्टमग्गु ।
रम्मइ विसाल धवलुज्जलाइं गयणग्गविलग्गइं ।
फलकुसुमसमिद्धइ काणणाइ सोहंति नाइ नंदणवणाइं । (८,२६)

मलयगिरि-वर्णन

सनत्कुमार ने अनेक प्रकार के सुगन्धित तरुवरो से युक्त मलय नामक महान् पर्वत देखा । उस मलयगिरि पर इलायची, लौंग, हरफारेवडी (लवलीफल), कपूर, अगर, हरिचन्दन, कटहल और सुपारी आदि के पेडो में फल शोभायमान हो रहे थे । पल्लव दलों से उन की शोभा और भी अधिक बढ रही थी । उस के अन्तरंग में निरन्तर दिनकर का तेज स्फुरायमान हो रहा था । किन्नर जन सुमधुर गान कर रहे थे । मरकत मणि के बने हुए सघन नील तटो पर हरे-हरे विशेष दूर्वांकुर मन हर रहे थे । जल के भरे हुए झरनें कलकल कोलाहल कर रहे थे । जडे हुए शिलातल शोभा भर रहे थे । कही पर कपूरी रंग के मृग स्थित थे तो कही निर्भय हो कर चौकडी भर रहे थे ।

अह मलयमहागिरि तेण दिट्ठु नाणाविहु तरुपरिमलविसिट्ठु ।
एलालवंगलवली वणेंहि कप्पूर-अयर-हरियंदणेंहि ।
विप्फुरिय फणस पोफलिफलेंहि उव्वेल्लि वेल्लि पल्लवदलेंहि ।
अंतरिय निरतर तरणितेउ छलिय महुर किन्नर सुगेउ ।
घणकिरिणनील मरगयतडेसु अविभाविय हरियकुरु विसेसु ।
वज्जति जत्थ निज्झर जलाइ फरिसेणय फलिह सिलायलाइं ।
कत्थवि थिय कप्पूरिय कुरंग उब्भड भमति निब्भय सुयग । (६,१)

सरोवर-वर्णन

नारी-समूह की भाँति जहाँ भौरे परस्पर गीत गा रहे थे, नि.शब्द सुभर क्षोभित हो रहे थे और मनोहर कमल-नाल शोभित हो रहे थे, गजेन्द्र के झुण्ड के झुण्ड डोल रहे थे तथा उन्मत्त रोहित मत्स्य चल रहे थे, सुन्दर सारस पक्षी शब्दायमान हो रहे थे और मगरमच्छ पानी के भीतर से उछल रहे थे, जहाँ विशाल नीले कछुए तथा नाके चंचलता से तिर रहे थे और चारु चक्रवाक स्फुरायमान हो रहे थे तथा झडते हुए केशर के पत्तो से व्याप्त था ऐसे उस महासरोवर को देखा ।

भमररवे पारइ गीययं मिलिउ नाइ नारी समूहयं ।
निव्वोल कोल खोहियं भमंत मत्त-रोहिय ।
रसत कतसारस रमत नीर माणुसं ।
सुउच्छलत मच्छयं विसाल नील कच्छयं ।
विलोललोलनक्कयं फुरंत चारु चक्काय ।
खुडत पत्त केसर पलोइय महासरं । (५,१५)

विमान-यात्रा का वर्णन

मित्र वसुभूति तथा परिवार के लोगो के साथ सनत्कुमार विमान में वैठ कर विद्यावल से युक्त हो कर चल पडा। वह कंचन तथा मणि से निर्मित सिंहासन पर वैठा। ऊँचे स्वर में वन्दीजन शुभ गीत गा रहे थे। सोने के चमरदण्ड डुलाये जा रहे थे। कमलों की भाँति समस्त योद्धा प्रसन्न एवं विकसित थे। सुन्दर विद्याधर-विलासिनी स्त्रियाँ मधुर कण्ठ से गीत गा रही थीं। तूर्य की शब्द-ध्वनि आकाश मण्डल में व्याप्त हो रही थी। विद्याधरो की सकल सेना गगन-मार्ग में फैल रही थी। खवखव करते हुए घोड़े दौड़ रहे थे। गुलगुलाते हुए मदोन्मत्त हाथी चल रहे थे। विविध प्रकार से क्रीड़ाएँ करते हुए वीर आगे बढ़ रहे थे। अनुकूल पवन से प्रेरित हो कर विमान आकाश में चल रहे थे।

वसुभूइपमुह परिवारसारु — आरुहिउ विमाणि सणकुमारु।
अज्जियवल विज्जसज्जिस विसिट्ठु — कंचणमणिसीहासणि निविट्ठु।
उद्दंड सुपंडर पंडुरीउ — उद्दामसद्द वंदिण सुगीउ।
चालिय चामीयर चमरदंडु — वियसिय असेसु भडकमलसंडु।
विज्जाहर ललिय विलासिणीहिं — गाइज्जमाणु कलभासिणीहिं।
तूररववहिरिय गयणमग्गु — अवकलिय विज्जाहरवलसमग्गु।
पसरंतु गयणमंडल विसाले — चल्लिउ रहनेउर चक्कवाले।
धावंति तुरंगम खवखवंतु — मयमत्तमहागय गुलुगुलित।
विविहा करयरिय सरीर — वच्चंति वलंत खलंत वीर।
अणुकूलय पवण परिपेल्लियाइं — गयणेण विमाणइं चल्लियाइं। (८,२५)

राजमन्दिर का वर्णन

उस प्रमुख राजमन्दिर की विविध भूमियाँ सोने की बनी हुई थी। अनेक रत्नो से वे प्रकाशमान हो रही थी। ऊँचे-ऊँचे एक जैसे मन्दिर अत्यन्त शोभायमान थे। वे इतने ऊँचे थे कि कालागुरु का धुँआ मेघ से मिल कर ऐसा सोहता था मानो मोतियों के हार के रूप में सुन्दर तारे हो। वह ऐसा छा जाता था मानो विमल जल-धारा बरस रही हो। मधुर तथा सुखकारक वाजे वजते हुए ऐसे जान पडते थे मानो वाणों के संपतन से उत्पन्न हुआ निर्घोष हो।

तं कणयविणिम्मिउ — वहुविहि भूमिउ।
नाणारयणुज्जोवियं — उत्तुंगु सुसोहणु मंदिरसरिसु पलोइयउं। (८,३२)

मिलिय वहलकालायरुधूमेण — छाइउ मेहइ संदोहेण।
मोत्तिय हारु सरीहिं सुतारेहिं — वरिसइ नाइ विमलजलधारेहिं।

वज्जिय सुक्ख महुरनिग्घोसहिं गज्जइ नाइ जणियव्विसिहि तोसेहिं ।
पंचवन्नमणिकिरणहिं नावइ सुरवइधणुय गयणे उट्ठावइ । (८,३३)

चमकती हुई स्वर्ण-पताकाएँ झिलमिलाती बिजली ही जान पडती थी। पाँच रंगो की मणियो की किरणें आकाश में निकलते हुए इन्द्रधनुष की भाँति जान पडती थी।

युद्धयात्रा-वर्णन

सनत्कुमार सुसज्जित विमान में वसुभूति तथा सेना के साथ चल पड़ा। अनेक प्रकार के बाजो के बजाये जाने से नभतल भर गया था। समस्त बाजो के एक साथ बजने से ऐसा जान पडता था मानो ब्रह्माण्ड ही फूट कर उछल पडा हो अथवा युद्ध देखने के लिए मानो देवताओ को ही बुलाया हो। अनुकूल पवन से प्रेरित उडती हुई ध्वजा-पताकाओ तथा गर्व से उन्नत उद्भट भटो से युक्त विमान आकाशमार्ग में चले जा रहे थे। विशेष रूप से विजय को सूचित करने वाले शुभ शकुन हो रहे थे। कुछ विद्याधर श्रेष्ठ तथा विशाल गजो पर आरूढ़ थे। कुछ चंचल घोड़ो पर सवार थे। अन्य सिंह और वानर की सवारी पर सवार थे। उत्तम देवो की भाँति समस्त सैनिक चले जा रहे थे। सभी आनन्दित थे। वे उत्कृष्ट सिंहनाद कर रहे थे। कुमार का जय-जयकार घोषित कर रहे थे। सुगन्धित पुष्पो की वृष्टि हो रही थी। सम्पूर्ण महीमण्डल को देखते हुए चले जा रहे थे।

आऊरइ नहयलु सरिमएम घनिवीण तहिं वंसहं इय वज्जइं वज्जियइं असेसहं ।
फुट्टउ नं वंभडु उच्छलियउ तूरारउ न रणदंसण कज्जाहूउ देवहं हक्कारउ ।
ता दिसि समुहुं दोलिर घयालइं उब्भिय उब्भड चिन्धयाइं ।
अणुकूल पवण परिपेल्लियाइं गयणेण विमाणइं चल्लियाइं ।
जयसूयग सउण महा विसेसु चल्लिउ विज्जाहर वलु असेसु ।
विज्जाहर केवि महागएहिं आरूढ केवि चंचल हएहिं ।
अन्ने पुण सीहहि वानरेहिं सत्थत्तु गयणु जिह सुरवरेहिं ।
सव्वहं सुहडहं आणंदु जाउ उक्कुट्ठि करहिं तह सीहनाउ ।
कुमरह जयसद्दु सुरेहिं घुट्ठु सुसुयन्धह कुसुमहं वरिस वुट्ठु ।
पेच्छंतउ महिमडलु असेसु नयरावर पुरपट्टण निवेसु ।
(७,२१-२२)

सागर, सरिता, सरोवर, निर्झर, ग्राम, पर्वत, गोपुर और गोकुल आदि को छोडते हुए वे क्षण भर में सपरिवार विजयार्धपुर में पहुँच गये।

सायरसरिसोत्तइं सरजलाइं गामइं गिरिगोउर गोउलाइं ।
परिचत्तउ गमण परिस्समेण वेयड्ढे पहुत्तउ तक्खणेण ।
अह वेयड्ढतलंमि सपरिवारु आवासिउ खंधावार कमेण नियसिविरपि नियेसउ । ७,२३

इसी बीच शत्रु-सेना भी आ पहुँची। कुमार की सेना में कोलाहल होने लगा। क्षण भर में भट सन्नद्ध हो गये। कुमार ने अपने हाथ में तलवार धारण कर ली।

एत्थंतरि आइउ परवलंति कुमरहु वल सयलुव सलवलंति।
भय समरभेरि सुगहिरसरेण सन्निहिय सुहड सव्वेवि खणेण।
ता सुपउहर समेलउं परदूसओहु अंगें सहियउ।
ताहु मुट्ठि मज्झि सुकलत्तु जिह खग्गयणु कुमरिं गहिउ। (७,२३)।

युद्ध-वर्णन

तब क्रोधित हो शत्रु-सेनाएँ एक-दूसरे पर बरस पडी। निरन्तर शस्त्रास्त्रो को छोडने लगी। प्रलयकालीन मेघ के समान सम्पूर्ण आकाश मण्डल में फैल गयी। कुछ योद्धा तलवारो से भिड़ गये। हाथी हाथी से और घोडे घोडे से युद्ध करते हुए सैनिक लोग एक-दूसरे को ललकारने लगे। एक-दूसरे को लक्ष्य कर सैनिक प्रहार करने लगे। कई भाले की अनी से देह विदारने लगे। जूझते हुए एक-दूसरे को कुछ भी नही समझने लगे। छुरी चलाने वाले छुरी धारण करने वालो से तथा पैदल पैदलो से भिड गये। सिर फूटने लगे और सुभट लहूलुहान हो गये। वे ऐसे जान पड़ रहे थे कि मानो वसन्त के टेसू (ढाक) कुसुमित हो गये हों। इस प्रकार आकाश में विद्याधरो का, अन्तराल में गिद्धो का और धरती पर श्रावक (गृहस्थ) मनुष्यो का युद्ध होने लगा। किसी का छटपटाता हुआ माथा फूट गया, किसी की भुजा और किसी का हाथ छिन्न हो कर गिर पडा। किसी के सब शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये, बाण चुक गये और छत्र टूट कर गिर गये। शस्त्रों की मार से शरीर छिन्न हो कर तितर-बितर हो गया। ध्वजा-चिह्न छेद डाले गये। और भी अनेक प्रकार से दारुण रण प्रकट हो गया मानो समुद्र का जल गंगा जल के मिलने से क्षुभित हो गया हो।

ताव रिसवरिसए रिसु भणति सरवरिसु निरतरु भड मुयति।
पलयब्बघणोहि निरंतरेंहि संच्छाइउ अंवरतलु सरेंहि।
खग्गप्पहरेमि वडंति केवि उप्पय कालमिग्घाय जेव।
गयगयहि तुरंगतुरंगमेंहि सच्छाइउ अंवरतलु सरेंहि।
खग्गप्पहार निवडति केवि उप्पायकाले निग्घाय जेव।
गयगयहिं तुरगतुरंगमेंहि जुज्झंति सुहडसुहडेंहि समेंहि।
तहि एक्कमेक्कु हक्कारयंति अवरोप्परु कुलु संभालयति।
पहरट्ठेय विज्जहर पडति उट्ठेवि पुणेवि समावडंति।
कुंतग्गेंहि केवि निभिन्न देह जुज्झंतिहिं तहेव अवगणिय वेंह।
अन्नोन्न केसकनणु करेवि गय पहरण छुरियहिं लग्ग केवि।
अवहत्थेंहि हत्थेंहि भिडहिं ताव तुहहिं सिरकमड समइंजाव (७,२७)

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन मे सन्ध्या, रात्रि, वन, उद्यान, वसन्त ऋतु आदि का वर्णन इस काव्य में निवद्ध है। प्रकृति के आलम्वन रूप का ही विशेप रूप से चित्रण हुआ है। उद्दीपन रूप में रजनी का एवं वियोगिनो रूप में तथा हंसी का वियोग-वर्णन दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत हर्ष और विषाद में मन स्थिति के अनुरूप भावो का चित्रण विम्वार्थ-योजना द्वारा अभिव्यजित हुआ है। अतएव यहाँ पर प्रकृति विरह का अंग न वन कर स्वतन्त्र रूप से वर्णित है, जिस में प्रकृति के विभिन्न चित्र श्रृंखलावद्ध हैं। उदाहरण के लिए वर्णन है—सिन्दूर के समान रक्त वर्ण का सूर्य अस्तंगत हो गया। मानो आकाशरूपी वृक्ष का प्रणय रूपी फल ही पक गया हो। जब सूरज भलीभाँति डूब गया तव तिमिर-शत्रु की सेना ही मानो दौड कर फैल गयी। तमचर की भाँति सूरज अपने देश चला गया। अभी तक दिन रूपी शिखर के ऊपर जो लाली शोभायमान हो रही थी सन्ध्या की उस लालिमा को सूरज के कर-निकरो ने हटा ली थी। गोधूलि की वह वेला ऐसी जान पड रही थी मानो तिमिर रूपी विरलकेशो को छिटका कर रवि रूपी पति के विरह में रजनी शोकमग्न हो। आकाश-मण्डल में फैले हुए तारे टूट-टूट कर ऐसे गिर रहे थे मानो रजनी रूपी नायिका के हार के नग ही टूट कर गिर रहे हो। सरोवरो में मुकुलित कमल ऐसे शोभित हो रहे थे मानो मित्रता का निर्वाह कर रहे हो। चक्रवाक युगल विरह के ताप से नष्ट हो गये। अत्यन्त काली स्याही वाले अन्धकार को न सहते हुए दुग्ध के समान धवल चन्द्र का उदय हुआ।

सिंदूरारुणवण्णो दिणयरु अत्थमियउ।
नहयलरुक्खह नाइ पक्कउ फलु पनियउ।

जाव सूरु अत्थमणु पाविउ ताव तिमिररिवु सेण्णु धाविउ।
तमचरव्व गय सूर दंसिणा चनिय वासतरु सिरि सहंनिणा।
सहइ संज्झया रत्तम परं पहरय निय सूरस्स वंवरं।
तिमिर केस विरलेवि जामिणी निय नाइ रवि विरहि कामिणी।
वित्थरति गयणमि तारया तुट्ट नाइ निसिनारि हारया।
सरवरेसु कमलेहि मउलिय नाइ मित्त परिवण्णु पालियं।
चक्कवाय जुयलंपि विहवियं मरुय विरह तावेण विनडियं।
ना सहयतु अइकसणतममसी दुइधवलु अह उग्गउ ससी। (५,६-७)

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का आलम्वन रूप तथा परिगणन-प्रणाली दोनो ही रूप मिलते है। प्रवन्ध काव्य मे उद्यान के वर्णन में वनस्पति की नामावली देना चिर प्रचलित हैं। यद्यपि मलयगिरि के वर्णन में भी कुछ वृक्षो का नामाकन है, पर देश और स्थान के भेद से विशेष रूप से स्थानीय पेड-पौधो की नामावली प्रस्तुत करना आवश्यक

जान पडता है। आलोच्यमान कथाकाव्य में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि देश, ऋतु और स्थान के अनुसार दृश्य तथा वातावरण का स्पष्ट चित्रण हो। अतएव सुन्दर वन के वर्णन में दक्षिण भारत में उत्पन्न होने वाली वृक्षावली का उल्लेख किया गया है। उस वन में अशोक, आडू, आम, आमला, सेमल, केतकी, उदुम्बर, कसेरु, करंज, खजूर, जामुन, नारंगी, सुपारी, कंकोल, पीलु, ढाक, मौलश्री, मुचकुन्द, चन्दन, तेंदु, सलई, वहेडा, ताड, अनार, शिरस, सीसम, शमी (झोकर), तमाल, ताल, शाल, एरण्ड, पाटल आदि वनस्पतियाँ, फूल-फल तथा वृक्ष थे।

सुन्दरवणु नामेणं उज्जाणु रवन्नउं दिट्ठं दाहिंवि तेहिं आसम आसन्नउं।
जहि अणेय पायवा नि सिइसूर आयवा।
असोयआरुआमला अंवाडासंविसिवला।
कयवउं वउवरा कसेरु किंपिक्केसरा।
करजखज्जखंजणा रिउजमुंजअंजणा।
नग्गोहसिग्गगंगया नारंगपूगनागया।
कक्कोलकेइकचणा धवालिवाहधम्मणा।
पीयालपीलुपिप्पला पलासकवलिवजुला।
मायंदकुंदचदणा कयदुतिट्ठवदणा।
अंकोल्लविल्लिमल्लिया वहल्लसल्लईलया। इत्यादि, (५, ४)

इस वर्णन में कुछ वृक्ष उत्तर भारत के भी जान पडते हैं। जैसे शाल और देवदार वृक्ष विशेष रूप से हिमालय पर तथा उस के निकट उत्पन्न होते हैं। किन्तु मलय गिरि पर उत्पन्न होने वाले इलायची, लौंग, कपूर, अगर और हरिचन्दन आदि का वर्णन (६, १) दक्षिण भारत की ही उपज हैं। वस्तुत. प्रवन्धकाव्य में प्राय. सभी प्रकार के फल-फूलो, वनस्पतियो तथा पेड़-पौधों का वन-वर्णन के अन्तर्गत नाम गिनाने की एक रूढि ही चिर प्रचलित है। प्रकृति-वर्णन में सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के कई छोटे-छोटे स्थल इस काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं। इन में प्रकृति का आलम्वनात्मक रूप ही प्रकट हुआ है। उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन वि० क० में ही नही स्वतन्त्र रूप से अपभ्रश के कथाकाव्यो में भी नही मिलता। यद्यपि कही-कही प्रकृति विरह का अंग बन गयी है, किन्तु उस में वियोग की मादकता न हो कर वियोगावस्था का सकेत मात्र है। इस से ज्ञात होता है कि प्रकृति का उद्दीपन रूप में संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन परवर्ती विकास है। प्रकृति-वर्णन में प्रस्तुत वर्णन मुख्य हैं, जो कथाकाव्य में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त हैं—वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन और सरोवर-वर्णन तथा उद्यान एवं वन-वर्णन इत्यादि।

ऋतु-वर्णन

उद्यान के वर्णन में छहो ऋतुओ की शोभा का वर्णन प्रस्तुत काव्य में चित्रित है। यद्यपि महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' में षड् ऋतुओ का स्वतन्त्र रूप से वर्णन

मिलता है, पर प्रबन्धकाव्य में यह प्रवृत्ति प्राकृत और अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलती है। हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो में यह परम्परागत सामान्य प्रवृत्ति लक्षित होती है। सनत्कुमार मित्र वसुभूति के साथ गृह-उद्यान में गया। उन दोनो ने वहाँ भली प्रकार भ्रमण किया। वहाँ बडी चहल-पहल थी। सब पेड-पौधे फूले हुए थे। भौंरे सदा गूँजते रहते थे। वह बगीचा बहुत बडा तथा मनोहर था। रोमाचित तिलक और अशोक के वृक्ष तथा सिन्दुवार की मंजरियाँ वसन्त की शोभा को भर रही थी। चमेली ग्रीष्मकालीन सुगन्धि को फैला रही थी। केतकी पावस के रूप में महक रही थी। मदहीन हाथी की भाँति मदजल की सुगन्धि के समान शरद् सप्तच्छद के साथ महक रहा था। पीली मालकागनी से युक्त हेमन्त पीताभ को भरता हुआ दिखाई दे रहा था। श्वेत कुन्द पुष्पो के रूप में दिशाओ में धवलिमा फैलाता हुआ शिशिर शोभायमान हो रहा था। इस प्रकार अनेक प्रकार के फूलो के वेश में छहो ऋतुएँ शोभा भर रही थी।

अह ते गय भवणुज्जाणे दोवि — आढत्त भमेवि तहिं सव्वओवि।
तत्थ वेदि कलकय दोहलेहिं — कुसुमिय असेस तरुमंडलेहिं।
छप्पेविउ निवसहिं सव्वकालु — उज्जाणु मणोहरु तं विसालु।
पढमंचिय तिलयासोय जंतु — तरुय सिंदुवारु मजरिय वसंतु।
गिण्हु वि मल्लिय परिमलु वहतुं — पाउसु कयवासिय दियतु।
पुणु गयमय गय गन्ध सरिच्छएहिं — सरउ वि सहिउ सत्तच्छएहिं।
पिंजरपियंगु मजरि विसिट्ठु — वहु रोध गत्तु हेमतु दिट्ठु।
उदाम कुंद धवलिय दिसोह — खिसिरो विहु पीयण जणिय सोह।
आनवि नाणाविह कुसुमवेसु — कुमरेण पलोइय तरु असेसु। (१,२१)।

गंगा नदी का वर्णन

पुरजनो के साथ वह क्रीडा के निमित्त गगा नदी के किनारे पहुँचा। नदी में तरगें हिलोरें ले रही थी। हंस और चकवो से युक्त वह अत्यन्त रमणीय जान पड रही थी। पति और पत्नी दोनो ही विलासपूर्वक हास-परिहास करते हुए वहाँ स्थित हो गये। उन दोनो ने उस नदी में हस और हसिनी के जोडे को देखा। हंस और हसी आपस में एक-दूसरे के मुँह को टकटकी लगा कर देख रहे थे।

नाणा उवगरणेहिं सगयाइं — रमणीयतीरे गगहे गयाइ।
हल्लततरंगेहिं हसरहंगइ — तहिं रमणीय लयाहरइ।
दोण्णिवि सविलासइं वड्ढियहासइ — ठियइ तुम्हे जिह मयणरइ।
मयणाहिगन्धु ससहरु पहक्कु — नवघुसिण विलेवणु तुम्ह ढुक्कु।
अवरोप्पर हसिय रायणाइं — मुहकमल निवेसिय लोयणाइ।

(११,१४-१५)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन दो स्थलो पर हुआ है। वर्णन में प्रवाह तथा भावावेग पूर्णतया लक्षित होता है। वस्तु-वर्णन लोक शैली में एव अनुभूतिजन्य है। अतएव अलंकृति का चमत्कार न हो कर भावानुभूतियो का सटीक चित्रण ही इस की विशेषता है। वर्णन है—कही पर चंचल तरंगें नाच रही थी। कही पर मगर और घाघ प्रकाशित हो रहे थे। कही पर मच्छ पूँछें उछाल रहे थे और कही पर उन के उछलने से शोभा व्ढ रही थी। वडी-वडी लहरें कोलाहल कर रही थी। कही पर हाथी सूँडो से पानी उड़ेल रहे थे। चित्र-विचित्र सीपियाँ मोतियो के रूप में स्फुट हो रही थी। कही पर मूँगे खण्डित हो रहे थे। कही पर चचलता से वहने वाले शंख-कुलो का दलन हो रहा था और कहीं पर विषधर विष की फुंकारें छोड रहे थे।

....	कत्थवि तरलतरंगिहिं नच्चइ।
कत्थवि मयरघाय अप्फालिउ	कत्थवि मच्छपुच्छ उच्छालिउ।
कत्थवि उच्छल्लिउ उल्लिर्लिहिं	हल्लाविउ महल्ल कल्लोलिहिं।
कत्थवि जल करिदंत वि कत्तिउ	फुडिउ सिप्पि मुत्ताहल लित्तउ।
कत्थवि मुसुमूरतु पवालइं	कहिंवि दलंतु लुलिय संखउलइं।
कत्थवि विसहरु विसवज्झारहिं	ओसारिउ सुदूरज्झंकारहिं। (३,१)

मुनिवर के समान सागर दिखाई दिया। वड़ी-वडी कल्लोल मालाओं से वह व्याप्त था। लहराते हुए शंख किनारे पर शोभायमान हो रहे थे। कही पर उठते हुए फेनो से तट धवल हो रहे थे तो कही पर हाथी जूझ रहे थे। कही पर जलमानुस मोती वीन रहे थे और कही पर अत्यन्त क्रोधित हो विषधर विप छोड रहे थे। कहीं पर वडे-वड़े मच्छ उछल रहे थे और कही-कही मगर तथा घाघ प्रकाशमान हो रहे थे। कही पर वढिया मूँगे विलकुल लाल दिखाई पड रहे थे और कही पर लहरियाँ तटवर्ती पेड़ो को चूम रही थी। कही पर भिन्न वर्ण वाले जल का संगम हो रहा था तो कही वडवानल प्रज्वलित हो रहा था और कहीं पर अनेक प्रकार के रत्नो की किरणो से जल रजित हो रहा था।

....	मुणिवर सरिसउ सायरु दिट्ठउ।
तं च सुमहल्ल कल्लोलमालाउलं	विउल विलुलंत संखउल वेलाउलं।
कहिंवि उद्दरं डिंडीर पंडुर तडं	कहिंवि जुज्झंत संघडिय जलकरिघडं।
कहिंवि मुत्ताहलालुइ जलमाणुसं	कहिंवि गुरु रोस पमुक्क विसहरविसं।
कहिंवि परिहच्छमच्छेहिं उच्छालियं	कहिंवि गुरुमयरकर घाय अप्फालियं।
कहिंवि आरत्त दीसंतए वर विद्दुमं	कहिंवि लहरीहिं लहल्लंत तीरद्दुम।
कहिंवि वट्टंत जावत्त अह दुग्गमं	कहिंवि अन्नेन जलवन्ननह सगमं।
कहिंवि जालावली जलिय वडवानलं	कहिंवि वहुरयणकिरणेहिं रजिय जलं।
एरिस तीर परिसठिया सायरं	गरुय अच्छरिया पेच्छमि रयणायर।५,९।

वसन्त-वर्णन

भविसयत्तकहा की भाँति विलासवईकहा में भी वसन्त-वर्णन में लोक-जीवन की झाँकी ललित पदावली में चित्रित है। ऐसे वर्णनो में श्रुति, नाद तथा लय एव गीति का मधुर समन्वय अपभ्रंश-काव्यो की निजी विशेषता है। वसन्त का वर्णन है—इसी बीच वसन्त के आगमन से लोगो में विलासपूर्ण चेष्टाएँ उत्पन्न हो गयी। अविवेकी जनो के लिए कामविकार आनन्दकारक हो गया। मानिनी स्त्रियो के मान का दलन करने वाला सुगन्धित मलय पवन बहने लगा। सकल वन-उपवन विकसित हो गये। पथिकों के मन अनुरंजित होने लगे। प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनवार शोभित हो गये। कामिनी स्त्रियाँ कलापूर्ण क्रीड़ाएँ करने लगी। विविध हाव-भावो से प्रेम का प्रसार करने लगी। हर्ष से भरे हुए युवक विचित्रतापूर्ण चाँचर खेलने लगे। सभी देवकुल के लोग पंचम राग में संगीत की तान छेडने लगे, गीत गाने लगे। केशर की बगियाँ खिल गयी। पाटल कुसुमो ने लोचन प्राप्त कर लिये। वन में चारो ओर मदन-पति का साम्राज्य फैल गया। सरोवरो में कमल-कमलिनियाँ प्रफुल्लित हो गयी। आम की डालियो पर लटकने वाली मंजरी तथा पिंगल पराग महकने लगा। फूले हुए फूलों से कुंज के कुंज उल्लसित हो गये। वन-उपवनो में अशोक और बकौली (मौलश्री) फूल गये। मधुर ध्वनि में काहल नामक बाजा बजाया जाने लगा। कुसुमो के भार से तरुवर झुक गये। मदोन्मत्त मधुकर गुंजायमान होने लगे। रक्त वर्ण के रूप में फूलों ने उज्ज्वल वसन धारण कर लिये। किंशुक (टेसू) नये वर के समान दिखने लगे। सिंदुवार डालियो पर शोभायमान होने लगे। पाटलो से झिरता हुआ मकरन्द लोगो को मोहने लगा। माधवी-मण्डप महकने लगा और नीलकण्ठ मन्द ध्वनि में बोलने लगा।

एत्थंतरि पसरिय वहु विलासु मणहरु सपत्तु वसंतु मासु।
अविवेयलोय आणंदयारु पायडिय विविह कामुयवियारु।
माणिणि जण माणुवि निद्दलंतु पसरिउ मलयानिलु महमहंतु।
वियसति सयल काणणवणाइ फुड्डति नाइ पहियमणाइ।
घरि घरि अदोलय गागिणीउ कीलति कलालय कामिणीउ।
पेक्खंति जेत्थु विविहासवाइं पेम्मइं पसरति पुणन्नदाइ।
दिक्खंति जेत्थु चच्चरि विचित्त खेल्लति जुवाण पहिट्ठचित्त।
वर पंचमगेयह झुणि पयत्त कीरत्ति सयल देउलेहिं जत्त।
लय पुच्छ मणोहरु वियसिय केसरु पाडल कुसुंम सलोयणउ।
महुमासवि मयवइ काणणेव वह गयवइ यह उव्वेवणउ।
जत्थ वियलदल कमल सालिणी सरवरेसु उल्लसिय कमलिणी। (१,७)

विवाह-वर्णन

विवाह का अत्यन्त विस्तृत विवरण इस काव्य में मिलता है। बारात के

प्रस्थान करते समय मंगलाचार किया जाता था। वर को मोतियो से पूरित चौक में विठाया जाता था। सिंहासन के आगे जल से भरे हुए मंगलकलश रखे जाते थे। दही, चावल और अंकुरित दूब से मंगल पढा जाता था। वन्दीजन गान करते थे। द्वार-चार के समय महिलाएँ आगे रहती थी। वे वर के दोनो कन्धो से मूसल का मुँह छुलाती थी। दधि, अक्षत और चन्दन से पूजा करती थी। भाँवर दे कर आरती उतारती थी। इस प्रकार सब मंगलाचार किये जाते थे। अभिलषित दान दिया जाता था। जलाजलि छोडी जाती थी। भीतर द्वार पर पहुँचते ही वर को स्त्रियाँ रोक कर खड़ी हो जाती थी। वे नेग-चार करती थी। धोती का पल्ला अँगूठे से छुआ कर वे नेग माँगती थी। फिर, जहाँ कन्या बैठी होती थी वहाँ प्रवेश कराया जाता था। वहाँ मंगल-गान गाये जाते थे।

राउलदुवारि संपत्तु जाव महिलायणु अग्गइट्ठियउ ताव।
कियउ यारणइं निउंच्छणाइं जुय खंध मुसलमुह ताडणाइं।
दहिअक्खयचंदण वंदणइ आरत्तियलोणहं भामणइं।
आयारइं सव्वइं तहिं कियइ दाणइं दिन्नइं हियच्छियइं।
चलणेहिं जलण भरिय सुसरावहं संपुडमह दलंतउ।
लग्गउ अनिलवेय फरिवहु यावास दुवार पत्तउ॥
अह तत्थ महिलाउ रुंधंति वहुलाउ,
वित्तइं पयविंत्ति अंचलेहिं खंचंति अंगुट्ठे लग्गंति नियदाणु मग्गंति।
अह देवि तं हिट्ठु भवणम्मि सुपविट्ठु—(१०,४)

इस प्रकार समूचा वर्णन लोक-जीवन से भरित तथा स्थानीय रूप-रंगी (लोकल कलर्स) से चित्रित है।

रूप-वर्णन

सनत्कुमार ने उस वाला को नयी कमलिनी के समान सुकुमार तथा स्तनो पर झूलते हुए हार से उल्लसित देखा। पूर्ण चन्द्र के समान उसका मुख था। कुवलय (नील कमल) के समान उस के नेत्र थे। अशोक से उन की तुलना की जा सकती है। उस के हाथ स्थल कमल की शोभा को हर रहे थे। उस के चरण अत्यन्त संश्लिष्ट थे। सिर पर लहराते हुए टेढे-मेढे घुँघराले वाल क्या थे मानो कमल से भौंरे ही मिल रहे थे। इस प्रकार विलासवती-सर्वांग में उत्कृष्ट थी।

सो दिट्ठ तं वाल नवनलिणि सुकुमाल।
वट्टंत थणहार उल्लसिय सियहार।
संपुन्न ससिवयण सन्निहियट्ठिय मयण।
परे पक्क विवोट्ठ कंकणेहिं सुपमोट्ट। (१०,५)

स्पष्ट ही उक्त वर्णन में रीतिशास्त्र का प्रभाव न होकर स्वतन्त्र रूप से छवियो का अंकन है, जिसमें वस्तु का यथार्थ संश्लिष्ट वर्णन है।

भाव-व्यंजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अनेक मार्मिक स्थल हैं, जिनमें विभिन्न स्थितियों में मनुष्य की मानसिक दशाओं का सटीक चित्रण हुआ है। जीवन में सुख की भाँति दुःख भी स्वाभाविक है। किन्तु कभी-कभी ऐसी अप्रत्याशित घटनाएँ घट जाती हैं, जिन की हम पहले कभी कल्पना भी नहीं करते। सनत्कुमार का पिता से रूठना तथा ताम्रलिप्ति पहुँच कर राजा ईशानचन्द्र का आतिथ्य ग्रहण करना, विलासवती का गोख से सनत्कुमार के कण्ठ में फूलमाल अर्पित करना, दोनों का उद्यान में परस्पर सम्मेलन होना तथा राजरानी से कलंकित हो कर रातोरात ताम्रलिप्ति छोड कर सनत्कुमार का श्रीपुर पहुँचना और वहाँ से प्रस्थान कर सिंहलद्वीप की यात्रा करना, इत्यादि।

सिंहलद्वीप की यात्रा करते समय नौका के भग्न हो जाने पर सनत्कुमार की मनःस्थिति अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो जाती है। वह किसी प्रकार काष्ठफलक से चिपक कर जब बहता हुआ समुद्र के किनारे पहुँचता है तो मित्र को न देख कर बहुत चिन्तित हो जाता है। नाना प्रकार के भाव उस के मन में उठने लगते हैं। एक के बाद एक संकटों का पहाड़ देख कर वह अपने कर्मों की गति का विचार करने लगता है। सनत्कुमार मन ही मन में कहता है—विधि का विलास एवं कर्मों की शक्ति अचिन्त्य है। कहाँ श्वेताम्बी नगरी छोड कर मैं ताम्रलिप्ति पहुँचा और कहाँ ताम्रलिप्ति से भाग कर इस अपार सागर को लाँघना पडा। कहाँ तो मैं सिंहलद्वीप जाने के लिए प्रवृत्त हुआ। और कहाँ बीच में पोत के फूट जाने से इस अवस्था को देख रहा हूँ। आश्चर्य तो यह है कि सब कुछ चला जाने पर भी मैं आज जीवित हूँ। मित्र वसुभूति के न रहने पर विविध क्लेशों को सहते हुए जीवित रहने से क्या लाभ ? हाय सुमित्र, हाय गुणों के सागर, हे वसुभूति ! तुम समुद्र में कैसे होगे ? हाय, किस प्रकार जल के बीच में रहने का वर्णन करूँ ? तुम्हारे बिना मैं शून्य मन से क्या करूँ ?

एयइ ताइं जहित्था विहियइं विहि विलसियह अचिंतिय रूवइं।
एह सा कम्महं सत्ति अचिंतिय कहिं सेयविय नयरि परिचत्तिय।
कहिं पुर तामलित्ति छड्डेविणु कहिं अपारु सायरु लघेविणु।
कहिं हउं सिंहलदीवि पयट्टउ अतराले किह पवहणु फुट्टउ।
किह अवत्थ एरिस पाविज्जइ तो अज्जवि जीविउ धारिज्जइ।
एगोयर सन्निहेण वा— किं अज्जवि जीविएण भो एरिस-
विरहियस्सवसुभूइणा विविह किलेसभाइणा।
हा सुमित्त हा गुणरयणायर भो वसुभूइ कत्थमह सायर।
हा किह जलहिहि मज्झवि वन्नउ तहं विणु किं करेमि हउ सुन्नउं।

(४,१३-१४)

इसी प्रकार विलासवती के लिए दोने में पानी भर कर लाने पर प्रिया को न देख कर सनत्कुमार के मन में विविध संकल्प-विकल्पो का संचार होने लगता है। पहले तो कुमार यह समझता है कि नयनमोहन पट से आवृत होने के कारण परिहास कर रही है, इसलिए कहता है—हे देवि, हँसी मत करो। किन्तु जब इतना कहने पर भी वह नही दिखाई देती तो कुमार का मन आशंकाओ से भर जाता है। अशुभ की सूचना देने वाली उस की बायी आँख फड़कने लगती है। कुमार का मन दु.खी हो जाता है। घबड़ा कर उस के हाथ से दोना गिर पड़ता है। वह अत्यन्त विषण्ण मन हो कर 'हा देवि' कह कर प्रलाप करने लगता है। उस ने सभी ओर ढूँढ़ा, पर कही नही मिली। इतने में उसे काला, चिकना और भारी अजगर दिखाई दिया। उस के पास नयनमोहन पट देख कर वह सकपका गया। वह सोचने लगा कि मेरी प्रिया कहाँ चली गयी। उस ने दिन और रात एक कर डाला। बार-बार चिन्ता करने लगा कि आकाश में चली गयी अथवा धरती पर है? उसे गर्मी, सर्दी, दु.ख-सुख सब बराबर हो गये। उस के लिए जीवन व्यर्थ हो गया। वह चेतन हो कर भी अचेतन हो गया। वह अकथनीय मूर्च्छावस्था को प्राप्त कर धरती पर गिर पड़ा।

तो जाव न दिट्ठिय तहिं सयणे आसंक पडिय कुमरस्स मणे।
तह फुरिय वामलोयण असुह उप्पन्न कुमारह चित्ति दुहं।
अव्वत्तयत्तेणावि वरीयं त नलिणपत्तु हत्थह पडियं।
पुणु सो अच्चंत विसन्नु मणे तहिं वुन्नवयणु तरलच्छु वणे।
हा देवि देवि देवित्ति गिरो आढत्तु गवेसिवि सो कुमारो।
नय सा कत्थवि लह तेहिं ससहरवयणी वालुय घलिहिं दिट्ठागुरु अयगरवहणी।
ता वेयमाण निवडिय हियउ तीयवि अणुसारि चल्लियउ।
दिट्ठोय तेण तरुयर गहणे जमदणू नाइ निवडिउ भुवणे।
अलिकुलकज्जलघणकसिणतणु विसजलेनितहा सुरवयणु।
सुह गहिय नयणमोहण परिउ तस्सवि गसणं मियवावडउ।

(५, २४-२६)

इस के पूर्व स्वप्न-दर्शन के अनन्तर की मनःस्थिति इतनी बद्धमूल हो जाती है कि उसे केवल विलासवती ही लक्षित होती है। आलोच्यमान कथाकाव्य मे ऐसे कई छोटे-बडे मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य की भावाभिव्यजना भलीभाँति अभिव्यक्त हुई है। कथा का नायक सनत्कुमार होने से कवि ने अधिकतर भावों की अभिव्यंजना नायक द्वारा अभिव्यक्त की है। सनत्कुमार से संबन्धित मुख्य स्थल हैं—विलासवती को पाने के लिए चिन्तित होना, मित्र-वियोग, तापसी कन्या को देख कर विलासवती का स्मरण-करना, विलासवती का वियोग, सयोग इत्यादि।

वियोग-वर्णन

प्रस्तुत काव्य में वियोग-वर्णन के चार स्थल हैं। पहले मे सनत्कुमार मित्र वसुभूति के विरह मे विकल हो कर अपने उद्‌गार व्यक्त करता है। दूसरे में विलासवती की स्वाभाविक मनोव्यथा निबद्ध है और तीसरे स्थल में माता अनंगवती विलासवती के लिए विलाप करती है। उस के उच्छ्‌वास भारतीय माता के सहज प्रसूत अश्रु-जल से सिक्त हैं, जिन में माँ की ममता अपना यथार्थ रूप सहेजे हुए है। उस के मन में विभिन्न प्रकार के संकल्प रह-रह कर उठते हैं। वह सोचती है कि हाय, मेरी बेटी कहीं नष्ट हो गयी अथवा किसी कुएँ में गिर कर मर गयी या कोई दुष्ट ही उसे हर ले गया अथवा वह समुद्र पार कर गयी। हा हा! मेरी बेटी विलासवती, तेरी बुद्धि कैसे फिर गयी? पहरेदारों से सरक्षित होने पर भी तुम कैसे रात में भाग निकली? क्या किसी प्रकार चोर के हाथ में पड गयी? क्या कोई तुम्हें भगा कर ले गया? हाय! तुम सब शुभ लक्षणों से युक्त थी। तेरी सुन्दर आँखें मन को सुखदायक थी। तुम अत्यन्त विनीत और समस्त कलाओ से युक्त थी। हे मधुरवचनी, तुम कहाँ हो? मुझे उत्तर दो।

हाहा कहिं नट्ठिय मज्झ सुया — कि कत्थवि कूवे पडेवि मूया।
किं केणविदुट्ठें अवहरिया — किंवा रयणायर उत्तरिया।
हा हा महधीए विलासवइ — किह एह बुद्धि तुहु संभवइ।
कंवुइ आरक्ख समाउलेहिं — किह रयणिहिं विवय राउलेहिं।
किं कत्थवि चोरहं पिडिपडिया — किं कत्थवि गत्थहि तुहुँ दडिया।
हा सव्वसुलक्खणे हा सुहए — विणयहनिहि सयलकलानिलए।
हा महुरवयणि केनातिलया — पडिवयणु देहि तुहु कत्थ गया। (९,२७)

चौथे स्थल पर माता पुत्र सनत्कुमार के लिए विलाप करती है। माँ पुत्र के गुणों का स्मरण करती हुई भाव-भीने स्वरों में फूट पड़ती है। वह कहती है—ताम्र-लिपि में घटित तुम्हारे अशुभ वृत्त से सभी शोक-सागर में डूब गये। राजा और दोनो रानियाँ मूर्छित हो गयी। हे मेरे सलोने होनहार पुत्र, हाय विचक्षण! मुझे अपना मुँह दिखलाओ। हाय! सुविनीत, देवगुरु वत्सल और सरल छलरहित तुम अभिमान के मेरु हो, पर गुणो के सागर हो। हाय पुत्र! तुम तो विवेक-रत्नाकर हो। तुम्हारा शरीर कोमल, सुन्दर भुजाएँ युद्ध में शत्रुओ से लोहा लेने वाली हैं। सकल महीतल पर गवेषणा करने पर भी तुम जैसा पुत्र नही दिखलाई पड़ता।

हा महपुत्त सव्वसलक्खण — हा दिक्खन्नय खाणि वियक्खण।
हा सुविणिय देवगुरुवच्छला — हा सोंडीरवच्छ वज्जियच्छला।
हा अहिमाणमेरु गुणसायर — हा पुत्तय विवेयरयणायर।
हा कोमलसरीर सुललिय भुय, — हा पडिवक्ख सूरयइ सजय।

हा हा मरउं पुत्त तुह नयणहं, आणंदिय सज्जणहं सलोणहं
तुहु पडिच्छंदहु पुत्त न दीसइ । पुहवी दुजइ सयलु गवीसइ
हा विहि किं तुहु मइं अवरइउ जेण पुत्तु देक्खणहं न लइउ । (१०,१५)

भविसयत्तकहा में चित्रित भविष्यानुरूपा की भांति विलासवती भी अपने विरह में मौन है। वह वियोगाग्नि में तप कर कुन्दन की भांति निखर उठती है। अतएव उस में मुखरता न हो कर गम्भीरता और व्यथा-वेदना की यथार्थ विवृति हाव एवं अनुभावो में लक्षित होती है। वियोगविधुरा भारतीय नारी का एक चित्र देखिए—

वह विलासवती कई विद्याधरियो से घिरी हुई थी। मुख-कमल को वह बांयें हाथ की हथेली पर रखे हुई थी। मोतियों के समान बडे-बडे आंसुओ को बहा रही थी। भोजन-पान का त्याग कर दिया था। उत्तर में सदा मौन रहती थी। विविध अस्त्र-शस्त्रो को धारण किये हुए अनेक विद्याधरो से वह रक्षित थी।

सा वेड्ढिय बहु विज्जाहरीहिं ।
मुहकमलु वाम करयले वहंति मुत्ताहल सम असुय मुयंति ।
परिचत्त पाणभोयण विहाण अच्छइ अदिन्न पडिवयण ताण ।
सन्नाह विविह आउह धरेहिं रक्खिज्जइ बहु विज्जाहरेहिं । (७, ९-)

हंसी का वियोग-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में हंसी का वियोग-वर्णन अत्यन्त मार्मिक एव अनुभूति पूर्ण है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो में इस वर्णन का निजी वैशिष्ट्य है। कवि की सवेदना में यह चित्र अत्यन्त स्फीत एवं प्रेरक बन पड़ा है। वर्णन है—वह हंसी विरह की ज्वाला में संतप्त हो कर छिन में आकाश में उडती, छिन में पानी में डूबती, छिन में नदी के किनारे पहुँचने की चेष्टा करती, किन्तु रेतीले तट पर बहुत कम घूमती है। शब्द सुन कर मिलने दौडती है, पर चकवे को देख कर सोचती है कि भ्रम हो गया। बड़ा भारी शोक होने से वह मरने के लिए निश्चय से तैयार हो गयी। जब वह नदी में डुबकी लगाती है तो उस के पंखो पर लगा हुआ कुंकुम सब धुल जाता है। कुंकुम का अंगराग धुल जाने से वे दोनों ही परस्पर एक-दूसरे को चकवाक देख कर पहचान लेते हैं।

खणे गयणहं उड्डहि, खणे जले बुड्डहिं विरहजलण संतावियइं ।
खणे तीरुच्चायणं संकमंति गुरुतरिहिं पुलिणे विरलइ भमंति ।
निसुणेवि सद्दु मुहराहिं मिलंति पुणु चक्कवाय संकए छलंति ।
सो गरुय सोय अभिभूयभाउ हुय बेवि मरण कय निच्छयाइं ।
बुड्डंहिं तुरिउ कुडुंगि जाम पक्खालिउ कुंकुमु सयलु ताम ।
देक्खेवि दोन्हि मि पयडु भाउ तो जाणवि पच्चभिजाणु जाउ ।
(११, १५-१६)

इस प्रकार संभ्रम की स्थिति में दोनो (हंस और हंसी) विरह के वेग से करुण स्वर में कूकते हैं। उन का खाना-पीना छूट जाता है। और चिन्ता से विकल हो कर मृत्यु का आलिंगन करने के लिए वे तत्पर हो जाते हैं।

तो गरुयविरह वेयण वसेण कूवंति दोवि करुणइं सरेण।
आहारु न इच्छहिं मरणहं वंछहिं खणु अच्छहिं चितावियइं। (११, १५)

विलासवती कथा विप्रलम्भ प्रधान प्रेमकथा काव्य है। इस काव्य मे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो ही विप्रलम्भ शृंगार से युक्त हैं। ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग वियोग के विभिन्न आवर्त-विवर्तों में आन्दोलित लक्षित होता है। काव्य के आरम्भ से ले कर अन्त तक की घटनाएँ नायक या नायिका की विछोह एव करुणा से भरी लघु कथाएँ हैं, जिन में प्रेमी और प्रेमिका का सच्चा प्रेम निबद्ध है। आलोच्यमान कथा का प्रारम्भ नायक के माता-पिता के वियोग से होता है। सनत्कुमार पिता से रुष्ट हो कर ताम्रलिसी नगरी में चला जाता है। वहाँ उस का प्रेम राजकुमारी विलासवती से हो जाता है। किन्तु प्रेम-संबन्ध पक्का होने के पूर्व ही नायक को वहाँ से भागना पडता है और वह मित्र के साथ श्रीपुर पहुँचता है। वहाँ से सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करता है। किन्तु पोत के समुद्र में भग्न हो जाने से मित्र वियोग का असह्य दु.ख झेलता है। किसी प्रकार दैव संयोग से उस वन में विलासवती का समागम हो जाने पर लौटते समय सार्थवाह के छल से नायक-नायिका पुन वियुक्त हो जाते हैं। सयोग से फिर दोनों मिल जाते हैं। किन्तु नायक के पानी लेने जाने पर नायिका को अजगर लील जाता है और फिर उसे वियोग-व्यथा की अग्नि में तपना पडता है। इतना ही नही, विद्याधरो की सहायता से पत्नी को प्राप्त कर लेने पर भी वह अनंगरति से युद्ध करता है और उसे जीत कर विलासवती को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथाकाव्य की मुख्य कथा विप्रलम्भमूलक शृंगार से ओतप्रोत है।

इस कथाकाव्य में सभी प्रमुख पात्रों को वियोगाग्नि में तपना पडता है। नायक-नायिका को तो विरह में जलना ही पडता है, पर उन के माता-पिता भी वियोग में आँसू बहाते हुए दिखाई पडते हैं। यही नही, सनत्कुमार के मुनि बन जाने पर पुरवासी उन के वियोग में शोकाकुल दृष्टिगोचर होते हैं। कवि ने उन के भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की है।

लोएहिं रुयतेहिं असु मुयंतेहिं गुण सुमरतेहिं परियरउ।
पुरमज्झि विट्ठहिं जाव जाइ नायरियहं दिट्ठिहिं ताव ठाइं।
जंपन्ति परोप्पर दुक्खियाउ सोएँ नयणसु फुसतियाउ।
हले कीस नराहिव दिक्खलेह किं एरिसु रज्जु न चिर करेइ।
वेरग्गु कवणु हुयउ इमस्स मणइट्ठु सयलु सपडइ जस्स।
(११, ३४)

अतएव फल की दृष्टि से विलासवती की प्राप्ति ही काव्य का साहित्यिक प्रयोजन है। किन्तु नायिका की प्राप्ति में विभिन्न संकट आते हैं। नायक संकटों में डूबता-उतराता किसी प्रकार लक्ष्य-साधन में सिद्ध हो पाता है। संकट-काल में नायक वियोग-व्यथा से पूर्णतया पीडित दिखाया गया है। इसलिए इस रचना में विप्रलंभ शृंगार मुख्य है।

अपभ्रंश काव्य की ही नही भारतीय प्रबन्धकाव्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि रचना का अन्त सुख में तथा शान्त रस में होता है। विलास कथा में भी समाप्ति शान्त रस में होती है। किन्तु इस में शान्त रस मुख्य नही है। आदि से अन्त तक विप्रलम्भ ही अविरुद्ध गति से संचरित लक्षित होता है।

शृंगार के दोनो पक्षों का उचित सन्निवेश काव्य में हुआ है। संयोग-शृंगार में—उद्यान में मिलन, परस्पर दर्शन, विवाह, काम-क्रीडा, विहार आदि बातें वर्णित हैं। अन्य रसो में वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक का उचित समावेश है। युद्ध-वर्णन में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। युद्ध के समय तथा अन्य स्थलो पर रौद्र रस की अभिव्यंजना हुई है। इसी प्रकार श्मसान वर्णन में भयानक रस अभिव्यक्त हुआ है।

पत्ताय तत्थ भीसण मसाणे वहु किलकिलंत वेयालट्ठाणे।
डज्झंति मडय वित्थयि गन्धे घुरहुरिय घोर सावययवन्धे। ३,७।

वीभत्स का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तक्खणे समुकिन्न माणुस किवालेण पियमाणि रुहिरासव राहयर सएण।
गयणंपि अट्टट्टहासो नलोहेण पज्जालयंतीय संजणिय खोहेण।
तिक्खइं दाढाइं वहु हड्ड गब्भाइं कडयड चावंति डिंभाइं।

भयानक का उदाहरण है—

अइ कसिणदेह नव नाइ मेह जमपासदीह चलजमलजीह।
गुंजट्ठ नयण विकराल वयण अइ कुडिल चार सुंकार फार।
दाढा कराल विसमुक्क जाल कुसिय तिमाय संजमिय घाय।

तथा—

भंमिवेवि भीसणाउ पज्जलंत लोयणाउ।
दाढा काडि भासुरेहि लोलमाण जीहएहिं। (६,३०)

रौद्र रस की अभिव्यंजना दूत के वचनो को सुन कर विद्याधर राजा के मन में तुरन्त होने लगती है। विभावानुभावो से वह भावो को अभिव्यक्त करता हुआ लक्षित होता है। हाव-भावो में क्रोध स्थायी भाव तथा विविध संचारी भावो का सुन्दर समावेश हुआ है।

अप्फालिउ विय भुउ समरसेण हउंत गुरुरोस रज्जंत नयणेण ।
किय भिउडि अइ भीसण वाउगेण रिउ पहर विसमंति अइपरिमुसो तेण ।
उन्नमिउ वच्छत्थल वाउ निमित्तेण कोपानलेणावि अच्चत जलिएण ।
अन्वारियं नियमुह चंड सोहेण उव्वेल्लिय वाहुजुयलं मुहंधारुअहिय । ७,१५ ।

चरित्र-चित्रण

आलोच्यमान कथाकाव्य में एक के वाद एक कई पात्र लक्षित होते हैं। किन्तु पात्रो की भीड में मुख्य पात्र सनत्कुमार और विलासवती दिखाई पड़ते हैं। इन दोनो का चरित्र ही मुख्य रूप से इस काव्य में चित्रित है। सनत्कुमार कथा का नायक है और विलासवतो नायिका। विलासवती की प्राप्ति ही इस कथा का फलागम है। अत-एव सनत्कुमार के चरित्र में नायकोचित्त गुणो का सन्निवेश हुआ है। नायक और नायिका केवल परस्पर अनुरक्त ही चित्रित नही हैं, अपितु उनमें सच्चे प्रेम की व्याप्ति भी प्रदर्शित है।

सनत्कुमार—सनत्कुमार का चरित्र मुख्यतया राजकुमार युवक का चरित्र है, जिसकी मसें यौवन से भीगीं, नयन लाली से आपूरित तथा मन मधुर कल्पनाओ से अनुरंजित एवं प्रेम की प्यास से तृषित है। अतएव प्रथम दर्शन में ही वह निक्षिप्त मौलसिरी की माला को देख कर स्नेहांकुर से रोमाचित हो जाता है। वार-वार उस का मन रस्सी तुड़ाये हुए घोडे की भाँति काम का अनुगमन करने लगता है। किन्तु वह मित्र के समझाने पर सयम के बांध को न तोड कर सामाजिक मर्यादाओ का पालन करता है। इतना ही नही, वह अपनी इच्छा से विना विवाह किये समागम के लिए प्रवृत्त नही होता। हाँ, प्रेम को वढाने वाली औपचारिक बातो में वह पीछे नही रहता। और ऐसे ही समय पर उस की व्यवहार-चतुरता का पता लगता है। स्पष्ट ही नायक प्रेमी होने पर भी कामान्ध नही है। अतएव अनंगवती के बुलाने पर वह निर्विकल्प उस के पास जाता है और रानी के द्वारा काम-प्रस्ताव रखने पर वह उस का विरोध करता है। वह उसे समझाता है कि यह अनीति है और बडे लोगो को यह शोभा नही देती है। इसी प्रकार पोत के भग्न हो जाने पर जव वह आश्रम के निकट के वन में पहुँचता है और वहाँ किसी तापसी सुन्दरी को देखता है तो उस का मन उस पर लुभाता नही है। किन्तु जव उस की छवि मन में वस जाती है तव वह विचार करता है कि यह विलासवती ही होनी चाहिए। क्योकि मेरा मन उसे छोड कर अन्य किसी में नही बिंधा है। यही नही, स्वप्न सुन्दरी का दर्शन होने पर वह कहता है कि उसी विलास-वती को छोड कर अन्य कन्या मैं नही चाहता और कोई मेरे मन में नही है। उस के इस कथन से जहाँ नायक का नायिका के प्रति गाढ प्रेम सूचित होता है, वही नायक के उदात्त चरित्र पर भी प्रकाश पडता है। फिर, अजगर के द्वारा विलासवती के लील

जाने पर सनत्कुमार गले में फन्दा डाल कर प्राणान्त करने के लिए तैयार हो जाता है, जिस से नायक का उत्कृष्ट प्रेम स्पष्ट निर्दिष्ट है।

नायक के चरित्र की दूसरी विशेषता है सहिष्णु तथा क्षमाशील होना। विनयंधर के समझाने पर भी सनत्कुमार रानी के आरोप का प्रतिकार करने के लिए राजसभा में नही जाता है और विनयंधर को राजा के आदेश के पालन की ही अनुमति देता है। वस्तुतः वह दूसरे के दोषो को ढँक कर अपने दोषों को प्रकाशित करने की नीति का पक्षपाती है।

मित्र की राय का तथा मित्र का वह यथोचित सम्मान करता है। मित्र के बिछुडने पर वह बहुत ही अधिक दुखी होता है। मिलने पर प्रत्येक कार्य में उसे अपने साथ रखता है तथा बराबरी का स्थान देता है।

सनत्कुमार साहसी तथा वीर है। विद्याधरो से युद्ध कर वह सच्ची वीरता का परिचय देता है। समुद्र में जहाज के फट जाने पर वह साहस नही छोड़ता है। किसी प्रकार काष्ठफलक के सहारे सागर तैर कर किनारे पर जा पहुँचता है। विद्या-सिद्धि करते समय उस के आत्मबल का सच्चा स्वरूप लक्षित होता है। वह सब प्रकार के उपसर्गों तथा विघ्न-बाधाओ को सहन करता है। प्रिया का ध्यान आने पर अपने मन को एकाग्र कर वह समाधि से विचलित नही होता।

संक्षेप में, सनत्कुमार धीर-वीर, साहसी, स्वाभिमानी, विवेकी, दूरदर्शी और दयालु है। चोरो की प्रार्थना से पसीज कर वह उन्हें मुक्त कर देता है। किन्तु पिता के द्वारा फाँसी पर चढवा देने से वह रुष्ट हो नगर-त्याग कर देता है। इस प्रकार सनत्कुमार में राजोचित जातीय तथा वैयक्तिक गुणो का अद्भुत समावेश लक्षित होता है।

विलासवती—नायिका विलासवती सनत्कुमार के प्रति सच्चे मन से आसक्त दिखाई पड़ती है। अपने प्रेम-व्यापार के उपक्रम के लिए वह अनंगसुन्दरी दासी को सहायक बना कर सनत्कुमार का पूरा परिचय प्राप्त करती है तथा उद्यान में नियत समय पर उस से भेंट करती है। इस के पश्चात् उस को सेवा में उपहार भेज कर प्रणय-निवेदन करती है। किन्तु सनत्कुमार के इन वचनो पर कि बिना विवाह किये रति-क्रीड़ा में प्रवृत्त नही होगे, विलासवती भी नायक के वचनो का पालन करती है। वह काम-वेदना की व्यथा को भोग कर भी नायक को समागम के लिए बाध्य नही करती। इस से पता लगता है कि विलासवती कामान्ध नही थी। दूसरे, वह व्यवहारोचित मर्यादाओ का पूर्णतया पालन करती है। उद्यान में दासी के साथ अकेली न जा कर माता तथा अनेक सेवक-सेविकाओ के साथ जाती है। सनत्कुमार विषयक रति भाव को वह माता से गोपन कर मन ही मन नही रखती। भारतीय कन्या का यह विशेष रूप इस रचना में भलीभाँति प्रकाशित हुआ है।

विलासवती के सच्चे प्रेम की परीक्षा उस समय होती है जब यह बात ताम्रलिप्ती में सर्वविदित हो जाती है कि सनत्कुमार का वध हो गया है। विलासवती तब प्रेम की ज्वाला में जल कर सती होने के लिए अर्द्धरात्रि के समय श्मसान की ओर अकेली चल पडती है। किन्तु तस्करो से लूटी जा कर वह किसी प्रवहण में समुद्र की लहरों पर चलती है और जहाज के फूट जाने पर काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करती है। यहाँ पर नायिका के साहस और त्याग का परिचय मिलता है।

स्वभाव से विलासवती सरल और लज्जालु है। इसीलिए तपोवन में सनत्कुमार को देख लेने पर भी वह धृष्टता के साथ वार्तालाप न कर बडी-बूढी तापसी को उस के पास भेजती है। उस से भी वह तुरन्त न कह कर दूसरे दिन कहती है। इस से उस की मनोवृत्ति तथा शालीनता सूचित होती है।

विलासवती का अन्य रूप पतिव्रता पत्नी का है। वह पतिभक्त तथा अनन्य सेविका के रूप में चित्रित है। इसी लिए विलासवती सानुदेव सार्थवाह तथा विद्याधर राजा के घृणित प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने सतीत्व का परिचय देती है। दो शब्दों में, विलासवती का चरित्र सती सीता या सावित्री के चरित्र के समान है तथा पति के प्रति भक्ति आत्मसमर्पणमूलक है।

अन्य चरित्र

अन्य चरित्र में मित्र वसुभूति, विनयधर, अनगसुन्दरी तथा अनंगवती आदि की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। मित्र वसुभूति सनत्कुमार का अभिन्न मित्र तथा सहायक है। वह मित्र सनत्कुमार को उचित राय से ही पुरस्कृत नही करता, वरन् संकट काल में विलासवती के हरे जाने पर वह उस का पता लगाता है और मित्र की भरपूर सहायता करता है। विनयंधर सनत्कुमार के वंश से उपकृत हो कर कृतज्ञता ज्ञापित करता है तथा सिंहलद्वीप की यात्रा के लिए पूरी व्यवस्था करता है। इस प्रकार जीवन दान के बदले कुमार का जीवन रक्षित कर कृतज्ञता से उऋण होता है।

उक्त सभी चरित्रो में से अनंगवती का चरित्र कामुक तथा दुराचार से युक्त वर्णित है। अनंगवती के काम-प्रस्ताव का विरोध करने पर रानी हँस कर कह देती है कि मैं ने तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह कौतुक रचा है, वास्तव में नही। इसी प्रकार जब पुत्री के भाग जाने का वृत्त उसे ज्ञात होता है तो वह विलाप करती है और अपने किये पर पश्चात्ताप करती है। वह राजा को भी सच्चा-सच्चा वृत्तान्त निवेदन करती है। यह एक अनुभव की बात है कि जब व्यक्ति किसी भूल पर पश्चात्ताप करता है तो समझना चाहिए कि उस के स्वभाव के प्रतिकूल ही वह घटित हुई है। फिर, सनत्कुमार से मिलने पर रानी उस से क्षमा माँगती है, जिस से उस का सारा दोष धुल जाता है।

अनंगरति का चरित्र अवश्य रावण का चरित्र है, जो विना युद्ध किये किसी भी प्रकार विलासवती को अन्त तक लौटाने के लिए तैयार नही होता। अनंगसुन्दरी विलासवती की दासी होने पर भी अनन्य सखी और सेविका के रूप में चित्रित है। वह प्रत्येक कार्य को विलासवती की रुचि के अनुसार तथा ईमानदारी से करती है। इस प्रकार वर्गगत चरित्रो में सनत्कुमार, विलासवती, अनगरति तथा अनंगवती के चरित्र है, जिनमें वैयक्तिक तथा जातीय गुणो का भी समावेश है, अन्य वैयक्तिक चरित्र ही है।

आदर्श प्रेम की व्यंजना

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में तीन प्रकार के प्रेम-रूपो का वर्णन मिलता है। पहले प्रकार का प्रेम युवक नायक और नवयौवना नायिका के विवाह के अनन्तर स्फुरित देखा जाता है। भ० क० और सि० क० में इसी प्रेम का विकसित रूप लक्षित होता है। भविष्यदत्त वास्तविक प्रेम के कारण भविष्यानुरूपा को चतुरता से और सुमित्रा को युद्धपूर्वक प्राप्त करता है। किन्तु जि० क० में जिनदत्त पुतली के रूप मे चित्रित किसी सुन्दरी के रूप को देख कर उस पर मोहित हो जाता है। उस के पिता चित्रकार को वुला कर सुन्दरी का नाम, पता पूछते है और उसे भेज कर विमलमती को पाने का प्रयत्न करते है। इस में यद्यपि नायक-नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता है, पर उस की ओर से प्रयत्न होने के कारण प० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा वर्णित प्रेम-रीतियों में से चौथी प्रकार की कही जायेगी।[1]

विलासवईकहा में वर्णित प्रेम-विवाह के पूर्व का प्रेम है, जो संयोग और वियोग के सागर में उठने वाले विभिन्न आवर्तों से कल्लोलित तथा अन्त में शीतल मन्द समीर से हिल्लोलित है। विलासवती मधुमास में उद्यान की ओर जाते हुए मित्र के साथ सनत्कुमार के रूप-लावण्य को गोख में से निहार कर उन पर आसक्त हो जाती है और तुरन्त ही अपने हाथो से गूँथी हुई मौलसिरी की माला उन के ऊपर छोड देती है। वह माला सनत्कुमार के सिर के ऊपर जा कर गिरती है। मित्र वसुभूति उसे कण्ठ में खिसका देता है। सनत्कुमार एक दृष्टि में विलासवती को देख कर उस पर न्यौछावर हो जाता है। प्रेम की आग धीरे-धीरे दोनो के हृदय में सुलगने लगती है। मित्र और दासी से दोनों का उद्यान में साक्षात्कार होता है। एक-दूसरे के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। कुछ दिनों में प्रेमोपहार आदि भेजने और स्वीकार करने से दोनो का प्रेम-सम्वन्ध दृढ हो जाता है। किन्तु नायक-नायिका के प्रेम-प्रणय को तव तक आत्मसात् नही करता जव तक विवाह नही हो जाता। विलासवती भी प्रेमी के वचनो का पालन करती है। इस प्रकार कवि ने विवाहपूर्वक समागम की वात कह कर प्रेम के शुद्ध

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २६-२७।

रूप को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है, जिस से प्रेम में आवेग के साथ ही गूढ़ता भी दिखाई पड़ने लगती है। यह कवि की अपनी कल्पना और अनुभूति का मेल है कि उस ने प्रेम के आवेग की तीव्रता को समुद्र की मर्यादा की भाँति लौकिक सीमा में बाँध कर भी ऐकान्तिक प्रेम की गम्भीरता का परिचय दिया है। और इसीलिए नायक के वियोग में विकल हो कर विलासवती का आधी रात में सती होने के लिए श्मसान की ओर प्रस्थान करना, मार्ग में डाकुओं से लूटी जा कर किसी व्यापारी के हाथ लगना और समुद्र में पोत के भग्न हो जाने पर आश्रम में पहुँचना आदि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं; जिनमें नायिका संकट झेल कर भी नायक में अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करती है। नायक भी संकट में पड़ कर कष्टों को भोगता हुआ उसी आश्रम के उपवन में दैवयोग से जा पहुँचता है; पर निराश-सा हो कर अपनी मनःस्थिति को प्रकाशित करता हुआ कहता है—उस विलासवती को छोड़ कर मेरा मन अन्य किसी कन्या को अपनाने के लिए तैयार नहीं है (सा—य विलासवई वज्जेविणु अन्नहि कन्नहि न रमइ महु मणु) इस से नायक का नायिका के प्रति गाढ़ प्रेम सूचित होता है। इतना ही नहीं, अजगर के विलासवती को लील जाने पर सनत्कुमार फाँसी लगा कर प्राण-त्याग करने को उद्यत हो जाता है। मलय पर्वत के शिखर से प्रिया को पाने के लिए कूद पड़ता है। विलासवती के हरण हो जाने पर विद्याधरों से प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध करता है। ये सभी घटनाएँ नायिका और नायक के आदर्श और वास्तविक प्रेम को प्रकट करती हैं।

इस कथा के प्रेम-वर्णन में नायक या नायिका के प्रेम की उग्रता न हो कर दोनों के प्रेम की अतिशय तीव्रता का मेल दिखाई पड़ता है। दोनों ही कई संकटों में पड़ कर अपने प्रेम-पथ से विचलित नहीं होते हैं। एक-दूसरे को पाने का प्रयत्न तथा साक्षात्कार के बाद प्रेमोपहार का आदान-प्रदान एवं वियोग-काल में काम-व्यथा दोनों में कवि ने समान रूप से प्रदर्शित की है।

आदर्श प्रेम की इस व्यंजना में कवि ने जिस विशेष बात को चित्रित किया है वह गान्धर्व विवाहपूर्वक नायक-नायिका का समागम है। इस लिए सनत्कुमार का विद्याधरों से संग्राम प्रेमोन्माद के रूप में न हो कर लोक-कर्तव्य तथा सामाजिक नियमों के अनुरूप हुआ है। रामचन्द्र की भाँति सनत्कुमार अनंगरति के पास अपना दूत भेजता है और पत्नी को वापिस लौटाने के लिए निवेदन करता है। इसी प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व स्वयं सनत्कुमार प्रिय वचनों में उस से निवेदन करता है और उस के उद्धत दर्प को अपनी शालीनता से जीत कर कर्तव्य-विधान का परिचय देता है।

इस प्रकार प्रेम की व्यावहारिकता और यथार्थता का मेल कर कवि ने जिस आदर्श प्रेम की सृष्टि की है वह मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित हो कर लोक-प्रेम एवं आदर्श रूप से मण्डित है।

संवाद-सयोजना

प्रस्तुत काव्य मे कई मधुर संवादो की संयोजना उत्कृष्ट वन पड़ी है। संवाद पात्र, देश, काल तथा वातावरण के अनुसार अनुस्यूत है। मुख्य संवाद हैं—वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनंगवती-सनत्कुमार-संवाद, विनयंधर-सनत्कुमार-संवाद, मनोरथदत्त-सनत्कुमार-संवाद, तापसी-सनत्कुमार-संवाद, तापस-सनत्कुमार-संवाद, तापस-ऋषि-सनत्कुमार-सवाद, विद्याधर-सनत्कुमार-संवाद, वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनगरति-सनत्कुमार-संवाद, सनत्कुमार-मुनि-संवाद आदि।

इन संवादो में सरलता, स्वाभाविकता, सजीवता और कसावट निहित है, जो किसी भी अच्छे सवाद के विशेष गुण कहे जा सकते हैं। भाषा संवादो के अनुकूल तथा मधुर है। सवाद पढने के साथ ही दृश्य तथा वातावरण से युक्त चित्र आँखो के सामने आ जाता है। यथा—

अंसुपवाहु मुएविणु पुच्छिय कुसलें तुम्ह सरीरिं अच्छिय।
अवि अम्हहं पहुणो तुह तायह कुसलु कुमार किव महरायह।
तात सुकुसलु कुमारिं कहियउ मित्त सहिउ निय मंदिरे नीयउ।

संक्षिप्त और विस्तृत दोनो प्रकार के संवाद प्रसंगत. इस रचना में नियोजित हैं। तापसी और सनत्कुमार के संवाद में वह आश्रम में आने की अपनी तथा विलासवती की संक्षिप्त कहानी कहती है, जिस से संवाद वहुत लम्वा हो गया है। किन्तु समूचे काव्य में यही एक स्थल है जहाँ संवाद कथा वन गयी है। कई संवाद वहुत छोटे-छोटे तथा रुचिकर हैं। कही-कही संवादो के वीच सवाद हैं। जैसे कि—

"मइ पुच्छिय कवणें कारणेण सा भणइ मयणगह पीडणेण।
मह जपिउ सुदरि वम्महस्स निज्जिय नीसेस सुरासुरस्स।"
मइं पुच्छिय सुदरि कहहि मज्झु निव्वेयह कारणु कवणु तुज्झु।
अभणिउ तीए किं अक्खिएण दुक्खेण तस्स सहरिस मणेण।

इस प्रकार वसुभूति उस के और अनंगसुन्दरी के वीच में किये गये वार्तालाप को सनत्कुमार को सुनाता है। इसी प्रकार विनयन्धर राजा की वात को ज्यो का त्यो संवाद के रूप में नाटकीयता के साथ सनत्कुमार को सुनाता है और नैमित्तिक का उल्लेख करता है। कही-कही सवादो के वीच उपदेश की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। अनंगवती के द्वारा सनत्कुमार के सामने काम-प्रस्ताव के रखे जाने पर सनत्कुमार उसे उपदेश देता है। यथा—

ता मइं तुहु अप्पिउ नियं मणेण तुम एव्विय वद्धउं गुणगणेण।
अणुराइं भरिउ सु निब्भरेण पज्जालिउ विरह महाजरेण।
इय चिंतिवि भणइ सणकुमारु संकप्पु अविवज्जहि असारु।

जा इह परलोयहिं वि विरुद्धु एरिसु न अंव अणुहरइ तुहु ।
आलोव्वहि निय कुलु अइ विसालु अप्पणउ पेक्खि तुहु सामिसालु ।
परिभावहि तुहु केवड्डु नामु अणुचिंतहिं दारुणु विसयगामु ।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि संवादो में कथनोपकथन की शैली सर्वथा व्यावहारिक तथा शिष्ट हैं । कवि के वाग्वैदग्ध्य का पता हमें अनंगवती के वचनो मे मिलता है । जब वह समझ लेती है कि सनत्कुमार विलासवती का प्रेमी होने पर भी मुझे कर्तव्य की शिक्षा दे रहा है तो तुरन्त कहती है—

एत्थंतरि लच्छिय वयणियाए जंपिउ अणगवइ राणियाए ।
तह साहु साहु उल्लविउ एउ उचिउ कुमार तुम्हह विवेउ ।
तुहु रूवु वि सीलु वि अत्थि दोवि तइ सरिसु न दीसइ पुरिसु कोवि ।

इस प्रकार सवादपटुता तथा चरित्रों के अनुकूल सवादो का समावेश सपूर्ण रचना मे दृष्टिगत होता है । इन संवादो के माध्यम से स्थान-स्थान पर पात्रो के चरित्रो पर भी प्रकाश पडता है । अनंगवती और सनत्कुमार के उक्त वचनालापो से दोनो का चरित्र स्पष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यो में मधुर संलाप देखे जाते हैं । सवादो में चुस्ती और भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति सभी स्थलो पर अभिव्यजित है । इन संवादो को ध्यान से पढने या सुनने पर कथा-कहानी-सा आनन्द मिलता है । उदाहरण के लिए—

तुम्ह निमित्तु अम्हे पट्ठाविय ।
ता अम्हह पसाउ लहु किज्जइ नगरियइ पवहणि जाइज्जइ ।
कुमरिं जंपिय पाणपियारिय भद्दहो अत्थि दुइज्जिय भारिय ।
ते भणति को दोसु भविस्सइ चलउ सावि किं भारु करिस्सइ ।

इस प्रकार सवादो में पात्रों की सजीवता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है । प्रसगानुकूल सवादो में उतार-चढाव तथा भावो की मार्मिकता निहित है । युद्ध के समय भावो में यदि स्फूर्ति और उत्साह हैं तो विवाह के समय पुलक और आनन्द तथा मुनि-दीक्षा के समय निर्वेद एव वैराग्य । इन सभी प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति सवादों के माध्यम से ही अधिकतर हुई हैं । उदाहरण के लिए—

अण्णे पुण पभणइ मभण एउ संसार विरत्तउ अम्ह देउ ।
इह लोइ ताव किउ रज्जु सारु एवहिं पुणु इच्छइ भवहु पारु ।

संक्षेप में, कही-कही संवादों के अधिक लम्बे हो जाने के अतिरिक्त लगभग सभी गुण उक्त सवादो में प्राप्त होते है, जिन्हें पढ-सुन कर सहज ही पता चल जाता है कि संवाद सयोजना में रचनाकार को पर्याप्त सफलता मिली है ।

शैली

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य की प्रसिद्ध काव्य शैली कडवक बन्ध में इस कथाकाव्य की रचना हुई है। वस्तुत. कडवक शैली का सम्बन्ध छन्दोनुबन्ध से है। अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्य सामान्यत. पद्धडिया में निबद्ध है। पद्धड़िया के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। हिन्दी की चौपाई-दोहा शैली की भाँति पद्धडिया चौपाई जैसा एक छन्द है और इस के अन्त में भिन्न छन्द की योजना रहती है। इन दोनो की एक साथ रचना को ही सामान्य रूप से 'कडवक' कहते हैं। स्पष्ट ही संस्कृत के काव्यों की भाँति अपभ्रंश के काव्यो में श्लोक या दोहे न हो कर पद्धडियो की रचना देखी जाती है।

विलासवईकहा मे समूचा काव्य-कलेवर पद्धडिया छन्द तथा कड़वक शैली में निबद्ध है। साधारणतया एक कडवक में छह पद्धडिया छन्द अर्थात् बारह पंक्तियाँ प्रयुक्त दिखाई पडती हैं। किन्तु किसी-किसी कडवक में आठ, दस और ग्यारह पंक्तियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार एक कडवक में छह पद्धड़िया छन्द से ले कर बारह तक का प्रयोग इस काव्य में हुआ है। कडवक के अन्त में भिन्न छन्द का प्रयोग है। किसी-किसी कडवक में आदि और अन्त में भी भिन्न छन्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

काव्य-रचना की दृष्टि से वि० क० की शैली रोचक तथा वैदर्भीवृत्ति से पुष्ट है। अतएव वर्णनो में, संवादो में तथा घटनाओ के उतार-चढाव में विशेष आनन्द एव स्फूर्ति का अनुभव होता है। रचना-शैली की सब से बडी विशेषता यही है कि पाठक उत्तरोत्तर रस से आप्यायित हो रचना में डूबता जाता है और पढते-पढते अपने आप को क्षण भर के लिए भूल जाता है। भ० क० और वि० क० दोनों ही कथाकाव्य शैली की दृष्टि से उत्तम रचनाएँ हैं।

वस्तुत प्रस्तुत कथाकाव्य की शैली साहित्यिक है, जिस में अलंकारो का सहज सन्निवेश, वाग्वैदग्ध्य और शब्द-योजना का सौष्ठव अन्तत गर्भित है। इसलिए भाषा-रचना में सामासिक पदावली तथा अलंकरणता स्पष्टतया देखी जाती है। भावों को तीव्र बनाने के लिए तथा बिम्बार्थों को उभारने के लिए कही-कही भ० क० की भाँति मूर्तामूर्त तथा अप्रस्तुत-योजना भी लक्षित होती है। जि० क० भी इसी साहित्यिक शैली की कोटि में आती है।

संक्षेप में, शैली की दृष्टि से वि० क० साहित्यिक रचना है, जिस में संवादो की मधुरता, भाषा-सौष्ठव तथा अलंकरणता के बीच पर्याप्त रोचकता है। अतएव काव्य प्रभावाभिव्यंजक एवं माधुर्य गुण से ओतप्रोत है।

भाषा

इस कथाकाव्य में प्रयुक्त भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। यद्यपि कवि गुजरात का निवासी था—पर उस की भाषा परवर्ती वैयाकरणो के द्वारा निर्दिष्ट भाषा सम्बन्धी

नियमो के अनुरूप है। आ० हेमचन्द्र के नियमो में तथा इस रचना के शब्द-रूपो में अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पडता है। क्योकि इसमें प्राकृत के प्रत्ययो तथा क्रियापदो का प्रयोग हुआ है। भाषा में देशीपन भी झलकता है, पर परवर्ती प्राकृत की वाक्य-रचना भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—

गत्थु, पील, कुणह, वहर, तत्ति, दूमिज्जइ, पत्ता, उक्काउ, पहरेमि, उक्कोस, गिण्ह, जंव, तंव, वज्जर, पज्जर, दुगुंछ, कुण, अप्पाह इत्यादि। यद्यपि अपभ्रश-काव्यो में प्राकृतों की प्राय सभी विशेषताएँ, शब्द-रूप तथा क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, पर कही-कही अन्तर भी है। जैसे कि—प्राकृत में प्राय सस्कृत की 'कथ्' धातु के बदले 'कुण' का प्रयोग होता है, पर अपभ्रंश में 'कह' का। किन्तु वि० क० में कुणइ, खंचइ, मुसुमूरइ, मुरइ आदि ऐसे ही ठेठ प्राकृत के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगो में से कुछ सस्कृत के तत्सम या तद्भव प्रयोग भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

चास (चापक), पियाल (प्रियाल), सहयार (सहकार), पवहणु (प्रवहण), सन्निह (सन्निभ), निब्भय (निर्भय), एला, लवग, फणस (पनस), पल्लव, वाण, कप्पूर (कर्पूर), विसिट्ठु (विशिष्ट), तेउ (तेज), काहल, तरल, खय (क्षय), मराल, रउद्द (रौद्र), विवाउ (विपाक), कराल, दाढ (दंष्ट्र), अलय (अलका), परोप्पर (परस्पर), सग्गु (स्वर्ग) और केय (केतु) आदि।

इसी प्रकार क्रिया-पदो पर भी सस्कृत की छाप लगी हुई दिखाई पडती है। कुछ क्रिया-रूप निम्नलिखित हैं—

हय (हत), फुरिय (स्फुरित), विमुक्क (मुक्त), विमुच्चमाण, ताडिज्जमाण, संट्ठिय (सस्थित), गिण्ह (गृहण), परिणवइ (परिणमते), जाणति, परिहरहु, अभिभूययाइं, एसा (एषा), वयण (वदन), कप्पिय (कल्पित), जयइ (जयति) आदि।

ज्ञात होता है कि कवि साधारण प्राकृत के अच्छे विद्वान् थे। इस लिए उन की यह रचना प्रौढ तथा कसी हुई है। कही-कही वाक्य-रचना पर भी प्राकृत का प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

> एसा य गणिज्जती पाएणाणुट्ठुभेण छदेण।
> सपुण्णाइ जाया छत्तीससयाइं वीसाइं ॥ (प्रशस्ति अत्य, ८)

रेखाकित प्रयोग स्पष्टतया प्राकृत के हैं। इसी तरह पूर्वकालिक क्रिया में जुडने वाला प्राकृत का पूर्वकालिककृदन्त 'ऊण' प्रत्यय भी कही-कहो प्रस्तुत रचना में दृष्टिगोचर होता है। यथा – पढ़ाविऊण, अवयारिऊण, गिण्हिऊण इत्यादि। उदाहरण है—

करेऊण तो देवया गुरु पणामं तुमलोकडं गिण्हिऊणं च वामं (३,१६)

यद्यपि अपभ्रंश कथाकाव्यो में सन्धिबहुल तथा समस्त पदावली का बहुत कम प्रयोग मिलता है, पर प्रस्तुत काव्य में विरल नही है । कई स्थलो पर साहित्यिक भाषा तथा समस्त प्रयोगो का उचित सन्निवेश दृष्टिगत होता है । समासबहुला पदावली के कुछ उदाहरण हैं—

लडियतडविडवनिवडंतसडियफला, कुरकारंबकलहंसकोलाहला; कुंचचक्कायसारसियसदाउला; कुसुममालआमोहयमहुयर, उववणसुंदरकंदररवन्नु; गुरुसिहरनिरुमियगयसमग्गु, सुमहल्लकल्लोलमालाउलंविउलविलुलंतसंखउलवेलाउलं इत्यादि ।

उक्त प्रकार की रचना को देख कर कही-कही बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है । किन्तु सन्धि-रचना में संस्कृत को भाँति अपभ्रश में जटिलता नही मिलती और इसी लिए कदाचित् सभी प्रकार की सन्धि-रचना दृष्टिगोचर नही होती । अतएव तवोवण, रयणायर, परोप्पर, हारप्पहा, अण्णाणु, कोवानल, सच्चिय आदि सामान्य रचना देखी जाती है । वस्तुतः मणोरह, विज्जासाहणु, हारप्पहा, छायन्व आदि शब्द-प्रयोग संस्कृत से तत्सम या तद्भव रूप में गृहीत हुए हैं । अपभ्रंश की ठेठ भाषा में उन का चलन नही है ।

इस काव्य में जहाँ प्राकृत तथा संस्कृत के शब्द-प्रयोगो तथा रूपो का समावेश मिलता है, वही सूक्तियो, लोकोक्तियो तथा देशज शब्द-रूपो की प्रचुरता दिखाई पडती है । वि० क० में प्रयुक्त सूक्तियो में से कुछ इस प्रकार हैं—

अमिलाण कुसुम समु जोव्वणंपि । (४,१४)
ता दुसहु पेम्मु विससमु विवाउ । (५,७)
उत्तम धम्म परगुरुयण सम्माणिय । (५,१२)
वच्छ लच्छि छायन्व चंचला वधुमित्त जोगा न निच्चला । (६,१९)
कस्स व सयल मणोरह पूरिय । परिकम्म परिणइ अइरउद्द । (६,२०)

लोकोक्तियाँ—

एक्कहिं दिसि अच्छइ तडु विसालु अन्नहिं वि वग्घु दाढा करालु । (२,१४)
—एक ओर नदी है और दूसरी ओर खाई ।
जिह सप्पु न मरइ न लट्ठियावि । (२,२१)
साँप भी मरे और लाठी न टूटे ।
अहवा खयकालि समुट्ठियाहं उट्ठंतिय पंख पिपीलियाह । (७,१५)
मरते समय चीटियों के भी पंख निकल आते हैं ।

इस प्रकार वि० क० की भाषा मधुर, प्रवाहपूर्ण तथा शब्द-विन्यास में वैदर्भी रीति से युक्त है । भ० क० की भाँति इस काव्य की भाषा प्राकृत से प्रभावापन्न तथा

शास्त्र और लोक के मेल की भाषा है। अतएव एक ओर शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह है तो दूसरी ओर लोक में परिव्यास वातावरण, उक्तियों तथा देशज शब्दों का भी प्रयोग है। और इसी प्रकार अनुरणनात्मक शब्दो का भी प्रचुर प्रयोग दृष्टिगत होता है।

अलंकार-विधान

भ० क० की भाँति प्रस्तुत काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारो की मुख्यता है। अधिकतर उत्प्रेक्षा, उदाहरण और उपमा तथा लोकोक्ति आदि दृष्टिगोचर होते है। अंत्यानुप्रास तथा यमक तो अपभ्रश-कविता में चित्रो के चौखटे की भाँति जडे हुए हैं। अतएव प्रत्येक पंक्ति के अन्त में अनुप्रास-योजना या तुक का निर्वाह मिलता है। इसी प्रकार यमक भी देखा जाता हैं। अपभ्रंश मे अन्त में ही नही आदि, मध्य और अन्त में तुक का प्रयोग मिलता है। यथा—

अइ कसणदेह नव नाइ मेह जमपास दीह चल जमल जीह।
नाही मलगएहि घणोहिं पलंवएहि।
तो दुम्मुहवलेण सरवरेण चड सीहवलु न सायरनीर खुट्टिएण (७,२७)

इसी प्रकार भिन्न पंक्तियो के अन्त में तुक दृष्टिगोचर होता हैं। जैसे कि—

आहारु न इच्छहि मरणहं वंछहि खणु अच्छहि चिंतावियइं।
खणे गयणहं उड्डहि खणे जलि वुड्डहि विरहजलेण संतावियइ। (११,१५)

कुछ अलकारो के उदाहरण निम्नलिखित है—

तडतडिय तरलविज्जुल सणेहि नं पलयकालु गज्जिउ घणेहि। (६,२४)
(स्वरूपोत्प्रेक्षा)

पेच्छवि सिरिजसधम्मु तुहु। किं सग्गु एहु किं असुरवासु
किं अलय नयरि घणयह निवासु। (सन्देह)
दिज्जइ न दोसु कस्सवि जणइ पुव्वउ किउ फलु परिणवइ।
(अर्थान्तरन्यास)
जिह कुपुरिसु कोवि कयावराहु सकुडियउ अयगरु हय सणाहु। (उदाहरण)
दोण्णिवि किय घुसिण विलित्तयंग जाणति परोप्पर जिह रहंग। (भ्रान्तिमान्)
कस्स वि सयल मणोरह पूरिय।
अहवा खयकालि समुट्ठियाहं उट्ठतिय पंख पिपीलियाहं। (७,१५)
(लोकोक्ति)

छन्द-योजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अपभ्रश के अन्य प्रबन्ध तथा कथाकाव्यो की भाँति पद्धडियाबन्ध निहित है। समूचा काव्य पद्धडिया छन्द में लिखा गया है। कडवक के

रूप में पद्धडिया छन्द से जुड़े हुए अन्य छन्द भी मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—घत्ता, मरहट्टा, आवली, अन्वारी, ललिता, वदनक, विद्युत्, आभाणक, छड्डुणिका, ललितक, नवकोकिल, चतुष्पदी, पद्मावती इत्यादि ।

छन्दों की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस में कई नये छन्द भी मिलते हैं। पद्धडिया के अनन्तर घत्ता और चौपाई का प्रयोग ही अधिक हुआ है। चौपाई के कई भेद हैं। चौपाई के भेदों में से लघु चौपाई, विषम चौपाई और अर्द्धसम चौपाई के भेदो को प्रस्तुत रचना में ढूंढ़ा जा सकता है। छन्दों के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

घत्ता—यह समद्विपदी छन्द है। इसमें दस, आठ और तेरह पर यति के क्रम से एक पद में इकतीस और कुल वासठ मात्राएँ होती हैं[1]। यथा—

तं पउर पयाउलु हरिकमलाउलु रायहंस दियगण पउरु ।
सावर्एहि पवन्नउं धरिय सुवन्नउं सरवरकाणण खसु नयरु ॥

तथा

वहु लोहिय सित्तो पहरण जुत्ती तले रणभूमि विहावइ ।
अव्विय सिरकमलहि तोडिय नालहि जमघरु पंगणु नावइ ॥

मरहट्टा—यह भी समद्विपदी छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में उनतीस मात्राएँ होती हैं। छह और वाद की मात्राओं पर चार-चार के क्रम से यति होती है। कुल अट्ठावन मात्राएँ कही जाती हैं[2]। जैसे—

को संसारि सया मुहउ कस्स वि सयल मणोरह पूरिय ।
कस्स न उप्पज्जइ खलिउ कस्स न आसा महादुम चूरिय ॥ (७,१५)

आवली : यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ तथा कुल अस्सी होती हैं। इस में कहीं-कहीं प्रथम छह मात्राओं पर तथा वाद में चार-चार मात्राओं पर यति देखी जाती है, पर नियम नहीं है।[3] उदाहरण के लिए—

कइयवि दिवस गय एत्थतरे आगय,
निज्जामय फुरि मलहु वेडिय संगय ।

गन्धारी : यह भी समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में १७, १८ या १९ मात्राएँ होती है।[4] सभी पदो में मात्राएँ समान होती हैं। निम्नलिखित उदाहरण में अठारह मात्राओ का गन्धारी छन्द है। यथा—

---

१. प्राकृतपैंगलम् १,९९ ।
२. वहीं, १,२०८ ।
३. ग्रान्ते टोनावली ।
   ङ्गा हैला पादान्ते द्विमात्रोना आवली ।—छन्दोऽनुशासन, ४,५८ ।
४. डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित "छन्दोऽनुशासन", पृ० ३८३ ।

नाणाविह समिहाउ कुमरिं गहियाउ,
मुइ भूमि सर्डिहि दव्वेहिं सहियाउ।

ललिता : यह छन्द समद्विपदी, समचतुष्पदी और विषमचतुष्पदी तीनो रूपो में मिलता है। यहाँ यह समचतुष्पदी के रूप में प्रयुक्त है। समचतुष्पदी में भी इस के दो रूप मिलते हैं—चौवीस मात्राओ का और बाईस मात्राओ का। विरहाकजातिसमुच्चय में यह बाईस मात्राओ का छन्द कहा गया है और जानाश्रयी में इसे ही गलितक कहा गया है।[1] उदाहरण है—

सिंदूरारुण वण्णो दिणयरु अत्थमियउ,
नहयल रुक्खह नाइ पक्कउ फलु पनियउ।

वदनक : यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। क्रमश छठी, चौथी, चौथी और दूसरी मात्रा पर यति होती है।[2] यथा—

तं निसुणेवि भणइ विज्जाहरु, केत्तिय दूरि वित्तु एहु वइयरु।
कुमरेण कहिउ दस जोयणेहि, एयह उद्देसह स महीएहि॥ (६, ७)

विद्युत् : यह भी समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद मे सतरह मात्राएँ होती है। क्रम से चौथी, पाँचवी, चौथी और चौथी मात्रा पर यति होती है।[3] जैसे कि-

लोहह पजरे घल्लिय कत्थवि,
सोह जे वा सीयति समत्थवि।

आमाणक : यह चतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएँ होती हैं। चार मात्राओ के क्रम से यति देखी जाती है। यथा—

जो जसु चिंतइ पासु परजणह अपाव ह।
तं तसु वाल वि पडइ कलुसिय निय भावह।

छड्डणिका : यह विषम चतुष्पदी छन्द है। इस में १२-१२ और १२-१३ के क्रम से मात्राओ का विधान है।[4] उदाहरण है—

फुट्टउं नं वभडु उच्छलियउ तूरारउ,
न रणदसण कज्जे हूउ देवहं हक्कारउ।

---

१ वही, पृ० ३४४।
२ पचचाद्गो वदनकम्। छन्दोऽनुशासन, ५, २८।
३ विरहांकजातिसमुच्चय, ३, ११।
४ छन्दकोश (रत्नशेखर सूरि), १७।
५ डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५३।

ललितक : यह विषम चतुष्पदी छन्द है। इस में १९-१९ और १९-२० मात्राएँ दोनों पदो में होती है।[१] नीचे लिखे उदाहरण में १९–२० मात्राओ का पद उद्धृत है—

देवह आएसेणह पुहइ भमंतउ, देविहि सुहिकरं गिरि वेयड्ढे पहुत्तउ।

नवकोकिल : यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण मे पाँच-पांच मात्राओ के विराम से तीस मात्राएँ होती है। यथा—

सुरमिहुण मणोहरु गिरिवर सिहरु घरिय विविह वणगहणसिरि।
सुपवित्ति सिलायलु सइ वरायलु दिट्ठु विसिट्ठउ विमलगिरि॥

चतुष्पदी : इस में चार चरण होते हैं। दो चरणो को मिला कर तीस मात्राएँ तथा—कुल साठ मात्राएँ होती हैं[३]। जैसे कि—

एरिसु निसुणेविणु तो पणमेविणु तइं पुच्छिउ सो मुणि पवरु।
भयवं इह सजमु एरिसु दुग्गमु जो कोऊण न तरइ नरु॥

पद्मावती यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ रहती है। इस में जगण का निषेध है।[४] यथा—

जेंविणु नवि लिज्जइ सो अणु णिज्जइ जइ अवराहइ सयइं करइ।
हुयवउ पज्जालियउ पुरु अइ वलियउ दहइ तो वि को न घरे घरइ॥

संकीर्ण स्कन्धक : यह विषम द्विपदो छन्द है। इस की प्रथम पक्ति मे बत्तीस और द्वितीय पक्ति में तीस मात्राएँ होती है। यह गीति के सयोग से बनता है, इसलिए इसे संकीर्ण कहा जाता है।[५] उदाहरण है—

निय गुरु चित्तंगह निहयाणं महा पणमवि सुंदरु पयकमलु।
मिच्छत्त विणासणु जिणवर सासणु दिण्हु जेण अम्हह विमलु॥

इस की प्रथम पक्ति में बत्तीस और द्वितीय में तीस मात्राएँ हैं। अतएव संकीर्ण-स्कन्धक है। प्रा० पै० में इसे सिंहिनी कहा गया है।

---

१ डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५३।

२ षड्भिर्नवकोकिला।—छन्दोऽनुशासन, ४, ८३।

३ पइ पइ जिह होइ तीस धुवमत्तइ अक्खरउत्तरजुत्तो।
चउकलव जुत्त ठवि ठाम घरहुक्कलु अति निरुत्तो॥—प्राकृतछन्दकोश, ३६।

४. प्राकृतपैंगलम्, १, १४४।

५ चेऽष्टमे स्कन्धकम्।
गीतिरेवाप्टमस्य गुरो स्थाने चगणे कृते स्कन्धकम्।—छन्दोऽनुशासन, ४, १३।

द्विपदी—यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में अट्ठाईस-अट्ठाईस मात्राएँ होती है।[१] यथा—

> जंपिउ अनिलवेउ एत्थतरे एरिस देव जुज्झए।
> पर पढयरु चंदलेहाए वि पाणिग्गहणु किज्जए।

अन्य मात्रिक छन्दो में चित्ररेखा, विलासिनी और ललित आदि मिलते हैं। कुछ छन्द दो भिन्न छन्दो के मेल से वने हुए लक्षित होते है। जैसे कि—

> मिउ सुरहि सुयध मंदएणं आसासिउ सिसिरेण मारुएण।
> वह दिवस परिस्समेण सनिद्दावियत्त तखणेण॥

इस छन्द की प्रथम पक्ति के प्रथम चरण में पन्द्रह और द्वितीय में सतरह मात्राएँ हैं अतएव कुसुमलतागृह छन्द है।[२] दूसरी पक्ति में पहले पाद में तेरह और दूसरे में पन्द्रह मात्राएँ हैं इस लिए सहकार कुसुम मजरी नामक छन्द है।[३] ये दोनो ही छन्द मिल कर इस प्रकार किसी भिन्न छन्द की ही रचना में प्रयुक्त हैं।

प्रस्तुत रचना में द्विपदी, विषम द्विपदी, चतुष्पदी, अर्द्धसमचतुष्पदी, विषम चतुष्पदी और षट्पदी के कई छन्द मिलते है। इन में अधिकतर मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। कई छन्द ऐसे भी है जिन के लक्षण और नाम छन्द-ग्रन्थो में नही मिलते। उदाहरण के लिए—

> मरणावे समणु वहु चिंतंतउ निंवतरुस्स तले सो जाव पहुत्तउ।

इस के प्रथम चरण में सतरह और द्वितीय चरण में वीस मात्राएँ हैं। अतएव यह अर्द्धसमचतुष्पदी का कोई भेद जान पडता है। छन्दशास्त्र में इस के नाम-रूप का उल्लेख नही मिलता।

इन के अतिरिक्त मात्रिक छन्दो में विच्छित्ति, उद्गीति आदि छन्द तो शास्त्र-सम्मत मिलते है, पर निम्नलिखित छन्द का न तो लक्षण ही मिलता है और न नाम ही। यथा—

> चल्लिउ सणकुमारु वेयड्ढहो छाडय गयण मडलो।
> वर सोन्न ण जेंव मंदिरसिरि देविहिं सहुँ अखंडलो॥

गणो में भिन्नता होने के कारण यह निश्चय ही वर्णवृत्त नही है। मात्रिक वृत्त में अर्द्धसमचतुष्पदी और विपम द्विपदी एव विषम चतुष्पदी में प्रथम पक्ति में उनतीस

---

१ षश्चुगौ द्वितीय षष्ठौ जो लीर्वा द्विपदी।
एक षण्मात्र पच चतुर्मात्रा गुरुश्च। तथा द्वितीयषष्ठौ चगणौ जो लीर्वा द्विपदी।
—छन्दोऽनुशासन, ४, ६४।

२ ओजे पचदश समे सप्तदश कुसुमलतागृहम्।—वही, ६, १९, ८४।

३ ओजे त्रयोदश समे पचदश सहकारकुसुममजरी।—वही, ६, १९, ४७।

और द्वितीय में छब्बीस, सत्ताईस या अट्ठाईस के भेद से कोई छन्द नही दिखाई पडता। स्पष्ट ही यह विषमद्विपदी का कोई भेद है।

घत्ता की भाँति इस काव्य में विच्छित्ति का भी प्रयोग बहुत हुआ है। विच्छित्ति समद्विपदी छन्द है। इस के पहले पद में बाईस और दूसरे पद में बाईस तथा कुल मिला कर चवालीस मात्राएँ होती है।[1] इस का उदाहरण है—

तं पेच्छेविणु चिंता कुमरहु उप्पज्जइ
एसो वि दइय विउत्तो विहिणा विणडिज्जइ।

इस कथाकाव्य में मात्रिक वृत्त ही नही वर्णिक वृत्त भी मिलते हैं, पर बहुत कम। कुछ वृत्त तो मात्रिक और वर्णिक दोनो ही हैं तथा कुछ के लक्षण तथा नाम छन्दशास्त्र में नही मिलते। उदाहरण के लिए—

तो जीवंतएहिं किंचिवि तुज्झ कज्जयं
ता तत्थेव नेहिं अप्पणि तुम्ह रज्जयं।

इस वृत्त में प्रत्येक पंक्ति में चौदह-चौदह वर्ण तथा 'मजभरलगा' लक्षण है, जो छन्दोऽनुशासन और भट्ट केदार के वृत्तरत्नाकर मे भी नही है।

जिणयत्तकहा

परिचय

पं० लाखू विरचित 'जिनदत्तकथा' अपभ्रंश के कथाकाव्यो में उत्तम रचना है। यह काव्य ग्यारह सन्धियो में निबद्ध है। इसमें काव्य और कथातत्त्व दोनो का सुन्दर मेल है। अपभ्रंश-साहित्य में लक्ष्मण नामक दो कवियो का निर्देश मिलता है। लक्ष्मण या लखमदेव का 'णेमिणाहचरिउ' चार सन्धियो की रचना है, जो निश्चय ही पं० लाखू से भिन्न कवि की रचना है। क्योकि आलोच्य प्रति के अन्त में स्पष्टत. पं० लाखू लिखा मिलता है।[2] स्वयं कवि ने अपने लिए 'लक्खण' शब्द का प्रयोग किया है।[3] लक्ष्मण रत्नदेव के पुत्र तथा पुरवाडवंश में उत्पन्न हुए थे।[4] किन्तु लाखू का जन्म जायसवंश में हुआ था। फिर, दोनो की भाषा में भी अन्तर है। अतएव लक्ष्मण और लाखू दोनो भिन्न काल के भिन्न कवि है।

---

१ डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३३७।
२ पंडित लाखू विरचित इति जिनदत्तशास्त्र समाप्त। —पुष्पिका का अन्तिम भाग
३ [illegible] लक्खणु लिखियउ [illegible]। प्रशस्ति का अन्तिम भाग।
४. डॉ० हरिवंश कोछड : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २३७।

कवि का वंश

कवि जायस या जैसवाल वंश में उत्पन्न हुआ था। क्योंकि दिगम्बर श्रावको के बहत्तर भेदो में जैसवाल का ही उल्लेख है; जायस का नही। वस्तुतः पाल या वाल शब्द बाद में पीछे जोडे जाने लगे। मूल में जायस ही रहा होगा। यह वंश उत्तर प्रदेश और राजस्थान मे अत्यन्त समृद्ध रहा है। कवि के जिला एटा के बिलरामपुर में बसने से भी यही सूचित होता है कि लाखू सपरिवार भाग कर अपने सजातीय बन्धुओ से आ मिले। वहाँ आज भी जैसवालो की संख्या अधिक हैं। लाखू के प्रपितामह का नाम कोसवाल था, जो जायसवंश के प्रधान तथा अत्यन्त प्रसिद्ध नरनाथ थे।[1] वे जैनधर्म के परम भक्त थे। हरियाणा प्रदेश के किसी स्थान में रहते थे। किन्तु कवि ने उस का नाम त्रिभुवनगिरि कहा है[2]। त्रिभुवनगढ या तिहुनगढ हरियाना में न हो कर भरतपुर जिले में बयाना के निकट पन्द्रह मील पश्चिम-दक्षिण में करौली राज्य का प्रसिद्ध किला 'ताहन गढ' है, जो आज बिलकुल वीरान है। इस दुर्ग का निर्माण और नामकरण 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर त्रिभुवनपाल पदवी एवं उपनाम से विभूषित महाराज तवनपाल या तिहुणपाल ने किया था।[3] अतएव त्रिभुवनपाल के नाम से यह त्रिभुवनगिरि या तिहुनगढ प्रसिद्ध हुआ। इसका उल्लेख कवि बुलाकीचन्द के वचनकोश में मिलता है।[4] इस से यह भी पता लगता है कि वहाँ जैसवाल जाति के लोग जैसलमेर से आ कर बसे थे। कुतुबुद्दीन के आक्रमण करने पर लोग यहाँ से भाग कर इधर-उधर बस गये। बुलाकीचन्द के अनुसार कुछ लोग मथुरा में भी जा बसे थे।[5] कवि लाखू वहाँ से भाग कर बिलरामपुर में आ बसे थे।[6] विलरामपुर जिला एटा में आज भी विद्यमान है। डॉ० जैन के अनुसार कवि का चन्द्रवाड तो फीरोजाबाद के निकट है ही, विल्लराम भी एटा जिले की कासगंज तहसील का ही बिलूराम उपनाम 'फूटाशहर' प्रतीत होता है। इन स्थानो में जायसवालो की अब भी बस्ती है।[7] स्पष्ट ही यवनो के द्वारा त्रिभुवनगिरि के लूटे जाने

१ इह होंतउ आसि विसालबुद्धि पुज्जिय जिणवरु तिरयण विसुद्धि।
जायसहो वंस उवयरणसिन्धु गुणगरुआमल माणिक्कसिन्धु।
जायव णरणाहहो कोसवालु जसरसमुद्दिय दि (क्) चक्कवालु।

२ विलसिय विलासरस गलिय गव्व ते तिहुवणगिरि णिवसंति सव्व।

३ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैन-सन्देश शोधाङ्क, २,१८ दिसम्बर १९५८, पृ० ८१।

४ राजा कहे पड्यो फेर तो तुम त्यागो जैसलमेर।
जैसलवाल तहँ तैं जान जैसवाल कहत बात प्रमान।
चले चले आये सब तहाँ हुती तिहुनगिरि नगरी जहाँ।

५ अगरचन्द नाहटा कवि बुलाकीचन्द रचित वचनकोश और जैसवाल जाति, जैन-सन्देश, शोध विशेषांक २, १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७०।

६ सो तिहुवणगिरि भग्गउ जवेण घित्तउ वलेण मिच्छाहिवेण।
लक्खणु सव्वाउ समाणु साउ विच्छोयउ विहिणा जणिय राउ।
सो इत्त तत्थ हिंडतु पत्तु पुरे विल्लरामे लक्खणु सुपत्तु।
प्रशस्ति का अन्तिम भाग।

७, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन शोधकण जैन-सन्देश, शोधाङ्क भाग २२ स० ३९, पृ० २८।

जन्म-काल और परिवार

यद्यपि कवि के जन्म-काल के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत कठिन है, परन्तु त्रिभुवनगिरि के बसाये जाने और विध्वंस किये जाने वाली घटनाओं तथा दूवकुण्ड के शिलालेख और मदनसागर (अहार क्षेत्र) मे प्राप्त मूर्तिलेखों से यह निश्चय हो जाता है कि ग्यारहवी शताब्दी में जैसवाल अपने मूल स्थान को छोड़ कर कई स्थानों में बस गये थे। सम्भवत. तभी कवि के पूर्वज त्रिभुवनगिरि में आ कर बसे थे और मुहजुद्दीन·मुहम्मदगोरी के आक्रमण होने पर बिल्लरामपुर में जाकर बस गये थे। यह घटना सन् बारह सौ के लगभग की कही जाती है। उस समय तक कवि का जन्म नही हुआ था।

'अणुवयरयणपईउ' के अनुसार कवि यमुना नदी के तट पर स्थित 'रायवड्डिय' नाम की नगरी में रहता था। डॉ० हीरालाल जैन के विचार में वर्तमान रायभा नामक नगर ही प्राचीन रायभद्री नगर रहा होगा, जो आज भी आगरा और बाँदीकुई के बीच में विद्यमान है[1]। इस से यह पता लगता है कि कवि रायभा में भी रहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि तहनगढ मे रहने के पहले कवि वहाँ रहता था या बाद में बिल्लरामपुर में पहुँचा अथवा रायभा होता हुआ बिल्लरामपुर गया। क्योकि कवि ने स्वय कहा है कि त्रिभुवनगिरि के भग्न के हो जाने पर इधर-उधर घूमता हुआ बिल्लरामपुर में पहुँचा[2]। इस के दो उत्तर हैं—पहला तो यह कि कवि का जन्म कम से कम तहनगढ में तो नही हुआ था। क्योंकि कवि का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १२७० के लगभग से १३१३ है। और तीनो ही ग्रन्थ तहनगढ में नही रचे गये। यदि जिनदत्तकथा बिल्लरामपुर वासी जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध और सुख-सुविधा प्रदान करने पर लिखी गई तो अणुव्रतरत्नप्रदीप आहवमल्ल के मन्त्री कृष्ण के आश्रय में तथा उन्ही के अनुरोध से चन्द्रवाडनगर में रचा गया[3]। आहवमल्ल की वंश-परम्परा भी चन्द्रवाड नगर से बतलायी गयी है। इस से स्पष्ट है कि सं० १२७५ में कवि सपरिवार बिल्लरामपुर में था और सं० १३१३ में चन्द्रवाडनगर फिरोजाबाद के पास में। यदि हम कवि का जन्म तहनगढ में भी मान लें तो फिर रायवड्डिय में वह कब रहा होगा। हमारे विचार में लाखू के बाबा रायवड्डिय के रहने वाले होंगे। किसी समय तहनगढ अत्यन्त समृद्ध नगर रहा होगा। इस लिए उस से आकर्षित हो वहाँ जाकर बस गये होंगे। किन्तु तहनगढ के भग्न हो जाने पर वे सपरिवार बिल्लरामपुर में पहुँच कर रहने लगे होंगे। सम्भवत. वहीं लाखू का जन्म हुआ होगा और श्रीधर से गाढी मित्रता कर सुख से समय बिताने लगे होंगे। परन्तु श्रीधर के देहावसान पर तथा राज्याश्रय के आकर्षण से चन्द्रवाडनगरी में बस गये होंगे।

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड ' अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३५७।

२ सो इत्त तत्थ हिंडतु पत्तु, पुरे बिल्लरामे लक्खणु सुपत्त।

३ डॉ० कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३५७।

कवि का जन्म सम्भवतः तेरहवी शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा। क्योंकि 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' कवि के अन्तिम समय की रचना जान पडती है, जिसमें पाँच अणुव्रतो का वर्णन है। वस्तुत. वृद्धावस्था में निर्वेद भाव और धार्मिकता विशेष रूप से जाग्रत हो जाती है। अतएव विद्वान् ऐसे समय में धर्म-प्रवचन करें तो स्वाभाविक ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तहनगढ में प्राचीन काल से यदुवंशी राजाओ का राज्य रहा है। आलोच्यमान कथाकाव्य के रचयिता कवि लाखू उसी परिवार से सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्द्रपाल से इस राज्यवंश का पूरा विवरण मिलने लगता है। बहुत कर पहले भरतपुर और मथुरा राज्य एक ही शासन के अन्तर्गत थे। जयेन्द्रपाल के पुत्र विजयपाल हुए, जिन्होने विजयमन्दिर गढ बनवाया था। त्रिभुवनगिरि का निर्माण इन्ही ने करवाया था। इन के उत्तराधिकारी धर्मपाल और धर्मपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल हुए। महावाण प्रशस्ति के अनुसार ११५० ई० में उन का राज्य था[1]। उन के उत्तराधिकारी कुँवरपाल कहे जाते हैं। किन्तु वस्तुत· अजयपाल के उत्तराधिकारी हरपाल थे। परम्परा के अनुसार हरपाल अजयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। महावन में ११७० ई० का हरिपाल का शिलालेख भी मिला है[2]। हरपाल के पुत्र कोशपाल थे, जो लाखू के पितामह के पिता थे। कोशपाल के पुत्र यशपाल थे। यशपाल के पुत्र लाहड थे, जिन के जिनमती नाम की भार्या थी। उन दोनो के अल्हण, गाहुल, साहुल, सोहण, रयण, मयण, और सतण नाम के सात पुत्र हुए। इन में से साहुल लाखू के पिता थे। महावन के शिलालेख के अनुसार हरिपाल सोहपाल के उत्तराधिकारी थे। इसी प्रकार ११९२ ई० के सहणपालदेव के शिलालेख से पता लगता है कि उस समय उन का राज्य वर्तमान था। जो भी हो, उक्त अध्ययन से यही पता चलता है कि कवि लाखू के पूर्वज यदुवशी राज्यघराने से सम्बन्धित थे, जिस के सम्बन्ध में अभी अन्य ऐतिहासिक अनुसन्धान की अपेक्षा की जाती है।

कथानक

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नामक अलकृत एवं मनोहर प्रदेश में वसन्तपुर नाम का सुन्दर नगर था। उस में चन्द्रशेखर नाम का राजा राज्य करता था। उस के मैनासुन्दरी नाम की रूपवती एव गुणवती रानी थी। उसी नगरी में श्रेष्ठी जीवदेव निवास करता था। उस की पत्नी जीवजसा अत्यन्त सुन्दर थी। किन्तु उस के कोई सन्तान न होने से वह अत्यन्त दुखी थी। एक दिन चैत्यालय में स्थित मुनिदेव से उस ने करुण निवेदन किया। उन्होने कहा—पुत्री दु ख न करो। कुछ ही दिनो मे तुम कीर्तिशाली पुत्र प्राप्त करोगी। अल्प समय में ही जीवजसा के गर्भ-चिह्न प्रकट हो

---

१ द स्ट्रगल फार इम्पायर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम सस्करण, पृ० ५५।

२ वही, पृ० ५५।

गये और सुन्दर पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उस का नाम जिनदत्त रखा गया। आठवें वरस के लगते ही बालक को उपाध्याय के घर पढ़ने के लिए बिठला दिया गया। वहाँ सभी विद्याओ और कलाओ को सीख कर निपुणता प्राप्त करता है। परन्तु यौवन की देहली पर पैर रखते ही कुमार में नाना प्रकार के काम भाव प्रकट हो जाते हैं। एक दिन वह मित्रो के साथ सहस्रकूट जिन-मन्दिर की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ उत्कीर्ण चित्रो में वह किसी सुन्दरी के रूप को देख कर मोहित हो जाता है। उस पुतली के रूप-सौन्दर्य को देख कर उस के अग-प्रत्यंगो में काम-व्यथा जग जाती है। रह-रह कर वह उसी का स्मरण करता है। काम की प्राय सभी अवस्थाएँ एक-एक कर प्रकट होने लगती है। जीवदेव को चिन्ता होती है। तुरन्त ही चित्रकार को बुला कर वे सव वृत्तान्त पूछते हैं और लेख के साथ उसे चंपानगरी पठाते हैं। अगदेश में वसी चपा नगरी में पहुँच कर वह श्रेष्ठी विमल से सब समाचार कहता है। वह चित्रकार के साथ वसन्तपुर जाता है। जिनदत्त के रूप को देख कर उस का मन भर जाता है। अतएव जिनदत्त का विवाह श्रेष्ठी विमल और उस की भार्या विमला से उत्पन्न कन्या विमलमती से धूम-धाम से होता है। कुछ दिनो तक ससुर के घर रहने के पश्चात् जिनदत्त विदा हो कर सपत्नीक वसन्तपुर लौट आता है। एक दिन वह धूर्तों के साथ जुआ खेलता हुआ ग्यारह कोटि स्वर्ण हार जाता है। सात कोटि तो वह चुका देता है, पर शेष के लिए भण्डारी से मँगने के लिए कह देता है। किन्तु भण्डारी जुआ के लिए द्रव्य देने से मना कर देता है। अन्त में पत्नी से लेकर चुकाता है। जव पिता को इस घटना का पता चलता है तव वे सप्त व्यसनो के कुपरिणाम पर प्रकाश डालते हुए जिनदत्त को समझाते हैं। कुमार धनोपार्जन के लिए द्वीपान्तर जाने की इच्छा व्यक्त करता है, परन्तु वे उसे समझा-बुझा कर रोक लेते हैं।

इस बीच भोग विलास करते हुए जिनदत्त को आठ बरस बीत जाते हैं। पिता के रोकने पर वह ससुराल जाने की इच्छा प्रकट करता है, जिसे वे मान लेते है। जिनदत्त पत्नी के साथ चपापुरी में पहुँचता है। एक दिन वह वन में किसी औषधि को पा कर पत्नी को उद्यान में छोड़ कर अदृश्य हो जाता है। विमलमती तब करुण क्रन्दन करती है। अन्त में पति से मिलने की आशा में निकटस्थ चैत्यालय में अर्जिका (साध्वी) के पास धर्म का पालन करती हुई रहने लगती है। अर्जिका विमलमती को सम्बोधती है कि बेटी, खेद न करो तुम्हारा पति छह महीने में लौट कर आ जायेगा। यह सुन कर वह वहाँ निश्चिन्त हो कर रहती है। जिनदत्त तीन दिन तक तो वही छिप कर रहता है। फिर, दशपुर (मन्दसौर) नगर में पहुँचता है। वह नगर के बाहर उद्यान में ठहर जाता है। वह सागरदत्त नामक सार्थवाह परिजनों के साथ आकर रुकता है। वह जिनदत्त के रूप को देख कर चमत्कृत होता है। किन्तु सब से बड़ा आश्चर्य उसे तव होता है जब उपवन के सूखे फल-फूलो को वह हरा-भरा कर देता है। सागरदत्त जिनदत्त को अपना लेता है। एक दिन दोनो जन नगर में जाते हैं।

जिनदत्त के रूप को देख कर स्त्रियां विमुग्ध हो जाती हैं। उसे स्मरण हो आता है कि बिना धन के जीवन व्यर्थ है। जिस के लिए मैं ने घर-बार छोडा उस का उपार्जन अवश्य करना चाहिए। अतएव जिनदत्त पोत लेकर सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करता है। सागरदत्त भी साथ चलने की तैयारी करता है। कई द्वीपो को देखते हुए वे सिंहलद्वीप में पहुँचते हैं। उस पुर के चैत्यालय की प्रशंसा सुन कर जिनदत्त हर्षित हुआ और वन्दना के लिए नगर में गया। वहाँ मालिन के करुण क्रन्दन को सुन कर वह उस बुढ़िया से उस का कारण पूछता है। वह कहती है—इस नगर के राजा घनवाहन और रानी विजया के श्रीमती नाम की बहुत ही सुन्दर कन्या है, जो किसी रोग से पीडित है। इस लिए पहर भर बीत जाने पर जो मनुष्य उस के पास जाता है वह सुबह मरा हुआ मिलता है। राजपुत्री विषलता की पत्ती की भाँति लोगो को खा जाती है। वह धवलगृह में रहती है। उसे बड़ा कष्ट है। बडे-बडे मन्त्रियो ने मिल कर लोगो को राय दी है कि कोई उस के पास अकेला न रहे। एक दिन राजा ने सब लोगो से कहा कि पूर्व जन्म के पापोदय से मेरे एक ही पुत्र है, जिस की रक्षा कठिन जान पडती है। क्योकि वह वहिन के पास जाये बिना मानता नही। अतएव उसकी रक्षा के लिए किसी न किसी का रहना आवश्यक है। उस दिन से प्रति दिन कोई न कोई वहाँ भेजा जाने लगा। जो भी उस महल में जाता उसे वह दुष्ट राक्षसी जीवित नही छोडती। बूढी मालिन कहती है कि मेरे एक ही पुत्र है, जो अन्धे की लाठी के समान है। किन्तु आज उसे वहाँ जाना पडेगा। इस लिए मैं रोती हूँ। जिनदत्त उत्तर में कहता है—हे माता, जहाँ वह राजपुत्र है वहाँ मुझे भेज दो। मैं वहाँ जाता हूँ। तुम पुत्र के साथ यही रहो। इतने में पुत्र को बुलाने के लिए हरकारा आ पहुँचा। जिनदत्त बोला—तुम अपने घर जाओ। मैं सायकाल सुन्दरी के यहाँ जाकर बसूँगा। नहा-धोकर जिनवन्दना कर जिनदत्त ने प्रेम से बहुरससिक्त भोजन किया। फिर सहस्रकूट जिन-चैत्यालय की वन्दना कर बायें हाथ में खाँडा और दाहिने हाथ मे तलवार लेकर चल पड़ा। जिनदत्त कुमारी के यहाँ पहुँच जाता है। श्रीमती भी उस के अनुराग से उठ बैठती है और कुमार से आने का कारण पूछती है। वह पूरा वृत्तान्त सुनाता है। कुमारी कहती है कि जाओ, जाओ। मेरे पिता तुम पुरुषराज को देख कर महान् चिन्तासागर में पड गये है। इतना कहते ही उस कुमारी को विष का वेग चढ जाता है। तव कुमार उसे एक कहानी सुनाता है। जिनदत्त से कहानी सुनती हुई वह गहरी नीद में सो जाती है। सोती हुई वह बडे जोर से हुंकार भरती है। जिनदत्त सावधान हो कर देखता है कि उस के मुँह से धुएँ के रूप में फैलता हुआ एक काला भुजग निकलता है। वह उस विषधर को मार कर एक पिटारी में रख देता है। अब कुमारी स्वस्थ हो जाती है। प्रात.काल नागरिक जन यह वृत्त जान कर आश्चर्यचकित होते है। राजा को सूचना मिलती है। वह हाथी पर बैठ कर आता है और कुमारी के साथ जिनदत्त को लिवा जाता है। फिर, राजा उन दोनों का विवाह कर देता है।

सिंहलद्वीप में वहुत समय तक सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन जिनदत्त राजा से घर भेजने के लिए निवेदन करता है। अन्त में राजा सम्मानपूर्वक वहुत कुछ दायजे में देकर जिनदत्त को श्रीमती तथा उन के साथियों के साथ विदा करता है। सागरदत्त श्रीमती के रूप-सौन्दर्य को देख कर काम-वाणो से पीडित हो जाता है। मन में यह विचार कर कि जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में फेंक दूँ तो यह सुन्दरी मुझे चाहने लगेगी, छल रचता है। वह कंकड़-पत्थर कुछ डाल कर जिनदत्त को भ्रम में डाल कर परपुरुष को वचाने का ढोंग रचता है। जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में गिरा कर सागरदत्त श्रीमती से काम-याचना करता है। अपने को अकेली जान कर वह उपाय सोचती है और मन ही मन चिन्तन करती है कि यदि मुझ में शील, संयम हो तो यह पोत डूब जाय। जहाज डूबने लगता है। सब लोग सुन्दरी से प्रार्थना करते हैं। जल-देवता प्रकट होते हैं और वे सब सुख से चम्पापुरी पहुँचते है। चम्पापुरी के उद्यान के वाहर ही चैत्यालय को देख कर श्रीमती वन्दना के लिए चल देती है और वही अजिका विमलमती के उपदेश से आश्वस्त हो रहने लगती है।

इधर जिनदत्त समुद्र में तैरता हुआ किसी सूखे काठ के पटिये को प्राप्त करता है। उसी का सहारा लेकर वह समुद्र पार करने लगता है। इतने में आकाश मार्ग से जाते हुए दो पुरुष रोष करते हुए उसे दिखाई देते हैं। कुमार उन विद्याधरो को नीचे आने के लिए ललकारता है। नवकार मन्त्र का स्मरण करता हुआ वीर जिनदत्त दशो दिशाओ में देखने लगता है। वहुत दूर उसे फहराती हुई ध्वजा दिखाई पडती है। वह आशा वाँध कर उसी ओर लम्बी भुजाओ से पानी धकेलता हुआ आगे वढता है। अन्त में विद्याधर उसे विमान में विठा कर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नाम के नगर में लिवा जाते हैं। उस पट्टन में अशोक नामक विद्याधरो का राजा राज्य करता है। उस के शृंगारमती नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या है। एक बार चारणमुनि का उस नगर में आगमन हुआ था। उन्होंने वताया था कि जो वीर अपनी भुजाओ से समुद्र को पार करेगा वह इस कन्या का पति होगा। मरुवेग विद्याधर इस प्रकार जिनदत्त को पूरा वृत्तान्त सुना कर तथा राजा को वता कर अपने साथी के साथ चला जाता है। राजा जिनदत्त के साथ शृंगारमती का पाणिग्रहण कराता है। वहुत समय तक वे दोनो भोग-विलास करते हैं। राजा उसे विविध प्रकार की विद्याएँ सिखाता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ विमान में चढ कर भद्रसाल आदि अकृत्रिम चैत्यालयो को वन्दना के लिए गया। द्वीप-द्वीपान्तरो में तथा मानुसोत्तर आदि पर्वतो पर भ्रमण करते हुए वेग से वे अंगदेश में चम्पापुरी नगरी के वाहर उद्यान में रुक गये। पत्नी के वहुत आग्रह करने पर भी जिनदत्त ने उसे सुला दिया और स्वय जागता रहा। सवेरा होने पर जब वह जागती है तव निर्जन स्थान में अपने को देख कर करुण विलाप करती है। उस गन्धर्वदत्ता का विलाप सुन कर विमलमती श्रीमती को उस के पास भेजती है। शृंगारमती उसे वृत्तान्त सुनाती है। वह उन दोनों के साथ प्रेम से रहने लगती है।

उधर जिनदत्त वामन का रूप धारण कर लेता है और चम्पा-नरेश को तरह-तरह के चमत्कार दिखाता है। एक दिन मदोन्मत्त हाथी के बिगड़ जाने से पूरा नगर बड़े भारी संकट में पड़ जाता है। जिनदत्त उसे विद्या के बल से शान्त कर देता है। राजा उस के साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है, पर यह विचार कर कि वह ब्राह्मण है, हिचकता है। वह मन्त्रियो से राय लेता है। वे बताते है कि यह प्रच्छन्न विद्याधर है। जिस के यहाँ जिनदत्त ठहरा था, वह माली उस से सच-सच बताने को कहता है। जिनदत्त कहता है कि चलो राजसभा में सब कुछ बताऊँगा। अन्त में राजा की प्रार्थना पर जिनदत्त पूरा वृत्तान्त सुनाता है। वह कहता है कि मुझे घर छोडे बारह बरस बीत चुके हैं। राजा विमल सेठ को सूचना देता है तथा जिनदत्त के साथ चैत्यालय में पहुँचता है। वहाँ उस की सभी पत्नियाँ उस के रूप को देख कर कहती हैं कि यह हमारा पति नही है। सब लोग समझाते हैं कि बहुत बरस बीत जाने से रूप में अन्तर आ गया है। किन्तु उनमें से कोई भी स्वीकार नही करती। तब जिनदत्त मुँह पर कपडा डाल कर रूप बदलता है। अब किसी को भी सन्देह नही रहता। राजा उन सब को साथ में लेकर नगर में जाते है। मार्ग में विमल सेठ आता हुआ दिखाई देता है। वह राजा से प्रार्थना कर सब को अपने साथ ले जाता है और यथोचित सम्मान व सत्कार करता है।

दूसरे दिन राजा ने विलासमती की लग्न भेजी। धूम-धाम से जिनदत्त का विवाह हुआ। बहुत दिनो तक वहाँ रहने के बाद माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो कर कुमार वहाँ से चल पडा। सभी पत्नियो को तथा बहुत कुछ दायजे मे ले कर सेना के साथ वे वसन्तपुर में पहुँचे। नगर के बाहर पडाव डाल दिया। जिनदत्त राजा के पास दूत भेजता है कि या तो सेठ जीवदेव को समर्पित करो अथवा नगर का राज्य छोडो। राजा ने दोनों ही बातो में अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में राजा जीवंजसा को बुलाता है। वह विलाप करती है। किसी प्रकार वह जिनदत्त के पास पहुँचती है। कुमार माता को साष्टाग प्रणाम करता है। राजा भी यह जान कर कि जिनदत्त आया है, कच्छनरेश नही है तो हर्षित हो कर मिलने जाता है। नगर में हर्ष-उल्लास से वातावरण अत्यन्त मधुर एवं सुखद हो जाता है। गाजे-बाजे के साथ जिनदत्त सपत्नीक घर पहुँचता है। नगर में बहुत बडा उत्सव मनाया जाता है। कुमार सभी मित्रो से मिलता है। बहुएँ सासू के तथा फूफी के पैर पडती है। जिनदत्त दायजे में प्राप्त तथा सागरदत्त से वापिस लौटायी हुई धनराशि में से बहुत कुछ दान में बाँटता है तथा भेंट स्वरूप राजा के यहाँ लेकर जाता है। राजा भी बदले में उपकरण तथा अमूल्य पात्र भेंट में देता है। यही नही, वह उसे आधा राज्य भी देता है। कालान्तर में सुखोपभोग करता हुआ जिनदत्त वहो रहता है। इसी बीच विमलमती से जयदत्त और सुदत्त तथा श्रीमती से गरुडकेतु, जयकेतु और सुकेतु नाम के पुत्र होते हैं। श्रृंगारमती से जयमित्र, वसुमित्र और सुमित्र पुत्र तथा चौथी पुत्री-रत्न उत्पन्न होते हैं। उन सभी के विवाह

होते हैं। इस प्रकार जिनदत्त नाती-पोतो के बीच सुख से समय बिताता है।

एक दिन वनमाली से समाचार मिलता है कि वन में सुसमाधिगुप्त नामक मुनिराज चार ज्ञान के धारक पधारे हैं। राजा सपरिवार उन की वन्दना के लिए जाता है। उन से पूर्व भवो की कथा सुन कर जिनदत्त को निर्वेद भाव उत्पन्न हो जाता है और वह जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की भाँति इस काव्य की रचना भी प्रबन्ध के अनुरूप है, जिस में संश्लिष्ट रचना के साथ ही साहित्यिक रूढियो का पालन हुआ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ चौवीस तीर्थंकरो की वन्दना से होता है। फिर, कवि स्ववंश का कीर्तन कर सज्जन-दुर्जन का वर्णन करता है। अनन्तर पूर्व कवियो का स्मरण करता है। पूर्ववर्ती कवियो में वह अकलंक, चतुर्मुख, कालिदास, श्रीहर्ष, व्यास, द्रोण, बाण, ईशान, पुष्पदन्त, स्वयम्भू और वाल्मीकि का स्मरण करता है।[1] तदनन्तर कवि आत्म-विनय का प्रदर्शन करता हुआ कहता है कि मै देशी भाषा के लक्षणो को नही जानता हूँ। मैं ने उन्हें अच्छी तरह नही देखा है।[2] इस से यह सूचित है कि कवि ने यह काव्य देशी भाषा में लिखा है। और कवि की यह स्वीकारोक्ति सच है कि वह सभी नियमो से पूर्ण परिचित नही है। क्योकि स्थान-स्थान पर वह संस्कृतनिष्ठ पदो का गुम्फन तथा शब्द-रचना को गढता हुआ लक्षित होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि लेखक इस भाषा को जानता ही नही था अथवा उस को कही सीखने जाना पड़ा था। यह तो कवि की विनय मात्र है, जिस से कुछ सकेत मिल जाता है। वस्तुत. शास्त्र और संस्कृत ग्रन्थों की साहित्यिकता के फेर में पड कर ही लाखू पण्डित ने सालंकार वर्णन और तदनुकूल शब्दावली का प्रयोग किया है।

कवि का कथन है कि मैं ने उक्त कवियो के ग्रन्थो को न तो देखा है और न धातु, लिंग, गुण, कारक, समास, सन्धि, छन्द, व्याकरण, भाषा और देशी भाषा के लक्षणो को गुना है।[3] गुरु से भी जो सीखा है उसका भी मनन नहीं किया। और न महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थो को देखा है। पुराणो को भी नही पढा है।[4]

---

१ णिक्कलकु अक्लकु चउमुहो कालियासु सिरिहरिसु कय सुहो।
वयविलासु कडवासु असरिसो दोणु वाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयतु सुसयभु भल्लउ वालम्मीउ सम्मइ रसिल्लउ। (१, ६)

२ देसभासलक्खणु ण तक्कउ। (१, ६)

३ इय कईउ भो मइ ण दिट्ठया फुरइ केम महु मइ वरिट्ठया।
धाउ लिंगु णउ गुणु ण कारउ कम्मु करणु ण समासु सारउ।
पयसमत्ति किरिया विसेसया सधिछदुवायरण भासया। (१, ६)

४ देसभासलक्खणु ण तक्कउ मुणमि णेव जायहि गुरुचकउ।
महाधवलु जयधवलु दिट्ठउ णउर वप्प पयमिड वरिट्ठउ।
तह ण दिट्ठु सिद्ध तु पायउ णउ पुराणु अइहासु राइउ। (१, ६)

यह सब कुछ नही जानता हुआ लाखू इस काव्यकथा को क्यो कहता है, इस को लिखने का क्या प्रयोजन है ? इस के उत्तर में स्वयं कवि कहता है—यदि ऐरावत (इन्द्र का हाथी) अपनी प्रभा से लाख योजन प्रमाण धरती को प्रकाशित करता है तो क्या अन्य हाथी अपने तेज और बल को प्रकट नही करते ? यदि चन्द्रमा अमृत स्फुरायमान करता है तो क्या अपने प्यारे को अन्य ओषधि* नहीं देते ?[1] जो सूर्य तीनो लोको में घूमता है क्या वह अपनी कान्ति से शोभायमान नही होता ? अर्थात् होता ही है। जो सूर्य की भाँति अनन्त प्रकाश से युक्त आत्मा वाले हैं, पर अपने आप को नही पहचानते हैं उन के लिए मैं तुम्हारे सामने यह कथा कहता हूँ।[2]

पं० लाखू ने कई स्थानो पर अपनी इस काव्य-रचना को 'कहा' लिखा है।[3] जिनदत्त की कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है। क्योकि कथा ही अपने आप में इतनी सोद्देश्य, भावपूर्ण, रसयुक्त और गौरव-गरिमा से मण्डित है कि उस के वर्णन से ही कवि-व्यापार एव उस का जीवन सफल हो जाता है। कवि के शब्दो में जिनदत्त की कथा के प्रसाद से मेरा जीवन सफल हो गया है।[4] कवि ने यह कथा पुरवाडवंश के दिनमणि विल्हण के नाती तथा जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध से लिखी थी। श्रीधर बिल्लराम पुर (एटा) में रहते थे। उन्होने कवि की बडी सहायता की थी। क्योंकि लाखू का परिवार त्रिभुवनगिरि के उजड जाने पर बिल्लरामपुर में आ कर बसा था। संभवत: कवि की आर्थिक स्थिति उन दिनो ठीक न होगी और साहु श्रीधर ने अर्थ-सहायता दी होगी। जो भी हो, लेखक ने उस का उपकार माना है और उस के शील-स्वभाव की बडी प्रशंसा की है। कवि ने इस कथा को कवित्वपूर्ण, रसयुक्त तथा विविध भावो से अनुरंजित कर अभिव्यंजित किया है। अतएव यह कथाकाव्य की कोटि का प्रबन्ध है। कथा को कवित्वपूर्ण कहने के बाद ही कवि ने रूपक के सहारे पूरी कथा के सम्बन्ध में परिचय देते हुए सागरूपक प्रस्तुत किया है (१, ४)।

कथा-योजना और उस का स्रोत

यद्यपि प्राय: सभी जैन-कथाओ का निर्गम तीर्थंकर महावीर की वाणी से हुआ मानते हैं। पर कई कथाएँ ऐसी हैं जो लोक में वरसो तक प्रचलित रही हैं और आज भी

---

* चन्द्रमा को ओषधिनाथ और ओषधिपति कहते हैं। इसलिए कवि ने ऐसा लिखा।

१ इदहरिथ जइ तित्थ भासए लक्खु जोयणो महि पयासए।
इयरु द ति कि णउ सातयउ पयडु करइ णियवल समेयउ।
चदु देइ जइ अमिय फारउ ओसही ण कि णिय पयारउ। (१, ६)

२ जइ दिणिंदु तइ लोउ वोहए किं पयँगु णियरुइ ण सोहए।
जइ ण मुणमि णियमणि गुणव्वहा तइवि कहमि तुव पुरउ सक्कहा। (१, ६)

३ सप्पयसरकलहसहो हियकलहसहो कलहसहो सेयसवहो।
भणमि भुवणकलहसहो रयकलहसहो णविवि जिणहो जिणयत्तकहा।
णिसुणेवि कहा जिणहरहो पुत्तु सलहइ लक्खणहो सुवुद्धि जुत्तु। (१, १)

४ ते सुप्पसाए महु सहलु जम्मु लहु हवइ वप्प णिहणिय कुकम्मु। (१, ३)

५ पुणु पभणइ सिरिहरु णिसुणि लक्ल पायडिय सत्तु रसमइ महल्ल। (१, ३)

अनुश्रुतियो मे उससे मिलती-जुलती विविध कहानियाँ विभिन्न प्रदेशो में सुनने को मिल सकती हैं। अतएव इन कथाओ को लेखक लोक से ग्रहण करता रहा हो तो स्वाभाविक ही है। संभव है उन का महत्त्व एवं प्रभाव दर्शाने के लिए उन के पीछे धार्मिक उद्देश्य जोड़ दिया गया हो। भ० क० ऐसी ही रचना है। उस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य दर्शाने के लिए लोककथा पर धर्म का आवरण चढा दिया गया है। किन्तु जि० क० में वस्तु किसी उद्देश्य विशेष से पूर्व योजित नही है। इस में मित्र श्रीधर के अनुरोध से कवि ने वणिक् अर्हद्दत्त से जैसी कथा सुनी थी वैसी ही काव्यात्मक रूप में वर्णित है।[1] इस से स्पष्ट है कि यह कथा श्रुति के रूप मे वहुत पहले से चली आ रही थी। कवि के कथन से यह भी स्पष्ट है कि उस ने किसी पुराण या काव्य से इसे ग्रहण नहीं किया है। परन्तु आ० सुमतिसूर रचित "जिनदत्ताख्यान" आलोच्यमान रचना से पूर्व ही रचा जा चुका था। इस के लेखक आचार्य पाडिच्छयगच्छीय आ० सर्वदेवसूरि के शिष्य एव दशवैकालिक सूत्र की टीका के रचयिता थे। उन का समय अभी तक प्रकाश में नही आ सका है, पर यह निश्चित है कि वे प० लाखू के पूर्व के है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में गद्य-पद्य में लिखा हुआ मिलता है। इस की प्रतिलिपि सं० १२४६ की है। इस के साथ ही एक और जिनदत्ताख्यान प्रकाशित हुआ है, जिस की प्रतिलिपि सं० ११८६ की है।[2] लाखू की रचना तेरहवी शताब्दी की है। अतएव निश्चित है कि उन के पूर्व ही जिनदत्त विषयक कथाएँ प्रकाश में आ चुकी थी, किन्तु कवि ने उन्हें देखा नही था, केवल लोक-परम्परा से सुना था। संभवत अर्हद्दत्त ने उसे किसी आचार्य से सुना हो और उसी को कवि ने निबद्ध किया हो। जो भी हो, कवि ने उसे लोककथा कहा है और उसी रूप मे लोकयुगीन वस्तु-वर्णन भी हुआ है। फिर, काव्य लिखने का प्रयोजन जन्म सफल बनाना कहा गया है, जो स्वान्त सुखाय की भाँति अपने आप में महत् आदर्श है।[3]

कथा-योजना में घटनाओ का स्वाभाविक विकास करना अपभ्रंश के कथाकाव्यो की अपनी विशेषता है। जहाँ कही अस्वाभाविकता प्रतीत होती है वहाँ लेखक कोई न कोई हेतु कथा या कथाभिप्रायों की योजना कर उसे गतिशील और रोचक बना देता है। जिनदत्त की इस कथा में पाठक को तव वडी निराशा एव झुँझलाहट होती है जब नायक एक के वाद एक विवाह करता हुआ किसी न किसी व्याज से क्रमश. उन सभी पत्नियों को छोडता जाता है। कवि के ध्यान में यह घटना-तत्त्व ओझल नही था, इस लिए वह चंपापुरी के राजा के मुख से इस बात को कहलाता है कि जो कुमार कई विवाह कर चुका है और सभी विवाहिताओ को छोड चुका है उस के साथ अपनी कन्या

---

१ पुणु पभणइ सिरिहरु णिसुणि लक्ल
पायडिय सत्तु रसमइ महल्ल।
वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम
अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। (१, ३)।

२ प० अमृतलाल मोहनलाल भोजक जिनदत्ताख्यानद्वय, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, स० २००६।

३. ते सुप्पसाए महु सहलु जम्मु लहु हवइ घण्प णिहणिय कुकम्मु। (१, ३)

का विवाह करना कहाँ तक उचित है ? किन्तु जब उसे वास्तविकता का पता लगता है तब तैयार हो जाता है। और इस प्रकार कथा में अस्वाभाविकता आने से बच जाती है। इस का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि जिनदत्त का विवाह चपापुर की राजकुमारी से बतलाना कवि को अभीष्ट था, किन्तु उस का कारण-निर्दिष्ट न होने से नायक की स्वाभाविक मनोवृत्ति का परिचय दे कर ही कथा को आगे बढाया जा सकता था। क्योंकि जिनदत्त पहली बार विमलमती को बिना कुछ कहे छोड चुका था। और उस ने छोड़ा इसलिए था कि परदेश तथा द्वीप-द्वीपान्तरो में जा कर उसे द्रव्यार्जन करना था। इस की चर्चा वह पहले ही कर चुका था। अतएव यह विचार कर कि मैं किसी से कहूँगा तो कोई भी मुझे घर से बाहर कमाने के लिए जाने नही देगा और पत्नी तो किसी भी प्रकार तैयार न होगी, उस ने नही कहा। इस लिए पाठक अनुमान से समझ लेता है कि उस में उक्त कारण रहा होगा। परन्तु शृंगारमती को यकायक नगर के बाहर उद्यान में छोड़ देने में अस्वाभाविकता-सी लगती है। और कथा में अस्वाभाविकता होना उस का सब से बड़ा दोष है। इस का हेतु कवि ने आगे चल कर बताया है कि जिनदत्त पहले ही अपनी दोनो पत्नियो को—वहाँ के चैत्यालय में देख चुका था, जो कि उद्यान के निकट ही था। इस प्रकार की अस्वाभाविकता तथा चमत्कारो से जहाँ कथा में उत्सुकता, क्षिप्रता और नाटकीयता एवं कुतूहल का समावेश हो गया है वही पढ़ते-पढ़ते उपन्यास जैसा आनन्द मिलने लगता है। कही-कही अनावश्यक धार्मिक उपदेश खटकता है, जिस से कथानक के प्रवाह में अन्तर आ जाता है और पाठक का भी मन ऊबने लगता है। फिर भी कुल मिला कर कथा का प्रभाव मन पर अच्छा ही पड़ता है। अपने शुद्ध रूप में यह एक प्रेमकथा है, जिस में विभिन्न लौकिक पक्षों का समाहार है। जिनदत्त का प्रथम विवाह विमलमती के चित्र-दर्शन की प्रेरणा से होता है, जो रूप-लोभ का उत्तम निदर्शन है। रूप का लोभ मनुष्य में स्वाभाविक और प्रेम की प्रथम वृत्ति का परिचायक है। अतएव नायक के जीवन में एवं कथा में उस की संयोजना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी थी। प्रेम के यथार्थ रूप को दर्शाने के लिए वियोग को चित्रित करना आवश्यक है। क्योकि वियोग सच्चे प्रेम की प्रथम अनिवार्य भूमिका है। वियोग में प्रेम कंचन की भाँति चिन्तानल में तप कर खरा बन जाता है। इसी लिए नायक ने वियोगाग्नि में जल कर भी वियोग को निभाया और माना। तीसरे, कवि के लिए विप्रलम्भ शृगार का वर्णन करने और जीवन के दोनों पक्षो को उतारने का यह अवसर परम उपयुक्त था। क्योंकि जिनदत्त की परीक्षा तो सभी स्थानो पर हो चुकी थी, पर उस ने किसी भी पत्नी की परीक्षा नही ली थी। अतएव यहाँ पर सभी की परीक्षा हो जाती है। और इसी कारण से जिनदत्त वामन का रूप तब तक नही बदलता है जब तक सभी पत्नियो को अच्छी तरह नही परख लेता। इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि कवि ने कई बातो को ध्यान में रख कर कथा की इस रूप मे योजना की है कि वह अस्वाभाविक-सी जान पडती है, किन्तु है नही। आगे चल कर कथा में ही

उस के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिस से जान पड़ता है कि लेखक उन घटनाओ तथा तथ्यों से उदासीन नही था।

जिनदत्ताख्यान और जिनदत्तकथा

कुछ नामों को छोड़ कर जिनदत्ताख्यान और जिनदत्तकथा मे साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए सिंहलद्वीप का राजा पृथ्वीशेखर, विद्यावरो के राजा अशोक की पुत्री अगारवती, चम्पापुर के राजा की कुमारी रतिसुन्दरी आदि नामो में अन्तर मिलता है। घटनाओ में भी कही-कहीं कुछ अन्तर दिखाई देता है। जैसे कि दधिपुर नगर के बाहर जिनदत्त की सार्थवाह से भेंट होना, सिंहलद्वीप से श्रीमती का पाणिग्रहण कर लौटते समय रात को जिनदत्त को समुद्र में इस लिए डोरा या रस्सी बांध कर उतारना कि कोई मनुष्य किसी वस्तु को लेने के लिए समुद्र में गिर पड़ा है। फिर भी जिनदत्त उतरने के लिए तैयार नही हुआ तो उसे रस्सी बांध कर उतारा। जब वह उतर गया तो सार्थवाह ने डोरी को कंपा कर उसी में छोड़ दिया। श्रीमती अपने को रजस्वला बता कर शील की रक्षा करती है और छह महीने की अवधि मांगती है। चम्पापुर के पास आती हुई साध्वियो को देख कर वह वही उतर जाती है और उन के साथ हो लेती है। इसी प्रकार जिनदत्त रथनूपुर के चक्रवर्ती राजा अशोक की कन्या अंगारवती का परिणय कर किसी दिन जन्मभूमि का स्मरण कर दक्षिण समुद्र में क्रीडा करने के बहाने से अंगारवती को ले कर विमान में दधिपुर के लिए चल पडता है। मार्ग में चम्पापुर के उद्यान में साध्वी के पास दोनों पत्नियो को देख कर प्रसन्न होता है और अंगारवती को उस के निकट ही छोड देता है। इस प्रकार कुछ भिन्नता होने पर भी दोनो बहुत कुछ समान हैं।

जिनदत्तविषयक अन्य कथाएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि लाखू कवि के पूर्व ही जिनदत्तकथा को विषय बना कर कथाकाव्यों को या काव्यो की रचना प्राकृत में हो चुकी थी, पर कवि उन से अनभिज्ञ था। प्राकृत में ही नही, संस्कृत में भी आ० गुणभद्र 'जिनदत्तचरित्र' की रचना कर चुके थे। यह रचना प्रकाशित भी हो चुकी है। इस की एक हस्त-लिखित प्रति जयपुर के पाटोदी मन्दिर में स्थित शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। पं० नाथूराम प्रेमी ने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के अतिरिक्त आत्मानुशासन और जिनदत्त-चरित्र का भी उल्लेख किया है।[१] उन का समय श० सं० ७४० से ८४० के बीच कहा जाता है। क्योकि गुणभद्राचार्य अकालवर्ष के शासन-काल में हुए, जिस का समय लगभग श० सं० ७९७-८३३ है।[२] अतएव आचार्य की जिनदत्तचरित्र की रचना प्राकृत से भी

---

१ प० नाथूराम प्रेमी जैनसाहित्य और इतिहास, प्रथम सस्करण, पृ० ५११।
२ वही, पृ० ५१६।

पहले की जान पडती है। उक्त रचनाओ के अतिरिक्त 'जिनरत्नकोश' में तीन अन्य रचनाओ का उल्लेख मिलता है—जिनदत्तकथा (संस्कृत गद्य) रचना काल सं० १४७४; जिनदत्तचरित्र (अप०)—रयधू कृत तथा जिनदत्ताख्यान (प्राकृत गद्य)। हिन्दी भाषा में लिखी हुई कई 'जिनदत्तचरित्र' नाम की रचनाओ का पता चलता है। उन में से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१. जिनदत्तचरित्र—कवि कमलनयन-पद्यानुवाद (भाषा), र० का० सं० १८७१।[1]
२. „ —पं० बखतावरमल्ल–भाषा, र० का० स० १९०९।[2]
३. „ —मुनि विश्वभूषण–भाषा (चौपई बन्ध), र० का० सं० १७३८।
४. „ —पन्नालाल चौधरी भाषा; र० का० सं० १९३६।
५ „ —पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ–हिन्दी अनुवाद।

कन्नड भाषा में पद्मनाभ कृत 'जिनदत्तचरित्र' का पता मिलता है। इसी प्रकार सम्भव है कि अन्य भारतीय भापाओ में भी जिनदत्तकथा का आधार ले कर साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयी हो। क्योंकि जैन साहित्य में एक ही विषय तथा वस्तु पर विभिन्न आचार्यों द्वारा विविध रचनाएँ प्रत्येक युग में लिखी जाती रही हैं।

वस्तुवर्णन

यद्यपि जिनदत्तकथा में कुछ वर्णन परम्पराभुक्त एवं प्राचीनता के द्योतक हैं, पर कुछ नवीनता लिये हुए भी हैं, जिन में लोक-समाज तथा रीति-पद्धतियो का सटीक वर्णन है। वस्तुत. कुछ वर्णन प्रबन्धात्मकता के लिए आवश्यक ही नही अनिवार्य भी होते है। ऐसे वर्णनो में नगर-वर्णन, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, बाल-वर्णन, संयोग-वियोग-वर्णन, विवाह-वर्णन, यात्रा-वर्णन तथा नायक के साहसिक कार्यों आदि का वर्णन कहा जाता है। अतएव वस्तुवर्णन में प्राचीन वर्णनों का होना या न होना महत्त्वपूर्ण नही है, वरन् वर्णन की शैली में पुराना या नयापन होने से उस का महत्त्व है। प० लाखू की शैली की यह विशेषता है कि वे अलकृत शैली में वर्णन करते हुए भी लोकशैली का आनन्द प्रदान करते हैं। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ चमत्कार से भरित होने के कारण अर्थ दब-सा गया है। इस का मुख्य कारण कवि की साहित्यिकता है, जो शास्त्रीयता में बँध कर चलती है।

नगर-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में चार स्थलो पर नगर-वर्णन मिलता है। चारो ही वर्णन एक-दूसरे से भिन्न हैं। कवि ने सिंहलद्वीप का वर्णन नही किया। इस के दो ही

---

१ कामताप्रसाद जैन . हिन्दी जैन साहित्य, प्रथम सस्करण, पृ० २१४।
२ वही, पृ० २२०।

कारण जान पडते है—एक तो यह कि जिनदत्त को तथा पाठको को सिंहल के राजा और उस की राजकुमारी का विवरण मालिन से मिलता है। वह प्रसंगत. जितना परिचय दे सकती थी उतना दिया। दूसरे, सम्भव है कि सिंहलद्वीप के सम्बन्ध में कवि को विशेष जानकारी न हो। वसन्तपुर का कवि ने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। प्रथम सन्धि के नवम कडवक से ले कर तेरहवें तक वसन्तपुर का अलंकृत वर्णन है। विविध छन्दो में काव्यात्मक वर्णन करना कवि की विशेष प्रवृत्ति है। किन्तु चम्पापुरी का वर्णन दो ही कडवको में सीधा-सादा वर्णित है। दधिपुर (दशपुर) का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वहाँ के गोपुर स्वर्णनिर्मित हैं। वे इतने ऊँचे है कि आकाश को छूते हैं। परिखाएँ लबालब जल से पूर्ण हैं। सभी जाति के लोग उस पुर में रहते हैं। सभी अपने धर्म का पालन करते हैं। उस पुर के भवन चन्द्र और सूर्यकान्त मणि के बने हुए प्रकाशमान हैं। सभी पाप-कर्मों से रहित पवित्र है। वहाँ किसान लोग धान्य के आश्रित है वहाँ के लोगो में प्रेम प्रदीप के समान निर्मल है। उस पुर में उत्पन्न होने वाले फल सभी की इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वहाँ निरन्तर शीतल, सरस झरने कलकल करते हुए बहते रहते हैं। वृक्ष वहाँ छाया देने वाले हैं। समस्त सुखों से वह पुर भरपूर है। इस प्रकार वहाँ किसी बात की कमी नही है। (३,१४) इसी प्रकार दो कड़वकों में समस्त पदावली तथा सालंकार भाषा में कवि ने रथनूपुर का वर्णन किया है। लगता है कि बाणभट्ट ही कादम्बरी में किसी नगरी का वर्णन कर रहे हो।

तुहिणगिरिसरिस पिउ परिह परियरियउ रयणघणकणकणयसुवणजण भरियउ।
तरणियररयणयरपउरपरितवियउ रयणियरमणिकिरणगलियजलघवियउ।
अरुणमणिफुरणसुपसरण अरुणियणहो कसणसिरिरयणकरफुरणकसणियपहो।
इत्यादि (५, ४)

कवि की यह अलंकृत शैली प्राय सभी वर्णनो मे दिखाई देती है। वस्तुत. यह सस्कृत-साहित्य के अध्ययन का निदर्शन है। स्पष्ट ही कवि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश का अच्छा विद्वान् एवं पण्डित था।

बरात का वर्णन

बरात का वर्णन यथार्थ रूप में किया गया है। शैली प्रसाद गुण युक्त तथा मधुर है। वर के हाथो में कंकण पहना कर स्त्री-पुरुष विवाह के लिए प्रस्थान करते हैं। साथ में भाँति-भाँति के बाजे बजते हैं। महिलाएँ मगल-गीत गाती हैं। कुमार के दोनो ओर चमर के साथ युवतियाँ चलती हैं। सुन्दर और सुवासित वस्त्रो से युक्त तथा कमनीय ललनाएँ पूनम के चन्द्रमा की भाँति दीप्तिमान् हो रही थी। सुन्दरियाँ स्त्री जनो के बीच नाच रही थी। इस प्रकार जय-जय शब्द करते हुए पुर में सभी पैदल चल रहे थे। साथ में एक करोड बैल शोभायमान थे। उन के सीग मण्डित थे। गले में घण्टियाँ

टनटना रही थी। लोग काठे भर-भर कर उन बैलो पर चले जा रहे थे।

कंकणकलियहत्थहय हेलए मंदलमहुर घोसया
डक्कफुडुक्कवुक्कमुक्कारव वज्जिरणंदि घोसया।
मंगलचारसार वरणारिउ महुररवाउ संगया
उभयवक्खु वरहो जुवईउचालिर चमर संगया।
सरसोहंसचारुचच्चियवउ वरु वरवासरे मंडिउ
हइ सयलु पुण्णिमाइंदुव तणु दित्तिए अहंडिउ।
सियरिसमूहत्थवियंवरु णिहिल सुहोणभूसिउ
हयहिंसारवेण भेसियदिसु मणियरु तिमिरु सेसिउ।
णिरु णच्चंतु चारु णारीयणु पयलिय सेयविंदओ
वरयत्तियभारणभारियघरकंपियकुयलि कदओ।
छत्तावलि णिरंतर तरिय तरणि करणियरकंतउ
पुरउ चरंतु चारुचारणउलु जयसद्दोचरंतउ।
गलि घंटा टणंत सवलावय घवल करोड
सोहणा परमपिसंडिवद्धसिग गारुणलुलियंबरघणा। २,१०।

और उन के साथ इतने घोडे थे कि खुरों से उठी हुई धूलि उन लोगो की आँखों में भर रही थी। इस प्रकार आमोद-प्रमोद से भरे हुए अनगिनत लोग काम-विलास को उत्पन्न करते हुए उस बारात में चले जा रहे थे।

चलियागणिय वुज्झदुगिज्झहु कलकट्ठाल भारिया
कावडिकलियकंधथिरपक्कल चलिया हिल कहारिया।
हयखुरखयकुरेणुलुपिय वरयत्तिणराण लोयणा
सामोयमण सयल संचलिय कामविलासकोयणा।
इसी प्रकार विवाह का भी सजीव वर्णन हुआ है।

विवाह-वर्णन

विवाह-वर्णन में कवि ने सभी मुख्य बातों का वर्णन किया है। विवाह के लिए वर ससुर के द्वार पर पहुँचता है। चारो ओर गीत तथा वाद्य-ध्वनि से दिशा-मण्डल भर जाते हैं। कल-कल कोलाहल और वन्दी जनो के स्तुति-पाठो से सब कुछ व्याप्त हो जाता है। उसी समय कन्या का शृंगार किया जाता है। महिलाएँ मिल कर मंगल गीत गाती हैं। वर के सम्मुख कन्या को बैठाया जाता है। परस्पर एक-दूसरे को देखने से काम-भाव तथा मदन-विलास उत्पन्न हो जाता है। दोनो ही एक दूसरे की ओर अभिमुख होते हैं। गोत्राचार होने के बाद पाणिग्रहण का कार्य आरम्भ होता है। उस समय जिनदत्त कटाक्षपात करता है। बार-बार बाँकी दृष्टि से विमलमती को देखता

है। वह लज्जा (व्रीडा) वश पैर के अँगूठे से धरती को खुरचती है। उस के चंचल नेत्र काम को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को देखते हुए वे दोनों वहाँ बैठे रहे। ब्राह्मण ने पूजा-विधि संपन्न कर बन्धुओ के द्वारा वर-वधू की अँगुलियो को एक दूसरे में पिरो दिया, मानो प्रथम स्नेह के रस से बीजांकुर ही उत्पन्न हो गया हो।

सो तहि कालि णववरो णं रईवरो पत्तु मामदारे।
विलया गेयसंकुले कलकलावले वंदिवंदसारे ॥
ताम पसाहियावि सा वालिया वत्थाहरणभूसिया
मगलसद्द मिलिवि वरकामिणिवर-सम्मुहं णिवेसिया।
अण्णोण्णावलोयणुप्पण्णइं णवरविलासकयदिही
अहिणवपणयपउरपसरणभरभारियवल्लहामही।
तहो दसणजलेण अहिसित्तउ मणदलरइरसड्ढिढउ
गुणसुच्छाउ ताहें परिमिल्लउ पणयावणिउ वड्ढिढउ।
जहं जहं सरलतरलणयणावलि वल्लहवयणवणरुहे
खिवइ पसण्णवाल तहं तहं वरु उल्लसियंतु कयसुहे।
....

....

वरवंधवेहिं कुम्वरीहिं करे अंगुलीए अंगुत्थलउ।
पोयउ णं पढमसणेहरस रेहइ वीयंकुर वलउ ॥ (२, १२)

विवाह-वर्णन की भाँति काम-क्रीडाओ का भी सजीव और विस्तृत वर्णन हुआ है। नायक-नायिका के हाव-भाव, अनुभाव और विभावों का अच्छा चित्रण संप्रेष्य विम्बो के माध्यम से हुआ है। इसी प्रकार कामज्वर से पीडित जिनदत्त का वर्णन भी सूक्ष्म, विस्तृत और हृदयग्राही हुआ है।

हाट-वर्णन

हाट का स्वतन्त्र वर्णन इस काव्य में नही है। नगर-वासियो के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कवि ने प्रसंगतः निर्देश किया है। उस रयनूपुर में मनोहर वेश्याएँ चित्त को चुरा लेने वाले मणिमय हारो को पहने हुए द्वार-द्वार पर स्थित थी। रात हो जाने से जुआरी फणो को छोड कर अपने घर जा रहे थे। रस से भरित वेश्याएँ विटो से घिरी हुई वैठी थीं। तमोली मोल-तोल कर रहे थे। माली फूलों की मालाएँ दे रहे थे।

मणहरणिरारमणे हार मणिमयहार उरे घुलिय ठिय दारे दारे जि णियहार।
परिहरेवि टिंटाइ जूयार घरे जंति रसविडवि विडणिविड वेसोय वहिठंति।
तंमोलिया मोल्लंत मोल्ल अप्पंति मालिय पसूणोह माला समप्पंति। ५,१३।

इस प्रकार वेश्याओ का वर्णन ही कवि ने मुख्य रूप से किया है।

सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन

सिंहलद्वीप की यात्रा मे लेखक ने कई द्वीपो के नामो का उल्लेख किया है, जो या तो मार्ग पर थे अथवा जो एक ओर छूट गये थे। घर से यात्रा के लिए प्रस्थान करने का भी पूरा वर्णन हुआ है। समुद्र-तट पर आकर ठहरने, रसोई-भोजन करने आदि का भी वर्णन आलोच्यमान काव्य में है। समुद्र के तट की शोभा, प्रकृति के विविध परिवर्तनो के बीच उस की श्री तथा समुद्र का वर्णन करने के अनन्तर कवि जहाज को ठेलने, उस को सजाने आदि का वर्णन करता है। पोत में वैठ कर सव जा रहे हैं। समुद्र गरज रहा है। पोत वहा चला जा रहा है। वेणा तट को छोड कर वह हिम द्वीप पहुँचता है। वहाँ से भभापट्टन होता हुआ कुंडलद्वीप पहुँच जाता है। मार्ग में मैनाग द्वीप एक ओर रह जाता है। इस के पश्चात् वे तिलक द्वीप की ओर वढते हैं। किन्तु उसे छोड कर सहजावइद्वीप की ओर मुडते हैं। वहाँ से छोहारद्वीप का मार्ग पकडते हैं। फिर मेच्छ, पावाल (प्रवाल) द्वीप में विश्राम करते हुए वे वडवानल से वच कर आगे वढते हैं, जहाँ वैदूर्यमणि की एक खान मिलती है। वहाँ पर क्रय-विक्रय कर लाभ लेकर रत्नद्वीप में पहुँचे। फिर, हीरा की खान को छोड कर रत्नों को अगोर कर सेतु-वन्ध पहुँचे। वहाँ से नीलमणि द्वीप में गये। उस नीलमणि द्वीप में पाँच सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा स्थित है। वहाँ ऋषभनाथ की वन्दना कर पोत में वैठ कर सव आगे बढे। अन्त में जहाँ बीस सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा विराजमान है, ऐसे उस सिंहलद्वीप में आ पहुँचे। पोत के तट पर लगते ही सब भार उतार कर नीचे रखा गया। सभी आनन्द से नीचे उतर गये।

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन जिनदत्त कथा में अत्यन्त सजीव है। पढने के साथ समुद्र का चित्र आँखो के सामने उतर आता है। अनेक गाँव, पट्टन, प्रदेशो को पार करते हुए सार्थवाह के साथ सभी लोग सानन्द समुद्र के तट पर वहुत दिनो के बाद पहुँचते हैं। वह समुद्र जल से लवालव भरा हुआ तथा अनेक रत्नो से प्रकाशमान ऐसा जान पडता था मानो इन्द्र ही हो। निरन्तर किलोलें करने वाली लहरें उस में स्फुरायमान हो रही थी। श्वेत चन्द्र के समान उज्ज्वल फेन-राशि शोभायमान हो रही थी। जल में स्नान करते हुए चिंघाडते हाथी सज रहे थे। भयानक मगर विचरते हुए तीर पर दिखाई दे रहे थे। किनारे पर मछलियाँ समुद्र के हार जैसी शोभित हो रही थी। बार-बार नाके आदि समुद्र के जलजीव चमक जाते थे। अत्यन्त धवल शखों की माला सुखदायक थी। कही-कही तिमिमत्स्य चंचलता से चमकते शोभायमान हो रहे थे।

दिणवहव सो सत्थवाहो वहंतो सहरिसु अकूवारतीरे पहुत्तो।
जलवहलु ता तेण दिट्ठो णईसो वहुरयणभासिल्लउ णं सईसो॥
अणवरय कल्लोल घोलंत फारो सियससिव डिंडीरपिंडोह तारो।

जलकरडि मज्जंत गज्जेंहि सज्जो जलणरविरुधंत गत्ते मणुज्जो ।
मयर वियरंताण तीरे दुहिल्लो सरलयर हाशल्लिओ कंठतुल्लो ।
महफुरियणवकंकियो णं मुहुल्लो अइधवलसखावलीए मुहिल्लो ।
परिफुडिय सुत्तीउडे संकडिल्लो तिमितरल झंपति एवं कुडिल्लो ।३,२२।

इन के अतिरिक्त राजा चन्द्रशेखर, घनवाहन, अशोक तथा जिनदत्त आदि का अच्छा वर्णन हुआ है। जिनदत्त का वर्णन दो स्थलो पर मुख्य रूप से वहुत ही उत्तम वन पड़ा है। सागरदत्त जब पहली वार जिनदत्त को देखता है तो उस के रूप-सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन कवि ने किया है। दूसरी वार सिंहलद्वीप से लौटते समय समुद्र और जिनदत्त के वैभव की वहुत ही सुन्दर तुलना अलंकृत शैली में की है। इन वर्णनों को पढ़ कर वाण की कादम्वरी का स्मरण हो आता है। किन्तु वस्तु और शैली में अन्तर होने से प० लाखू का व्यक्तित्व अलग ही स्थान रखता है।

वाल-वर्णन

वालक जिनदत्त के वर्णन में भी कवि का वैशिष्ट्य लक्षित होता है। कुछ वडे हो जाने पर वालजिनदत्त स्वर्ण के वने हुए उस मन्दिर में घुटुरन चलते हैं। आँगन में विचरते हुए क्रीडाएँ करते हैं। हाथों के वल धीरे-धीरे खिसकते हैं। उन की क्रीडाओं को देख कर लोग हर्ष से भर कर उन्हें उछालते हैं, कपोलों को चूमते हैं। सोने की घुँघरुओ से मण्डित उन के पगो को तथा मुग्ध वेश को देख कर साहु जीवदेव आनन्द-दायक वाल को अपनी गोद में विठा लेते हैं। वालक के सहजात कुटिल केश तथा धूलिधूसरित वस्त्र अत्यन्त शोभायमान होते हैं।

वियरइ पंगणे कीलाविसेसु तणुतेओहामिय वासरेसु ।
करे करे संचरइ सुवण्णधामु वालुवि जायउपायडिय णामु ।
हल्लर हल्लर हल्लर सरेंहि णरणाहि विलासिणि सायरेंहि ।
उच्चाइलिंति गुणमणिवरिट्ठु चुवति तुंडु गंडुवि विसिट्ठु ।
कणयमय घुघ्घरावलि विसेस मंडिय पयाइ गय मुल्लवेस ।
पेच्छेवि ससूणु वणिजीवदेउ उच्छंगि लेइ आणंदहेउ ।
सहजाय कुडिल कुंतल जडिल्लु धूलिधूसरियावयकडिल्लु । (१,२३)।

रूप-वर्णन

नगर-वर्णन की भाँति रूप-वर्णन भी आलोच्यमान कथाकाव्य में चार स्थलो पर हुआ है। रूप-वर्णन में कवि ने केवल वाह्य सौन्दर्य को ही विम्वो में मूर्तिमान् नही किया है, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य का चित्र भी संप्रेक्ष्य वनाया है। वर्णन सभी एक से एक सुन्दर तथा सजीव है। उदाहरण के लिए शिल्पी विमलमती का वर्णन करता हुआ कहता है कि कमनीय कुण्डलो के वीच उस कन्या के सुन्दर कान झलमलाते हैं। उद्दीप्त एवं तपाये हुए सोने की भाँति वे अनुरंजित हैं। उन को देखते ही स्नेह से जन-मन मोहित हो जाते

हैं। लम्बी वेणी अलको से अलंकृत उस की पीठ पर झूलती रहती है। साडी का सुन्दर पल्ला और हार उस के तन पर बहुत शोभा पाते हैं। कपोलो पर प्रस्वेदजल की बूँदें शोभित होती हैं। सोने से गढी गयी प्रतिमा की भाँति वह बाला सोहती है। यही नही, बहुत-सी गीत-कलाओ मे भी वह कुशल है, जो मुनियो के मन के समान मोह लेती हैं। वह बहुत गुणों से भरपूर कोयल के समान मधुर बोलने वाली है। हे वणिक्वर ! क्या एक जिह्वा से उस का वर्णन हो सकता है ?

तह दुहिय दुहरहिय विमलामइ कण्ण कमणीयकुंडलक्षलक्कंत वरकण्ण।
उदित्त संतविय सोवण्ण सुपहाल पिच्छत जणमोहणासहिव णेहाल।
लवंत वेणीलयालंकरिय पिट्ठि चेलचलाचारु चलहारलय सिट्ठि।
सेलिंघपरिमल मिलतालिसंदोह वियलंत गंडाउ सेयबु विदोह।
कंचणह घडियव्व वडिमेव सोहंति बहुगेयकलकुसल मुणिमणुव मोहति।
बहुगुणहं अहिययरि परपुट्ठिसम वाय किं एक्कजीहाए वण्णियइ वणिराय। (२,७)

उक्त पंक्तियों में कवि ने नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कुण्डल की कमनीयता के साथ ही आन्तरिक कोमलता, मधुरता और तपाये हुए सोने की भाँति निर्मलता का विम्ब चित्रित किया है। अतएव मुनि के मन की उपमा देकर उस सादृश्य को अभिव्यंजित किया गया है। अलंकारो के प्रयोग तथा वर्णन की सादृश्यता में यहाँ पर महाकवि धनपाल का स्मरण हो आता है। सम्भव है धनपाल ने इस काव्य-रचना को पढा या सुना हो।

रूप-वर्णन में कवि-समय के अनुसार दिव्य पात्रो का वर्णन चरण-नख से शिख तक किया जाता है और मानवीय पात्रों का वर्णन इस के विपरीत शिख से नख तक होता है। किन्तु पं० लाखू ने नायिका का रूप-सौन्दर्य दोनों रूपों में चित्रित किया है। यद्यपि यह वर्णन (नख-शिख) पात्रगत (मालिन के द्वारा) है, और इस में भी पहले नेत्रों का और फिर कोमल करतल-चरण का वर्णन है, पर क्रमश वह पयोधर, हीरावलि के समान दशन, लोचन, विम्बाधर, ग्रीवा और ससिचूड से युक्त है। प्रयुक्त उपमान प्राय सभी पुराने हैं। उन में विशेष चमत्कार नही है। वर्णन अलंकृत तथा परम्परित है। शिख से ले कर नख तक के वर्णन में अवश्य कुछ नवीनता झलकती है।

तहिं जोव्वणवणलावण्णलील णं सरवाहहो पारद्धि कील।
कुंतलकलाव अलिणीलभास णं मयणहो वग्गुर गरुय पास।
कुरलावलिकलियकवोलवित्ति णं मयणहो तोणा जुयल जुत्ति।
छणछणयायरदलभालपट्टु णं झसकेयहो जयविजयपट्टु।
वंकुज्जलु भूजुवलउ सुघाउ णं सरेण चडाइउ चप्पिचाउ।
भूमज्झु जं जि रइरस अगाहु तं धणुह मज्झि ण मुट्ठिगाहु।
कलयंठिकठ कल झुणि सहाउ णं तद्धणगुण टकारराउ।
जगु मोहइ णासावंससोह जयभेरि सरहो णं जणिय खोह। (५,८)

शृंगारमती का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह यौवन रूपी वन में लावण्यलीला ही कर रही थी। उस के केश-कलाप काले-काले भौंरों जैसे जान पड़ रहे थे मानो मदन की डोरी का बना हुआ भारी पाश हो। अलकें कपोलों पर लटकती हुई ऐसी जान पड़ रही थीं मानो कामदेव के धनुप और वाण हों। पूनम के चन्द्रमा के समान उस का माथा था मानो काम का विजयपट्ट हो। उस की दोनों भुजाएँ चढाये हुए धनुष की भाँति प्रतीत हो रही थीं। संसार में जो भी अगाध रति का रस था वह उस की भौंहो में समाया हुआ था। उस के सुन्दर कण्ठ से जो ध्वनि निकलती थी वह मानो धनुष की टंकार ही होती थी। उस की नासा जग को मोहने वाली जय भेरी के समान थी। उस के अधर बिम्बाफल के समान थे। निर्मल कुछ-कुछ दिखलाई देती हुई दाँतो की पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो सरोवर में सीपियों के बीच मोती सोहते हो। कमल जैसा प्रफुल्ल मुख काम के छत्र की भाँति सुशोभित था। सुन्दर बाहु युगल काम की कुसुममाला ही जान पड रही थी। कढे हुए दोनों उरोज कामदेव के स्नान करने के दो कलश ही प्रतीत होते थे। गहरी नाभि सरोवर और त्रिवली उस में क्रीडा करने वाली तरंगें जान पडती थी। उस का दुबला-पतला उदर रस का प्रसार करने वाला मानो साक्षात् कामदेव ही था। विस्तृत कटि अत्यन्त रसयुक्त थी, मानो रतिपति का ही रूप हो। इस प्रकार उस का कटि-प्रदेश बहुत बाँका, तरल, चंचल और विशिष्ट अंगो से शोभित था, जिस में तीनो लोको के जन-मन रूपी तुरंग भ्रमित होते थे, चक्कर खाते थे। उस के गुह्य स्थान की जय हो मानो वह काम की ध्वजा-पताका ही थी। उस की जाँघें इतनी कोमल तथा सुडौल थीं कि कलभ (गजशावक) को भी तिरस्कृत कर दिया था, वे मानो कामदेव की शरण में आने वालो के लिए आलानस्तम्भ थे। उस के शरीर के सधि-बन्धन इतने घने और दृढ़ थे कि मानो जन-मन को मारने के लिए काम की ही शक्ति हो। मसृण जंघाएँ ऐसी शोभित हो रही थी मानो जन-मन के विचरण के लिए काम का ही मार्ग हो। निर्मल नखो की प्रभा क्या स्फुरायमान हो रही थी मानो दर्पण ही हो। लालकमल के समान उस के तलवे (पदतल) क्या थे मानो काम की विजय प्राप्ति के ही सूचक हो।

इस प्रकार समूचा रूप-वर्णन अलंकृत शैली में वर्णित शास्त्रीय परम्परा में विहित है। कही-कही उपमानों की नवीनता और उक्ति-चमत्कार भी लक्षित होता है। किन्तु अधिकतर वर्णन परम्पराभुक्त एवं रीतिग्रस्त है। यह संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है। लगता है कि कवि ने संस्कृत का काव्यत्व ही शास्त्रीय निपुणता के साथ यहाँ रस से अभिषिक्त कर उड़ेल दिया है। इस में जो कुछ नवीनता दिखाई देती है, वह बहुत कम है— वह कवि की प्रतिभा का चमत्कार है। सक्षेप में, रूप-वर्णन कवि की वाणी में प्रभावोत्पादक रूप से तथा पात्रो के मुख से स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक दोनो ही रूपो में हुआ है। अधिकतर वर्णन शास्त्रीय एवं अलंकृत शैली मे है। अलौकिक रूप में वर्णन बिलकुल नही है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन में वन, सन्ध्या, रजनी, वसन्त आदि का श्लिष्ट वर्णन आलोच्य-मान कथाकाव्य में मिलता है। मुख्यत' आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण हुआ है, पर उस का उद्दीपन रूप भी अभिव्यजित है। प्रकृति-वर्णन की लगभग सभी विधाएँ जि० क० में लक्षित होती हैं। वन-वर्णन में आलम्बन, प्रभावात्मक, परिगणनात्मक तथा उद्दीपन रूप में विविध रगीनी चित्र दिखाई देते हैं, जिन में कवि की रुचि तथा सूक्ष्म अध्ययन का पता लगता है। प्रत्येक चित्र बिम्बो में सजीव और भाषा में सटीक यथा-र्थता से मण्डित है। भाव और भाषा के सम प्रवाह में शब्द-चित्र को उतारने में कवि अत्यन्त कुशल है। लय और ताल उस के पदो के पीछे अनुकरण करते-से जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए—

पहुल्लफुल्ल झुल्लमाण अल्लसप्फलं पिहुप्पिहु—द्दुमेसुदेमि दोहल जलं।

इसी प्रकार वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सकोरवा पहूव चूवपायवा णिरंतरे चलंतचारुकोकिला लवंत सा णिरंतरे।
पहुल्लफुल्लगंधलुद्ध णिद्ध भिंगभिंगिया झुणति सस्सुरं सुसोहणा णहग्गमग्गलग्गिया।

इन उदाहरणो में शब्द-नाद, पद-योजना, ताल, लय, गीति और छन्द तथा संगीत का कितना सुन्दर मेल है।

सन्ध्या का वर्णन है—संझा होते ही चारो ओर लाली फैल जाती है। समुद्र का रंग भी लाल कमल के समान हो जाता है, मानो स्निग्ध घने मूँगे के रूप में काम ने ही अपना रग डाल दिया हो। फूले हुए टेसू ऐसे जान पडते थे मानो गहरे लाल सिंदूर ने ही रूप धारण कर लिया हो। राग को धारण किये हुए सन्ध्या रूपी नायिका लज्जा से दिनकर की सेज पर पहुँची। उस समय वह समस्त लोको की सुन्दरता को धारण कर रही थी। रवि भी अच्छी तरह विचार कर वहाँ गया। बडे-बडे लोग शालीनता से दिन के कार्यों को समाप्त कर भोजन करने लगे। फिर, रजनी की बात सुन कर कि सन्ध्या से रमण करना युक्त नही है चारो ओर तम का राज्य फैल गया। इस में क्या अचरज है कि संझा (सन्ध्या) झीनी हो गयी और तम रूपी मोह का प्रभाव छा गया।

विहावरि वासर अंतरि जाय समुज्जल संझ वरारुण छाय।
सिणिद्ध घणामल विद्दुमरंग सरीसरत्तुप्पल णं समरंग।
पलासपसूण पहुल्लिय सोह सुरत्तसिंदूर णिरूविय देह।
वहंति सकंतहो राउ सलज्ज गया लहुसावि दिणदहो सिज्ज।
लहेवि असेसहो लोयहो चारु गओ रवि संझसमो सुवियारु।
महत जि माणवलोए सलज्ज समत्ति सकज्जे पभुंजहिं भज्ज।
सुणेवि तमारिहि केरी वत्त ण वासरि णारि रमिज्जहो जुत्तु।
सकततमोमहराय विसुद्ध अहो कह भति ज जाइ ण मुद्ध। (३,२३)

यहाँ पर संध्या का वेग से लज्जा पूर्वक दिनकर की सेज पर जाने और दिनकर का विचार पूर्वक उस के पार्श्व में शोभायमान होने की कल्पना कितनी सुन्दर है। उक्त पंक्तियो में सन्ध्या, दिनकर, रजनी एवं तम का मानवीयकरण हुआ है। भारतीय साहित्य में मानवीयकरण कोई नई वस्तु नही है। महाकवि कालिदास से ले कर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में प्रकृति-वर्णन का चित्रण मानवीयकरण तथा अलंकृत रूप में कही न कही होता रहा है। अलकृत शैली में वर्णित प्रकृति का उदाहरण है—

कसण कज्जल अलसिकुसुमयलि अलिसिमिर मसि सम सरिस।
घणतमालदल पडल वण्णउ दहदिसिवह पसरियउ।

परन्तु लोकशैली में प्रचलित टेक और धुनो के आधार पर वस्तु एवं विषय का वर्णन करना अपभ्रश-कवियो की विशेषता है। ऐसे वर्णनों में विम्वार्थ स्फीत हो कर चित्र को बिलकुल स्पष्ट कर देता है तथा भावों के साथ ही उस की क्रिया प्रेरक एवं वेगवती लक्षित होने लगती है। रात्रि के वर्णन का एक दृश्य देखिए—

ण णिसा णिसायरीहिं फुल्लसोह णं रईहिं।
गेहि गेहि दिज्जयंति दीव जे तमोह हंति।
ताव चदिया समेउ चंद उग्गउ सतेउ।
लोयणाण तें असोहु भंजि घल्लिउ तमोहु।

इसी प्रकार चन्द्रोदय का प्रभावकारी चित्र देखिए—

भूरुहाउ ता सकुंत उड्डिया चुमुच्चुमंत।
उग्गउ तमारि ताम्व भासमाणु देसगाम।
अंधयारु चालयंतु चक्किचक्क मेलयतु।
कंजपुंज तोसयंतु धम्ममग्ग पोसयंतु।
ताम्व ओसहीसधामु णट्ठहो विसिट्ठकामु।

पढने के साथ लगता है कि उगते हुए चन्द्रमा को प्रत्यक्ष देख रहे हो और वह सचमुच कोई दिव्य प्रभावशाली हो, जिस से सब कुछ भासमान हो रहा हो तथा उसी में इतना सत्व है कि अन्धकार को भगाने में समर्थ है, दूसरे में यह गुण कहाँ है जो धर्म मार्ग का पोषण करता हो अर्थात् शान्ति प्रदान करता हो और तिमिर जैसे शत्रु को भी भग्न कर देता हो। इस प्रकार गीति शैली में श्लिष्ट विम्वार्थ-योजना कर कवि ने समूचा चित्र ही स्पष्ट कर दिया है। काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो इस काव्य-तत्त्व को सहज रूप में सहेजे हुए हैं।

वस्तु-परिगणनात्मक रूप में वन में स्थित अनेक वृक्षो और फूलो की नामावली मिलती है। पूरे कडवक में वृक्षो और फूलों के नाम भर ही हैं (५,१९)। लगता है कि इतने अधिक वृक्ष और फूल चम्पापुरी के वाहर वन में रहे भी होगे या नही ? यथार्थ में प्रवन्ध-परम्परा में इस प्रकार नामो को गिनाने की पद्धति वहुत पहले ही प्रचलित हो

प्रचलित हो गयी थी। वाल्मीकिरामायण स्वयम्भू के पउमचरिउ, बाणभट्ट की कादम्बरी, तथा सन्देशरासक में इसी परम्परा का निर्वाह मिलता है।

प्रकृति-वर्णन में कहीं-कहीं कवि ने क्रियापदों के द्वारा प्रकृति के व्यापारों को अभिव्यंजित किया है। ये गीतशैली और छन्द दोनों में अभिव्यक्त हुए हैं। किन्तु ये मुख्यत. गेय है और एक-एक पद में एक-एक चित्र से संवलित हैं। उदाहरण के लिए अमरपुरसुन्दरी नामक छन्द में वर्णित निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

पमुइया सम्मणे   वहुतरूणं घणे
विहविहयाउले   गुजिरालीउले
कोवि लालावरे   किण्णरी कीलिरे
फुल्ल पफुल्लरे   वल्लरी हल्लिरे
दक्खरसरिल्लिरे   मयण सोहिल्लिरे
पवणपडिपिल्लिरे   पत्तदर चल्लिरे
सरसफलभरसहे   णमिय वसुहारुहे। (३,९)

भावाभिव्यंजना

आलोच्यमान कृति में मार्मिकता से ओतप्रोत कई मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य जीवन के विविध मार्मिक प्रसंगो की सुन्दर योजना हुई है। बेटी की भावभीनी विदाई, माता का नयी वहू का स्वागत करना, बेटे को आरती उतारना, जिनदत्त का समुद्र में उतरना, समुद्र-संतरण, वनिताओ का करुण विलाप आदि सरस स्थल है, जहाँ मानवीय संवेदनाओ की अनुभूति से हमारा हृदय द्रवित एव दीप्त हो जाता है। विभाव पक्ष में जहाँ हमें वस्तु रूप में वर्णन मिलता है, वही अलकार के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। और भावपक्ष में मानसिक दशाओ का अनुभूतिपूर्ण चित्रण अलंकृत शैली में तो है, पर सामान्यत. लोकपक्ष से समन्वित है। रीतिकालीन कवियो की भाँति कवि का वर्ण्य क्षेत्र संकुचित नही है वह वस्तुत सामाजिक जीवन में ही प्रस्फुटित होता है। सुख-दु.ख, राग-विराग, सहानुभूति, करुणा आदि शाश्वत भाव हैं, जो प्रत्येक के जीवन में कभी न कभी अपना स्वाभाविक विलास करते हुए देखे जाते हैं। इन का ही यथार्थ चित्रण जब कवि विभिन्न परिस्थितियो की संयोजनाओं में एवं घटनाओ में योजित करता है तभी उस की मार्मिकता का पता हमें लगता है। जिस प्रकार रस दशा की पूर्णता को पाये बिना भाव प्रभावहीन एवं सदोष समझा जाता है उसी प्रकार मार्मिक प्रसंग भी दोषयुक्त एवं प्रभावहीन माना जा सकता है। किन्तु इस काव्य में भावो की रसमय दशा का पूर्ण संचार लक्षित होता है।

जि० क० में रतिभाव की प्रधानता है। उस में लज्जा, औत्सुक्य, मोह, विबोध, आवेग, अलसता, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, धृति, चपलता, विषाद, उग्रता, दैन्य और जडता आदि अनेक संचारी भावों को छोड कर सभी विभिन्न प्रसगो पर अभिव्यजित हुए हैं।

संयोग और वियोग में, नायक तथा नायिकाओ की मानसिक दशाओ में रतिभाव की करुण अभिव्यक्ति हुई है। वीभत्स में आलम्वन स्वरूप भय तथा वात्सल्य में हर्ष-पुलक का ही समावेश मिलता है। शोक में प्रिय के अभाव से उत्पन्न विषाद की अभिव्यंजना ही वर्णित है। विलाप में जिनदत्त की पत्नियो का विषाद ही मुख्य है। इन के अतिरिक्त शील एवं सतीत्व पर गर्व तथा आत्मविश्वास की मधुर अभिव्यक्ति श्रीमती के पोत पर पतिवियुक्त होने पर हुई है। इसी प्रकार जिनदत्त के वामन-रूप को देख कर वे कहती हैं कि यह मेरा पति नही है। वे तो वहुत ही सुन्दर थे। अपने पति की सुन्दरता की सराहना करना भारतीय नारी का विशिष्ट गुण है, जो रूप पर नही रति भाव पर अवलम्वित है। इस प्रकार पातिव्रत की जो शाख हमें विविध भावो में अनुरंजित मिलती है वह भारतीयता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

संयोग-वर्णन

संयोग-वर्णन मे विविध काम-क्रीडाओ तथा प्रेम का यथार्थ चित्रण हुआ है। पूर्व राग से ले कर चित्र-दर्शन, विवाह, हेला, व्रीडा, हाव-भाव, सात्विक भावो तथा रसिकता की पूर्ण अभिव्यजना इस काव्य मे हुई है। नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के अवसर पर अंगचेष्टाओं द्वारा भावो का प्रदर्शन तथा प्रेमाभिव्यक्ति का एक चित्र देखिए—

> खिवइ सदिट्ठि हिट्ठु भूभाएं वहु मुहुं दर णियंतउ।
> वोलावस णियहिं अंगुट्ठहिं महियलु रेहयंतउ।
> सा सालस विलाससरलामल चल दर कामकोयणा।
> वल्लहवयणवसुह मज्झंतरि खवियावलिय लोयणा।

अर्थात् जिनदत्त वार-वार धरती पर बैठी हुई विमलमती पर दृष्टिपात करता हुआ कटाक्ष करता है। वह भी लज्जावश पैर के अँगूठे से धरती खुरचती है। अपने विलासपूर्ण चचल नेत्रो से वह काम-भाव जाग्रत कर देती है। अपनी आँखो को फेंकती हुई वह अवगुण्ठन के भीतर से पति को निहारती है।

इसी प्रकार काम-क्रीडाओ के वर्णन में लज्जा, संकोच, जड़ता और चपलता आदि मानसिक भावो का मूर्ति-विधान लक्षित होता है। रति के उद्रेक में कवि ने अपने आप को मानवीय सौन्दर्य तक ही सीमित नही रखा है, अपितु प्रकृति तथा अमूर्त वस्तुओ में भी रस का संचार दिखाया है। दाम्पत्य, वात्सल्य और भगवद्विषयक रति के तीनो रूप जि० क० में मिलते हैं। वाल-लीला के वर्णन में, वेटे के लिए माता की मनौतियो तथा मागलिक क्रियाओ में, स्नेह और मिलन में वात्सल्य तथा अन्त में निर्वेद में तथा वीच-वीच में जिनपूजा एव तद्विषयक अनुराग में भगवद्भक्ति देखी जा सकती है।

लाखू के प्रेम में रूप-लिप्सा एवं मानवीय सौन्दर्य का योग है। आन्तरिक गुणों का पता हमें बाद मे मिलता है, पहले तो रूप-दर्शन एवं उस की लिप्सा ही आकर्षण के मूल मे होती है। अतएव प्रेम-पद्धति में चित्र-दर्शन, गुणश्रवण और प्रत्यक्षदर्शन ही मुख्य रूप से निर्दिष्ट है। क्योकि विवाह के पूर्व कवि ने सभी सुन्दरियो के रूप का वर्णन किया है। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिहित चार प्रकार की प्रेम-पद्धतियो में से यह दूसरे प्रकार की कही जा सकती है[1]। सक्षेप में, अन्त पुर के प्रेम को छोड़ कर तीनो प्रकार की प्रेम-पद्धतियाँ प्रस्तुत रचना में वर्णित हैं।

वियोग-वर्णन

मानवीय प्रेम की पूर्णता के लिए वियोग एक आवश्यक भूमिका मानी गयी है। अतएव वाल्मीकि से ले कर कालिदास और भवभूति तक संस्कृत में, विमलसूरि से ले कर जिनहर्षगणि तक प्राकृत में और स्वयम्भू से ले कर भगवतीदास तक अपभ्रंश में वियोग-वर्णन की परम्परा अविरत रूप से प्रवाहित रही है। आलोच्यमान रचना में विरह-वर्णन तीन स्थलो पर हुआ है, चौथे स्थान पर वियोग में कामदशाओ का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। विरह-वर्णन में वियोगजन्य स्वाभाविक अनुभूतियो की अभिव्यजना के साथ ही मानवीय भावानुभावों का उत्तम प्रेमजन्य चित्रण वन पडा है। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण भेदो में से मान को छोड़ कर तीनो भेद मिलते हैं। जिनदत्त के छोड कर चले जाने पर उस की सभी पत्नियाँ प्रवसित नायिका की भाँति वियोग में दिन काटती हैं। किन्तु उन दिनो का वियोगकालीन जीवन चित्रित न करने से रीतिमूलक प्रवृत्तियो से ग्रस्त होने से रचना बच गयी है। फिर भी उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कामदशाओं के वर्णन में प्रेम की जो तीव्र अभिव्यजना हुई है तथा काम की जो अतिशयता दर्शायी गयी है वह परवर्ती सस्कृत-साहित्य का रीतिकालीन प्रभाव है, जो दरवारी सस्कृति की देन है। विरह-वर्णन में कवि ने वातावरण, नाटकीयता, प्रभाव और दृश्यो की योजना कर अत्यन्त मार्मिक अभिव्यजना की है। जैसे कि, विमलमती को वन में अकेले छोड जाने पर वह पहले तो इधर-उधर स्वामी को ढूँढती है, फिर पुकारती है और फिर आँसुओ को ढालने लगती है। अपने हृदय को थाम कर वह प्रिय-प्रिय पुकारती है और विरह के वेग को न सह कर अपने आप को ही प्रकट कर देती है। वह कहती है कि स्वामी के साथ ही मेरे सामने यह हृदय फूट क्यो नही जाता ?

पुक्करंती सामि सामित्ति विहलंघलचलणयण ।
ढलिय असु ढलहलरुयंतिय विरहाउर उरु सयरि ।
आहणति पिय पिय लवंती सहहु ण तीरउं तव विरहु ।
अप्पउ पयडहि ताम सामिय सह सा मम पुरउ ।
हियउ ण फुट्टइ जाम । (३,११) ।

[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका तृतीय सस्करण, पृ० २६।

वियोग की स्थिति में श्रीमती का हाहाकार अपने यथार्थ रूप में वर्णित है। वह अपने अभाव में असन्तुष्ट हो कर मानो अवशता और दयनीयता को स्पष्ट खोल कर रख देती है। उस मे जहाँ आत्मविलाप है वहाँ अंगचेष्टाओ का सहज प्रदर्शन और भावो की वास्तविक अभिव्यक्ति का भी योग है। अतएव वह अपने शरीर को कोसती है, हृदय में लज्जित होती है। वह नही चाहती कि क्षण भर के लिए भी मैं पति का वियोग सहन करूँ। वस्तुतः श्रीमती का विलाप कवि की अन्तर्भावनाओ में डूब कर समस्त हाहाकारो के साथ हाव-भावो में फूट पडा है। कवि के ही शब्दो में—

तें तुव भमउ समउ रइरससुहु सेवंताहु वट्टए।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए। (४, २५)

हा हा करति कवहो भरति वप्फं जलोल अविरलकवोल
गंडंतराल कुडलकराल खालिय करेंहि कंकण परेंहि,
उरयलु हणंति हा हा भणंति कयकतिमीसु विहुणंति सीसु
विरहग्गि भुत्त उत्तत्तगत्त कढकढकढंत कयरसत्रढंत
सासइ मुवंति दहदिहि णियति कयदिट्ठिकट्ठ सुन्दरि वरिट्ठ
लोयण चलति कयमुक्कलंति कुंतलकलाव पयणिय पलाव। (४, २२)

शृंगारमती विरह में वार-वार पति के रूप का स्मरण करती हैं। हृदय के संताप से आँसुओ को वहाती हुई उस कृशागी की दशा ओटते हुए क्वाथ (काढ़ा) की भाँति हो रही थी। निर्विण्ण तथा विमनस्क होने से वह करुण प्रलाप करती है और क्षण में चेतन तथा क्षण में निश्चेतन हो जाती है मानो सन्निपात ही हो गया हो।

पइ विरहताव संतविय संति वप्फल कमढ कढकढकढंति।
दुम्मियमण घणझीणी णिरु विद्दाणी करुणपलाव कुणंती।
खणे उप्पज्जइ चेयण खणि णिच्चेयण सण्णिवाय णं भुत्ती (४, २१)

उस के भावो में वड़ी कसमसाहट और व्याकुलता है कि मेरे पति मुझे यो ही छोड़ कर किस स्थान पर चले गये। वह कहती है कि स्वामिन् हँसी मत करो। तुम्हारी यह हँसी मेरे लिए दु साध्य है। पाठक इसी से अनुमान लगा सकते है कि उस के मन में कितनी गहरी वेदना है। वह जीने में विलकुल समर्थ नही है। इसलिए कहती है कि जव यह हृदय इस व्यथा को सह नही सकता है तव यह समूचा तडक कर फूट ही जायगा।

दे देहि दइय दरिसाउ ताम सहसक्करु इट्ठु हियवउ ण जाम।
फुट्टइ तडत्ति तह जह वि सयलु चुंवयउ वलाहउ लोहणिहलु।
पइं रहिय ण जीवमि कय महत्य करिमरि ते होहमि रत्तहत्य। (४, २२)

भावो में कितनी तड़पन और व्यामोह है, जिसे भुक्तभोगी ही जान सकता है।

कामावस्थाओ का वर्णन

जि० क० में काम की दशो अवस्थाओ का सटीक वर्णन है। स्वयम्भू के पउम-चरिउ.में भी इतना सजीव वर्णन नही है। जिनदत्त कामज्वर से पीड़ित हो कर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। बढिया कमल के नये-नये पत्तो से अत्यन्त सुन्दर बिछौना उस के लिए रचा जाता है। शीतलता तथा सुखदायक वस्तुएँ उस पर रखी जाती है। किन्तु ऐसी सेज के विषम प्रतीत होने पर उस का मन निर्भिन्न नहीं होता और परिणामत. दश अशुभ अवस्थाएँ अपना रूप धारण कर जिनदत्त के प्राणो को सुखाने लगती हैं। पहली अवस्था चिन्ता है, जो मन को विखरा देती है। दूसरी बार-बार दर्शन का स्मरण करना है। इस अवस्था में कुमार नि.श्वास तथा दीर्घ उच्छ्वासो को छोडने लगा। तीसरी अवस्था में रह-रह कर सताप-ज्वाला जलाने लगी। चौथी अवस्था के वश में हो कर वह आक्रन्दन करने लगा। पाँचवी अवस्था में उस का भोजन-पान छूट गया। अमृत रस से युक्त भोजन भी उसे अरुचिकर हो गया। छठी अवस्था में वह अपने आप में नही रह गया। क्षण भर के लिए भी वह स्थिर नही रह सकता। उस का मन उस के हाथो से निकल गया। सातवी अवस्था में दाह बुरी तरह से शरीर को जलाने लगी। और बात के अधिक बढ जाने से विमनस्क हो कर अपने आप को भूल गया। आठवी और नौवी में शरीर का भान ही नही रह गया तथा वह विलकुल दुर्वल हो गया। यदि दसवी अवस्था सभव हों तो फिर जीव देहान्तर में जा कर ही स्थित हो। ऐसी दशा में जिनदत्त की नीद चली गयी और वह शरीर रहित हो गया। वाणो की शका से वह मकरध्वज से पकड लिया गया। वार-वार वह दोनों भुजाएँ फैलाने लगा, किन्तु आलिंगन शून्य हो गया। कपूर आदि शीतल पदार्थों का लेप किया गया, किन्तु विरह की ज्वाला में वह सब सूख गया। चन्दन से समूचा शरीर गीला कर दिया गया। सारे शरीर पर लेप चढा दिया गया। परन्तु अभागा सब सूख गया। चटक गया और उचटने लगा। सिला के समान जिनदत्त धरती पर गिर गया। बार-बार मूर्च्छित होने लगा। वह चेतनाहत हो गया। वोल वद हो गया। वल और मान से- क्षीण हो गया। ऋषि की भाँति वह ध्यान में लीन हो गया। निरंग के रग में रँग गया। प्रमोह भाव भग हो गया। अज्ञानता में वडवडाने लगा। सारा शरीर कँपने लगा। हिताहित का विचार नही रह गया। अच्छे रस को मानने से मना करने लगा। दाँतो को तिरछा करने लगा। अपने ही अधरो को डसने लगा। जम्हाई लेने लगा। अँगुलियो को मोड़ने लगा। हिम के समान शीतल तथा मनोहर चन्द्रमा की किरणें खरे तेज से जलाने वाली जान पड़ने लगी। वार-वार वह चौंक कर चमकने लगा। सुखदायक ताजे फूलो की माला अग्नि के समान दाहक हो गयी। भूत-प्रेत से ग्रस्त की भाँति प्रलाप करने लगा। मूर्च्छित होने लगा। सिर और शरीर काँपने लगा। मानो सन्निपातज्वर ने ग्रस लिया हो (२, २)।

काम की इन दशाओ का इतना विस्तृत तथा अनुभूतिपूर्ण मार्मिक वर्णन अन्यत्र कम मिलता है। वस्तुत कवि का यह वर्णन गीति शैली में अत्यन्त सजीव और

प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। इस प्रकार मरणावस्था को छोड़ कर सभी दशाओ की स्थिति यहाँ वर्णित है। वर्णन उक्तिमूलक न हो कर प्रभावात्मक रूप में अलंकृत शैली में चित्रित है, जिस में भावानुभावो का उत्तम पुट-परिपाक है। फिर, इस वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि सामान्यत. नायिका में कामातिरेक तथा कामदशाओ का चित्रण किया जाता है, किन्तु यहाँ पर नायक में कामदशाओ का स्फुरण दर्शाया गया है, जो सूफी प्रभाव न हो कर सामन्तीय जीवन का यथार्थ रूप है। यथार्थ में वियोग के अतिरेक में इस प्रकार की अवस्थाओ का होना स्वाभाविक है, क्योकि जब मन पर मनुष्य का नियंत्रण नही रह जाता तब उस की जो भी स्थिति संभव हो सकती है घट सकती है। काम की उक्त अवस्थाएँ शास्त्रविहित हैं, जिन के नाम है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण।[1]

रस-निर्णय

"जिनदत्तकथा" अपभ्रंश-साहित्य का मधुर कथाकाव्य है, जिस में रतिभाव की प्रधानता है। प्रथम सन्धि से ले कर छठी सन्धि तक सम्भोग या विप्रलम्भ शृंगार अतिशयता से वर्णित है। काम की विविध दशाएँ, सम्भोग एव रति-क्रीड़ा, वन-विहार, चार कन्याओ का पाणिग्रहण, तीन पत्नियो का वियोग में सतप्त होना और माता का विरह तथा भोग-विलास के वर्णन से स्पष्ट है कि इस काव्य में शृंगार की मुख्यता है। शृंगार के दोनो पक्षो का विविध भावानुभावो एवं संचारी भावो से सवलित विशद वर्णन हुआ है। किन्तु सातवी और आठवी सन्धि में तीनो लोको का वर्णन तथा नवी सन्धि में पूर्व भव का वर्णन है। दसवो और ग्यारहवी में धर्मोपदेश तथा तपश्चरण का वर्णन है। अतएव ग्रन्थ का पर्यवसान शान्तरस मे ही हुआ है।

शृंगार और शान्त के अतिरिक्त बीभत्स, भयानक, अद्भुत, रौद्र और वात्सल्य तथा करुण विप्रलम्भ की सप्रसग योजना हुई है। वीर रस अवश्य इस काव्य मे नही मिलता। यदि मानना ही पड़े तो हाथी को वश में करने तथा साँप को मारने आदि के जिनदत्त के साहसिक कार्यों को वीर रस में गिन सकते हैं, जिन मे स्थायी भाव उत्साह और अनुभाव पुलक रूप में लक्षित होता है। इस प्रकार इस रचना में प्राय सभी प्रकार के भावानुभावो तथा रसो का समावेश हुआ है।

बीभत्स का उदाहरण—

घोरघार दियवउ असुहावणे करयरंत कायउल अमणहरे सलवलंत पलदल-
चल दुहयरे।
दियदियउवरं तावलि लुलियए सिमिसिमत किमिकुल चलवलियए।
भूभमंत भेरुंड भयंकरे सडिय मास गधें असुहकरे।

1. अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा॥ साहित्यदर्पण, ३, १९०।

फिक्करंत जरसिव कयणीसणे दर वुक्कंत भसणा भरभीसणे ।
पलगिलंत गोमाउ भिडंतए रत्तणित्त वेयाल णडंतए ।

रौद्र का उदाहरण—

रे रे णिच्चव असच्चसंघ अपयड णिकीड जड वीड खंध ।
किल्लिल्लकलंककिलित्तगत्त अहुणा विहुणा विणडिउ कुवत्त ।
जेणेह तरहि रेव वारिरासि अम्हारउ तें ते कहउ आसि ।
सक्कुवि असक्कु इह सिंधुणीरे जलकील करहु संकइ गहीरे ।
अहवा एवहि तुहुं विहिवसेण दिट्ठउ उद्दिट्ठए अह रिसेण ।

यहाँ पर जिनदत्त का उग्र वचनो में ललकारना, हाथ-पैरो का फेंकना तथा विद्याधर का रोष दिलाना आदि भावानुभावो से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है ।

अद्भुत का उदाहरण—

पलोइऊण तं कुमारु कि सुरो किमेहु किण्णरो हि किण्णरो वरो ।
कि भंगवंतु कामदेउ भव्वहो कि रायउत्तु दिव्ववत्तु सव्वहो ।
कि सूलपाणि दिव्ववाणि भासओ कि भगु वंगु धम्मसंगु सासओ ।
कि खेयरिंदु दित्ति कंदु सुन्दरो किमेहु पत्तु सोहए पुरंदरो ।

उक्त पंक्तियो में जिनदत्त को देख कर सार्थवाह के विस्मय एवं आश्चर्यचकित होने का वर्णन है । उस के कान्त रूप को देख कर वह इतना स्तम्भित हो गया है कि ठीक से समझ ही नही पा रहा है कि यह मानव है या विद्याधर, किन्नर या अन्य कोई । इसी प्रकार जिनदत्त के कौतुको को देख कर जहाँ चम्पा नगरी के सभा-जनो को अचंभा और विस्मय होता है वहाँ भी अद्भुत रस का संचार हो जाता है ।

भयानक का उदाहरण—

उण्णयकुंभत्थलु सुथिरणयणु सिक्कार धारिलव भरिय गयणु ।
अविहडहाडय वेयडिय दंतु दुद्दरिसणु भीसणु णं कयंतु ।
पायडिय णिविड अविहड मडप्पु पयचय चप्पिय फणिफण कडप्पु ।
णिट्ठविय सयण णिट्ठुर सहाउ गयमत्ततुगु णं जसु समाउ ।
कपाविय पाणीयणु भयपाणीधणु सुहडुप्पाइय खोहउ ।
विसरिस वइवसलीलउ मारणसीलउ लुट्ठाविय मणु वोहउ ॥

इन पंक्तियो में हाथी के बिगड़ने का वर्णन है । कवि ने उस का विकराल एवं भयंकर चित्र अभिव्यजित करते हुए कहा है कि दृढ सोने की साँकलो से बँधा होने पर भी वह ऐसा चिघाड रहा था तथा सीत्कार कर रहा था कि पानी की बूँदो से गगनतल भर गया था । यहाँ कंप, स्तम्भ, रोमाच तथा सत्रास आदि भावानुभावों से भयानक रस परिपुष्ट एव अभिव्यक्त है ।

वात्सल्य का उदाहरण—

पेच्छेवि ससूणु वणिजीवदेउ उच्छंगि लेइ आणंदहेउ ।
सहजाय कुडिलकुंतल जडिल्लु धूलीधूसरियावयकडिल्लु ।
का एवि तोसाविउ वियसियासु काएवि वोल्लाविउ गुणणिवासु ।
कवि चामीयरमउ कीरु मोरु अप्पइ वालहो जणचित्तचोरु ।
सोवंतहो तहो णिरु कावि राम ठिय पासे चमरकर कय सणाम ।
णियपयहत्थंगुट्ठउ दुहरसणट्ठउ अवलेहइ जीहाए सिसु ।
वालु वि अतुलिय वलु कणयसमुज्जलु जसरसपसरण भरिय दिसु ॥

यहाँ पर वालक की स्वाभाविक चेष्टाओ में तथा माता-पिता के हृदय में वच्चे के प्रति स्नेहानुराग में जिन भाव-विभावो की योजना हुई है उन से स्पष्ट ही वात्सल्य की प्रतीति होती है ।

इस काव्य में विभिन्न रसो की योजना होने पर भी मुख्य रूप से शृंगार और शान्त दो ही रसो की अभिव्यंजना हुई है । यद्यपि रचना का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है और बीच-बीच में शान्तरस को उद्‌बुद्ध करने वाली घटनाओं की संयोजना हुई है, किन्तु प्रधान रस शृंगार है । सामान्यत. यह कहा जाता है कि काव्य का जिस रस में पर्यवसान हो वही मानना चाहिये । और फिर यह भी विचारणीय है कि बीच-बीच में कवि उसे अभिव्यक्त करता रहा है या नही ? वास्तव में ये दोनो ही वाते रस का निर्णायक तत्त्व नही कही जा सकती । क्योकि कभी कभी घटनाएँ अप्रत्याशित रूप से ऐसी घटित होती हैं कि वे हमारे मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है । भले ही कालांतर में हम उस घटना को भूल जायें, पर उस का प्रभावकारी चित्र स्थायी रूप से अपनी छाप बनाये रखता है । क्यो कि सारी घटना का दृश्य उस एक चित्र से लिपटा रहता है । इसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति सामाजिको के मन में होती है और उन के जिन-वासनात्मक भावो को उद्दीप्त करने में जो रचना प्रेरक होगी तथा जिस स्थायी भाव के अनुगत उद्दीप्त भावानुभाव होंगे उस रचना में प्रभावाभिव्यंजना के रूप में वही रस मुख्य होगा । उदाहरण के लिए, जि० क० में जिनदत्त के यौवन की देहली पर पैर रखते ही कवि निर्वेद भाव को प्रदर्शित करता है, जो वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से काम भाव का ही सूचक है । नही तो जो वालक किशोर वेश्याओ के हाव-भावो से मुग्ध नही होता। वह चित्र में देखी हुई कन्या पर कैसे मुग्ध हो सकता है ? और फिर इतना ही नही, काम की सभी अवस्थाओ को उसे पार करना पडता है । अतएव कवि ने रति भाव को ही इस रचना में प्रधानता दी है । शृंगार के दोनो पक्षों के चित्रण में कवि की रागात्मिका वृत्ति अतिशयता से रमी है । शान्त रस को व्यक्त करने वाली घटनाओं को चलता हुआ व्यक्त किया है । वियोग का जितना वर्णन है उतना साध्वी का उपदेश नही है । वहाँ केवल आँसू ही पोछे गये हैं । कलेवर की दृष्टि से भी दो-तिहाई रचना संयोग-वियोग के आवर्तों में झूलती हुई दिखाई देती है । समूची रचना को पढने पर राग का

ही लेप मन पर भलीभाँति चढ जाता है। और तब यही लगता है कि मार्मिक भावना से काव्य का अन्तिम अंश ऊपर से जोड दिया गया है। मूल रूप में तो यह एक प्रेमकथा के रूप में ढली हुई है। भले ही कवि ने उस में अपनी शिष्ट एवं सस्कृत रुचि से कुछ हेर-फेर कर दिया हो। अतएव काव्य को पढने पर पाठक के मन में रचना के जिन गभीर संस्कारो से रस की स्थायी दीप्ति होती है वह शृंगार है, रतिभाव है और इस लिए इसे शृंगार प्रधान कथाकाव्य माना जा सकता है।

चरित्रचित्रण

जि० क० में जिनदत्त का चरित्र ही मुख्य है। यद्यपि वह श्रेष्ठीपुत्र है, पर उस का चरित्र राजकुमार का है। बचपन से ही कुमार विचक्षण और कलाकोविद् दिखाई पडता है। उसका लोक-जीवन कामरस से भरित तथा काम का प्रसार करने में विलक्षण निपुणता से युक्त है। किन्तु इस के साथ ही वह विनयी और सदाचारी भी है। माता-पिता और देव तथा गुरु में उस की भक्ति है। शिष्टाचार के पालन में वह सावधान है। पिता के समझाने पर वह मान जाता है और उपदेश का पालन करता है। मुख्य रूप से कवि ने जिनदत्त को साहसी, धीर-वीर और संयमी के रूप में चित्रित किया है। कथानुबन्ध से विदित है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की व्याप्ति का यथार्थ रहस्य जि० क० में लेखक ने अभिव्यक्त किया है। जीवन को सुखी बनाने के लिए नायक अर्थोपार्जन के लिए परदेश जाता है। वहाँ विभिन्न संकटो को झेलता है। पूर्व जन्म का पुण्य होने से विपत्तियाँ उसे वरदान देती हैं। वह जहाँ भी जाता है सिद्धि उस के हाथ लगती है। लक्ष्मी और सपत्ति दोनो ही वह प्राप्त करता है। किन्तु अच्छी तरह सुखोपभोग कर लेने पर अन्तिम अवस्था में गृह का त्याग कर कामोपभोग की भाँति घोर तपस्या कर स्वर्ग-श्री को वरण करता है। इस प्रकार जीवन के दोनों पक्षो का यथार्थ रूप प्रदर्शित कर कवि ने भारतीय जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत किया है।

स्त्री-चरित्रो में सब से अधिक हमें श्रीमती प्रभावित करती है। यद्यपि सभी स्त्री पात्र सदाचारी, विनयी, संयमी और शिष्टाचार का पालन करने वाले हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। जिनदत्त की माता जहाँ शान्त और सीधे स्वभाव की है वही विमलमती गम्भीर और लावण्ययुक्त है। वह स्वभाव से मधुर और कोमल है। परन्तु श्रीमती स्वभाव की खरी और असहिष्णुता से युक्त है। लेकिन वह असंयत तथा स्वच्छन्द नही है। उस की बुद्धि विवेक के अंकुश से अनुशासित है। अतएव उसमें समय के अनुकूल गम्भीरता भी लक्षित होती है। यद्यपि शृंगारमती सभी पत्नियो में अधिक विदुषी और विद्यानिधान है, पर उस का व्यक्तित्व उतना प्रभावशाली नही है जितना कि श्रीमती का है। वह जिनदत्त को भी भली-भाँति नही पहचान पाती। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि वह उसके गुणो से परिचित नही थी। केवल उस के

रूप पर ही वह रीझ सकी थी। किन्तु श्रीमती उस के गुणो से भी प्रभावित थी। यही नही, जिनदत्त ने उसे जो कुछ बताया था, समझाया और सिखाया था उसे उस ने अच्छी तरह गाँठ में बाँध कर रख लिया था। संकट काल में उस के मर्म को वह अच्छी तरह गुनती है। यही उस के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है।

धनपाल की भविष्या और लाखू की श्रीमती की तुलना

भ० क० में वर्णित भविष्यानुरूपा और जि० क० मे उल्लिखित श्रीमती समान परिस्थितियो को तथा संकट को झेलती हुई दिखाई देती हैं। दोनों ही परम सुन्दरी और द्वीप की निवासिनी हैं। यदि भविष्यानुरूपा तिलक द्वीप की रहने वाली है तो श्रीमती सिंहलद्वीप की। दोनों ही किसी न किसी आधि-व्याधि से पीड़ित होकर एकान्त में वहाँ रहती हैं। कुमार भविष्यदत्त तिलक द्वीप में और जिनदत्त सिंहल द्वीप में पहुँच कर उन्हें आधि या व्याधि से मुक्त करते हैं। उन के पुरुषार्थ के पुरस्कारस्वरूप उन कुमारो में से भविष्यदत्त की भविष्यानुरूपा से और जिनदत्त की श्रीमती से गाँठ बँध जाती है, धूम-धाम से विवाह हो जाता है। दोनो ही कुमारियो के लिए भारतवर्ष नया था। वे अपने पतियो के साथ समुद्र में पोत में बैठ कर नये देश को देखने की लालसा से आगे बढ़ती हैं। भविष्यानुरूपा यह जानने की अभिलाषा प्रकट करती है कि मेरे सास-ससुर कहाँ रहते हैं? उस के इस कथन से माता-पिता की स्मृतियाँ कुमार के मन में सजल हो आती हैं। वह घर चलने का प्रस्ताव रखता है। जिनदत्त भी ससुर और पत्नी के समक्ष भावभीना निवेदन प्रकट करता है। दोनों ही नायक प्रतिनायक की धूर्तता से छले जाते हैं। छले जाने का मुख्य कारण विवाहिता सुन्दरी का रूप-सौन्दर्य होता है। भविष्यदत्त यदि भाई के छल से समुद्र तट पर छोड दिया जाता है तो जिनदत्त को धर्म-पिता सागरदत्त समुद्र में किसी प्रकार उतार देता है। ऐसी स्थिति में दोनो सुन्दरियों के सामने प्रतिनायको के लुभावने प्रस्ताव रखे जाते हैं। वे अत्यन्त धर्म संकट में पड जाती हैं। किन्तु विवेक से संयमित हो अपने शील की रक्षा करने में समर्थ होती है। पहले तो दोनों ही प्रतिनायक को उपदेश देती है, पर बाद में यह विचार कर कि मैं यहाँ अकेली हूँ और पतिदेव तो अब कदाचित् ही मिलें—हाव-भाव दिखा कर भविष्यानुरूपा एक महीने की और श्रीमती छह महीने की अवधि माँगती है। दोनो के ही शील के प्रभाव से जलदेवता प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार परिस्थितियो और घटनाओ में समानता होने पर भी दोनो के व्यक्तित्व मे स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

भविष्यानुरूपा जहाँ अपने विरह में मौन रहती है वहाँ श्रीमती मुखर है। उस में संकल्प-विकल्पो के विविध आवर्तों के मध्य नारीसुलभ निपुणता और मधुरता का सुन्दर योग है। वह भविष्यानुरूपा की भाँति विरह में डूब नही जाती है, वरन् अपने विचारो से कर्तव्य बुद्धि को जाग्रत बनाये रखती है। श्रीमती में जहाँ तर्क-वितर्क है

वहाँ भविष्या संवेदनशील है। वह अपने विचारो में खो जाती है, भोजन-पान तज देती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी श्रीमती प्रत्येक बात का विचार करती है। वह मन ही मन कहती है कि अभिनव यौवन के कारण मुझे कलंक लग ही गया। मैं क्यो न इस से यह कह कर अपनी रक्षा करूँ कि छह महीने तक जब तक पतिदेव की मृत्यु की क्रिया-विधि संपन्न नही हो जाती तब तक मैं विलास नही करूँगी। ऐसा ही कह कर वह सागरदत्त के प्रति हाव-भाव प्रकट करती है। वह उस की कुमति का विचार कर बार-बार मन में संतप्त होती है। किन्तु अपनी परिस्थिति और विवशताओ में अवशता को भली-भाँति जानती है और इसी लिए सागरदत्त के चंपापुरी के राजा को भेंट देने के लिए चले जाने पर वह चैत्यालय की ओर चल देती है।

श्रीमती मे तर्क-वितर्क अधिक है। जब वह सागरदत्त को उपदेश देती है और रावण का उदाहरण देती है तब वह कहता है कि पाचाली ने पाँचो पाण्डवो को कैसे पति बनाया था। किन्तु उस के इस तर्क से वह हारती नही है, वरन् तुरन्त प्रत्युत्तर में कहती है कि तुम जैसे दुराचारी का क्या विश्वास? कोई भी बुद्धिमती स्त्री पर पुरुष का विश्वास नही करती। उस के इन तर्कों को सुन कर सागरदत्त बिलकुल नम्र बन जाता है और असमर्थता एवं काम-व्यथा को प्रकट करने लगता है।

इस प्रकार दोनो के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर लक्षित होता है। दोनो कवियों की वर्णन-शैली में भी अन्तर है। धनपाल की शैली जहाँ समासप्रधान है वहाँ लाखू की व्यासमूलक। अतएव जि० क० में प्रत्येक वर्णन विस्तार के साथ मिलता है, किन्तु भ० क० में सक्षिप्त है। परन्तु गम्भीरता दोनो में है। लगता है कि श्रीमती में कही-कही कुछ चाचल्य है, पर उस में स्वैरता न होकर भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। और अपने इस व्यक्तित्व तथा स्पष्टवादिता के कारण वह सपत्नियो में सब से अधिक प्रभावशालिनी है।

सवाद-योजना

जि० क० में नियोजित कई मधुर संवादो की मालाएँ एक के बाद एक शोभायमान लक्षित होती हैं। इन संवादो में मुख्य हैं—सार्थवाह-जिनदत्त-संवाद, मालिन-जिनदत्त-संवाद, श्रीमती-जिनदत्त-संवाद, राजा धनवाहन-जिनदत्त-संवाद, खेचर-जिनदत्त-सवाद, राजा-जिनदत्त-संवाद इत्यादि। ये सभी सवाद साहित्यिकता से ओतप्रोत शिष्टता लिये हुए है। भाषा ललित तथा सानुप्रासिक है। इसलिए इन को बार-बार पढने को मन करता है। उदाहरण के लिए—

> कुलमडण रिउखंडण को तुहुं कहिं कुलि जायउ।
> भो कुच्छर णिम्मच्छर कहहि कहो इह आयउ॥
> सुणेवि वोल्लिउ सत्थवाहस्स, आहासइ कुम्वरगुरु सुणु वणीस।
> हउं इत्थ पत्तउ भो वप्प कोऊहलेण, जत्थ तत्थ महियलि भमतउ।

इसी प्रकार कही-कही संवाद सरल और मधुर हैं। यथा—

तिणि पुच्छिय जणणिए सच्चुव कहिं।
किं कंदहिं को तुहु मज्झु भणु, ता जंपइ थेरि वित्तंतु सुणु।

इस काव्य में संवादो के बीच में वर्णन भी चलते दृष्टिगोचर होते हैं, जो वातावरण तथा चित्र को अंकित करते चलते हैं। जैसे कि—

विणिवरी सा थेरी रोवंती विभलमुह अइ दीणी।
विद्दाणी तणु झीणी तज्जिय सुहा॥

तथा—

एवमेव कंपए ताव थेरि जंपए
पुत्त वामु दाहिणो भिण्णुनेव लोयणो
जाम्व मेरुसायरो जाणहे दिवायरो
जा विहावरीयरो जा धराधराधरो।

इस प्रकार अधिकतर संवाद अलंकृत हैं। उक्त उदाहरण में संवाद गीतिशैली में तथा वर्णन के मध्य निहित है। वस्तुतः इन संवादो में कवि की वैयक्तिकता की छाप लगी हुई मिलती है और इसीलिए कही-कही संवाद वर्णन के अन्तर्गत मिलते हैं। ये संवाद दो जनो के वार्त्तालाप से आरम्भ हो कर वर्णन के अंग बन जाते हैं और बीच-बीच में तथा अन्त में संवादो के साथ पूर्ण होते दिखाई पड़ते हैं। कही-कही संवादो के बीच घटित घटनाओ की संक्षेप में आवृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए, सिंहलद्वीप में तथा चम्पापुरी में राजा के परिचय चाहने पर जिनदत्त पूरी कहानी कहता है। इसी प्रकार मालिन सिंहलद्वीप के राजा राजकुमारी का वृत्तान्त सुनाती है। कही-कही संवाद अत्यन्त मधुर तथा सरस है। यथा—

वरु पिक्खिवि सुंदरि लवइ एम्व।
हे सुहय कासु सुउ केण जाउ हो भणइ वीरु परएस आउ।
सायरु लंघेवि इह दीउ पत्त ता दिट्ठु एक्क थेरिय रुयंति।
पुच्छिय अक्खिउ तिणि एक्कु पुत्तु सो भवखेसइ पहुसुय णिरुत्तु।
तहो दीणत्तणु णिसुणेवि चित्तु कंपिउ सजीवयव्वहो विरत्तु।
तहँ दिण्ण वाय तुहं सूण ठाए जाएव्वउ मइं मा रुयहि माए।
ता सुंदरि जंपइ णियमणि कंपइ वयहिं वयहि परएसि णर।

वस्तुतः संवादों में कथा की आवृत्ति लगभग सभी कथाकाव्यों में मिलती है, जो लोककथा की विशेषता है। लोग कहानी कह चलते हैं और सुनने वाला सुनता हुआ हूँका भर चलता है या बीच-बीच में पूछता हुआ संवादो का आनन्द प्राप्त करने लगता है। अतएव इन संवादों में कथा का सा आनन्द मिलता है। संवाद अलंकृत होने पर भी नीरस नही हैं। उन में भाव-धारा एवं रस ओतप्रोत है। यथा—

तं णिसुणेवि पडिजंपियउ जिणयत्ते कण्णहि पियउ ।
ते वयणाउवि णीसरिउ मइं अवलोइवि संचरिउ ।
हउं ण मुणमि मणिमंडियए सालंकार करडियए ।

तथा—

- सोऊण सोवि दीहुरवसास मोत्तूण भणइं संजणिय तास ।
छम्मासे मेर परूवरासि वट्टु दियहावहि कय महुरमासि ।

इसी प्रकार—

तो वणीसु पहसिय सुवत्तउ ।
भणइ भद्दि भीमाउ मेल्लही मह समेउ सहसत्ति वोल्लही ।
सुणेवि रायउतोइ उत्तउ वज्जसंख लोवमु पवत्तउ ।
अत्थि वाय वंधणु जयतरे माम कहउ ते दुह णिरंतरे ।
आसि मज्झु पुरउ णिरुत्तउ ते तणूरुहेणे हु उत्तउ ।
सुसुरु होइ ते सत्थ पुंगमो सत्थवाहु सुह सहरसो इमो ।

सक्षेप में, प्रसंगत संवाद अलंकृत, सरस तथा वचन-चातुरी से युक्त हैं। ऐसे स्थल क्लिष्ट होने पर भी नीरस नही हैं।

भाषा और शैली

जि० क० की भाषा साहित्यिक तथा संस्कृत से प्रभावापन्न है। कवि की शब्द-योजना तथा वन्व गुण, रीति और रस के अनुकूल है। कही-कही तो ऐसा लगता है कि सस्कृत की किसी अलंकृत रचना को पढ रहे हो। विशेष कर वर्णनो में कवि ने सालंकार तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। इस का कारण यही जान पडता है कि तेरहवी शताब्दी के पूर्व ही संस्कृत ने साहित्य में आदर्श मान स्थापित कर लिया था। अतएव जो भी उत्कृष्ट काव्यात्मक रचना प्रसूत करना चाहता था उसे सस्कृत भाषा तथा साहित्य में कुछ न कुछ अवश्य विचार करना पडता था। प० लाखू की रचना में दो बातें मुख्य हैं—समासप्रधान शब्दावली का प्रयोग तथा अलकृत भाषा की रचना। उदाहरण के लिए—

कलकलामलकिसरकलियगे सुच्छदमयरंदमए भद्दसद्दसद्दलदलालए ।
पयपसर पफुल्लियए सिरिसमाससुविसालणालए । १०,१ ।

स्वय कवि ने स्वीकार किया है कि कथाकाव्यकमल में समास रूपी विशाल नाल शोभायमान हैं। (१०,१) किन्तु जहाँ कवि ने पाण्डित्य प्रदर्शन किया है वही मधुर एवं ललित रचना की है, जिसे पढ कर छोड़ने को मन नही चाहता। यथा—

कय मणहर महुरसर पियालउ चंदणतिलय वहल अलयालउ ।
मणहरु हरिय सयल विलयासउ विसयसुक्ख संपत्ति पयासउ ।

परयण तावहारि सुविसालउ पयडिय अविरलच्छाउ विसालउ।
णवघणसारपक्ख उवलक्खिउ अभयायरस मिल्लु पोमक्खउ। ६,२०।

यहाँ पर कवि ने श्लिष्ट प्रकृति-वर्णन किया है। अतएव कई शब्द द्वयर्थक है। जैसे कि—पियालउ—प्यारा, कोयलों को प्रिय, चौक (चौराहा) से युक्त (कोकिलाप्रिय-चतुष्कयुक्त.), अलयालउ—केशो से युक्त, चारो ओर से लताओ से घिरा हुआ—स्थान (आ समन्तात् लतास्थानं), विसयसुक्ख—विषयसुख, सुखदायक सैकड़ो पक्षी (पक्षिशत-सुखप्रकाशकं, वि—पक्षी), सुविसालउ—विशाल धर्मस्थान, लक्ष्मी के घर, णवघणसार—कपूर, कपूर के वृक्ष, अभया—भयरहित, हरड़, पोमक्खउ—कमल जैसी आँख वाली कमलककडी,[1] इत्यादि।

वस्तुत आलोच्यमान काव्य में संस्कृतनिष्ठ, प्रभावापन्न, संस्कृतभ्रष्ट, देशी, प्राकृत तथा लोकबोलियो के भी नाम-रूप मिलते है। विषय के अनुकूल भाषा, छन्द, रस, रीति, गुण तथा अलंकारो का प्रयोग कवि की विशेषता है। भ० क० की भाषा से इस में वहुत अन्तर मिलता है। कुछ शब्दो को देख कर तो यह भ्रम होने लगता है कि कवि ने जानवूझ कर संस्कृत के शब्दो को तोड-मरोड कर अपभ्रंश बनाया है। जैसे – कि – फग्गु – स० फल्गु (व्यर्थ), दीहियइ – दीर्घिका, छम – छद्म, विडोउ विडौजा (इन्द्र), सारय – शारद, मेंढु – मेण्ठक, दच्छा – दक्ष, वहूव – बभूव, उवायण – उपायन, सभंत – संभ्रान्त, अव्वुवा – अन्नुवाणा आदि।

कई ऐसे अप्रसिद्ध शब्द हैं, जिन का आज की सस्कृत में व्यवहार ही नही होता, पर वे किसी न किसी रूप में इस रचना में समाविष्ट हैं। दूसरी ओर देशज शब्दो की भी कमी नही है। कुछ शब्द हैं – तलवाय – तलवा (पदतल), वोरी – वेर, सडिय – सड़ा हुआ, घास, खलुव्व – खलिहान, दाइज्जउ – दायजा, वीडी – पान का वोडा, सेहरु – सेहरा, आरत्तिउ – आरती, माम – पिता (ससुर), कोसाल – भाण्डागार, छाउ – छाछ, वद्धावय – बधावा, कमढ – क्वाथ, तच्छेर – आश्चर्यकारी इत्यादि। रचना में अनुकरणात्मक शब्दो की भी प्रचुरता है। यथा – करयरंत, सलवलंत, सिमिसिमत, कढकढकढंत, कडकडत, किल्लि, विल्लि आदि।

तेहिं पिहु पिहु जि पच्चारि संगामिओ पय मलिउ दलिउ पडिखलिउ दिब्भामओ।
खिल्लिपिल्लिउ भल्लि सरसल्लिउ अइकरालोल कीलालखालुल्लिउ।
खुडेवि समोडिउ तोडिउ जोडिउ फाडिउ धाडिउ पाडिउ चवडिउ।
वंधिउ खचिउ खुचिउ कुचिउ तलियउ गलियउ गालिउ लुंचिउ।
पिट्टिउ वट्टिउ खुंटिउ लुटिउ हुणियउ वणियउ खणियउ धुणियउ।
अयणु जुत्तीए कत्तीए उक्कत्तिउ णिसियधाराए करवत्तकरवत्तिउ।
वधिउ रुंधिउ खधिउ सुंभिउ थभिउ गंभिउ मारिउ रुंभिउ। (१०,७)

१. पद्मबीजे तु पद्माक्षं, पद्मकर्कटिकेत्यपि। अभिधानचिन्तामणि, २२१६।

एक स्थान पर कई क्रियापदो का एक साथ प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि — दलिउ, पिल्लिउ, खुडउ, समोडिउ, तोडिउ, जोडिउ, फाडिउ, वाडिउ, पाडिउ, चवडिउ, वधिउ, खचिउ, खु चिउ, कुंचिउ, तलियउ, गलियउ, गालिउ, लुंचिउ, पिट्टिउ, वट्टिउ, खुटिउ, लुटिउ, हुणियउ, वणियउ, खणियउ, धुणियउ, वंचिउ, रुधिउ, खंधिउ, सुंभिउ, थंभिउ, गभिउ, रुभिउ, मारिउ इत्यादि। अपभ्रंशरचना में प्राय. सन्धि-निर्वाह वहुत कम देखा जाता है। किन्तु प्रस्तुत रचना में सन्धियो की वहुलता है। उदाहरण के लिए — सिग्घिट्टियउ, सत्थेसहो, उक्कुक्कुरिय, वालुव्विव, दीहरालि, णिच्चमेव, सिज्जासण्णु, परस्सासुमंचे, दीवच्छवि, गयणंगण, एक्कुवि, दीहत्तोहय, भिण्णावयास, घरच्छवयाण आदि। इसी प्रकार समास-रचना की अतिशयता इस काव्य में दिखाई देती है। समूचा काव्य विविध छन्दो में अनुवद्ध होने पर भी वन्ध की दृष्टि से पद्धडिया में निवद्ध है। कवि ने स्वयं कहा है कि इसे मैं ने पद्धडिया में प्रकट किया है।[1] स्पष्ट ही यह ग्रन्थ अपभ्रंश की ख्यात प्रवन्ध शैली में वर्णित है। यह काव्य चार हज़ार श्लोक-प्रमाण है।[2] शैली और भाषा पूर्णतया भावो के अनुकूल है। रौद्र रस में कवि ने विकट-वन्ध तथा शृंगार में प्रसाद एवं मधुर की योजना की है। यथा—

मरुधुव धुव्विर धयधवल चल खणखण खणंत किंकिणि जुवहिं।

एक ही पंक्ति में विवाह के अवसर पर मागलिक कार्यों में व्यस्त युवतियो का विम्व आँखो के सामने घूम जाता है। पवन से कपित चंचल ध्वजा-पताकाएँ भी शब्दों में कांपती हुई-सी लक्षित होती हैं। कवि की भाषा और शैली का ही यह चमत्कार है कि दृश्य के दृश्य चंचल चित्रों की भाँति अपना अमिट प्रभाव पाठको के मन पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार भाषा और शैली की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कोटि की रचना है। इस में लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ, अप्रस्तुत-विधान, शब्द-चित्र आदि बहुत कुछ मिलता है। भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्ति से भी यह सम्पन्न है। कही-कही प्रतीको का प्रयोग भी हुआ है। अतएव सभी दृष्टियो से रचना वढिया है।

अलंकार-योजना

अलकार-विधान में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अलंकारो के चमत्कार से तथा छन्दो की विविधता से समूचा काव्य भरा पड़ा है। शब्दो की संश्लिष्ट-रचना तथा उक्ति-वैचित्र्य में कवि का वैभव पंक्ति-पक्ति मे फूट पड़ा है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इतनी प्रौढ कृति दूसरी नही मिलती। काव्य का प्रारम्भ ही यमक-रचना से होता है। अनुप्रास तो पद-पद पर मिलता है। यमक और अनुप्रास के प्राय सभी

---

१ पद्धडियावंधें पायडत्थु आइहि जाणेज्जसु सुणयसत्थु।
मयलइं पद्धडियइ एइ हुति सत्तरिणवजुदमयदुण्णि सति। अन्तिम पुष्पिका, ३

२ एयहो गथहो सहसइ चयारि परिमाणु मुणहु अक्खरवियारि।
हउ मुक्खु णिरक्खरु खलियलज्जु णवि जाणमि हेयाहेया कज्जु॥ वहीं॥

भेद एवं प्रकार इस काव्य में दिखाई देते हैं। यद्यपि आलोच्यमान रचना में वाक्य-न्यायमूलक, लोकोक्तिमूलक, विरोधमूलक तथा औपम्यमूलक आदि अलंकारो के विविध रूप दृष्टिगोचर होते है, पर मुख्यता सादृश्यमूलक अलंकारो की है। सादृश्य में गुण, धर्म, रूप, क्रिया तथा बिम्ब का साम्य लक्षित होता है। अतएव भावो के चित्र-विधान में उन का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकार ही प्रबन्ध-रचना में सहज विधान में अनुस्यूत देखे जाते हैं। जि० क० में निम्नलिखित अलंकार मुख्य हैं:—

भूहरधारोवि ण परमसेसु पइपेसिणुवि ण तियरइ विसेसु।
बहु खित्तंकिउवि ण जंबुदीउ जडमाणसवंतुवि पर ण णीउ। (विशेषोक्ति)

यहाँ पर अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है। क्योकि कारण के रहते हुए भी कार्य का अभाव है और वह कार्य अचिन्त्य है। कारण है कि राजा चन्द्रशेखर भूधर यानी पृथ्वी को धारण करने वाला होने पर भी शेषनाग नही था। पतियो का पोषण करने पर भी स्त्री की रतिविशेष से हीन था। अनेक क्षेत्रो वाला होने पर भी जम्बूद्वीप नहीं था। मूर्खजनो का शत्रु होने पर भी नीच नही था। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर द्रष्टव्य है—

जणसंतावहरुवि पर ण मेहु पालिय संजमु वि ण मुक्क गेहु।
विमलोहयपक्खु वि पर ण हंसु सयलकलालउ वि ण सीयरंसु। (विशेषोक्ति)

छंदवंती सुलक्खणगुणो धारिणी सक्कई कव्ववित्तीव मणहारिणी।
रायहंसाणपंतीव थिरगामिणी लोयसंतोसयारिणिय णं सामिणी॥ (उपमा)

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो कि सामिणीसु सोहए हयासुरो।
कि सुखपथु दिव्वगंथु संवरो कि पंत्तइल्लु कप्पवित्थु धीवरो।
कुवेरु एहु कि सुमेहु घणओ कि पुण्णिमो सुहीसु तेयपुण्णओ।
कि णिप्पपंचि किं विरंचि कुच्छरो कि रामएउ कंतउ णिमच्छरो। (सन्देह)

जिनदत्त को देख कर यहाँ सार्थवाह सागरदत्त को शंका हो रही है कि यह राजपुत्र है अथवा किन्नर, विद्याधर या अन्य कोई। अतएव भेदोक्ति सन्देह है।

विद्दुम विवारुण अहरसोह णं कामें दाइय ररसोह। (स्वरूपोत्प्रेक्षा)

विणु धणेण किरिया ण वट्टए विणु धणेण धम्मु ण पयट्टए।
विणु धणेण मित्तहं ण भावए विणु धणेण सोहा ण पावए। (विनोक्ति)

सिसु पाडल भंतिए लपडउ कायहो ण वियारइ घूयडउ।
जोण्हाजले ण जग खालियउ सीययरहिं सुहियणु लालियउ। २,१६
(भ्रान्तिमान्)

अर्थात् चाँदनी से जग का प्रक्षाल हो जाने पर शीतलता से लालित सज्जन शान्ति का अनुभव करने लगे। किन्तु शिशु पडने वाले प्रतिबिम्ब को पाटल समझ कर लपकने को दौड़े। उलूक कौओ को हंस समझ कर विदारने नही लगे।

मे हरि एक्क तणुउ सुव गुणणिहि अंधहि जट्ठि धारओ। (लोकोक्ति)

इस में अन्धे को लाठी का सहारा नामक कहावत प्रयुक्त है।

दुण्णयणय चक्कासणि सचक्क पणवेवि चक्केसरि णयणिचक्क। (यमक)

करे करे संचरइ सुवण्णधामु वालुवि जायउ पायडिय णामु।
हल्लर हल्लर हल्लर सरेहिं णरणाहविलासिणि सायरेहिं।
(स्वभावोक्ति)

इन के अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, समुच्चय, उदात्त आदि अलंकार जि० क० में मिलते हैं। कही-कही पउमचरिउ और महापुराण की भाँति अलकारो की झड़ी दिखाई पडती है। पहली ही सन्धि में उत्प्रेक्षा (१,१७) और उपमाओ की लडी की लडी मिलती हैं (१,१५)। वस्तुत. श्लेष, यमक, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों से समूची रचना भरी पडी है। आदि, मध्य, श्रुति, वृत्ति, छेक तथा अन्त्यानुप्रासो से यह अत्यन्त समृद्ध है। यमक में भी आदि, मध्य और अन्त पादगत अनेको उदाहरण मिलते है। यथार्थ में अन्त्यानुप्रास और यमक अपभ्रश-कविता की अपनी निजी विशेषता है, जिस का उसे गौरव है। इस का सब से बढिया उदाहरण प्रस्तुत काव्य कहा जा सकता है।

छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जि० क० का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रश के कथाकाव्यो में इतने अधिक छन्दों का किसी एक रचना में प्रयोग नही मिलता है। उपलब्ध अपभ्रश-साहित्य में सब से अधिक छन्दो का प्रयोग 'सकलविधिविधान काव्य' में देखा जाता है। अपभ्रश के कवियो ने अधिकतर मात्रिक छन्दो का प्रयोग किया है। ये छन्द नाद, श्रुति, ताल, लय एवं देशी धुनो से समन्वित होते है। कही-कही तो लोक प्रचलित रागो में ही मात्राओ को घटा-बढा कर छन्द का ढाँचा दिया हुआ प्रतीत होता है। कुछ छन्द जन-जीवन में विभिन्न उत्सवो पर गाये जाने वाले गीतो पर आधारित हैं। उन के नाम भी ज्यो के त्यो हैं। वसन्तचच्चर वसन्त के दिनो में तथा फाग के समय चर्चरी पर गाये जानेवाले गीत या उस की शैली पर बने हुए छन्द का नाम है। इस छन्द को पढने से यही लगता है जैसे कि आपस में बात कर रहे हो।

कि सीरपाणि कजजोणि कि इमो
कि कित्तिवासु दिव्ववासु णित्तमो

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो
कि सामिणीसु सोहए हयासुरो । जि० क०, ३, १५ ।

आलोच्यमान कथाकाव्य में ऐसे कई छन्द मिलते हैं, जिन का अध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है । जि० क० में प्रयुक्त छन्द अधिकतर मात्रिक हैं । वे शास्त्रीय न हो कर लोकशैली में ढले हुए मिलते हैं । अमरपुर सुन्दरी, जंभेट्टिया और आवली ऐसे ही छन्द जान पडते हैं । श्री वेलणकर के अनुसार फुल्लडक, झम्बटक, धवल और मंगल लोक-जीवन के उत्सवो तथा मागलिक कार्यों से सम्बन्धित छन्द हैं ।[1] आ० हेमचन्द्र ने स्वयं उन का निर्देश किया है ।[2] इस से पता लगता है कि प्राकृत-युग में ही विभिन्न मागलिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले गीतो का सम्बन्ध विविध छन्दो से स्थापित हो गया था । अपभ्रंश के कवियो ने उसी परम्परा का निर्वाह कर सामाजिक विधान के अनुरूप नये छन्दो तथा गीतो का प्रयोग कर लोक जीवन का वास्तविक परिचय दिया है ।

जिनदत्तकथा में विलासिनी, पिंगल, मौक्तिकदाम, मनोहरदाम, आरनाल, भुजंग-प्रयात, गाथा, वस्तु, सोमराजि, नलिना, ललिता, सिग्गिणी, अमरपुरसुन्दरी, पोमिनी, मदनावतार, विचित्रमनोहर, पमाणिया, वसन्तचच्चर, पंचचामर, नाराच, दुवई, तोणया तिभगिया, रमणीलता, समाणिया, चित्तिया, भमरपयाणाम, मोणय, खण्डय, जभेट्टिया और आवली छन्द मिलते हैं । ग्यारह सन्धियो में तीस छन्दो का प्रयोग करना कुशल कवि का ही व्यापार है । आश्चर्य तो यह है कि केवल आवली को छोड कर अन्य सभी छन्द पांच सन्धियो में ही प्रयुक्त हैं । आगे की छह सन्धियो में कवि ने पिछले छन्दो में से ही कई छन्दो का प्रयोग किया है। किन्तु मुख्य रूप से घत्ता और दुवई का योग दिखाई देता है । छन्दो के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

विलासिनी

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं । कुल मिला कर साठ मात्राएँ कही गयी हैं[3] । यथा—

परहरे गए सोहधारिणी,
विसयसुक्खसंपत्तिकारिणी ।
सामिणी सया दुक्खवज्जिया,
जेहिं सभुवविक्कमेण अज्जिया ॥

---

१ छन्दोऽनुशासन की भूमिका. पृ० ४६ ।

२ उत्साहादिना येनैव धवलमगलभाषागाने तन्नामाद्य धवलमगले । छन्दोऽनुशासन, ५, ४० ।
देवगान फुल्लडकम् । वहीं, ५,४१ ।
गाने चिदौ झम्बटकम् । वहीं, ५,४२ ।

३ तौ चस्तौ विलासिनी ।
द्वौ त्रिमात्रौ एकश्चतुर्मात्र पुनर्द्वौ त्रिमात्रौ विलासिनी । वहीं, ४, ६० ।

कही-कही मात्राओ में भेद लक्षित होता है। किन्तु जान पडता है कि अपभ्रंश की कविता उच्चारण की विधि पर अधिक निर्भर है। क्योकि उच्चारो (utterance) के अनुसार ही अपभ्रंश के छन्दो का विकास हुआ है। अतएव लोक-शैली में ढले हुए छन्दो में अथवा कवि के स्वातन्त्र्य से मात्राओ में घटा-बढी मिलती है। यथा—

मत्तकोइलमहुरभासिणी
हसइ किं पि सा जइ विलासिणी।
दोण्हि हुंति सोहग्गलण्हिआ
मल्लिआ तह य चंदजोण्हिआ ॥[1]

यहाँ पर उक्त पंक्तियों में पहली में सोलह मात्राएँ हैं, दूसरी-तीसरी में पन्द्रह और चौथी में सोलह हैं। पहली पक्ति में 'मत्तकोइला' पाठ है। यदि 'मत्तकोइल' मान लिया जाय तो पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। किन्तु अन्तिम पक्ति में स्पष्ट रूप से सोलह मात्राएँ है। यदि 'चद' में दो मात्राएँ मानें तो 'हुति' में दो ही गिननी पड़ेंगी और परिणामतः तीसरी पंक्ति में चौदह मात्राएँ होगी। इस प्रकार जब आ० हेमचन्द्र को निर्दोष उदाहरण नही मिल सका तो फिर इस में किसी का क्या दोष ? किन्तु आगे की पक्तियो में मात्राएँ यथोचित हैं। उदाहरण है—

विणु धणेण गयमाणु दीसए, विणु धणेण जगि अबुहु सीसए।
विणु धणेण काउरि सु भण्णिए विणु धणेण लोएंहि ण माणए।

प्रत्येक पंक्ति में पन्द्रह मात्राएँ ही हैं, घट-बढ नही। वस्तुत. वृत्तजातिसमुच्चय में यह मिश्रित वृत्त के रूप में उल्लिखित है। विरहाक ने दो स्थानो पर इस का विवरण दिया है। एक के अनुसार यह मात्रिक वृत्त है और दूसरे के अनुसार दो बार पाँच मात्राओ के प्रयोग एवं अन्त्य गुरु के अनन्तर एक जगण का प्रयोग होता है।[2] इस से यह पता लगता है कि समय-समय पर प्राकृत के छन्द संस्कृत के साँचे में ढाले जाते रहे है। क्योकि प्राकृत और अपभ्रंश में वे मात्रिक रूप में ही प्रयुक्त हैं। अतएव उन में स्वातन्त्र्य और लोकशैली के अनुरूप प्रयोग करने की क्षमता तथा प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

मौक्तिकदाम

कवि ने इसे मुत्तीदाम या मोत्तिया कहा है। यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। कुल मात्राएँ चौसठ कही गयी हैं। स्कन्धक के समान इस में बारहवी और आठवी मात्राओ पर क्रमश यति होती है।[3] यथा—

---

१ छन्दोऽनुशासन से उद्धृत, ४,६०-१।
२ श्री ह० द० वेलणकर छन्दोऽनुशासन, पृ० ३४३-३४७।
३ तद् मौक्तिकदाम ठजे। छन्दोऽनुशासन, ७,१६।
ठजैरिति द्वादशभिरष्टभिश्च यतिश्चेत्तदा तदेव स्कन्धकसम मौक्तिकदाम।

तिणा जिणदत्तु समप्पिउ ताहं हिरी गउरत्तु मणाउ ण जाहं ।
णियतर गुज्झ णिवेइय वत्त तहावि करेहु समिच्छइ कंत ।

किन्तु इस उदाहरण में यति के नियमो का पालन नही हुआ है। वस्तुतः यह दृष्टान्त मात्रिक वृत्त का न हो कर वर्णवृत्त का है। कालान्तर में सस्कृत के साहित्यिक प्रभाव से आपन्न हो कर विभिन्न छन्द वर्णवृत्तो के साँचे मे ढलने लगे थे। प्राकृतपैंगलम् में वर्णित वर्णवृत्त के अनुसार ही इस की रचना हुई है, जिस में चार जगण और प्रत्येक चरण मे सोलह मात्राएँ होती हैं।[1]

मनोहरदाम

कवि ने इसे 'विचित्तमणोहरा' कहा है। यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती है। कुल मात्राएँ अस्सी होती है। इस का उदाहरण है—

मज्जंति सो जाव पुणु चिंतए ताव
तणु कंति लायण्ण सोहग्गसंपुण्ण
वररूव तण्णगि का मार रइसंगि
पच्चक्ख इह च्छंदि कय जाहि पडिच्छंदि ।

यह गीति शैली का छन्द जान पड़ता है। भावो का आवेग गेय पद्धति पर ताल और लयानुकूल है। इस का लक्षण प्राकृतपैंगलम्, छन्दोऽनुशासन और प्राकृतछन्दकोश में नही मिलता है।

दूसरा उदाहरण है—

कलिकलुसमलरहिय संथविय णियदुहिय ।
ता भणिउ ताएण गुणगरुवराएण । ३,१२

इस के प्रत्येक चरण में दस और कुल बीस मात्राएँ हैं। दोनों ही पंक्तियाँ स्वतन्त्र हैं। अतएव यह सम द्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र के चारु और विचित्रमनोहरा में कोई अन्तर नही जान पडता है।[2] हाँ, मनोहरा और विचित्रमनोहरा में बहुत अन्तर है।[3] संभव है इस के दोनो नाम प्रचलित रहे हो अथवा साहित्य में उसे चारु कहते रहे हो और लोक में मणोहरा या मनोहरा प्रचलन में रहा हो।

---

१ पओहर चारि पसिद्धह ताम, ति तेरह मत्तह मोत्तिअदाम ।
ण पुव्वहि हारु ण दिज्जइ अंत, बिहूसअ अग्गल छप्पण मत्त ॥ प्राकृतपैंगलम्, २,१३३ ।
उक्त उदाहरण में भी आदि और अन्त में हार (गुरु) नहीं है।

२ पौ चारु । छन्दोऽनुशासन, ७,७१ ।
द्वौ पचमात्रौ चारु । यथा—चारुच पयरुई, उअ सोहइ जुअई ।

३ समे दश ओजे पचदश मनोहरा । वहीं, ६, २०-३२ ।

आरनाल

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में तीस और कुल मिला कर एक सौ बीस मात्राएँ होती हैं। छठी, चौथी और पाँचवी मात्राओ पर क्रमशः यति होती है। यथा—

जा पालिय गुणवालें णिवेण गुणमंजरि पियउवखय करेण।
णिवणीइ वियक्खण गुणरएण परिरक्खय सुहपय जहं पिएण।

यहाँ पर यह समद्विपदी है। कहीं-कहीं पर चतुष्पदी भी है। जैसे कि—

हिमगिरिसरिसम परिहा वरिया वयसासचक्क मणोहरिया।
चउदिसु दरसिय गोउर सणरा मुणिपय चुव पंसु पवित्तवरा।
गिव्वाणविमाणसमाणघरा भूसिय मणिकिरण तमोहहरा।
वरचारणउल कोलाहलिया कय जणवयदाण वसें मिलिया।

सोमराजी

इस के प्रत्येक पद में दो यगण होते हैं[1]। प्राकृतपैंगलम् में यह शंखनारी कहा गया है; क्योंकि लक्षण दोनो में समान हैं। जयकीर्ति ने इसे द्रुत कहा है[2]। संभव है कि इस के और भी अन्य नाम हो। उदाहरण है—

कुमारस्सगेहं पयपति णेहं अहो णाह भव्वं ण सो देइ दव्वं।

इस प्रकार यह समचतुष्पदी वर्णवृत्त है। संभवतः यह संस्कृत, प्राकृत से अपभ्रंश में गृहीत हुआ है। क्योंकि शखनारी भी वर्णवृत्त है और द्रुत भी।

ललिता

यह समद्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र ने इसे गीति का एक भेद कहा है। गीति छन्द का भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्रचार रहा है। लोकसाहित्य तो गीति की ही विभिन्न धुनो में लिखा गया है। इस के हजारो और लाखो भेद जन-जीवन में प्रचलित रहे हैं। इस छन्द में इकतीस मात्राएँ होती हैं, तेरहवी मात्रा पर यति होती है। किन्तु हेमचन्द्र के द्वारा कहे गये लक्षण का पालन इस में नही है[3]। यथा—

कुव मढ उववण दीहिय हियवण, विविह करावहिं सुह सपावहिं।

यहाँ पर बत्तीस मात्राओ का छन्द है। फिर, तेरहवी पर यति भी नही है। पूरा कड़वक ऐसा ही है। अतएव सदोष भी नही मान सकते। दूसरा उदाहरण है—

---

१ यौ सोमराजी। वहीं, २, ३८।
२ वहीं, पृ० २८७।
३ तृतीये ललिता। ४, १०।
गीतिरेव तृतीये पे ललिता। वहीं।

रुवेणत्थर रंजिय सत्थर कुलभरधुरधर केसरिकंधर।

वस्तुतः इस के कई भेद थे, जिन का उल्लेख संभव भी नही है। आ० हेमचन्द्र ने उन का संकेत भर किया है[1]। अतएव उन में से ही किसी का प्रयोग हुआ है।

अमरपुर सुन्दरी

यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में दस मात्राएँ होती हैं। क्रमशः सातवी, दूसरी और फिर पहली पर यति होती है[2]। यथा—

कोविलालावरे किण्णरी कीलिरे।

मदनावतार

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं[3]। स्वयम्भू ने इसे चन्द्रानन कहा है[4]। यथा—

दिक्खवहि महपुरउ ससरीरु दिवसयरु,
णासेहि महचित्त भंतीए तमपयरु।
ते विरहसिहि तवियतणु जाइ णउ जाम,
पज्जलिवि वयणंवु देदेहि पिय ताम।

पद्मिनी

कवि ने इसे पोमिणी कहा है। इस में प्रत्येक पाद में पन्द्रह मात्राएँ होती है। यह समचतुष्पदी छन्द है। उदाहरण है—

विरेहमाणु सुन्दरावणो जिणायमेव सोह पावणो।
वराणणुन्न णित्त भूसिओ जिणुत्त सुद्धवाणि पोसिओ।

पंचचामर

नाराच के कई भेद हैं। छन्दोऽनुशासन में नाराचक, सोमकान्त और पंचचामर का उल्लेख मिलता है। किन्तु तीनो के लक्षणो से प्रस्तुत उदाहरण मेल नही खाता। उदाहरण है—

---

१ अत्र तृतीय पगणस्य षड् विकल्पत्वे प्रागवत्तावन्त एव भेदा'। वहीं।
तथा—
ततस्तेषां शेषगणविकल्पाना चान्योऽन्यताडनाया पूर्वार्धे जाता एकोनविंशति सहस्राणि द्वे शते। तावद्भिरेवोत्तरार्धविकल्पैर्घाते जाता षट्त्रिंशत्कोट्य षडशीतिर्लक्षाश्चत्वारिंशत्-सहस्राणि। वहीं, ४, ६, १।

२ सप्त कला दलौ चामरपुरसुन्दरी। वहीं, ७, ६६।

३ तत्र चतुर्भि पञ्चमात्रैर्मदनावतार'। वहीं, ४, ८३।

४, श्री वेलणकर द्वारा सम्पादित "छन्दोऽनुशासन", पृ० ३४३।

सुणेइ तं जिणाइदत्तिणा पयंपिउ
अहो वणीस कित्तिमीस सारु सप्पिओ।
सुरिंदणंदणेव तुज्झु णंदणं
तुरं कुणेमि साहिसाह सोहणं वण॥

इस प्रकार इसमें कुल अस्सी मात्राएँ हैं। संस्कृत में इसे नगस्वरूपिणी कहते हैं। इस के अन्य नाम हैं—बालगर्भिणी, मत्तचेष्टित, प्रमाणीणिका और स्थिर[1]। वस्तुतः उक्त उदाहरण संस्कृत के नगस्वरूपिणी से मिलता-जुलता है। अतएव संभव है कि वर्णवृत्त को मात्रिक में ढाल लिया गया हो।

पमाणिया

इस का सस्कृत रूपान्तर प्रमाणिका है। यह वर्णवृत्त है। इस में कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। इस का दुगुना प्रमाण नाराच में कहा गया है। इस में एक लघु के बाद क्रमशः एक गुरु होता है[2]। यथा—

असेसु देसु मिल्लिए सुणिच्च पथि चल्लए।
तडाग कूव कंदर गिरी सरीउ सुंदरं।

नाराच

यह चतुष्पदी छन्द है। प्रयुक्त नाराच सोमकान्त है। इस के प्रत्येक चरण में चौवीस मात्राएँ होती हैं[3]। उदाहरण है—

असोय साहि सेहरच्छ मोरचारुपिच्छयं विचंचुखंडिया वडति चूवपिक्कगुच्छय।
धरालेय धरारुहग्गे सण्णिसण्णखेयरं लयाहरंत कीलमाण खेयरी सुखेयर।

इस में कुल मात्राएँ छियानवे हैं।

तोणया

इस का संस्कृत नाम तूणक है। यह वर्णवृत्त है। इस में पन्द्रह अक्षर तथा रगण, जगण, रगण, जगण और रगण का क्रम रहता है[4]। इस के अन्य नामो में उत्सव, महोत्सव और चामर का उल्लेख मिलता है। उदाहरण है—

रत्तपोमपत्त छायपाय गंधवासिया उज्जलाणहावली णियविणी हियासिया।
मुक्कपाव सुद्धभाव रायहंसगामिणी सव्विलासदिव्ववास हासकेलिगोमिणी।

---

१. श्री वेलणकर छन्दोऽनुशासन, पृ० २८८।

२ लहू गुरु निरन्तरा पमाणिआ अठक्खरा।
पमाणि दूण किज्जिए णराअ सो भणिज्जए॥ प्रा० पै०, २, ६८।

३. णरायपाय ब्रीह मत्त चारिमत्त अग्गला ठविज्जयति षोडसाइ अक्खराइ णिम्मला।
लहूय अट्ठदीह अट्ठ एरिसो पसिद्धओ नरायनाम सोमकत कोसलेहि दिट्ठऊ।
प्राकृतछन्दकोश, १४।

४ रजर्जरास्तूणकम्। छन्दोऽनुशासन, २, २५४।

भ्रमरपद

इस का प्राकृत नाम भमरपया है। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण मे बाईस मात्राएँ होती है। छन्दोऽनुशासन में उल्लिखित भ्रमरपद से इस में अन्तर है। यथा—

हीरावलि ते उज्जल दरदरसिय दसणा वालुव्विवकुरंगिव लोयणसियकसणा।
गहिरणाहि खामोयरि सुपिहुलकडिरमणा रत्तुप्पलकोमलकर कुंजरगइगमणा।

त्रिभंगिका

इस का प्राकृत नाम तिभंगिया है। यह कई छन्दो के मेल से बनता है। अतएव इस के कई भेद हैं। प्रा० पैं० के लक्षण से प्रस्तुत उदाहरण मेल नही खाता है। यह स्वतन्त्र ही है। यथा—

पिम्मंबुरसुल्लिउ देहु णिमुल्लिउ पियहु लहु कवि भणइं महिल्ली।
कामवसिल्ली गुणभरिउ सूहउ गमदारें मणिपायारें अंतरिउ।

जंभेट्टिया

इसे जम्भेट्टिका भी कहते हैं। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में नौ मात्राएँ होती हैं[1]। यथा—

ता रिउवंतओ बहुत्तउ कंतओ।
जाय सरंगओ णिरुवम चंगओ॥

इन छन्दो के अतिरिक्त गाथा, वस्तु, भुजंगप्रयात, दुवई और खण्डक के उदाहरण लक्षणो के अनुसार इस काव्य में मिलते हैं। किन्तु जि० क० में कुछ अभिनव छन्दो का भी प्रयोग दिखाई देता है, जिन के नाम हैं—पिंगल, विचित्तमणोहरा, वसंतचच्चर, समाणिया, चित्तिया आदि। इन में से पिंगल और विचित्रमनोहर के तो लक्षण हो नही मिलते। वसन्तचर्चर छन्द वसन्तोत्सव और वसन्तलेखा दोनो से ही भिन्न है। चित्तिया भी चित्रा से सर्वथा भिन्न है। समाणिया अवश्य संस्कृत का समानिका वर्णवृत्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु णलिण संस्कृत नलिन से भिन्न है।

समानिका

इस के कई नाम हैं उष्णिह्, कामिनी, खेटक, गोमिनी, रक्तक, रक्ता, शिखा आदि। इस में क्रमशः एक रगण, जगण और एक गुरु होता है[2]। किन्तु निम्नलिखित उदाहरण मे सर्वत्र गुरु के बाद एक ह्रस्व भी प्रयुक्त है। यथा—

ताम्व ओसहीसधाम णट्ठओ विसिट्ठकाम।
इत्थ अतरम्मि सूर चक्कवाण आसपूर।

---

१ चपौ जम्भेट्टिका। चतुर्मात्रपंचमात्रौ जम्भेट्टिका। वहीं, ७, ६७।
२, रजौ ग उष्णिक्। रगणजगणौ गुरुश्च। वहीं, २, ५३।

आवली

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं[1]। यथा—

छुट्टइ कहव कहव तत्तो पमज्जए पुणरवि धाइ तेहिं सहसा गहिज्जए।
तारिसु बहुपयारु दुक्खहु किज्जए अम्हारिसिहिं केम वण्णहुं तरिज्जए।

जि० क० मे समाज और संस्कृति

साहित्यिक रचना होने पर भी जि० क० में समाज और संस्कृति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भ० क० की भाँति इस काव्य पर भी सामन्तकालीन संस्कृति और समाज की वढिया छाप लगी हुई मिलती है। भले ही धार्मिक आवरण में वह कही-कही स्पष्ट रूप से न उभर सकी हो, पर लोकजीवन का पूरा तत्त्व उस में समाया हुआ है। जिनदत्त के जन्म लेने पर छठे दिन छट्ठी का उत्सव मनाना[2], दसवें दिन नामकरण संस्कार करना[3], देव-पूजन करना आदि ऐसे लोकाचार हैं, जिन्हें भारतीय अपने जीवन में समाज से भुला नही सकता। विवाह के समय समाज में विभिन्न मागलिक कार्य होते थे। स्त्रियाँ मंगलगीतो को गाती हुईं, स्त्री-समूह में नृत्य-गान करती हुईं उल्लास को प्रकट करती थी। मन्दल, ढक्क, फुडुक्क, वुक्क, मुक्कार, नन्दिघोष, भंभाभेरी, वीणा, तालकंसाल और तूर आदि वाद्यो के वादन से समूचा सामाजिक वातावरण हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। वरात में स्त्रियाँ भी जाती थी। वरात वैंलगाडी पर जाती थी। वैंलो के सीगो को सुनहले कपडो से लपेट कर सजाया जाता था। जिनदत्त की वरात में एक करोड वैंल थे। बोझा ढोने वाले अनगिनत थे। घोडे टापो से धूलि उडाते जाते थे। वरात के स्वागत में पान का अत्यधिक प्रचार था। वरात को नगर के वाहर ठहराने की प्रथा थी। लोग मस्ती के साथ हाथ में हाथ डाले विहार करते थे।[4] वर को बढिया से बढिया वस्त्रो तथा आभूषणो से सजाया जाता था। जिनदत्त ने हाथो में ककण, सीस पर सेहरा, गले में श्वेत पुष्पो की माला, कानो में कुण्डल और गले में हार धारण किया था। वर के नगर में पहुँचने पर घर-घर में दीपावली सजायी जाती थी। चौक मोतियो की रंगावली से पूरा जाता था। मडप कई रगो के वस्त्रो से तथा रत्नो से सजाया जाता था। वर की सवारी हाथी पर निकलती थी। विवाह में नाच-गान की प्रथा थी।[5] लोग सपत्नीक पीढो पर वैठ कर वेश्याओ के नृत्य-रस का आनन्द लेते थे।[6] गीत और विनोद

---

१ वही, ४, ५८।
२ छट्ठए दिणि णिसिजायरण विक्ति पमुहच्छव कय बहु सुह पवित्ति। १,२३
३ दसमए वासरि जिणयत्तु णामु मुणिणा तहो कउ सुविसालधामु।
४ करे करु मेलवु पत्तु ट्ठमणु तंबोल वोलि रंजिय वयणु। २,११।
५ पिच्छइ अवलायण णट्टरसु वाइय मदलरव भरिय दिसु। २,१४।
६ ता तहि मंडवायले मिलिय जणवले रयणकिरणगीढे।
उववविट्ठउ मणुज्जउ वरु समज्जउ सुपडि पिहियपीटे। २,१४।

में ही सारा समय बीतता था। वर ससुर के घर पर कई दिनो तक राग-रंग में मस्त रहता था। वढ़िया भोजन तथा तरुण स्त्रियो का सत्संग, यही उस के दो मुख्य कार्य होते थे। दोपहर के भोजन के वाद ही नवयुवतियो का नृत्य आरंभ हो जाता था। नाच-गाना ही नही, द्राक्षा का वना हुआ मधुर आसव और पानक भी चलता था।[1] काव्य की भाँति वह अत्यन्त महकता था। फिर, नयी वहू के साथ जिनदत्त सुगन्धित तथा कोमल भोजन करता था। इस से स्पष्ट है कि उस युग में सामन्तीप्रथा का वड़ा प्रभाव था। माता वेटी को विदा करते समय वर-वधू के सिर पर दूर्वांकुर तथा सिद्धि के लिए जौ डालती थी। सभी नगर के वाहर उद्यान तक दोनो को पहुँचाने जाते थे। माता ससुराल में भलीभाँति रहने के लिए तथा गुरुजनो की विनय करने के लिए पुत्री को उपदेश देती थी। वहू के साथ पुत्र के विवाह से लौटने पर माता पुत्र का सिर चूमती थी, आरती उतारती थी। वेटे-वहू की नजर उतारती थी। न्योछावर कर दान देती थी। कपूर के दिये जला कर आनन्द मनाया जाता था। विवाह में दायजा (दहेज) देने की प्रथा थी।[2] वेश्याओ का समाज में सम्मान था। जिनदत्त का मन विपयो की ओर उन्मुख करने के लिए सेठ जीवदेव ने उन्हे अपने घर वुलाया था।[3] जुआ का प्रचार था। विभिन्न द्वीपो में जा कर वाणिज्य द्वारा रत्नो को कमा लाने में ही वणिक् जीवन सफल समझा जाता था। सार्थवाह सहस्रो की सख्या में व्यापार के लिए जहाजों में वैठ कर जाते थे। अतएव धनवान् की कसौटी कंचन न होकर रत्न, होरा, माणिक तथा मोतियो मे मानी जाती थी। वहु-विवाह की प्रथा थी। विद्याधरों के राजा अशोक के अन्त.पुर में लगभग वीस देशो की रानियाँ थी। (५,७) मारण, मोहन, उच्चाटन तथा तरह-तरह की विद्याओ का प्रचार था। मगध में कई छोटे-छोटे राजा थे। कदाचित् यही गुजरात तथा कच्छ की स्थिति थी। इसीलिए वसन्तपुर में सेना के साथ जब जिनदत्त पहुँचा तो राजा घवडा गया। क्योकि राजा लोग अपने छोटे से राज्य में भोग-विलास में डूबे रहना चाहते थे।

---

१ दुप्पहरे भु जइ भोयणु सुकुमारयरु सुविसुट्ठु सवधउ सवहु णिरु।
णवणट्टारभुव रसवहल्लु तरुणीजोव्वणुव सलवणहल्लु।
रहवरुव ससूउ जणिय हरिसु महकइ कव्वुव दक्खवियरसु।
अइमहुरउ परमपियासणुव सीरग्गल्लु पामरणरघरुव। २, १७।

२ पुणु दिज्जइ दाइज्जउ परइ अइ उच्च मच दिव्ववरइ।
उच्छाणमहिस हय गोहणइ दासीउ दास मणमोहणइं।

३ कुदेंदुज्जलदतिउ दरपहसतिउ आणहु सघरि विलासिणिउ।
कारणे णिययपसूवहो गुणसभूवहो अकुसुमभाव पणासणिउ। १, २७।

जिनदत्तचउपई

कवि रल्ह कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयों में निबद्ध काव्य-रचना है। यद्यपि यह सन्धियों में विभक्त नहीं है, पर इस की रचना कथाकाव्य की शैली पर हुई है। वस्तुबन्ध तथा वर्णन अधिकतर पं० लाखू के 'जिनदत्तचरित' पर आधारित है। समग्र रचना पाँच सौ तेतालीस चौपाइयों में रचित है।

गय सत्तावन छयसय माहि पुन्नवंत को छापइ छाहि।
तक्कु पुराणु सुणिउ नउ सत्थु भणइ रल्हु हउ ण मुणउ अत्थु।५४८।

किन्तु इस के आगे के पद में कवि ने पाँच सौ चवालीस चउपई रचने की बात कही है। वस्तुतः कुल छन्द पाँच सौ उनचास हैं, जिन में अन्त के पाँच या छह ग्रन्थ के माहात्म्य के सूचक हैं। यदि हम उन को अलग से मानें तो पाँच सौ तेतालीस या चवालीस होते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे विचार किया जायेगा।

बीच-बीच मे नाराच या वस्तु छन्द भी दृष्टिगत होते हैं। जिनदत्त की यह कथा किसी उद्देश्य-विशेष से नियोजित न हो कर विबुध जनो के चित्त के अनुरजन के लिए रची गयी है।

हीणबुधि किम करउ कवित्तु रंजिण सकउ विबुहजणचित्त।
धम्मकथा पयडंतह दोसु दुज्जणसयण करहि जिणु रोसु।२०।

अतएव कवि की मौलिकता एवं कल्पना को अधिक अवसर था, पर रल्ह की रागात्मिका वृत्ति कथा-वर्णन में ही अधिक लक्षित होती है। वस्तु-वर्णन कथा की अपेक्षा कम है। प० लाखू में वर्णन की अतिशयता और अलंकारो के बीच कथा की गतिशीलता दोनो ही समान रूप से मिलती है। इस से जहाँ यह स्पष्ट है कि लाखू की शैली व्यासमूलक है वही रल्ह की समासमूलक है। परन्तु यथार्थ में तथ्य यह है कि वर्णन की जो समासशैली हमें धनपाल में मिलती है वह रल्ह में नही है। भविष्यदत्त-कथा की समीक्षा में यह कहा जा चुका है कि शैली संक्षिप्त, मधुर तथा गम्भीर है। जिनदत्तचउपई में यह वात नही है। कथा ही इस में मुख्य है। अतएव अनुभूति की सघनता कम है।

अपभ्रश के कथाकाव्यो की भाँति जिनदत्तचउपई में चौबीसी-वन्दना, आत्म-विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन-कथन, आत्माभिव्यक्ति, स्ववंशकीर्तन आदि साहित्यिक रूढ़ियो का पालन दृष्टिगोचर होता है। कवि ने तीन चौबीसी की वन्दना के साथ चौवीस यक्ष-यक्षिणियो, नवग्रहो तथा सरस्वती की भी वन्दना की है। माता-सरस्वती के प्रति कवि ने अत्यन्त अनुराग एवं भक्ति-भावना प्रकट की है। इस से पता लगता है कि जिन-सरस्वती विशेष रूप से कवि की इष्ट देवी रही होगी। इसी लिए कवि ने बार-बार प्रणाम कर स्तुति की है।

पुणु पुणु पणवउ माता पाइ　　जेइ हउं पालिउ करुणा भाइ ।
मउ वयारणु हुइ सउ उरणु　　हा हा माइ मुझु जिणसरणु ।२८।

अन्य देवियों में चक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और देवताओं में क्षेत्रपाल की वन्दना कवि ने की है ।

कवि-परिचय

कवि के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी तो मिलती नही है । स्वय कवि ने अपने विषय में आलोच्यमान काव्य में जो कुछ कहा हैं उस से पता चलता है कि उन का जन्म प्रसिद्ध जैसवाल कुल में हुआ था ।

जइसवालकुलि उत्तम जाति　　वाईसइ पाडल उतपाति ।
पंचऊलीया आते कउ पूतु　　कवइ रल्हु जिणदत्तचरित्तु ।२६।

रल्ह के पिता का नाम अमय (अभइ) और माता का नाम आते (?) था । सम्भवतः रल्ह का सम्बन्ध लाखू के कुल तथा राजघराने से था । सम्भव है कवि भी कही का छोटा-मोटा राजा हो । क्योकि जिनदत्तचउपई में कई स्थानो पर कवि ने अपने को 'राइसिंहु' उपनाम या पदवी से सूचित किया है ।

घर सिरु लाइ राइसिंहु कवइ　　वहु फलु वीरणाहु जो णवइ ।८।
जिणदत्त पूरी भई चउपही　　छप्पन हीण वि छहसय कही ।
सहसु सलोक विन्निसय रहिय　　गंथापमाणु राइसिंहु कहिय ।५५६।
हनि ते नारिलिंगु गय सग्गि　　तुहु रायसिंह लजि निय लग्गि ।५५०।

हो न हो, कवि एटा के आसपास कही का रहने वाला था । इस काव्य की अभी तक एक ही प्रतिलिपि प्राप्त हो सकी है, जो वि० सं० १७५२ की लिखी हुई है । इस के लेखक महानन्द पालम्ब निवासी पुष्करमल के आत्मज थे । जिनदत्तचरित्र के पद्यानुवाद के रचयिता कमलनयन मैनपुरी के निवासी थे ।[१] इस से भी सम्भावना यही की जा सकती है कि कवि रल्ह उत्तर भारत के निवासी थे । और बहुत कर वि० सं० १३२० से १३८० के बीच कवि का रचना-काल रहा होगा ।

रचना-काल

जिनदत्तचउपई की रचना वि० सं० १३५४ में भादो सुदी पंचमी गुरुवार के दिन प्रारम्भ हुई थी ।

संवत् तेरहसै चउवण्णे　　भादवसुदि पंचम गुरु दिण्णे ।
स्वाति नखत्तु चंदु तुल हुती　　कवइ रल्हु पणवइ सरसुती । २९ ।

---

१ कामताप्रसाद जैन　हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २१४ ।

साधारणतया इस रचना को लिखने में छह महीने का समय लगा होगा। क्योकि रचना अधिक बडी नही है। लेखक ने इस रचना को सक्षेप में लिखा है, नही तो यह अधिक से अधिक दुगने आकार की अवश्य हो सकती थी।

कथावस्तु का आधार

कवि रल्ह कृत 'जिनदत्तचउपई' का आधार लाखू रचित जि० क० है। वस्तु दोनो में समान है, पर वर्णन और शैली मे दोनो में अन्तर है। मुख्य रूप से दो बातो में असमानता तथा भेद मिलता है। पहली तो यह कि जि० चउ० में कथानक सक्षिप्त विधि से वर्णित है और जि० क० में विस्तार है। अतएव जि० चउ० में कवि वर्णनो में न रम कर मुख्य बातें कहता चलता है। किन्तु जि० क० में वर्णन की अतिशयता है। जि० चउ० में घरेलूपन है, पर लाखू की रचना साहित्यिक है। दूसरी यह जि० क० अलंकृत रचना है, पर यह सीधे-सादे ढंग से वर्णित है। इसी लिए पाँच सौ चवालीस चौपाइयो में समूची कथा अथ से इति तक समाहित हो गयो है।

जिणदत्त पूरी भई चउपही छप्पन हीणवि छहसय कही।

जि० चउ०, ५५६।

विषय-वस्तु में जिनदत्तकथा से रल्ह कवि की यह रचना निम्न-लिखित बातो में भिन्न है—

(१) जि० चउ० में चन्द्रशेखर राजा की रानी मैनासुन्दरी का नामोल्लेख नही है। जि० क० में सेठानी जीवजसा सुन्दर स्वप्न देखती है, पर रल्ह ने उस का वर्णन नही किया। कवि ने 'हाथु देखि मुनि बोलइ' कह कर ज्योतिष की जानकारी का परिचय दिया है। किन्तु जि० क० में यह नही है। इसी प्रकार जि० चउ० के अनुसार जिनदत्त पाँच बरस की अवस्था में विद्या पढने जाता है, पर जि० क० (१,२४) में आठ बरस में पढने का लिखा है।

बरस दिवस बाढइ जेतडउ दिन दिन विरध करइ तेतडउ।
बरस पंच दस (?) को सो उछाइ विज्जा पढण उझाघरि जाइ। वही, ६३

अन्य बातें कुमार का लजालु होना, विषयो में मन न लगना, सेठ का चिन्तित हो कर जुआरियो की संगति में जिनदत्त को लगाना, पर कुमार का काम से बिंधना, इत्यादि बातें समान है।

(२) जिनदत्तकथा में कुमार पत्नी तथा माता-पिता की सम्मति एवं आज्ञा से ससुराल जाता है और साथ में पत्नी को भी ले जाता है। मुनि विश्वभूषण कृत जि० च० में भी यही लिखा मिलता है। किन्तु जि० च० में जिनदत्त ससुर को झूठा लेख लिख कर बुलाता है और उन से कहता है कि तुम समदी (धी)से कहो कि मैं जिनदत्त को लेने आया हूँ।

झूठउ लेखि ससुर कहु लिखइ फुणि बुलाइ जण ए कह कहइ।
कहिउ सेठिस्यो जाइवि तेण हीं जिणदत्तहं आयउ लेण। (१४६)

इस से जिनदत्त के चरित्र पर अच्छा प्रकाश नही पड़ता है। जान पड़ता है कि वह बड़ा दन्द-फन्द करने वाला था।

(३) जि० च० मे वर्णित है कि जब सागरदत्त (उभयदत्त) जहाज पर चढ़ने लगा तभी पाप बुद्धि से उस ने कंकडो की पोटली बाँध कर रख ली थी। समदी से उसे चौदह रत्नाभरण मिले थे और जिनदत्त को बहुत मिले थे। अत॰ वह कंकडो की पोटली को समुद्र में डाल कर रोता है, जिस से जिनदत्त को विश्वास हो जाता है कि रतनो की पोटली ही गिर गयी है।

तीरिदर वुलइ पोहणु चडइ उवहिदत्तु पाप जु मनि धरइ।
पापी पाप वुधि जबु चडी काकार बाधि पोटली धरी। २४१।
सो घालिर समद महि रालि कही वीर रयणण की मालि।
एहाही धरी रयणपोटली सो देखि पुत्त समद महि परी। २४२।

वह धर्म-पिता को धीरज बँधा कर समुद्र में कूद पडता है। किन्तु जि० क० में यह सब नही है। वह किसी व्यवसाय से जिनदत्त को समुद्र में प्रविष्ट करा देता है, इतना ही वर्णित है। किन्तु जिनदत्ताख्यान में कहा गया है कि रात्रि के समय सागरदत्त ऐसी शब्द-ध्वनि करता है कि कोई मनुष्य समुद्र में गिर गया हो और वह वस्तु लेकर नही चढ़ पा रहा हो, इस लिए जिनदत्त को तैयार कर रस्सी से बाँध कर समुद्र में उतारता है तथा हाथ की रस्सी कँपा कर उसे छोड देता है। मुनि विश्वभूषण के जिनदत्तचरित्र में जिनदत्त के समुद्र में उतरने का कारण भंडागार बताया गया है कि सागरदत्त उसे समुद्र में डाल कर जिनदत्त से अनुरोध करता है और वह उसे निकालने के लिए कूद पड़ता है। इस प्रकार सभी में यह कारण भिन्न-भिन्न कहा गया है।

(४) जि० च० में जिनदत्त के समुद्र में कूदने के बाद की श्रीमती की पूरी कया का वर्णन नही है। केवल इतना ही कथन है कि उभयदत्त श्रीमती से कहता है कि तुम शोक न करो, मेरे साथ राज भोगना। तव उस के सतीत्व के प्रभाव से जलदेवी प्रकट होती है। पोत डगमगाने लगता है। सभी वनजारे श्रीमती के पैर पड़ते हैं। अन्त में भलीभाँति त्रिलावल द्वीप में पहुँच जाते हैं। किन्तु श्रीमती विमलमती के पास तक कैसे पहुँचती है – इस का विवरण कवि ने नही दिया है। यह भी नही कहा गया है कि वह अपनी शील-रक्षा के लिए सागरदत्त से छह माह की अवधि माँगती है। जिनदत्तचरित्र भाषा में कहा गया है कि श्रीमती सागरदत्त के साथ उस के घर दधिपुर में पहुँचती है। वहाँ उस का मन न लगने से सागरदत्त उसे चम्पापुर के वन में अर्जिका विमलमती के पास छोड़ आता है। जिनदत्ताख्यान में वर्णित है कि वह चम्पापुरी के पास साध्वियो को आती हुई देख कर उन के साथ हो लेती है। जि० क० में भी यह

वर्णन है कि श्रीमती सागरदत्त से कहती है कि जब तक पति का क्रियाकाण्ड न कर लिया जाये तब तक छह मास से भी कुछ "अधिक समय तक मेरा स्पर्श न करो। फिर, जलदेवता प्रत्यक्ष होता है। अन्त में संकट दूर होता है। श्रीमती सब के साथ चम्पापुरी के बाहर उद्यान में पहुँचती है। वहाँ पर कुछ समय तक भूपट्ट पर बैठने के बाद वह चैत्यालय की ओर दृष्टि डालती है। विशाल चैत्यालय देख कर दर्शनो के लिए वहाँ जाती है और अर्जिका विमलमती के पास रह जाती है।'

इस प्रकार कुछ न कुछ अन्तर सभी कथाओ में मिलता है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये लोकप्रचलित कथाएँ रही है, पर समय-समय पर धार्मिक महत्त्व दर्शाने के लिए उन्हें काव्यात्मक रूप दिया जाता रहा है। अतएव उन में वैविध्य और वर्णन चमत्कार तो लक्षित ही होता है, पर कथाभिप्राय भी सयोजित मिलते हैं। कथा के अभिप्रायो में भेद नही दिखाई देता है। अन्तर या तो नामो में है अथवा घटनाओ के विकास में या मोड़ में। यह परिवर्तन कवि की रुचि और भावनाओ पर निर्भर है कि वह उसे किन रूप-रगो में चित्रित करना चाहता है। क्योकि समूची कथा में नायक का चरित्र ही मुख्य होता है। इस लिए कवि उसे जिस रूप में देखना चाहेगा उसे वही रूप प्रदान करेगा। जि० क० और जि० च० में यही बडा अन्तर है। कवि रल्ह ने बालक जिनदत्त का चरित्र जुआरी, कामी, चोर तथा लपट के रूप में तो नही, पर सामान्य चरित्र चित्रित किया है, किन्तु जि० क० में वह विवेकी, सयमी और धीर-वीर प्रदर्शित है। इस के मूल में कवि का दृष्टिकोण यही हो सकता है कि किस प्रकार अन्यायी और अवगुणो से युक्त जिनदत्त का विकास होता है और वह राजपदवी को प्राप्त करता है। सामान्यत. कथाकाव्यो में मनुष्य के जीवन-क्रम का विकास दर्शाना ही कवि का लक्ष्य होता है। किन्तु उन की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो, घटनाओ तथा सगति का भी प्रभाव पूर्णतया मनोरुचि के अनुकूल वर्णित रहता है। यही मनोविज्ञान की दूरबीन लगा कर यह देखना पडता है कि किन पात्रो का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है अथवा नही ? जि० क० में जिनदत्त का विकास प्रारम्भ से ही धीरे-धीरे बताया गया है। क्योकि मनुष्य अपनी टेव तथा स्वभाव किसी के कहने से यकायक नही छोड़ देता या उस में किसी प्रकार का परिवर्तन ही करता है। मनुष्य में परिवर्तन क्रमश होता है।

कथावस्तु

जिनदत्तचउपई की कथावस्तु का आधार प० लाखू रचित जिनदत्त कथा ही है। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

मइ जोयउ जिणदत्तपुराणु   लाखू विरयउ अइ सुपमाणु।
देखिवि शूल(?) रयउ फुडु एहु   हत्थालवणु वुह पणवेहु। ५५२।

कथा में दोनो रचनाओं में सामान्यत: कोई अन्तर नही है। वस्तु-वर्णन, वन्ध-रचना और शैली में अवश्य भेद है। संक्षेप में कथावस्तु इस प्रकार है :

मगध देश में वसन्तपुरी नाम की नगरी में राजा चन्द्रशेखर राज्य करता था। वहाँ के प्राय सभी लोग जैनधर्म का पालन करते थे। उसी नगरी में जीवदेव नामक राजसेठ निवास करता था। उस की भार्या का नाम जीवंजसा था। उन दोनो के कोई पुत्र न होने से वे दोनो वहुत चिन्तित थे। एक दिन सेठानी मुनिवर के पास जा कर बिलखने लगी। हाथ देख कर उन्होने वताया कि वत्तीस लक्षणों तथा कलाओ से युक्त तुम्हे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। कुछ महीनो के वाद गर्भ रह गया और कुमार जिनदत्त उत्पन्न हुआ। पाँचवें वरस में वह पढने के लिए वैठा दिया गया। सभी कलाओ में निपुणता प्राप्त कर कुमार युवक हो चला। किन्तु उस का मन विषयो की ओर तनिक भी न देख कर सेठ को वडी चिन्ता हुई। उस ने परद्रव्य और परस्त्री को चाहने वाले जुआरियो को वुलाया और कहा कि ऐसा उपाय करो जिस से मेरा कुल न डूवे। यदि जिनदत्त का मन विषयो की ओर फेर दो तो लाख दाम दूँगा। वे जिनदत्त को साथ में लेकर अत्यन्त सुन्दर नवयुवती को तथा वेश्या को दिखाते हैं, पर जिनदत्त का मन नही विधता। इसी वीच कुछ समय निकल गया। एक दिन नन्दन वन के चैत्यालय के दर्शनो के लिए जिनदत्त को लेकर गये। वहाँ एक पुतली को देख कर जिनदत्त कामासक्त हो गया। शिल्पी को वुला कर सेठ ने उस के सम्बन्ध में पता लगा कर उसे वहाँ भेजा। वह चम्पानगरी के सेठ विमल के यहाँ गया और विमलामती का विवाह जिनदत्त से करने के लिए कहा। वह तैयार हो गया। दोनो का धूम-धाम मे विवाह हो गया। एक दिन जुआरियो के चगुल में फँसकर जिनदत्त ग्यारह कोटि द्रव्य हार गये। भण्डारी के मना कर देने पर पत्नी की रत्नजडित अंगिया को देकर कुमार ने पीछा छुडाया। इस से कुमार का मन वहुत व्यथित हुआ। वह देशान्तर जा कर अर्थोपार्जन का निश्चय करता है। उसे सोच में पडा हुआ देख कर सेठ सव वातें पूछता है। वह कुमार को समझाता है। पर वह किसी प्रकार घर छोडने का उपाय कर ससुर को झूठा पत्र लिख कर वुला लेता है और उन से कहता है कि घर में यही कहिए कि मैं जिनदत्त को लेने आया हूँ। तव घर से विदा हो कर जिनदत्त पत्नी के साथ ससुराल चला गया।

चम्पानगरी में दो-चार दिन रह कर उस ने चलने का उपाय किया। एक दिन नन्दन वन में विमलामती को अकेला छोड कर अंजनमूल जडी के प्रभाव से अदृश्य हो गया। विमलामती निकटस्थ चैत्यालय में चली गयी। जिनदत्त दशपुर (मन्दसौर) गया। वहाँ के उद्यान में पहुँच कर कुमार नीद लग जाने से सो गया। तभी सागरदत्त आ पहुँचा। उस ने जिनदत्त से पूछा—तुम क्यो सो रहे हो ? वह कहता है मै तो परदेश में निकला हूँ, पर आप कैसे आये ? सागरदत्त कहता है कि मैं यहाँ वाड़ी देखने आया हूँ, पर सव न जाने क्यो सूख रही है ? तव जिनदत्त सूखने का कारण वतलाता है और गन्धोदक से सींच कर हरी-भरी कर देता है। उभयदत्त (सागरदत्त) उसे

अपने घर ले जाता है और वचनानुसार धर्मपुत्र बना कर सब कुछ सौंप देता है। जिनदत्त वाणिज्य के लिए द्वीपान्तर में जाने के लिए कहता है। सागरदत्त के साथ अनेक सयाने और चतुर पन्द्रह सौ बनजारे मिल कर बारह हजार बैलो पर सामान लाद कर चले। वे सब विलावल पहुँचे। वहाँ बैलो और भैंसाओ को छोड कर सब वस्तुएँ पोत में लाद कर आगे बढे। कई द्वीपो को पार कर वे सिंहलद्वीप में पहुँच गये। बनजारे क्रय-विक्रय करते हुए समुद्र-तट पर ठहर गये, पर जिनदत्त फूल बिसाने के लिए मालिन के घर गया। उसे रोते देख कर कारण पूछा। उस ने बताया कि यहाँ के राजा घनवाहन और रानी विजया देवी की कन्या श्रीमती किसी व्याधि से पीडित है, इसलिए जो भी रात को उस के पास रहता है वह सवेरे मरा मिलता है। मन्त्रियो की राय से राजा ने ओसरी से एक-एक दिन सब के नियत कर दिये हैं। आज मेरे बेटे की पारी है, इसलिए रोती हूँ। तब जिनदत्त उसे आश्वासन देकर स्वय उस के महल में जाता है। वहाँ वह पहरा देता है। जब रात को कुमारी के मुख से भुजंग निकलता है तब वह तलवार के वार से उसे वही धरती पर सुला देता है। सुबह कुमार को जीवित देख कर डोम को अचरज होता है। वह राजा को सूचना देता है। कुमार भुजंग को राजकुमारी के मुख से निकला हुआ बतलाता है और सब को दिखाता है। राजा उन दोनो का विवाह कर देता है। राजा दायजे(दहेज) में जिनदत्त को अनेक रत्न देता है। उभयदत्त के मन में उन दोनो को देख कर पाप आ जाता है और वह कंकडो की पोटली बाँध कर रख लेता है। उस पोटली को रत्नो की पोटली कह कर वह समुद्र में खिसका देता है और रोता है। उसे लेने के लिए जिनदत्त साँकल के सहारे समुद्र में कूद पडता है। लेकिन वह पापी उसे काट देता है। उभयदत्त के प्रेम-प्रस्ताव के वचनो को सुन कर श्रीमती मुँह पर हाथ रख लेती है। उस के शील के प्रभाव से जल देवी प्रकट होती है और जहाज डगमगाने लगता है। वह अनशन करती है। चम्पापुरी में पहुँच कर वह विमलमती के पास पहुँच जाती है और उसी के साथ चैत्यालय में रहने लगती है।

सागर में तैरते हुए जिनदत्त को सूखे सेमल के पेड का एक टुकडा मिल जाता है। वह उस के सहारे तिरता है। इतने में ही मारुवेग नामक विद्याधर बड़े वेग से दौडता है। उसे अपनी ओर आता हुआ देख कर जिनदत्त खरी-खोटी सुनाता है। वह उसे बलवान् समझ कर विमान में बिठाल कर रथनूपुर ले जाता है। वहाँ का राजा अशोक अपनी पुत्री शृंगारमती का पाणिग्रहण जिनदत्त के साथ कर देता है। वहाँ कुमार सोलह विद्याओं को प्राप्त करता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ से लौट कर वह चम्पापुरी में पहुँचता है। पति के बहुत आग्रह करने पर शृंगारमती विमान मे सो जाती है और जिनदत्त पहरा देता है। प्रात काल जब वह विमान नही देखती है तो विलाप करती है। विमलमती प्रिय का नाम सुन कर उसे अपने पास ले जाती है। जिनदत्त वामन का रूप धारण कर राजा को कौतुक दर्शाता है। मदोन्मत्त हाथी को वश में कर जिनदत्त अपना वास्तविक

परिचय देता है। तीन दिन में हाथी ने नगर को तहस-नहस कर डाला था। उस के इस कर्तव्य से राजा प्रसन्न होता है। वह जिनदत्त से वास्तविक जानकारी चाहता है। जिनदत्त सब बीती बातें सुनाता है। किन्तु उस के वामन रूप को देख कर तीनो पत्नियाँ उसे अस्वीकार करती हैं। अन्त में वह रूप बदलता है। तीनो उस के अंगो से लगती है। उस के वास्तविक रूप को देख कर सब प्रसन्न होते है। विमल सेठ राजा के पास जा कर पैरों पर पडता है। राजा अपनी पुत्री विलासमती जिनदत्त को परिणाता है। कुमार उभयदत्त से मिलने जाता है। उस की नाक गल गयी थी, पैर सड गये थे। कुष्ठ रोग से अंग-प्रत्यंगो से दुर्गन्ध निकल रही थी। कुमार उस से सब द्रव्य ले कर अपने घर जाने की तैयारी करता है। उभयदत्त मर कर नरक में जाता है। सभी पत्नियो तथा सेना के साथ वह वसन्तपुर में पहुँचता है। नगर को घिरा हुआ देख कर राजा मन्त्री को उपहार देकर भेजता है। जिनदत्त दूत को राजा के पास भेजता है। वह कहता है कि सेठ जीवदेव को मुझे सौंप दो। राजा दूत को फटकारता है। वह सेठ को बुलवाता है। सभी नागरिक जन डरते-डरते पहुँचते है। सेठानी बिलखती है। जिनदत्त माता के पास जा कर उस के चरणो में अष्टाग प्रणाम करता है। घर-घर आनन्द मनाया जाता है। चन्द्रशेखर और जिनदत्त दोनो वसन्तपुर में राज्य करते हैं। विमलमती के विमल और श्रीमती के सुदत्त, जयदत्त तथा सुप्रभ नाम के पुत्र और मेहा पुत्री उत्पन्न हुई। श्रृंगारमती के सुकेतु, जयकेतु, सुगरुडकेतु और विलासमती के गुणमित्र, जयमित्र तथा द्रविणमित्र नाम के पुत्र उत्पन्न हुए।

एक दिन समाधिगुप्त नाम के मुनिवर नगर में आते हैं। जिनदत्त उन से जैनधर्म का स्वरूप जान कर, पूर्व भवान्तरो को पूछ कर, सुदत्त को राज्य देकर जिन-दीक्षा धारण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर जिनदत्त स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार लाखू और रल्ह की रची हुई कथा में बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। घटनाओ और नाम में तो कोई अन्तर ही नही है और वर्णन में भी कही-कही समानता लक्षित होती है। बहुत कुछ रचना जि० क० पर पूर्णतया आधारित है।

वस्तुवर्णन

प्रस्तुत काव्य में वर्णन कम हैं। वस्तु-वर्णन में नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, उद्यान-वर्णन, विवाह-यात्रा तथा प्रकृति-वर्णन ही मुख्य हैं। ये सभी वर्णन संक्षिप्त और साधारण हैं। इन में कोई नवीनता लक्षित नही होती। भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा लोकवातावरण का चित्रण ही इन की विशेषता कही जा सकती है। वस्तु अलंकृत रूप में वर्णित नही मिलती। कवि का लक्ष्य कथा कहना ही है और इस लिए विवरण के बीच कही-कही वर्णन हैं, जो वस्तु रूप में ही वर्णित हैं। पं० लाखू की जि० क० की भाँति वर्णनो के बीच कथा इस में चलती हुई नही दिखाई देती। एक तो वर्णन ही इस में कम हैं और दूसरे कवि की रागात्मिका वृत्ति उन में नही रमी है। स्पष्ट ही

वस्तु की दृष्टि से यह एक शुद्ध कथा है जो पद्यबद्ध है, और रचना की दृष्टि से इस की संघटना प्रबन्ध से मिलती-जुलती है। अतएव इसे कथा-काव्य ही माना जा सकता है।

नगर-वर्णन

नगर-वर्णन में लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। समूचे काव्य में यही एक विस्तृत वर्णन है। इस में नगर में रहने वालो के सम्बन्ध में तथा वहाँ की समृद्धि के सम्बन्ध में सक्षिप्त वर्णन है। यथा—

णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार घरि घरि सफल अंब साहार।
करहि राजु सकुटंवउ लोइ पर तह दुखी न दीसइ कोइ। ३१
णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार पहिया पंथ न भूखे जाहि।
केला दाख छुहारा खाहि .... ।
गामि गामि छे ते सतकार पहियह कूरु देहि अनिवार।
गामि गामि वाड़ी अंबराइ जइसे पाटण तेसे ठाइ।
धम्मु विषे णरु भोयणु देहि दामु विसाहि ण कोई लेहि।
णा करु कूडदड तहि चरइ अपुणइ सुख परजा व्यवहरइ।
चोरु न चरउ आखि देखिये अरु परणारि जणणि पेखिये। ३५

बारात का वर्णन

तवहि सेठि घरि उछउ कियउ सहु परियणु न्योते आइयो।
पंच सवद वाजेवि तुरंतु बहु परियणु चाले सु वरात।
एकति जाहि सुखासण चढे एकतु बाखर भीडे तुरे।
एकनु साजि तसि गरी घरी एकणु साजि पलाणी वरी।
एकति डाडी डोला जाहि एकति हस्त चढे विगसाहि।
एकति जाहि विवाहणु वइठ सबु मिलि चंपापुरिहि पइठ। १२२।

इन वर्णनो में वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता ही विशेष है।

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का परिगणनात्मक रूप चित्रित है। वृक्षो और पुष्पो की नामावली ही मुख्य है, पर वह विशेष लम्बी नही है। यथा—

जे नारियल कोपु करि ठिए तिन्हइं हार पदोले किए।
जे छे सूकि रहे सहकार तिन्हु अंकवाल दिखाए वाल।
नारिंग जंबु छुहारी दाख पिंडखजूर फोफिली असख।
जातीफल इलाइची लवंग करणाभरण कीए नव रंग।

परिचय देता है। तीन दिन में हाथी ने नगर को तहस-नहस कर डाला था। उस के इस कर्तव्य से राजा प्रसन्न होता है। वह जिनदत्त से वास्तविक जानकारी चाहता है। जिनदत्त सब बीती बातें सुनाता है। किन्तु उस के वामन रूप को देख कर तीनो पत्नियाँ उसे अस्वीकार करती हैं। अन्त में वह रूप बदलता है। तीनो उस के अंगो से लगती हैं। उस के वास्तविक रूप को देख कर सब प्रसन्न होते हैं। विमल सेठ राजा के पास जा कर पैरों पर पडता है। राजा अपनी पुत्री विलासमती जिनदत्त को परिणाता है। कुमार उभयदत्त से मिलने जाता है। उस की नाक गल गयी थी, पैर सड गये थे। कुष्ठ रोग से अंग-प्रत्यंगो से दुर्गन्ध निकल रही थी। कुमार उस से सब द्रव्य ले कर अपने घर जाने की तैयारी करता है। उभयदत्त मर कर नरक में जाता है। सभी पत्नियो तथा सेना के साथ वह वसन्तपुर में पहुँचता है। नगर को घिरा हुआ देख कर राजा मन्त्री को उपहार देकर भेजता है। जिनदत्त दूत को राजा के पास भेजता है। वह कहता है कि सेठ जीवदेव को मुझे सौंप दो। राजा दूत को फटकारता है। वह सेठ को बुलवाता है। सभी नागरिक जन डरते-डरते पहुँचते हैं। सेठानी बिलखती है। जिनदत्त माता के पास जा कर उस के चरणो में अष्टाग प्रणाम करता है। घर-घर आनन्द मनाया जाता है। चन्द्रशेखर और जिनदत्त दोनों वसन्तपुर में राज्य करते हैं। विमलमती के विमल और श्रीमती के सुदत्त, जयदत्त तथा सुप्रभ नाम के पुत्र और मेहा पुत्री उत्पन्न हुई। श्रृंगारमती के सुकेतु, जयकेतु, सुगरुडकेतु और विलासमती के गुणमित्र, जयमित्र तथा द्रविणमित्र नाम के पुत्र उत्पन्न हुए।

एक दिन समाधिगुप्त नाम के मुनिवर नगर में आते हैं। जिनदत्त उन से जैनधर्म का स्वरूप जान कर, पूर्व भवान्तरो को पूछ कर, सुदत्त को राज्य देकर जिन-दीक्षा धारण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर जिनदत्त स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार लाखू और रल्ह की रची हुई कथा में बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। घटनाओ और नाम में तो कोई अन्तर ही नही है और वर्णन में भी कही-कही समानता लक्षित होती है। बहुत कुछ रचना जि० क० पर पूर्णतया आधारित है।

वस्तुवर्णन

प्रस्तुत काव्य में वर्णन कम हैं। वस्तु-वर्णन में नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, उद्यान-वर्णन, विवाह-यात्रा तथा प्रकृति-वर्णन ही मुख्य हैं। ये सभी वर्णन संक्षिप्त और साधारण हैं। इन में कोई नवीनता लक्षित नही होती। भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा लोकवातावरण का चित्रण ही इन की विशेषता कही जा सकती है। वस्तु अलंकृत रूप में वर्णित नही मिलती। कवि का लक्ष्य कथा कहना ही है और इस लिए विवरण के बीच कही-कही वर्णन हैं, जो वस्तु रूप में ही वर्णित हैं। पं० लाखू की जि० क० की भाँति वर्णनो के बीच कथा इस में चलती हुई नही दिखाई देती। एक तो वर्णन ही इस में कम हैं और दूसरे कवि की रागात्मिका वृत्ति उन में नही रमी है। स्पष्ट ही

वस्तु की दृष्टि से यह एक शुद्ध कथा है जो पद्यबद्ध है, और रचना की दृष्टि से इस की संघटना प्रबन्ध से मिलती-जुलती है। अतएव इसे कथा-काव्य ही माना जा सकता है।

नगर-वर्णन

नगर-वर्णन में लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। समूचे काव्य में यही एक विस्तृत वर्णन है। इस में नगर में रहने वालो के सम्बन्ध में तथा वहाँ की समृद्धि के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन है। यथा—

णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार घरि घरि सफल अंब साहार।
करहि राजु सकुटंबउ लोइ पर तह दुखी न दीसइ कोइ। ३१
णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार पहिया पंथ न भूखे जाहि।
केला दाख छुहारा खाहि .... " ... ।
गामि गामि छे ते सतकार पहियह कूरु देहि अनिवार।
गामि गामि वाडी अंवराइ जइसे पाटण तेसे ठाइ।
धम्मु विषे णरु भोयणु देहि दामु विसाहि ण कोई लेहि।
णा करु कूडदड तहि चरइ अपुणइ सुख परजा व्यवहरइ।
चोरु न चरउ आखि देखिये अरु परणारि जणणि पेखिये। ३५

बारात का वर्णन

तवहि सेठि घरि उछउ कियउ सहु परियणु न्योते आइयो।
पंच सवद वाजेवि तुरतु बहु परियणु चाले सु बरात।
एकति जाहि सुखासण चढे एकतु वाखर भीडे तुरे।
एकनु साजि तसि गरी घरी एकणु साजि पलाणी वरी।
एकति डाडी डोला जाहि एकति हस्त चढे विगसाहि।
एकति जाहि विवाहणु बइठ सबु मिलि चंपापुरिहि पइठ। १२२।

इन वर्णनो में वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता ही विशेष है।

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का परिगणनात्मक रूप चित्रित है। वृक्षो और पुष्पो की नामावली ही मुख्य है, पर वह विशेष लम्बी नही है। यथा—

जे नारियल कोपु करि ठिए तिन्हइं हार पदोले किए।
जे छे सूकि रहे सहकार तिन्हु अकवाल दिखाए वाल।
नारिंग जवु छुहारी दाख पिंडखजूर फोफिली असंख।
जातीफल इलाइची लवंग करणाभरण कीए नव रंग।

काथु कपित्थ वेर पीपली हरड वहेड खिरी आविली।
सिरीखंड अगर गलीदी धूप णरहि नारि तहि ठाइ सरूप।
जाई जूहो वेलशेवती दवणो मरुवउ अरु मालती।
चंपउ राइचंपउ मचकुंद कूजउ वउलसिरी जासउदु।
वालउ नेवालउ मंदारु सिंदुवार सुरही मन्दार।
पाडल कठपाडल घणहूल सरवर कमल वहुत कहूल। १७३।

समुद्र-वर्णन

उक्त वर्णनो की भाँति समुद्र के वर्णन में भी कोई चमत्कार नही है। यह वर्णन विवरणमूलक है। इस में एक ही चित्र वर्णित है। यथा—

दुद्धर मगर मछ घडियार पाणिउ अगम न सूझइ पार।
जलुमय कंपइ सयल शरीर लहरि पडय झकोलइ नीर॥
घडहडाइ गाजइ जु समुद्दु सउ जोयण गहिरउ ज रउद्द।
वूडिन करहि रह समुह कीलि जाणइ मछ तु घालइ लीलि॥

समुद्र-यात्रा का वर्णन जि० क० में वर्णित वस्तु के आधार पर वर्णित है। जि० क० में विस्तृत वर्णन है और इस में सक्षिप्त। नयापन कुछ भी नही है। इस प्रकार वस्तु-वर्णन में यह रचना प्रभावपूर्ण नही है। वस्तु का यथार्थ तथा संक्षिप्त वर्णन करना ही कवि का लक्ष्य है। भाषा, शैली और संवाद अवश्य रोचक तथा प्रभावपूर्ण हैं। वस्तुतः रचना का महत्त्व इन्ही इनी-गिनी वातो में विशेष है। प्रकृति-वर्णन में आलम्वन रूप का ही चित्रण है, जो महत्त्वपूर्ण नही है। प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन यथार्थ में इस काव्य में हुआ ही नही है। सन्ध्या, रजनी, प्रभात आदि के वर्णन भी नही हैं। उन का उल्लेख तक नही है। अतएव इतिवृत्तात्मकता की प्रचुरता हो गयी है और रसात्मकता उस का अंग वन कर रह गयी है। यद्यपि रचना पर धार्मिकता की छाप कम से कम है, पर कथा विवरण प्रधान होने से महत्त्वपूर्ण नही वन सकी है।

नखशिख-वर्णन

आलोच्यमान काव्य में नखशिख-वर्णन कवि के शब्दो में स्वतन्त्र रूप से वर्णित न हो कर पात्र के मुख से अभिव्यजित हुआ है। यद्यपि उपमानो में कोई नवीनता लक्षित नही होती, पर शैली एवं अभिव्यक्ति में चारुता तथा स्वच्छता है। कही-कही लोकगत वर्णन की सरसता तथा मधुरता इस वर्णन में दिखाई पड़ती है। अतएव वर्णन में मौलिकता और नवलता स्वाभाविक रूप में लक्षित होती है। इस वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि चरण-नख से लेकर शिख तक के प्राय. सभी अंगो का वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि कांख (वगल) का वर्णन भी मधुर वन पड़ा है। वर्णन इस प्रकार है—

मुंदडिय सहु कसु सोहइ पाउ चालत हंस देह तसु भाइ ।
जाणू थाणु वहि तहि घणे तहि ऊपरि नेउर वाजणे । (नख, चरण)
सवइ वण्णु सोहइ पिंडरी जणु छहि ते कुंथू पिंडरी ।
जंघ जुअल कदली ऊपरइ तासु लोक मूठिहि माइयइ ।
(पिंडरी, जंघा)

जणु हइ छति अणंगहु तणी सहइ जु रंगरेह तहि घणी ।
नीले चिहुर सउज्जल काख अवरु सुहाइ दीसहि काख ।
(त्रिवली, काँख)

चंपावण्णी सोहइ देह गलकंद लह तिण्णि जसु रेह ।
पीणत्थण जोव्वण मयसार उरपोटी कडियल वित्थार । (कटि,स्तन)

हाथि सरिस मोहहि आगुली णहसुत दिपहि कुद की कली ।
भुववल जतु काटि जणु ठाणें वण्णि सुरेख कविन्ह ते कहे ।
(अगुली, भुजा)

इ लोणी अरु माठी लीव हरु सु पट्टिया सोहय गीव ।
काणि कुंडल इक सोवनु मणी नाक थाणु जणु सूवा तणी ।
(ग्रीवा, कर्ण, नासिका)

मुहमंडलु जोवइ ससिवयणी दीह चखु नावइ मियणयणि ।
जहि केहो वप चाले किरण जणु रि दसणी हीरामणिहिरण ।
(मुख, नेत्र, दाँत)

भउह मयणघणु खचिय घरी दिपइ लिलाट तिलक कंचुरी ।
सिरह मांग मोत्तिय भरि चलइ अवरु पीठ तलि वेणी रुलइ ।
(भौं, ललाट, मांग, वेणी)

इस प्रकार समूचा नखशिख-वर्णन यथोचित क्रम से तथा प्रसिद्ध उपमानो मे वर्णित है । प्रसिद्ध बातें ही अधिकतर इस में मिलती हैं ।

उक्त वर्णन में नारी के बाह्य सौन्दर्य का ही वर्णन है । उस के आन्तरिक सौन्दर्य को कवि ने किसी भी स्थल पर अभिव्यजित नही किया । पं० लाखू ने सभी नायिकाओं का रूप-वर्णन किया है, पर प्रस्तुत काव्य में उक्त स्थल ही मिलता है । जि० क० की भाँति इस में जिनदत्त की कामावस्थाओ का वर्णन नही है । केवल मोहित होना कह कर कथा को आगे बढा दिया है । वस्तुत कथा और काव्य का इस में मधुर संयोग है । इसलिए कही कथा की मुख्यता है तो कही काव्य की । कुल मिला कर इतिवृत्तात्मकता अधिक है और रसात्मकता कम । वियोग-वर्णन को ही पढने से इस की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है ।

वियोग-वर्णन

संयोग और वियोग दोनो ही शृंगार के पक्षो का यथार्थचित्रण इस काव्य में हुआ है। संयोग में मिलन तथा सुखद चेष्टाओ का वर्णन है और वियोग में चित्रगत रूप-दर्शन, पति-वियोग, पुत्र-वियोग आदि की मधुर तथा करुण अभिव्यंजना है। वियोग का एक करुण चित्र देखिए—

हंसागवणी चंदावइणी करइ पलाव
मोही आगइ देखत पेखत कत गयउ नाह।
आयउ मरणू णाही सरणू कहा करायउ
कंठी रोहणु वालि हुवासणु झंपा देइ मराउ।
काठउ कीयउ कैसे जीवउ पिय विणु तेहि
हाइ वाइ गुसइ सहि छाडि कति गयउ कंत मोहि।
चौदिसि जोवइ धाहहि रोवइ कहा कियौ करतार
वेलि चडंती पडित्थडंती गउ सामी अंतराल ॥१५४,१५५

इस के अतिरिक्त दो अन्य स्थानो पर भी वियोग-वर्णन मिलता है, जिस में नारी भावनाओ की यथार्थ अभिव्यक्ति है। यथा—

कियौ मोहि वज्ज को हियउ, कि दइवि पाहण णिम्मवियउ।
सून विमाण देखि विलिखाइ, किन फाटहि हियडा चरडाइ।

तथा—

अति गहु करि सामियउ लागियउ, मइ पाविणी नीदमणि कीयउ।
लोग कहनउ साचौ भयो, जागत चोरनु कुइ मुसि गयउ ॥३१३

किन्तु इन वर्णनो में चमत्कार नही है। वस्तु रूप में ही इन वर्णनो का महत्त्व है, अलंकृत रूप में नही। प्रभावाभिव्यंजना की दृष्टि से तो ये प्रभावपूर्ण नही कहे जा सकते। यदि मानना ही पड़े तो कही-कही क्षणिक प्रभाव अवश्य मन पर पड़ता है। अतएव काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से तथा प्रभाव की दृष्टि से यह सामान्य रचना ही ठहरती है।

इस लघुकाय प्रवन्ध में कई रसो की सुन्दर योजना हुई है। शृंगार तो आदि से लेकर अन्त तक व्याप्त है। पूर्व भवो का वृत्तान्त इस में विलकुल नही है। हां, जिनदत्त के मुनि वनने की घटना सव के अन्त में अवश्य वर्णित है। किन्तु वहाँ भी हास्य अंगी रूप में लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

मुत्ति लच्छि जइ होवइ दासि तापहि छूटहिह मुनिरु भासि।
पज्जोवहि विविवि जसु कंति मुणिवरु तिसु के तोडइ दतु ॥५४५॥

"तिसु के तोडइ दन्तु" कह कर कवि ने हास्य को उन्मुक्त कर दिया है। फिर जि० क० के रस-निर्णय के प्रसंग में जो कहा गया है वही आलोच्यमान कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। अतएव इस में प्रधान रस शृंगार ही है। क्योकि कथा का आरम्भ जिनदत्त के विवाह से आरम्भ हो कर गतिशील होता है और अन्त में माता-पिता से मिलन तथा भोग-विलास में अन्त होते-होते मोक्ष-लक्ष्मी से उस का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

अन्य रसो में रौद्र, भयानक, हास्य और अद्भुत एवं वात्सल्य रसो की मधुर अभिव्यंजना हुई है। रौद्र का उदाहरण है—

कहइ जिणदत्त छुरी करि तोल आवहु अज्ज न मारउ बोलु।
तौ न मुणसु जौ ऐसौ करउ मारि छुरी दहदिह वित्थरउ॥

यहाँ पर उग्र वचनो में जिनदत्त अपने क्रोध को प्रकट कर रहा है।

एत्तहि ताला गरलह झाला मुहं मह ते नीसरइं
कालउ दारुण विसहरु वारुणु तहि फौ करइं।
हिंडइ चउपासहि दीह सहासहि कालु भमतु
कहिगउ सो पहिरउ जसु होवइरिउ खूटउ जसु कउ अंतु।

इन पंक्तियो को पढते ही रोमाच तथा स्तम्भ हो जाता है।

घाली जाइ देव जिउ आल गादह गले रयण की माल।
आपु···हीउ कहियइ काइ छेली मुहंकि अलियरु माइ॥

यहाँ हास्यरस है।

तव सो सिला हसइ हहडाइ सभा लोगु मोहउ तिह ठाइ।
तूठहि राजा कर तहि भाउ मागि मागि वावणे पसाउ॥

यहाँ अचम्भा होने से अद्भुत रस का सचार है।

सेठिणि गहवरि आयउ हियउ पुणु आपणउ उछंगह लियउ।
जायो पूतु आजु सुपियार खीर पवाह वहे थणहार॥

उक्त पक्तियो में मातृजनित प्रीति की अभिव्यंजना होने से यहाँ वात्सल्य रस है। इस प्रकार थोडे में रसों का मधुर परिपाक है। भले ही भावानुभावों की व्यापकता तथा अनुकृति की चेष्टाओ, हाव-भावो का विस्तृत विधान न हुआ हो, पर विषय एवं वस्तु के अनुरूप रसो की सयोजना मधुर है।

संवाद-योजना

जि० चउ० में नियोजित संवादों को देखने से पता लगता है कि संवादो मे बोल-चाल के प्रयोग स्पष्टतया निहित हैं। अतएव संवादो में सजीवता और प्रवाह बराबर

लक्षित होता है। कथानक के विकास में भी इन संवादो का महत्त्वपूर्ण योग है। किन्तु उन में विस्तार या भावो की मनोवैज्ञानिकता का समावेश न हो कर लोक-जीवन की सहज अभिव्यक्ति हुई है। जैसे कि—

तंखिण वीर पहूते तहाँ नियं मंदिर सेठि हौ जहाँ।
कुवरह लछण परखि किन लेहु हमकहु सेठि वधाउ देहु ॥

इस कथाकाव्य में निम्नलिखित संवाद मुख्य हैं—चित्रकार-सेठ-संवाद, सागरदत्त-जिनदत्त-संवाद, बूढी मालिन और जिनदत्त का वार्तालाप, जिनदत्त-विद्याधर-संवाद, चम्पापुरी के राजा और जिनदत्त का संवाद इत्यादि।

इन संवादों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने संक्षिप्त रूप में इन का समावेश किया है। इस से जहाँ भावो के उतार-चढाव का पता नही लग पाता, वही कही-कही अधूरापन-सा लगता है। उदाहरण के लिए—जिनदत्त के जुआ खेलने पर सेठ जीवदेव उसे अपने पास बुला कर कहता है—

तउ जिणदत्तह लेइ हकारि पूछइ मंतु सेठि वइसारि।
जइ यह पूत तत इसउ कीज नातरु घर पठइ जणु दीज।
तौ जिणदत्त भणइ कर जोडि हमकहु तात देहु जिण खोडि।
आपु मतै हौं कैसे चलौ जो तुम पिता कहहु सो करौ ॥

यहाँ पर पाठक के मन में यह जिज्ञासा वनी ही रहती है कि सेठ ने जिनदत्त को किन शब्दो में क्या कह कर समझाया? इस प्रकार संक्षिप्तता के कारण कही-कही भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति सवादो के माध्यम से नही हो सकी है। फिर भी, कही-कही संवादो में नाटकीयता, क्षिप्रता, मधुरता और स्थानीय रंगीन परुषता लक्षित होती है। यथा—

कउण काज थेरी आरडहि काहे कारणि पलावे करहि।
किसि कारणि दुख धरहि सरीरु वेगि कहेहि इउ जंपइ वीरु ॥
रुदनु करइ जंपइ वयणु आसू वहुत न थाकइ नयणु।
कहउ तासु जो दुखु अवहरइ हीणहं कहे कहा सुख सरइ ॥
पुणु जिणदत्त पयंपय ताहि भली वुरी कहियइ सवु काहि।
मालिन वातु कहइ मनु सोइ मत दुख तुझहि निवारइ कोइ ॥
....

हा हा कारु करइ जिणदत्तु मालिणि स्यों वोलइ विहसंत।
रहु रहु माइ म रोवहि खरी काइं कुढावहि महु डोकरी ॥

उक्त उदाहरणो में पर्याप्त विस्तार तथा संवादो में प्राप्त होने वाले विभिन्न गुणो का समावेश स्पष्ट है। प्रसंगतः सवादो में चुस्ती तथा स्वाभाविकता वरावर मिलती हैं। पढने के साथ ही कहानी का-सा आनन्द मिलने लगता है। उक्त मुख्य संवादो की यह प्रमुख विशेपता है।

अलंकार-विधान

यद्यपि अलकरण की ओर कवि की प्रवृत्ति नही है, पर कई अलंकार यथास्थान काव्य में नियोजित है। ये अलंकार बोलचाल की भाषा तथा शैली के अधिक निकट हैं। इन पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि रल्ह लोक-साहित्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हैं। इसीलिए लोकशैली में भाव, भाषा, रचना और अलंकार आदि की तदनुरूप योजना हुई है। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलकारो की ही अधिकता है। इन में स्वाभाविकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। यही इन का वैशिष्ट्य है। मुख्य अलंकार इस प्रकार हैं—

उत्तमु लोक वसहि सामरी जणु कइलास इन्द्र की पुरी (स्वरूपोत्प्रेक्षा)
हंसगमणि सी पदमणि जाणि सरवर दिठी सखी सिहु न्हाति। (उपमा)
किं यहु ब्रह्मा किं चउवयणु किं यहु सकरु किमइ महणु।
किं यहु रूव मयणु की खानि किसु की कला च (?) रीतइ आणि।
(सन्देह)

विमलमती पडु दीठउ जाम गय विहलंघल सघर पडिताम।
हार डोर जसु सोहहि अंग चंदन मिचि लई उछंग॥ (दृष्टान्त)
माल्हती विलास गइ चलइ दरसन देखि कुमुणि वरु ढलइ। (प्रतीप)
कइ तणु फुरइ विवुह जण पेखि पाय पसारउ आचल देखि।

यहाँ पर "तेते पाँव पसारिये जेती लाँवी सोर" कहावत का भाव ही रेखाकित पंक्तियो में है। अतएव लोकोक्ति अलंकार है।

पोडशु कला पुणु ससि मा आहि सवइ अमिउ सीयलक सव काहि।
तासु किरण तिहुवण जइ दिपइ आप पमाणि जोग णा तपइ।

यहाँ निषेधात्मक क्रियापद से साधर्म्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकार अन्य अलंकार भी ढूँढे जा सकते हैं, पर उन में कोई बौद्धिक चमत्कार नही है। जहाँ जैसे जो अभिव्यक्ति का साधन बन गया वैसे ही समाहित हो गया है, अलग से अलंकरणशैली का निदर्शन नही मिलता।

छन्द

यद्यपि जिनदत्तचउपई में मुख्य छन्द चौपाई है, पर नाराच छन्द भी कई स्थानों पर प्रयुक्त है। इस में नाराच सोमकान्त ही अधिकतर मिलता है, जिस के प्रत्येक चरण में चौवीस मात्राएँ होती हैं। यथा—

ता पहरइ वैठिउ नारी दिठउ वीर भुजंगु
बोलइ कुद्धी सो वि विरुद्धी मोडति अगु।
कहहि कहानी की जाणी निंद सुखु जिमु होइ
कह वाता सो जि तुरता तय (?) मइ घण सोइ।

इस में द्वितीय पंक्ति सदोष है। सम्भव है कि यह प्रतिगत दोष हो। क्योंकि यह अत्यन्त अशुद्ध प्रति है, जिस में कई स्थल छूटे हुए हैं।

इस काव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं। किसी-किसी में छब्बीस और अट्ठाईस तथा किसी-किसी में मिश्रित अट्ठाईस-चौबीस या छब्बीस के उदाहरण मिलते हैं। वस्तुतः कोई भी छन्द समान मात्रा वाला नही है। केवल सोमकान्त नाराच के उदाहरण ठीक दिखाई देते है। उदाहरण के लिए—

मयभिभलु गय अंकुस मोडी खंभु उपाडि दंतू
साकल तोडि करि चकचूरि गयउ महावतु घरको पूतु।
गयउ महावतु णयरी जित्य गज मूडउ भत्त अखइ तित्यु
हउ उवरियउ जु न खूदउ कालु तउ सूडिउ तोडतु नालु वसुवंध।

उक्त पंक्तियो में न तो प्रत्येक में मात्राएँ समान हैं और न वर्ण ही। अतएव निर्णय करना बहुत ही कठिन है। संस्कृत के नगस्वरूपिणी में 'जरलग' होता है और नाराच में 'तरलग' तथा पंचचामर में 'जरजरजग' तीनो में से यहाँ एक भी नही है। क्योंकि प्रत्येक पंक्ति का आरम्भिक शब्द भिन्न गण वाला है। अतएव मात्रिक छन्द है, इतना तो निश्चित है।

चौपाई

इस के प्रत्येक पद में तीस मात्राएँ होती है। इस में चार पद तथा एक सौ वीस मात्राएँ होती हैं। किन्तु यह चार छन्दो में सोलह चरणो के योग से चार सौ अस्सी मात्राओ का छन्द कहा गया है, जिसे पण्डित ही जानते है।

चउपइया छंदा भणइ फणिंदा चउमत्ता गण सत्ता।
पाएहि सगुरु करि तीस मत्त धरि चउ सअ असिअ णिरुत्ता॥
चउ छद लविज्जइ एक्कु ण किज्जइ को जाणइ एहु भेऊ।
कइ पिंगल भासइ छंद पआसइ मिअणअणि अमिअ एहू॥

प्रा० पैं०, १,९७।

उदाहरणार्थ—

पुणि झुलाइ तहि तलि सिर करइ गरव छाडि विसहर घर पडइ।
विकल भुयंग देखि मनु धरइ जीउ मारि को नर यहं पडइ॥

यहाँ ऊपर और नीचे दोनो पक्तियो में तीस-तीस मात्राएँ हैं। कही-कही इन दोनो पंक्तियो के साथ अन्य छन्द भी जुडा मिलता है। यथा—

तुम नारि निकिठी तिन्निउ झूठी झूठउ यहु परिवारू,
महु मेल्लिवि···लिवि अवरूवि कवणु वि कहऊ भत्तारू।
अरि लंपट लाइ जाइ वि लाए फीटउ होहि—
रे विभू पायर पिरथी लोए नाही कोई अम्ह पिय के रूप॥

इसी प्रकार नाराच में प्रथम दो पंक्तियो में अट्ठाईस-अट्ठाईस और बाद की दो पंक्तियों में छब्बीस-छब्बीस मात्राएँ दृष्टिगत होती हैं। उदाहरण है—

> सो धण चंगी बोलण लागी बावण पूछइ तोही
> देखिवि सूती निन्दा भूती छाडि गयउ कत मोही।
> तो तहि बाली छह निरवाली ठालउ अछइ कोइ
> इव (?) घरि हउ जइ हउ काल्हि सु कहिहउ जहा गयउ सोइ।

इस प्रकार छन्दो के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आलोच्यमान कथाकाव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं, जिन के लक्षण आज हमें नही मिल रहे हैं और रचना की एक ही प्रति उपलब्ध होने से तद्विषयक सम्यक् विवेचन असम्भव नही तो बहुत ही कठिन है। मुख्य रूप से चौपाई छन्द ही इस में हैं, जिस में कोई भेद नही मिलता। आदि से अन्त तक समूचा काव्य चौपाई छन्द में निबद्ध है। इसी लिए इस का नाम ही 'जिनदत्तचउपई' है।

भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश और हिन्दी की मध्यवर्ती कडी को जोड़ने में इस का विशेष स्थान है। यद्यपि भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है, पर शब्द-रूपो तथा सर्वनामो एवं क्रियापदो को देखने से पता लगता है कि अपभ्रंश बोली चौदहवी शताब्दी में किस प्रकार हिन्दी के ढांचे में ढल चुकी थी। वाक्य-रचना और पदों पर हमें स्पष्ट रूप से उस की छाप लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए—

> भूख मरत देव हउ केहा करउ तइ हउ पाणु भयउ विवहउ।
> जवहि गुसाईं मूडो चुडी तवहि पणाठी कुलु अरु कुली॥
> पेट अरथ देवसेवा कीज पेट अरथ देसंतर लीज।
> कतहु सा अन्नु पान-सिहु भेट पाणु भयउ ही कारण पेट॥

अपभ्रंश में स्पष्टत. मरइ, करइ, जाइ आदि क्रियापदो का प्रयोग दिखाई देता है, किन्तु इस रचना में 'इ' प्रत्यय के स्थान में 'त' प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं, जो भाषा का परवर्ती विकास है।

जिनदत्तचउपई की भाषा में अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यो की भाँति कृदन्त रूपो की बहुलता है। लुप्त विभक्तियो की प्रचुरता है। नाम-रूपो का ढलाव हिन्दी की ओर है। यथा—

> दिन दोइ चारि तिहा ठहरइ पुणु उवाउ चलिवे कौ करइ।
> सो जिणदत्तु विमलमति कंतु नंदणवणु चल्लिउ वियसंतु॥

चले, मिले, कियउ, देखत, देइ, असीस, कैसे, वहूत, कँइ, कहिउ, अउर, आयो, मो सम, जाहु, तुरन्तु, भण्डारी, यह, बात, सूनौ, दाउ, दीनी, जीति, करउ, हम, उठि गयउ, चडे, भेट, भई, पूरा, हुवा, हारिउ, तौ, तुम्ह, कही, विचिविचि, घडी, लइ गयउ, पडिउ सन्ताप, वाडी, तेरउ दास, भली, बुरी, आगि इत्यादि शब्द-रूप हिन्दी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कही-कही मारवाडी बोली की छाप अवश्य दिखाई देती है। उदाहरण के लिए—घणी, अंजणी, न्हवणु, आमडी, आणि, कवण-कवणु, भणइ, रायणु, रूवडो, आगली, अरडहि, तारडियउ, विसाहण, घाली, नीकउ आदि। किन्तु हिन्दी की स्पष्टता भी द्रष्टव्य है। यथा—

आइ कुमारी बोलियो बोलु अहो जिनदत्त इकु खेलहि खेलु।
रोवइ वूढी हियइ बिलखाइ तबहि वीरु पूछइ वियसाइ।

विभक्तियो में विनिमय तथा परसर्गों का प्रयोग भी आलोच्यमान रचना में मिलता है। "को" परसर्ग का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है, यथा—

देखित वासुपूज को भवणु पंचमि ताहि करायौ न्हवणु।

इसी प्रकार हिन्दी की भाँति जिस के हाथ के लिए 'जहि कै हाथ', जाह परक्कम अइसा लहउ, तह कौ पौरुष केत्तउ कहउ, जहि कै हाथ अंजणी चडइ, तथा—गादह गलै रयण की माल आदि प्रयोग मिलते हैं। कही-कही षष्ठी विभक्ति के स्वतन्त्र चिह्न का परसर्ग के बदले "कौ" भी दिखाई देता है। जैसे कि—

तासु वीर कौ कैसे हियउ तहि कौ पौरुष कहियइ काहि।

इसी तरह श्लिष्ट विभक्तियो के प्रयोग भी भलीभाँति मिलते है।

शैली की दृष्टि से यह चौपाई बन्ध रचना है। आरम्भ से अन्त तक एक रूप या बन्ध का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। इस से यह भी पता चलता है कि परवर्ती काल में अपभ्रंश-साहित्य में बन्ध की दृष्टि से इस नयी विधा का जन्म हो गया था। सम्भवत. अन्य रचनाएँ भी इसी शैली में इस युग में लिखी गयी होगी। क्योकि इस के पूर्व चौपाई कडवक-रचनाओ में ही मिलती है, स्वतन्त्र रूप में नही। और स्पष्ट है कि हिन्दी में, आदिकाल में इसे सुरुचि के साथ अपनाया गया। दोहा और चौपाई का चलन ही हिन्दी में पहले पहल अतिशयता से हुआ, जो अपभ्रंश के परवर्ती साहित्य का अनुसरण एवं अनुगमन करता लक्षित होता है।

सिरिपालकहा

परिचय

प० रइधू विरचित 'सिद्धचक्ककहा' या 'सिरिपालकहा' दस सन्धियो की रचना है। इस में सिद्धचक्रविधान का माहात्म्य तथा फलवर्णन रूप मैनासुन्दरी और श्रीपाल की कथा का वर्णन है। अन्य कथाकाव्यो की भाँति इस की कथावस्तु भी सोद्देश्य नियोजित है, पर साहित्यिक रूढ़ियो का पालन नही है ग्रन्थ के प्रारम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त सिद्ध-वन्दना करने के साथ सिद्धचक्र के माहात्म्य को कवि निर्दिष्ट करता है[1]। बाद में वाटू साहु और उस के पुत्र धुरन्धर तथा करमसिंह और सोहरसिंह साहु की भक्ति की प्रशंसा करता है, जिस के निमित्त कवि ने यह सिद्धचक्र कथा कही है। तदनन्तर पौराणिक विधि से राजा श्रेणिक के नगर में ससघ तीर्थंकर महावीर का आगमन होना, राजा श्रेणिक का वन्दना करने जाना और गौतम गणधर से इस कथा-विधान का माहात्म्य सुनना वर्णित है।

कवि का जन्म-स्थान और समय

रइधू तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह और उन के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में रहते थे। उन की अधिकाश रचनाएँ ग्वालियर की लिखी हुई मिलती है। अपभ्रंश-साहित्य में सब से अधिक साहित्य-सृजन करने वालो में प० रइधू साहित्यकार हुए। यद्यपि कवि ने अपने जीवन तथा समय के सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा है, पर प्राप्त विवरणो से पता लगता है कि वि० स० १४६० के लगभग कवि का जन्म हुआ होगा। क्योकि कदाचित् रइधू ने पहली रचना 'सम्मत्तगुणणिहाण' वि० सं० १४९२ में लिखी थी[2]। पं० रइधू भट्टारक यश.कीर्ति के समकालिक थे। 'मेघेश्वरचरित' में कवि ने उन्हें अपना गुरु कह कर स्मरण किया है[3]। भ० यश कीर्ति काष्ठासंघस्थित भ० गुणकीर्ति के पट्टशिष्य थे। भ० गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८ के पूर्व से १५०२ तक कहा जाता है। भ० यश कीर्ति का पट्टधर-समय वि० स० १४८६ से १५०२ कहा जा सकता है। वि० स० १५०२ में इन के पट्टधर मलयकीर्ति थे, जिन के मूर्तिलेख

---

१ सिद्धहं सुपसिद्धहं वसुगुणरिद्धह हिययकमलि धारेवि णिरु।
अक्खमि पुणु सारउ सुहसययारउ सिद्धचक्कमाहप्पवरु॥ १,१।

२ चउदहसय वाणव उत्तरालि वरिसइ गय विक्कमरायकालि।
वक्खेयत्तु जि जिणवय समक्खि भद्दव मासम्मि ससेयपक्खि॥
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइ सुहयारें सुहणामें जणेइ।
तिहुमासयरति पुण्णहूउ सम्मत्तगुणाहिणिहाण घूउ॥

३ मेहेसरचरिउ, १ ३,६-१०।

आहारजी में मिलते हैं। अतएव वि० सं० १४९२ के पूर्व ही कवि भ० यशःकीर्ति के शिष्य बन चुके होंगे। क्योंकि 'सम्मइजिणचरिउ' में उल्लिखित रचनाएँ सं० १४९४ की जान पड़ती हैं। सुकौशलचरित्र सं० १४९६ की रचना है। पं० परमानन्द शास्त्री ने भी सं० १४९६ के पूर्व उन के रचे जाने का उल्लेख किया है[1]। कवि प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। वि० सं० १५२५ के मूर्तिलेख से पता लगता है कि कवि तब तक जीवित थे[2]। अनुमानत: कवि का समय वि० सं० १४६० से १५४० कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक प्रमाण

मध्यकालीन इतिहास में ग्वालियर के तोमरवंशी राजाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन के समय में ग्वालियर राज्य वैभव सम्पन्न तथा सुख-समृद्धि से भरपूर था। संस्कृति और साहित्य का अच्छा प्रचार इस राज्य में था। प्राप्त लेखों के आधार पर इस वंश के पाँच प्रसिद्ध राजा हुए—वीरमदेव, गणपतिसिंह, डूँगरसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंह। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में इन राजाओं का शासन ग्वालियर में रहा है। ग्वालियर का प्राचीन नाम गोपाचल, गोपाद्रि या गोपगिरि लिखा हुआ मिलता है। वि० सं० १४९४ की अपभ्रंश भाषा में हस्तलिखित कवि धनपाल की 'भविसयत्तकहा' से पता लगता है कि उस समय राजा डूँगरसिंह ग्वालियर के राजा थे[3]। वे तोमरवंश के राजाओं में से चतुर्थ गणपतिसिंह के पुत्र थे। उन्हें कलिकाल चक्रवर्ती कहा गया है। स्पष्ट ही डूँगरसिंह एक प्रतापी राजा थे, जिन का शासन अत्यन्त व्यवस्थित एवं विस्तृत था। उन के समय में जैनधर्म का अच्छा चलन एवं प्रभाव था। उस समय माथुरगच्छ के भट्टारकों का ग्वालियर में बड़ा प्रभाव था। राजा भी उन का यथोचित सम्मान करता था। विशेषत: माथुरगच्छ के भट्टारकों ने वहाँ पर मूर्ति-प्रतिष्ठा, शास्त्र-रचना आदि प्रभावना के कार्य किये हैं। इस प्रकार राजा डूँगरसिंह के शासन-काल में साहित्य और कला की बहुत उन्नति हुई, जिस के प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। महाराजा वीरमदेव से ले कर मानसिंह तक बराबर यह राज्य उन्नतिशील रहा है। किन्तु जैनग्रन्थों के लेखों में डूँगरसिंह का विशेष रूप से गुणानुवाद लिखा मिलता है। विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्तकथा की पुष्पिका से पता चलता है कि वि० स० १४८६

---

१ प० परमानन्द जैन शास्त्री 'महाकवि रइधू' अनेकान्त, वर्ष ११, किरण ६, पृ० ३२४।

२ वही, पृ० ३२५।

३ सवत् १४६४ वर्षे ज्येष्ठ वदि ॥ ० आषाढ वदि २ सोमवासरे श्रीगोपाचले अत्र तुमर राज्ये कथंभूते राज्ये च हमीरे पै राज्ये जनवार्द्धके दर्शनानि प्राप्तानि तुवरे दानमानत। वदीकृत द्विशतपच-समा शकेन्द्रै राजन् समुद्धरण गोपगिरेन्द्र दुर्ग। श्रीवीरसिंहभवने यदि न त्वदीय स्याज्जन्म कोपि न विमुचयितु (समर्थ)। तस्मिन् वंशे नरेन्द्र चूडामणौ श्री गणेश्वर पुत्र कलिकालचक्रवर्ती राजा श्रीडुगरे(न्द्र) कथभूते। इत्यादि। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

में डोंगरसिंह राज्यगद्दी पर आसीन थे[1]। पं० रइधू के सुकौशलचरित की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वि० सं० १४९६ में राजा डूँगरसिंह ग्वालियर राज्य के शासक थे[2]। इसी प्रकार समयसार की एक हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति के अनुसार सं० १५१० में राजा डूँगरसिंह राज्यशासन चला रहे थे[3]। डूँगरसिंह वि० सं० १४८१ (१४२४ ई०) में राज्यसिंहासन पर आरूढ हुए थे। १४५५ ई० में कीर्तिसिंह गद्दी पर बैठे। किन्तु वि० सं० १५२५ में पं० रइधू के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति-लेख से पता लगता है कि उस समय कीर्तिसिंह राज्य कर रहे थे[4]। अतएव अनुमानत: स० १४७० के लगभग से १५२०-२२ तक डूँगरसिंह का राज्यकाल रहा होगा। इस सम्बन्ध में इतिहास के आलोक में अभी छान-बीन करना अत्यन्त आवश्यक है। लगभग वि० सं० १४९७ से १५१२ तक डूँगरसिंह ने जैनमूर्तियो का निर्माण-कार्य कराया। उन के पुत्र कीर्तिसिंह ने भी सं० १५३६ में जैनमूर्ति-निर्माण कार्य कराया।

कवि का परिचय

सन्मतिजिन चरित्र में कवि के उल्लेख से पता चलता है कि पं० रइधू के बाबा का नाम देवराज और पिता का नाम हरिसिंह था। उन की माता का नाम विजयश्री था[5]। वे पद्मावती कुल-कमल के दिवाकर थे। कवि के बाबा सघ के अधिपति थे। जैनधर्म में उन की श्रद्धा अटूट थी। कवि स्वयं और उन के पिता भी जैनधर्म के अनुयायी तथा परम भक्त थे। पं० रइधू के पिता हरिसिंह अपने समय के बडे विद्वान् थे। कवि का भी यश दूर-दूर तक फैल गया था। दिल्ली और हिसार से बडे-बडे लोग आ कर कवि से ग्रन्थ लिखने का अनुरोध करते थे। वस्तुतः उस युग में भट्टारको की भाँति पं० रइधू ने भी धर्म की बहुत ही प्रभावना की थी। राजा डूंगरसिंह का नाम बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन के शासन से प्राय. सभी सन्तुष्ट थे। कवि ने कई स्थानो पर राजा का गुण कीर्तन किया है[6]।

---

१ सवत् १४८६ वर्षे आपाढ़वदि ६ गुरुदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठा-सघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्रीमहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्यगुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री-यश'कीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इद भविष्यदत्तपंचमीकथा लिखापितम्। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

२ गोवग्गिरि डूंगर णिवहु रज्जि पइ पालंतइ अरिराय तज्जि।

३. प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ग्वालियर के तोमरवंश का एक नया उल्लेख, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १०, पृ० २९६।

४ पं० परमानन्द जैन शास्त्री महाकवि रइधू अनेकान्त, ११, ६। पृ० ३२५।

५ देवराय सघाहिव णदणु हरिसिंघु वुहयण कुल आणदणु।
पोमावइ कुलकमलदिवायरु सों वि सुणदउ एत्थु जमायरु।
जस्स घरिज रइधू वुहु जायउ देवसत्थगुरुपय अणुरायउ। २८, अन्तिम भाग।

६ तोमरवसहु तिजयपसंसहु। उज्जोयणरु कुलसतय घरु।
णामें डोगरु अरियण खययरु। तासु जि रज्जहि मइ णिरवज्जहि ॥२६॥

रचनाएँ

अपभ्रंश में पं० रइधू ने सब से अधिक रचनाएँ लिख कर इस साहित्य को गौरवान्वित किया। पं० परमानन्द शास्त्री ने महाकवि की बीस रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं[1]—सम्यक्त्वगुण निधान, सुकौशलचरित, बलभद्रचरित (पद्मचरित), नेमिनाथजिनचरित (हरिवंशपुराण), पार्श्वपुराण, मेघेश्वर चरित, यशोधरचरित, धन्यकुमारचरित, पुण्याश्रव कथा, सन्मतिजिनचरित, सिद्धचक्रविधि, वृत्तसार, अणथमीकथा, सिद्धान्तार्थसार, सम्यक्त्वकौमुदी, षोडशकारण-जयमाला, दशलक्षण जयमाला, जीवंधरचरित, करकण्डुचरित और आत्मसंबोधकाव्य। इन के अतिरिक्त सुदर्शनचरित्र, सोहंबुद्धि और सम्यक्त्वभावना का पता लगता है। सम्यक्त्वभावना जयपुर के तेरापन्थी मन्दिर के गुटका न० २५७१ में संकलित है। इन की एक रचना आदिपुराण भी कही जाती है जो अभी तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार कवि रइधू की लिखी हुई चौबीस रचनाओं का पता मिलता है। इन में कई रचनाएँ बहुत सुन्दर हैं।

रचना-काल

कवि का रचना-काल लगभग सं० १४९० से आरम्भ माना जा सकता है। सन्मतिजिनचरित्र में उन्होंने स्वलिखित छह रचनाओं का उल्लेख किया है, जो वि० सं० १४९६ से पूर्व की रचनाएँ हैं। हरिवंशपुराण में भी छह रचनाओं के लिखे जाने का निर्देश है[2]। सुकौशलचरित में भी जिनदत्तचरित, पार्श्वचरित और बलभद्र पुराण का उल्लेख है। सुकौशलचरित वि० सं० १४९६ की रचना है। अतएव उक्त तीनों ग्रन्थ निश्चय ही उन के पूर्व रचे गये थे। सन्मतिजिनचरित्र में जिन रचनाओं का उल्लेख है उन में सिद्धचक्रमाहात्म्यकथा भी सम्मिलित है[3]। अतएव यही प्रतीत होता है कि वि० सं० १४९२-९६ के मध्य कवि ने कई रचनाएँ लिखी थी, जिन में 'सिरिपाल कहा' भी एक है। अनुमानतः यह सं० १४९५ की रचना जान पड़ती है।

जैनाम्नाय मे श्रीपालकथा

श्रीपाल की कथा जैनाम्नाय में अत्यन्त ख्यात वृत्त रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यह प्रचलित रही है। दोनों में इस का महत्त्व समान है। अन्य कथाकाव्यों की भाँति इस की दीर्घ परम्परा है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश,

---

१. प० परमानन्द जेन शास्त्री महाकवि रइधू अनेकान्त वर्ष ११, किरण ६, पृ० ३२८।

२ सिरितेसट्ठि पुरिसगुण मन्दिरु रइउ महापुराण जयचंदिरु।
तह भरहहु सेण्णावइ चरियउ को मुहकह पवन्ध गुणभरियउ।
जसहरचरिउ जीवदयपोसणु, वित्तसार सिद्ध त पयासणु।
जीवंधरहु वि पासहयचरियउ विरइवि भुवणत्तउ जसभरियउ।
हरिवंशपुराण, पुष्पिका का अन्तिम भाग।

३, सन्मतिजिनचरित, १,६।

गुजराती और हिन्दी में शताब्दियों से इस कथा की रचना होती रही है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस कथा में कई परिवर्तन लक्षित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—श्रीपाल चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा के पुत्र न हो कर सिंहरथ और कमलप्रभा के पुत्र थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही बालक श्रीपाल के पिता का देहावसान हो जाता है। मन्त्री मतिसागर कुमार को सिंहासन पर आरूढ कर स्वयं राजकाज सँभालता है। यह देख कर श्रीपाल का चचेरा काका अजितसेन षड्यन्त्र रचता है। मन्त्री अपने शुभचिन्तक से यह जान कर रातोंरात रानी को बालक के साथ नगर के बाहर भेज देता है। घने वन में सात सौ कोढियो से रानी की भेंट होती है। रानी की करुण कथा सुन कर वे उसे शरण देते हैं और राजसेवको से झूठ बोल कर उस की रक्षा करते हैं। कोढियो के संसर्ग से श्रीपाल को भी कोढ रोग हो जाता है। तब माता कौशाम्बी के प्रसिद्ध वैद्य के पास चल देती है। कोढी लोग श्रीपाल को राजा बनाते हैं। एक दिन उन का दल उज्जैनी नगरी में पहुँचता है।

उस समय मालवदेश के राजा प्रजापाल का वहाँ शासन था। उन के दो रानियाँ थी। पहली का नाम सौभाग्यसुन्दरी और दूसरी का रूपसुन्दरी था। सौभाग्य-सुन्दरी के सुरसुन्दरी और रूपसुन्दरी के मैनासुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। जब ये दोनो पढ-लिख कर सयानी हो गयी तो एक दिन राजा ने सभा में पूछा—बताओ पुण्य से क्या मिलता है? सुरसुन्दरी ने धन, यौवन, सौन्दर्य और प्रियतम की प्राप्ति बतलायी और मैनासुन्दरी ने न्याय, शील, बुद्धि, आरोग्य और सद्गुरु की प्राप्ति बतलायी। राजा दोनो से सन्तुष्ट हुआ। उस ने वर माँगने को कहा। सुरसुन्दरी राजसभा में स्थित कुरुजागल के राजा अरिदमन को वरती है। दोनो का विवाह हो जाता है। किन्तु मैनासुन्दरी माथा धुनती है। राजा उस से प्रकाश डालने को कहता है तो वह कर्म सिद्धान्त की बातें कहती है। राजा भरी सभा में अपना अपमान समझता है। अन्त में मन्त्री बगीचे में जाने का समय होने से राजा को साथ में घुमाने ले जाता है। नगर के बाहर पहुँचते ही कोढियो का दल मिलता है। राजा के पास उन का दूत आता है जो यह कहता है कि हे राजन्! हम ने अपने राजा के लिए सब कुछ जुटा लिया है, पर एक सुशील कन्या के प्रबन्ध के लिए आप से प्रार्थना है। राजा मैनासुन्दरी का विवाह श्रीपाल-बनाम उम्बर से कर देता है। राणा उम्बर वही सुख से रहने लगता है। मैनासुन्दरी गुरु से सिद्धचक्र नामक यन्त्र तथा आयम्बिल की विधि ग्रहण करती है। दोनो ही गुरु के निर्देशानुसार आश्विन शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक तथा चैत्र शुक्ल सप्तमी से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा तक नौ-नौ दिन का आयम्बिल व्रत का पालन करते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह व्रत कार्तिक, फागुन और असाढ के अन्तिम आठ दिनो में पाला जाता है।

सिद्धचक्र व्रत के पालन से श्रीपाल नीरोग हो जाते हैं। इस बीच माता भी आ जाती है। सभी लोग प्रसन्न होते हैं। श्रीपाल अपना राज्य वापस लेने के विचार

से विदेश-यात्रा करता है। क्योंकि वह ससुर की सहायता से राज्य पाना ठीक नहीं समझता। मार्ग में विद्या-साधक से कुमार की भेंट होती है। श्रीपाल की सहायता से अल्प समय में ही वह विद्या सिद्ध हो जाती है। तब वह विद्याधर जलतरणी और शस्त्र-घातनिवारिणी दो औषधियाँ आग्रहपूर्वक प्रदान करता है। विद्याधर के साथ मार्ग में श्रीपाल को रससिद्ध करने वाला धातुवादी मिला। श्रीपाल की बतलायी हुई विधि से सोना बन जाता है। वह थोड़ा-बहुत सोना कुमार के छोर से बाँध ही देता है। कुछ दिनों में दोनों भरुच पहुँचते हैं। वहाँ सोना बेंच कर सुन्दर वस्त्र और शस्त्रास्त्र मोल लेते हैं।

दैवयोग से इसी समय कौशाम्बी नगरी का सेठ धवल गाड़ियों और ऊँटों पर किराना लाद कर भरुच में आता है। उस से उसे बहुत लाभ होता है। तब वह जल-मार्ग से विदेश-यात्रा का विचार करता है। वह पाँच सौ छोटी-बड़ी नौकाएँ तैयार करता है। प्रस्थान के समय तोपें छोड़ी जाती हैं। पर लंगर टस-से मस नही होते। जब धवल सेठ को यह पता लगता है कि मनुष्य की बलि चढ़ाये बिना नौकाएँ आगे नही बढ़ेंगी तो वह घबड़ा कर राजा के पास पहुँचता है। राजा परदेशी को पकड़ने की आज्ञा दे देता है। श्रीपाल को पकड़ने के लिए सेठ के सेवक पहुँचते हैं। पर किसी की भी सामर्थ्य नही होती। अन्त में धवल सेठ और राजा की सेना अग्रसर होती है। कुमार युद्ध ठान देता है। अनेक योद्धा मारे जाते हैं। औषध के प्रभाव से उस का कुछ भी बाल बाँका नही होता। सेठ श्रीपाल से क्षमा याचना करता है और नौकाएँ चला देने की प्रार्थना करता है। इस के लिए वह एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है। श्रीपाल सिद्धचक्र का ध्यान कर सिंहनाद करता है। नौकाएँ चल पड़ती हैं। धवल सेठ कुमार को अपने साथ ले चलता है। वह सेठ को सौ रुपये प्रतिमास भाड़ा दे कर विदेश यात्रा करता है। मार्ग में बब्बरकुल बन्दरगाह पर रुकते हैं। राजपुरुष कर माँगने आते हैं। सेठ देने से मना कर देता है। राजा के आदेश से सेठ के हाथ-पैर बाँध कर उसे पेड़ से उलटा टाँग दिया जाता है। श्रीपाल राजा को बन्दी बनाता है और सेठ को मुक्त करता है। राजा महाकाल अपनी कन्या मदनसेना का विवाह श्रीपाल से कर देता है। बहुत दिनों तक वहाँ रहने के बाद वे रत्नद्वीप की ओर प्रस्थान करते हैं।

धवल सेठ मन ही मन बहुत कुढ़ता है। जब श्रीपाल को उस के ओछे विचारों का पता चलता है तब वह सेठ को भाड़े की दस गुनी रक़म चुका देता है। कुछ दिनों में वे रत्नद्वीप पहुँचते हैं। एक दिन कुमार नाटक देख कर जब लौटता है तब एक सवार व्यक्ति रत्नसानु पर्वत पर स्थित जिनमन्दिर, रत्नसंचया नगरी, कनककेतु विद्याधर, रानी रत्नमाला और कन्या मदनमजूषा का परिचय देता है। श्रीपाल के प्रभाव से पर्वत के मन्दिर के द्वार खुल जाते हैं। वह दर्शन करता है। राजा अपनी पुत्री उसे परणा देता है। धवल सेठ के कहने पर एक दिन मदनमंजूषा के साथ विदा हो कर श्रीपाल स्वदेश के लिए लौट पड़ता है। धवल उस के वैभव को देख कर चिढ़ता है। धीरे-धीरे

नयी वहू के रूप-सौन्दर्य का आकर्षण उसे अपना बना लेता है। इस लिए वह अपने चौथे मित्र की राय से कुमार को छल पूर्वक समुद्र में ढकेल देता है। किन्तु जलतरणी जडी और सिद्धचक्र के प्रभाव से मगर उसे अपनी पीठ पर चढ़ा कर समुद्र-तट पर पहुँचा देता है। थकावट के कारण श्रीपाल चम्पा वृक्ष के नीचे लेटते ही सो जाता हैं। आंख खुलने पर घुडसवारों की भीड़ उसे वतलाती है कि इस कोकण देश की यह ठाणापुरी नाम की राजधानी है। यहाँ के राजा वसुपाल की मदनमंजरी नामक सुन्दर कन्या हैं। नैमित्तिक के अनुसार आप ही उस के वर हैं। अतएव चलिए। इधर श्रीपाल का विवाह मदनमंजरी से होता है और उधर दोनो ही पत्नियाँ करुण विलाप करती हैं। अन्त में दोनो ही समुद्र में गिरने के लिए तैयार होती हैं। इतने में ही सिंहवाहिनी चक्रेश्वरी देवी तथा क्षेत्रपाल प्रकट होते है। देवी धवल सेठ के चौथे मित्र को मार डालती है और सेठ को सतियो की शरण लेने से छोड़ तो देती हैं, पर बुरी तरह से डाटती हैं। तीनो मित्र उस का उपहास करते है। किन्तु कामान्ध सेठ अपनी चाल से वाज नही आता। वह स्वयं स्त्री के वेश में प्रेम की याचना करता है। तब चक्रेश्वरी देवी कुछ दिनो के लिए उस की नेत्र-ज्योति हर लेती हैं। सेठ के वहुत चाहने पर भी हवा के प्रतिकूल वहाव से विवश हो दक्षिण में कोकण देश के तट पर जा लगे। सेठ राजा के पास भेंट की बहुमूल्य वस्तुओ को साथ मे ले कर जाता है। वहाँ वैठे हुए श्रीपाल को देख कर वह सूख जाता हैं। और भांडो को एक लाख रुपये दे कर वह श्रीपाल को नीच कुल का प्रमाणित करता है। अन्त में कुमार मन्त्रियो के साथ अपनी दोनो पत्नियो को राजसभा में वुलवाता है। वे कुमार के कुल का परिचय देती हैं। धवल सेठ और भांडो को शूली का दण्ड मिलता है। कुमार उन्हे वचाता है। किन्तु सेठ का पापी मन अव भी नही मानता। वह श्रीपाल की हत्या करने के लिए महल के सातवें खण्ड पर गोह के सहारे चढता है, पर शरीर भारी और अवस्था अधिक होने से रस्सी उस के हाथ से छूट जाती है और कमर में खोसी हुई कटारी उसी का प्राणान्त कर देती है।

एक दिन बगीचे जाते समय बनजारो का मुखिया श्रीपाल को कुण्डलपुर के राजा मकरकेतु और रानी कर्पूरतिलका की पुत्री गुणसुन्दरी का परिचय देता है। श्रीपाल सिद्धचक्र के ध्यान से देवता विमलेश्वर की सहायता से मणिमाला को पहन कर वामन का रूप धारण कर कुण्डलपुर पहुँचते हैं और कुमारी को वीणावादन में पराजित कर उस का पाणिग्रहण करते हैं। वहाँ से कुमार चल कर कचनपुर के राजा वज्रसेन और रानी कचनमाला की पुत्री त्रैलोक्यसुन्दरी को समस्यापूर्ति में विजित कर वरण करता है। इसी प्रकार शृगारसुन्दरी और उस की पाँचो सखियो को भी समस्या-सवाद में विजित कर अपना लेता है। कुमार की विद्वत्ता से प्रसन्न हो विप्र अंगभट्ट कोल्लागपुर के राजा पुरन्दर और रानी विजया की पुत्री जयसुन्दरी को वरने की राय देता है। श्रीपाल वहाँ पहुँच कर राधावेध में सफलता प्राप्त कर कन्या से विवाह करते हैं। ठाणा

के राजा वसुपाल कुमार की खोज में दूतों को भेजता है। वे यहाँ आ कर उन से मिलते हैं। मामा का सन्देश पा कर श्रीपाल रानियो के साथ वहाँ पहुँचता है। कुछ दिन वहाँ रह कर माता से मिलने के लिए स्वदेश के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में कई राजाओ को अधीन कर भेट लेते हुए सोपारकपुर पहुँचते हैं। वहाँ के राजा को, सर्प-दंश से पीड़ित राजकुमारी के अग्नि-संस्कार में गया हुआ सुन कर कुमार भाग कर वहाँ पहुँचता है और कुमारी को जीवित कर देता है। उन दोनो का विवाह हो जाता है।

श्रीपाल मालवपति राजा प्रजापाल की नगरी उज्जैनी की ओर तेजी से बढता है। मार्ग के अनेक देशो के राजा, जिन में मुख्य महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, मेवाड़, लाट, भोट है—कुमार की अधीनता स्वीकार करते हैं। उज्जैन में पहुँच कर कुमार नगर को चारो ओर से घेर लेता है। बाकी की घटनाएँ दोनो में समान हैं। हाँ, मालवपति कन्धे पर कुल्हाड़ी रख कर नंगे पैरों शिविर में आते हुए यहाँ बताये गये हैं। सभी प्रसन्न हुए। श्रीपाल ने आनन्द बढाने के लिए अभिनय करने की आज्ञा दी। किन्तु नटी तैयार नही हुई। वह रंगमंच पर आते ही विषाद से भर गयी और माता सौभाग्यसुन्दरी के गले लग कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। उस ने बताया कि माता जब मैं यहाँ से विदा हो कर शंखपुर पहुँची तो प्रवेश का मुहूर्त न होने से हम नगर के बाहर बगीचे में ठहर गये। हमारे साथ के कई लोग स्वजनों से मिलने चले गये। आधी रात गये डाकुओ ने हमें लूट लिया। मैं डाकू के हाथो नेपाल पहुँच गयी। वहाँ से बिक कर मैं बब्बरकुल पहुँची। वहाँ मैं वेश्या के हाथो में बिकी। वेश्या ने मुझे नटी बना दिया। राजा महाकाल के यहाँ बाध्य हो कर मुझे रहना पड़ा। मदनसेना के विवाह में राजा ने श्रीपाल के दायजे में नाटक-मण्डली भी भेंट में दी और तब से मैं इस मण्डली में हूँ। इस प्रकार लेखक ने सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी के विचारो और कर्मों के अनुसार इसी जीवन के दोनो पक्षो को उजागर कर दिया है। यही इस की विशेषता है। जो सुरसुन्दरी पहले गर्व से इठला रही थी और मैनासुन्दरी के दु:ख पर प्रसन्न हो रही थी वही आज मैनासुन्दरी की सराहना एवं प्रशंसा करती हुई नही थक रही थी। अन्त में श्रीपाल दूत को शंखपुर भेज कर अरिदमन को बुलाता है और सुरसुन्दरी को उस के हाथो में सौंपता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रइधू तथा पं० नरसेन की कथा से यह कथा कई बातों में भिन्न है तथा विस्तृत है। सुरसुन्दरी की यह घटना दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित नही है। जान पडता है कि यह परवर्ती विकास है, जिस में घटनाओ को विषय के अनुरूप माहात्म्य को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए कही-कही मोड़ कर वस्तु-व्यजना को अधिक स्फीत एवं प्रेरक बना दिया गया है। जो भी हो, इस से इस कथा के महत्त्व और लोक-प्रसिद्धि का पता चलता है।

श्रीपालचरित्र सम्बन्धी रचनाएँ

जैन साहित्य में श्रीपाल सम्बन्धी कई रचनाएँ विभिन्न भाषाओ में लिखी हुई मिलती हैं। श्रीपाल की कथा को ले कर जितनी अधिक रचनाएँ लिखी गयी सम्भवतः उतनी अन्य किसी कथा पर नही लिखी गयी। अकेले जिनरत्नकोश में इकतीस रचनाओं का उल्लेख है।[1] अपभ्रंश में ही पं० रइधू के अतिरिक्त कवि दामोदर कृत श्रीपालचरित्र, पं० नरसेन कृत तथा जयमित्रहल रचित श्रीपालचरित्र उपलब्ध हैं। प्राकृत में रत्नशेखर विनयविजयसूरि तथा प्रद्युम्नसूरि रचित श्रीपालचरित्र काव्यो का पता लगता है। संस्कृत में भ० सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सोमकीर्ति, ब्र० नेमिदत्त, मल्लिभूषण, विद्यानन्दिन, लब्धिमुनि, जगन्नाथ कवि, सत्यसागरगणि, धर्मधीर आदि विद्वानो द्वारा लिखित श्रीपालचरित्र का पता मिलता है। संस्कृत गद्य में ज्ञानविमलसूरि, जयकीर्तिसूरि और जीवराजगणि की रचनाओ का उल्लेख मिलता है।[2] हिन्दी में भी दौलतराम कृत श्रीपालचरित्र, जिनहर्षगणि तथा ब्रह्म रायमल्ल रचित श्रीपालरास, परिमल्ल विरचित श्रीपालचरित्र तथा कई अज्ञात लेखको की भाषा और हिन्दी गद्य में लिखी हुई रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में भी श्रीपाल विषयक कई रचनाएँ देखने को मिलती हैं। गुजराती का अधिकाश साहित्य रासो साहित्य है। मेरे पास लगभग सौ-सवा सौ रासो ग्रन्थ के नाम लिखे हुए हैं। उन में से गुणसुन्दर कृत श्रीपालरास, ज्ञानसागर, जिनहर्ष, विनयविजय तथा यशोविजय रचित श्रीपालरास और नयसुन्दर विरचित सुरसुन्दरीरास तथा ज्ञानसागर कृत सिद्धचक्ररास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार गुजराती, तमिल, कन्नड तथा अन्य भाषाओमें श्रीपालाख्यान के रचे जाने का उल्लेख मिलता है। इस से इस कथा की लोकप्रसिद्धि तथा उस के माहात्म्य का पता चलता है। उक्त रचनाओं में सब से प्राचीन कवि दामोदर विरचित श्रीपालचरित्र है। कवि की अन्य रचना 'णेमिणाहचरिउ' का रचनाकाल वि० स० १२८७ है। अतएव यह भी उसी समय के लगभग तेरहवी शताब्दी की रचना है। तेरहवी शताब्दी का लिखा हुआ श्रीपालचरित्र किसी अन्य भाषा में अभी तक उपलब्ध नही हुआ। जिनरत्नकोश में दी हुई नामावली के अनुसार सब से प्राचीन रचना सत्यराजगणि कृत है, जो वि० सं० १४२८ की लिखी हुई है। पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व की केवल दामोदर कवि द्वारा लिखित रचना मिलती है। अधिकाश रचनाएँ तो सोलहवी शताब्दी की हैं। किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी से आज तक अविच्छिन्न रूप से श्रीपाल की कथा लिखी जाती रही है।

कथा का आधार

पं० रइधू की श्रीपालकथा का आधार नरसेन कृत सिद्धचक्रकथा प्रतीत होती है। यद्यपि नरसेन का समय अभी तक अज्ञात है, पर प्राप्त प्रतिलिपियो के आधार पर

---

१ श्री एच० डी० वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ३९८।

२. वही, पृ० ३९९।

सन्तोष हुआ। वह सम्मान के साथ उसे नगर में ले गया और मैंनासुन्दरी के साथ उस का विवाह कर दिया। मन्त्रियो ने बार-बार समझाया; पर राजा ने किसी की भी बात नही मानी। अन्तःपुर में सभी विलाप करते हैं। किन्तु मैंनासुन्दरी सब को समझाती है कि दुःख-शोक मत करो। शुभाशुभ कर्मों के परिणमन से संसारी जीव को दुःख-सुख लगे ही रहते हैं। अन्त में मैंनासुन्दरी पति के साथ ससुराल में पहुँचती है। श्रीपाल उस से कहता है कि तुम मेरी संगति मत करो, नही तो तुम्हें भी कुष्ठ हो जायगा। किन्तु वह अपने शील को प्रकट कर पति की सेवा में निरत रहती है। गुरु के प्रसाद से वह सिद्धचक्र-विधान की आराधना एवं अर्चना करती है। कुछ ही दिनो में उस के पति के तन का कुष्ठ दूर हो कर तपे हुए सोने की भाँति रंग निखर आता है। सभी लोग हर्ष से फूले नही समाते। जब श्रीपाल से राज्य के लिए कहा गया तो उस ने विचार कर कहा कि दूसरे के बल से उपार्जित राज्य को ले कर मैं क्या करूँगा। मैं स्वयं देशान्तरों में भ्रमण करूँ। मैंनासुन्दरी भी पति की अनुगामिनी बन कर चलने की इच्छा प्रकट करती है। तब श्रीपाल उसे समझाते हैं और माता-पिता की सेवा करने के लिए कहते हैं। अन्त में बारह वर्ष के लिए श्रीपाल यात्रा पर निकल पड़ते हैं। मैंनासुन्दरी विलाप करती है। माता को भी दुःख होता है। कोटिभट श्रीपाल सात सौ मित्रो के साथ द्वीपान्तरों की यात्रा समुद्र मार्ग से करते हैं।

समुद्र-मार्ग से यात्रा करने के पूर्व श्रीपाल अपने मित्रों के साथ कई नगर, उपवन, पर्वत, गाँव आदि लाँघते हुए एक अत्यन्त रमणीक उपवन में पहुँचते हैं। वे वहाँ एक चम्पा वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। इतने में कुछ राहगीर हाथ जोड़ कर उन से कहते हैं कि गुरु ने कृपा कर हमें विद्यामन्त्र दिया है, पर मन की चंचलता से हम उसे साध नही पा रहे हैं। आप महानुभाव हैं इस लिए यदि आप उसे सिद्ध करने में हमारी सहायता कर दें तो हमें पाप नही लगेगा। कोटिभट श्रीपाल ने उन की संरक्षा की। वे विद्यामन्त्र ग्रहण कर ध्यानपूर्वक जाप करने लगे। एक दिन रात को विद्यागण सिद्ध हो गये। उन्होने श्रीपाल को जलतारिणी, वैरिनिवारिणी तथा कितनी ही अन्य विद्याएँ प्रदान की। तब श्रीपाल बिना कही रुके समुद्र-देश में पहुँचते हैं। वहाँ धवलसेठ से भेंट होती है। द्रव्य के लोभ से वह पाँच सौ जहाज तैयार कराता है। दस हज़ार सुभट वहाँ एकत्र होते हैं। बारह वर्ष के लिए खाने-पीने की तथा अन्य सामग्री ले कर जलदेवता का पूजन कर वे सब प्रस्थान करते हैं। किन्तु पोत टस से मस नही होता। सब बहुत घबड़ाते है। धवलसेठ को भी चिन्ता होती है। जब श्रीपाल यह देखते हैं कि जल-जन्तुओ के स्थिर हो जाने से पोत नही चल रहा है तो अपनी भुजाओ का प्रदर्शन करने के लिए तैयार होते हैं। किन्तु धवलसेठ जीवो की विराधना करने से उसे रोकता है। अन्त में श्रीपाल सिद्ध मन्त्र का ध्यान करता है और पोत चल पडता है। तब धवलसेठ कहता है कि यदि मार्ग में पोत अड़ जायेगा तो कौन चलाने में समर्थ होगा? श्रीपाल कहते हैं कि जब तक मेरे साथ हो तब तक क्या डर? यदि प्राणों को भी माँगोगे तो

दे दूँगा। इन वचनो को सुन कर सेठ कोटिभट को धर्म-पुत्र मान लेता है। भयावह समुद्र को देख कर तथा कई दिनो तक लगातार बैठने के कारण कई लोगो की तबियत बिगड़ने लगी। इधर लुटेरे लोग निकट आ गये। दोनो ओर के लोगो में घमासान युद्ध हुआ। धवलसेठ जीवित ही बांध लिया गया। श्रीपाल यह सुन कर दौड पडे और उन सब पर तरह-तरह के वार किये। अन्त में वे सब शरण में आये और हाथ-पैर जोडने लगे। अकेले श्रीपाल ने एक लाख चोरो को बांध लिया और सेठ को बन्धनो से मुक्त कर दिया। युवतियों ने मंगलगीत गाये। कोटिभट श्रीपाल ने चोरो के बन्धन छोड कर उन्हें वस्त्राभूषण दिये और प्रेम से धर्म का उपदेश दिया। फिर पवन से प्रेरित हो कर उन का पोत अन्य किसी द्वीप में जा लगा। इस द्वीप का नाम हसद्वीप था। इस में अठारह रत्नों की खानें थी। सब लोग यहाँ पर उतरते है और पोत से सब सामान उतार लिया जाता है।

इस द्वीप में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उस की रानी का नाम गुणमाला था। उन दोनों के रत्नमंजूषा नाम की अत्यन्त सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी। एक बार मुनिवर से पूछने पर उन्होने बताया कि जो व्यक्ति सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड़ो को अपने हाथ से खोल देगा वही इस कुमारी का वर होगा। तभी राजा वहाँ पर द्वारपाल नियत कर देता है। कोटिभट श्रीपाल जिनवन्दना के लिए उस चैत्यालय में जाते है। पास में पहुँच कर देखते हैं कि इतना सुन्दर मन्दिर बन्द पडा है, तब उस नौकर से उस के बन्द होने का कारण पूछते हैं। वह प्रमत्त सेवक कहता है कि कारण क्या पूछते हो ? तुम धर्मात्मा और बलवान् एवं रूपवान् हो इसलिए वज्र के किवाडो को जा कर खोल लो अथवा छेदों में से दर्शन कर लो। श्रीपाल गुरु का स्मरण कर हाथों से किवाडो को ठेलता है। किवाड खुल जाता है। द्वारपाल राजा को सूचना देता है। राजा सपरिवार मंगल उद्घोषो के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जाता है। वहाँ श्रीपाल से भेंट कर मुनिवर का वृत्तान्त सुनाता है। सुमुहूर्त में राजा श्रीपाल को अपनी कन्या परणा देता है। श्रीपाल वही राज्य करने लगता है। एक दिन धवलसेठ लौटने के लिए कहता है। पोत को भलीभाँति वस्त्रों तथा रत्नो आदि से भर कर वे सब स्वदेश के लिए लौट पडते हैं। वस्त्राभूषणो से अलंकृत रत्नमंजूषा के अनिन्द्य रूप को देख कर सभी वणिक् मोहित हो जाते हैं। धवलसेठ उसे देख कर मूच्छित हो जाता है और मन ही मन में घुलने लगता है। श्रीपाल उस की दशा को देख कर कारण पूछते हैं तो वह विषम व्याधि बताता है। मन्त्री लोग कहते है कि यह क्या रोग है कि मरणावस्था तक पहुँच गये हो। वह अपनी व्यथा कह कर सुनाता है और रत्नमजूषा में अपनी अनुरक्ति प्रकट करता है। मन्त्री जन उसे समझाते है। तीनो मन्त्रियो के चले जाने पर वह तुरन्त ही श्रीपाल के पास जा कर कूट भाषण करता है। वह कहता है कि हे स्वामी, आप के कई वैरी हैं। मै ने मन्त्रणा कर पता लगा लिया है। कलकल कोलाहल कर कई लोग आश्चर्यजनक बोल रहे हैं। श्रीपाल तुरन्त ही बाँस पर चढता

पता चलता है कि नरसेन का काल चौदहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध या पन्द्रहवी का पूर्वार्द्ध रहा होगा। क्योकि आमेर भण्डार से प्राप्त प्रतिलिपि का समय वि० स० १५९० है। किन्तु इस से पहले की एक प्रति वि० सं० १५८९ की जैनमन्दिर दीवानजी, कामा (भरतपुर) में वर्तमान है। यह रचना के प्रचलन का समय है। यदि हम कम से कम डेढ-सौ वर्षों का अन्तराल मानें तो अनुमानत. चौदहवी शताब्दी में उक्त रचना लिखी गयी होगी।

पं० रइधू कृत श्रीपालकथा का आधार नरसेन रचित सिद्धचक्रकथा को मानने के कारण निम्नलिखित है—

दोनो की कथा में कोई विशेष अन्तर नही दिखलाई पडता। कही-कही कुछ अन्तर है। जैसे कि राजा पयपाल की रानी का नाम जयश्री न हो कर नरसुन्दरी होना। मुनि समाविगुप्त से दोनो कन्याओ का सकल शास्त्रो का अध्ययन करना। विद्यासाधन की घटना का सिद्धचक्रकथा में न होना। किन्तु शेष घटनाएँ तथा पात्रो के नाम दोनों में समान हैं। कही-कही वर्णनो में भी समता लक्षित होतीहै। उदाहरण के लिए श्रीपाल कुण्डलपुर में रानी चित्रलेखा की पुत्रियो की दी हुई जिन समस्या पूर्तियो को रचता है लगभग उन्ही शब्दो में वे ही समस्यापूर्ति के लिए समस्याएँ पं० रइधू ने भी दी हैं। इस प्रकार अन्य स्थानो पर भी सिद्धचक्रकथा की झलक श्रीपालकथा पर मिलती है, जिस से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि पं० रइधू ने उसे देखा-सुना अवश्य होगा। यदि हम यह मानें कि नरसेन की कथा रइधू के वाद रची गयी तो यह सम्भव नही जान पडता। क्योंकि रइधू की घटनाओ में विस्तार है और नरसेन में संक्षेप। फिर, श्रीपालकथा में दो-तीन घटनाएँ अधिक हैं। यदि नरसेन रइधू के ग्रन्थ को देख कर कथा लिखते तो उन घटनाओं को क्यो छोड देते ? अतएव यही प्रतीत होता है कि नरसेन रचित विपय-वस्तु का पं० रइधू ने विस्तार से वर्णन किया है।

कथावस्तु

जम्बूद्वीप के दक्षिण में भरतक्षेत्र में मालवा नाम का सुन्दर प्रदेश था। उस में उज्जैनी नाम की सुरम्य नगरी थी। वहाँ राजा पयपाल का शासन था। रानी का नाम जयश्री था। उन दोनो के दो कन्याएँ थी। वड़ी का नाम सुरसुन्दरी और छोटी का नाम मैनासुन्दरी था। जेठी कन्या कुमतिशीला थी और लोरी (छोटी) चतुर तथा धर्म के पालन में निरत थी। एक वार उस नगरी में मुनिवर समाधिगुप्त का आगमन हुआ। राजा सपरिवार उन को वन्दना के लिए गया। राजा के निवेदन करने पर मुनिराज उन दोनों कन्याओ को विद्याएँ सिखाने लगे। उन दोनो ने अमरकोश, ज्योतिष, नीति, भरतसंगीत, नाट्यशास्त्र, छन्द, अठारह लिपि, अठारह भाषाओ तथा कला-विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त की। जेठी पुत्री ने पुराण, आगम, वेद, कोक, सिद्धान्तग्रन्थ, तन्त्र-मन्त्र-विज्ञान आदि की भी शिक्षा प्राप्त की। पढ़-लिख लेने के वाद एक दिन जेठी

कन्या राजसभा में गयी और आधे आसन से बैठ गयी। राजा ने उस के रूप-सौन्दर्य को निहार कर तथा विदुषी जान कर पूछा कि राजकुमारो में से तुम्हे जो अच्छा लगता हो उसे वताओ। हे पुत्रि, मै तुम्हारी रुचि के अनुसार उसी से तुम्हारा विवाह कर दूँगा। इतने में ही वहाँ कौशाम्वी के राजा का पुत्र हरिरथ आ पहुँचा। उस के रूप को देख कर सुरसुन्दरी मोहित हो गयी। वह बोली—मुझे सिंहरथ के सिवाय कोई अच्छा नही लगता। जो भाता है वही प्रदान कीजिए। राजा ने शुभ दिन तथा मुहूर्त में उस से उस का विवाह कर दिया। वे दोनो आनन्द से कौशाम्वी में जा कर रहने लगे।

इधर एक दिन दिपते हुए स्वर्ण की भाँति रूपवती मैनासुन्दरी गन्धोदक ले कर राजा के पास जाती है। राजा उसे ले कर असीस देता है और कहता है कि सुरसुन्दरी की भाँति तुम भी स्वयवर माँग लो। कुमारी कहती है कि अपने-अपने पुण्य से सव प्राप्त करते हैं। राजा इन वचनो को सुन कर क्रोधित हो गया। वह वोला कि तुम जिस किसी राजकुमार को चाहती हो सो वताओ। राजकुमारी यह सुन कर खेदखिन्न हो मुँह नीचा कर वैठ गयी। तव राजा ने उस की वहुत निन्दा की। राजा के वार-वार धिक्कारने पर वह सशय में पड गयी। फिर कुछ विचार कर बोली कि आप किसी भी राजकुमार को परणा दीजिए। राजा इस वात को सुन कर क्रोध से भर कर कहने लगा कि यह कुलकलंकिनी है। स्वच्छन्द हाथी की भाँति मदमस्त है इस के मन में जो कुछ आता है सो कहती है। तव अत्यन्त नम्रता से मैनासुन्दरी पिताजी से बोली कि आप क्रोध न कीजिए। कुलीन घर में जन्म लेने वाली कन्या अपनी लज्जा नही खो देती है। आप अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कीजिए। मेरा वही वर है जो आप सव के मन भावे। फिर, प्राणी को सुख-दु ख कर्म के विपाक के अनुसार मिलता है। कोई किसी को सुख-दुःख नही देता है। कर्म ही संसार में सव से प्रधान है। कर्म से ही मनुष्य शुभ-अशुभ गतियो को प्राप्त करता है, राजा-रंक बनता है। राजा इन वचनों को सुन कर वोला कि यदि कर्म ही सव कुछ करता है तो फिर प्रत्यक्ष रूप से तुम मुझ से वस्त्र, भोजन आदि विविधसुखो को क्यो प्राप्त करती हो? तव उत्तर में वह बोली कि मेरा जन्म कर्मों के उदय से आप के घर में होने से मुझे यह सव मिल रहा है। कर्मों की प्रेरणा से ही मुझे सुख-साधन मिले हैं। पुत्री की इन वातो को सुन कर राजा का मन भड़क उठा और वह वोला कि अच्छा देखता हूँ कि कर्म तुम्हें क्या फल देता है। उठो, तुम अपने घर जाओ। मैनासुन्दरी घर जा कर भोजन करती है और उधर राजा क्रोध से जल उठता है।

दूसरे दिन राजा सेना के साथ वर की खोज में निकल पडता है। पुर के वाहर सेना को छोड कर वह मन्त्रियों के साथ आगे बढता है। इतने में उसे अग देश में स्थित चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा का पुत्र श्रीपाल सामने आता हुआ दिखाई दिया। कुमार श्रीपाल का समूचा शरीर कुष्ठ व्याधि से पीडित था। सिर पर वह ढाक (पलाश) का छत्र धारण किये हुए था। उसे देख कर राजा के मन में

सन्तोष हुआ। वह सम्मान के साथ उसे नगर में ले गया और मैनासुन्दरी के साथ उस का विवाह कर दिया। मन्त्रियो ने वार-वार समझाया; पर राजा ने किसी की भी वात नही मानी। अन्त.पुर में सभी विलाप करते हैं। किन्तु मैनासुन्दरी सब को समझाती है कि दु:ख-शोक मत करो। शुभाशुभ कर्मों के परिणमन से संसारी जीव को दु.ख-सुख लगे ही रहते हैं। अन्त में मैनासुन्दरी पति के साथ ससुराल में पहुँचती है। श्रीपाल उस से कहता है कि तुम मेरी संगति मत करो, नही तो तुम्हें भी कुष्ठ हो जायगा। किन्तु वह अपने शील को प्रकट कर पति की सेवा में निरत रहती है। गुरु के प्रसाद से वह सिद्धचक्र-विधान की आराधना एवं अर्चना करती है। कुछ ही दिनो में उस के पति के तन का कुष्ठ दूर हो कर तपे हुए सोने की भाँति रंग निखर आता है। सभी लोग हर्ष से फूले नही समाते। जव श्रीपाल से राज्य के लिए कहा गया तो उस ने विचार कर कहा कि दूसरे के वल से उपार्जित राज्य को ले कर मैं क्या करूँगा। मैं स्वयं देशान्तरो में भ्रमण करूँ। मैनासुन्दरी भी पति की अनुगामिनी वन कर चलने की इच्छा प्रकट करती है। तव श्रीपाल उसे समझाते हैं और माता-पिता की सेवा करने के लिए कहते हैं। अन्त में वारह वर्ष के लिए श्रीपाल यात्रा पर निकल पडते हैं। मैनासुन्दरी विलाप करती है। माता को भी दु.ख होता है। कोटिभट श्रीपाल सात सौ मित्रो के साथ द्वीपान्तरों की यात्रा समुद्र मार्ग से करते हैं।

समुद्र-मार्ग से यात्रा करने के पूर्व श्रीपाल अपने मित्रो के साथ कई नगर, उपवन, पर्वत, गाँव आदि लाँघते हुए एक अत्यन्त रमणीक उपवन में पहुँचते हैं। वे वहाँ एक चम्पा वृक्ष के नीचे वैठ जाते हैं। इतने में कुछ राहगीर हाथ जोड कर उन से कहते हैं कि गुरु ने कृपा कर हमें विद्यामन्त्र दिया है, पर मन की चंचलता से हम उसे साध नही पा रहे हैं। आप महानुभाव हैं इस लिए यदि आप उसे सिद्ध करने में हमारी सहायता कर दें तो हमें पाप नही लगेगा। कोटिभट श्रीपाल ने उन की संरक्षा की। वे विद्यामन्त्र ग्रहण कर ध्यानपूर्वक जाप करने लगे। एक दिन रात को विद्यागण सिद्ध हो गये। उन्होने श्रीपाल को जलतारिणी, वैरिनिवारिणी तथा कितनी ही अन्य विद्याएँ प्रदान की। तव श्रीपाल विना कही रुके समुद्र-देश में पहुँचते हैं। वहाँ धवलसेठ से भेंट होती है। द्रव्य के लोभ से वह पाँच सौ जहाज़ तैयार कराता है। दस हज़ार सुभट वहाँ एकत्र होते है। वारह वर्ष के लिए खाने-पीने की तथा अन्य सामग्री ले कर जलदेवता का पूजन कर वे सव प्रस्थान करते हैं। किन्तु पोत टस से मस नही होता। सव वहुत घवड़ाते है। धवलसेठ को भी चिन्ता होती है। जव श्रीपाल यह देखते हैं कि जल-जन्तुओं के स्थिर हो जाने से पोत नही चल रहा है तो अपनी भुजाओ का प्रदर्शन करने के लिए तैयार होते हैं। किन्तु धवलसेठ जीवों की विराधना करने से उसे रोकता है। अन्त में श्रीपाल सिद्ध मन्त्र का ध्यान करता है और पोत चल पड़ता है। तव धवलसेठ कहता है कि यदि मार्ग में पोत अड़ जायेगा तो कौन चलाने में समर्थ होगा? श्रीपाल कहते हैं कि जब तक मेरे साथ हो तव तक क्या डर? यदि प्राणो को भी माँगोगे तो

दे दूँगा। इन वचनों को सुन कर सेठ कोटिभट को धर्म-पुत्र मान लेता है। भयावह समुद्र को देख कर तथा कई दिनो तक लगातार बैठने के कारण कई लोगो की तबियत बिगडने लगी। इधर लुटेरे लोग निकट आ गये। दोनो ओर के लोगो में घमासान युद्ध हुआ। धवलसेठ जीवित ही बाँध लिया गया। श्रीपाल यह सुन कर दौड पडे और उन सब पर तरह-तरह के वार किये। अन्त में वे सब शरण में आये और हाथ-पैर जोड़ने लगे। अकेले श्रीपाल ने एक लाख चोरो को बाँध लिया और सेठ को बन्धनो से मुक्त कर दिया। युवतियो ने मंगलगीत गाये। कोटिभट श्रीपाल ने चोरो के बन्धन छोड कर उन्हें वस्त्राभूषण दिये और प्रेम से धर्म का उपदेश दिया। फिर पवन से प्रेरित हो कर उन का पोत अन्य किसी द्वीप में जा लगा। इस द्वीप का नाम हसद्वीप था। इस में अठारह रत्नो की खानें थी। सब लोग यहाँ पर उतरते हैं और पोत से सब सामान उतार लिया जाता है।

इस द्वीप में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उस की रानी का नाम गुणमाला था। उन दोनों के रत्नमंजूषा नाम की अत्यन्त सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी। एक बार मुनिवर से पूछने पर उन्होने बताया कि जो व्यक्ति सहस्रकूट चैत्यालय के किवाडो को अपने हाथ से खोल देगा वही इस कुमारी का वर होगा। तभी राजा वहाँ पर द्वारपाल नियत कर देता है। कोटिभट श्रीपाल जिनवन्दना के लिए उस चैत्यालय में जाते है। पास में पहुँच कर देखते हैं कि इतना सुन्दर मन्दिर बन्द पडा है, तब उस नौकर से उस के बन्द होने का कारण पूछते हैं। वह प्रमत्त सेवक कहता है कि कारण क्या पूछते हो ? तुम धर्मात्मा और बलवान् एवं रूपवान् हो इसलिए वज्र के किवाडो को जा कर खोल लो अथवा छेदो में से दर्शन कर लो। श्रीपाल गुरु का स्मरण कर हाथो से किवाडो को ठेलता है। किवाड खुल जाता है। द्वारपाल राजा को सूचना देता है। राजा सपरिवार मगल उद्घोषो के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जाता है। वहाँ श्रीपाल से भेंट कर मुनिवर का वृत्तान्त सुनाता है। सुमुहूर्त में राजा श्रीपाल को अपनी कन्या परणा देता है। श्रीपाल वही राज्य करने लगता है। एक दिन धवलसेठ लौटने के लिए कहता है। पोत को भलीभाँति वस्त्रो तथा रत्नों आदि से भर कर वे सब स्वदेश के लिए लौट पडते हैं। वस्त्राभूषणों से अलंकृत रत्नमंजूषा के अनिन्द्य रूप को देख कर सभी वणिक् मोहित हो जाते हैं। धवलसेठ उसे देख कर मूर्च्छित हो जाता है और मन ही मन में घुलने लगता है। श्रीपाल उस की दशा को देख कर कारण पूछते है तो वह विषम व्याधि बताता है। मन्त्री लोग कहते हैं कि यह क्या रोग है कि मरणावस्था तक पहुँच गये हो। वह अपनी व्यथा कह कर सुनाता है और रत्नमंजूषा में अपनी अनुरक्ति प्रकट करता है। मन्त्री जन उसे समझाते हैं। तीनो मन्त्रियो के चले जाने पर वह तुरन्त ही श्रीपाल के पास जा कर कूट भाषण करता है। वह कहता है कि हे स्वामी, आप के कई वैरी हैं। मै ने मन्त्रणा कर पता लगा लिया है। कलकल कोलाहल कर कई लोग आश्चर्यजनक बोल रहे हैं। श्रीपाल तुरन्त ही बाँस पर चढता

है। इतने में वह रस्सी काट देता है। श्रीपाल के समुद्र में गिरते ही हाहाकार मच जाता है। रत्नमंजूषा विलाप करती है। वणिक् इधर-उधर दौड़ते हैं। धवल भी झूठ-मूठ रोता है। फिर सभी वणिग्वर मिल कर वहाँ आते हैं और रत्नमंजूषा को समझाते हैं। कुछ समय बाद धवल दो दूतियाँ उस के पास भेजता है। वे रत्नमंजूषा से धवल में अनुरक्ति प्रकट करने को कहती हैं, पर वह बुरी तरह उन्हे फटकारती है और भगा देती है। तब स्वयं धवल उस के पास जाता है। वह मुख-कमल ढँक लेती है। सेठ अनुनय-विनय करता है। वह उसे धिक्कारती है। इतने में आसन कम्पित होने से जिनशासन की देवियाँ चक्रेश्वरी, अम्बिका, ज्वालामालिनी और कालिका तथा यक्ष मणिभद्र क्रोध से प्रदीप्त हो कर आते हैं। समुद्र मे चारो ओर अँधेरा छा जाता है। बनियो के जुडे हुए हाथ अपने-आप बँध जाते हैं। अच्छी पिटाई होती है। समूचा दल रत्नमंजूषा के पास हाथ जोड़ कर पहुँचता है। सुन्दरी से सब प्रार्थना करते हैं। जिन-शासन की देवियाँ तथा जलदेवता उसे सान्त्वना देते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा पति अवश्य मिलेगा और राज्य करेगा। रत्नमंजूषा सब को क्षमा कर देती है। सभी धवल का अपयश-कीर्तन करते हैं। वे सब बार-बार सुन्दरी का अभिनन्दन करते हुए लौटते हैं।

उधर श्रीपाल मन्त्र का स्मरण करता हुआ अनेक जलजन्तुओ को तथा दूर से बडवानल को लांघता हुआ कोंकण द्वीप के तट पर पहुँचता है। भुजाओ से सागर को पार करने वाले सुभट को आते देख कर भट लोग उसे प्रणाम करते हैं और अपने आने का कारण सुनाते हैं। वे कहते हैं—इस कोंकण पट्टन में धरपाल नामक राजा प्रजा का भलीभाँति पालन करते हैं। उन की वनमाला नाम की रानी से उत्पन्न अत्यन्त रूपवती एवं गुणवती गुणमाला नामक कन्या है। मुनिराज ने उन्हें बताया है कि जो महापुरुष भुजाओ से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस कन्या का वर होगा। इसी लिए राजा ने हमें यहाँ नियुक्त किया है। श्रीपाल को आया हुआ देख कर राजा भेंट करता है। विवाह की तैयारियाँ होती हैं। दोनो का धूम-धाम से विवाह होता है।

इधर धवलसेठ के पाँच सौ पोत उसी द्वीप के तट पर आकर लगते हैं। सेठ धवल मोती-रत्नों के थाल भर राजा को भेंट करता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर सभी को बड़ा अचरज होता है। राजा परिचय देता है। सेठ को बड़ी आत्मग्लानि होती है। सब उसे समझाते हैं और श्रीपाल के चरणो में शरण लेने को कहते हैं। पर वह पापी मातंगों को धन देकर राजसभा में भेजता है और रत्नमंजूषा को निर्लज्ज तथा दुःशील कहला कर प्रचार करता है। पहले तो श्रीपाल को डोमो की बातो पर विश्वास हो जाता है, पर कुछ सोच कर वह गुणमाला को रत्नमंजूषा की परीक्षा लेने भेजता है। रत्नमंजूषा राजा को पूरा वृत्तान्त सुनाती है। राजा सभी को बन्दी बना कर बुलवाता है। धवलसेठ को मृत्युदण्ड देता है। किन्तु श्रीपाल धर्मपिता कह कर बचा लेता है।

फिर सभी वणिग्वरों को राजा षड्रसो से बना हुआ भोजन कराता है। श्रीपाल के यश का प्रसार होता है। बहुत दिनों तक कोटिभट वही रहता है।

एक दिन कोई वणिग्वर राजसभा में आ कर श्रीपाल को कुण्डलपुर द्वीप में स्थित मकरकेतु राजा तथा रानी रूपरेखा से उत्पन्न चित्ररेखा के रूप और गुणों का वर्णन कर सुनाता है कि मुनिवचनो के अनुसार जो समुद्र लाँघ कर गुणमाला को परणायेगा वही उस कन्या का वर होगा, अतएव आप चलिए। वह उस के साथ वहाँ जाता है और चित्रलेखा के साथ श्रीपाल का सानन्द विवाह होता है। कंचनपुर पट्टन के राजा वज्रसेन भी मुनि के वचनो के अनुसार अपनी पुत्री कंचनमाला को श्रीपाल को परणा देते हैं। वहाँ से चल कर श्रीपाल कोंकण पट्टन में पहुँचे। वहाँ के राजा जसरासि की चौरासी रानियाँ थी। उन के जसमाला नाम की सब से जेठी कन्या थी। सब कन्याएँ सोलह सौ थी, जिन में आठ मुख्य थी। उन्हें विद्या का अत्यन्त गर्व था। जो उन की समस्यापूर्ति कर सकता वही उन को वर सकता था। श्रीपाल ने उन्हे विजित कर सोलह सौ कन्याओ के साथ पाणिग्रहण कर लिया। वहाँ से वह कंचनपुर, कुण्डलपुर होता हुआ कोकण द्वीप में लौट कर आ जाता है। इस बीच वह सोरठ से पाँच सौ, महाराष्ट्र से पाँच सौ, गुजरात से चार सौ, मेवाड से दो सौ और अन्य राज्यो से छियानवें कन्याओ को वरण करता है। पल्लिराज, खस और पुलिन्द आदि राजा लोग उस की सेवा करते हैं। उन सब को ले कर श्रीपाल उज्जैनी नगरी में आ पहुँचता है।

नगर में पहुँचने पर कोटिभट छिप कर राजमहल में जाता है और मैनासुन्दरी को देखता है। वह पति-वियोग में चिन्तित दिखलाई पडती है। सासू से कहती है कि आज भी वे नही आये। अब मैं साध्वी की दीक्षा ग्रहण करूँगी। बारह वर्ष का समय तो बीत गया, पर अब अधिक समय निकालना बहुत ही कठिन जान पड रहा है। माता समझाती हैं। इतने में श्रीपाल सम्बोधते हैं। पति के वचनो को सुन कर मैनासुन्दरी किवाडो को खोलती है। माता पुत्र को असीस देती है। पत्नी स्नेह प्रकट करती है। श्रीपाल समूचा वृत्त सुनाता है। विद्याधर राजाओ की आठ हज़ार कन्याओं को परणा कर लाने की बात भी वह कहता है। मैनासुन्दरी रोमाचित हो जाती है। वह प्रेमासक्ति में पति से न भुलाने का वचन लेती है। श्रीपाल सभी पत्नियों को अन्त पुर में बुलाता है और सब का परिचय देता है। उन आठ हज़ार सपत्नियो से मिल कर मैनासुन्दरी आनन्दित होती है।

इतने में समर-तूर बजने लगता है। मन्त्री युद्ध को ठना हुआ देख कर श्रीपाल के पास दौडे आते हैं और पहले दूत को भेजने की राय देते हैं। दूत राजा पयपाल के पास पहुँचता है। वह अभिनव चक्रवर्ती की आज्ञा सुनाता है कि या तो कम्बल पहन कर सिर पर लकडी का बोझा और कुल्हाडा ले कर शोभायमान हो अथवा युद्ध करो। राजा दूत को फटकारता है, मारने को तैयार हो जाता है, पर मन्त्री बचा लेते हैं। श्रीपाल मैनासुन्दरी से दूत के अपमान की बात कहता है। वह पति को प्रियवचनो से

निवारण करती है। तब सन्धि के लिए दूत के हाथ वह भेंट भेजता है। राजा पयपाल उसे स्वीकार कर श्रीपाल से मिलने आता है। दोनों मिल कर आनन्द से गद्गद हो जाते हैं। श्रीपाल पूरा परिचय देता है। दोनों हर्ष से भरे मैनासुन्दरी से मिलते हैं। उत्सव मनाया जाता है। श्रीपाल का राज्याभिषेक करने के लिए राजा पयपाल तैयार होता है, पर कोटिभट स्वीकार नही करता।

अन्त में सेना के साथ श्रीपाल वहाँ से चम्पापुरी के लिए प्रस्थान करते है। मन्त्री के वचनो से वह राजा के पास भेंट भेजता है। दूत की बातों को सुन कर राजा उसे फटकार देता है। तब श्रीपाल रण का शंख फूँक देता है। दोनों में घमासान युद्ध होता है। श्रीपाल राजा के पास पहुँच कर अपना परिचय देता है। वीरदमण श्रीपाल को देख कर चिन्तित और लज्जित होता है। अन्त में वीरदमण अपने हाथो से श्रीपाल का राज्यतिलक करता है। वह स्वयं मुनि बन जाता है। चिरकाल तक राज्यसुख भोग कर श्रीपाल भी एक दिन नागर में आगत मुनिवर से दीक्षा ग्रहण कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

वस्तु-संघटना की दृष्टि से मंगलाचरण और कथा-प्रेरक की प्रशंसा के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-रूढि का पालन नही हुआ है। दस सन्धियो की यह रचना छोटी-छोटी सन्धियो में विभक्त है। समूची रचना प्रबन्ध काव्य के अनुरूप होने पर भी वर्ण्य विषय की संक्षिप्तता से एकार्थ काव्य की कोटि की है।

इस काव्य में अवान्तर तथा अप्रासगिक कथाओ की सयोजना न होने से कथानक गतिशील लक्षित होता है। समूचा कथानक नायक और नायिका के पुण्य-कर्म तथा सिद्धचक्र के माहात्म्य से लिपटा हुआ मिलता है। अतएव कथा का केन्द्रबिन्दु मैनासुन्दरी के वृत्त से विकसित हो कर श्रीपाल की विभिन्न देशों की यात्रा और राज्य-प्राप्ति में कार्य (फल) के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार पांच सन्धियो का परिवेश भी स्वाभाविक रूप से मिलता है। यद्यपि घटनाओ के विकास में कवि ने अपनी कल्पना से बहुत कम काम लिया है, पर अतिलौकिक एवं अतिमानवीय बातो से कथानक को बचा कर कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा की है। और इसीलिए विद्यासाधना का प्रसंग जोड कर कवि ने धार्मिक मान्यता एवं आस्था को व्यक्त कर श्रीपाल के समुद्र-संतरण में अन्य अद्भुत कल्पनाओ से कथा को बचा लिया है। मूल में धार्मिक भावना मुख्य होने पर भी कथा की आत्मा इस रचना में सुरक्षित है।

घटनाओ में स्वाभाविक विकास होने से रचना में क्षिप्रता और औत्सुक्य बराबर प्रभावशील है। इस में न तो पात्रो की भीड़ है और न घटनाओ का जमघट ही। इसलिए कथातत्त्व रोचक और मधुर बन पडा है और काव्य-रचना स्फीत एव स्वच्छ

दिखाई पड़ती है। मुख्य रूप से इस कथाकाव्य में एक ही कथा है, जो क्रम से विकसित हो कर विभिन्न घटनाओ एव स्थान-भेद से वैचित्र्य की सृष्टि करती है।

कथा सरल और मधुर है। रचना में कही भी जटिलता और क्लिष्टता नही दिखाई पड़ती। पूरी कथा एक ही सूत्र में समाहित है। इस प्रकार की कथाएँ बहुत कम मिलती हैं। क्योकि ये सीधी-सादी कथाएँ रोचक होने पर भी अधिक प्रभावशालिनी नही होती। और इसीलिए उद्देश्य विशेष से इन का सम्बन्ध जोड़ कर अपभ्रंश-कथाकाव्य के लेखको ने प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन्हें पूर्ण सफल बनाने का यत्न किया है, जिस में वे बहुत कुछ सफल हुए हैं। प्रस्तुत कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

संक्षेप में, कुल मिला कर प्रबन्ध-रचना के रूप में यह कथाकाव्य उत्तम रचना कही जा सकती है। इस में कथा के लगभग सभी तत्त्व स्वाभाविक रूप में संयोजित हैं। यही इस की सब से बड़ी विशेषता है।

वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन में नगरी-वर्णन, विवाह-वर्णन, विद्यासाधन-वर्णन, समुद्र-वर्णन, युद्ध-वर्णन, यात्रा-वर्णन आदि वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन वर्णनो में कोई नवीनता नही मिलती। वस्तुतः आलोच्यमान कथाकाव्य में वर्णन की अपेक्षा विवरण अधिक है। चलते हुए कथानक में वस्तु का वर्णन करते चलना कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति जान पड़ती है। स्वतन्त्र रूप से वर्णन इस में नहीं मिलते और न प्रसगत. वर्णन करने में कवि की रागात्मिका वृत्ति रमी हुई लक्षित होती है। घटनाओ के वर्णन में अवश्य कथा की गतिशीलता प्रेरक एवं सवेदनीय बन पड़ी है। किन्तु वर्णनो में चमत्कार तथा अलकरणता न हो कर भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, जो लोक-जीवन में सर्वत्र सुनने को मिलती है। विषय के अनुरूप ही वस्तु की योजना स्वाभाविक विधान में अनुस्यूत है। लोक-जीवन की यथार्थ चेतना की अभिव्यंजना से समन्वित तथा इतिवृत्तात्मकता से वह मण्डित है। रचना विवरण-प्रधान होने से वर्णन कही-कही दब गये हैं। उन में वह स्फूर्ति और प्रेरणा नही है जो यकायक अपनी ओर आकर्षित कर सके। कुछ अन्य वर्णन निम्नलिखित हैं।

सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन

कवि सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन करता हुआ कहता है कि उस के ऊपर कई शिखर बने हुए थे, जिन का अंग स्वर्ण दण्डो से मण्डित था। वे इतने ऊँचे थे कि उन पर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ मानो स्वर्ग के किसी खण्ड का स्पर्श कर रही थी। सुन्दर घण्टो से अलंकृत वह चैत्यालय गजेन्द्र के समान ही मानो शोभायमान हो रहा था। स्थिर तथा निष्कम्प वह मानो जिनेन्द्र के सदृश था। चित्र-विचित्रित भाग मानो काव्य-

खण्ड के समान था। रत्नों से खचित चैत्य मानो अखण्ड सागर जान पड़ रहा था। नमन, आसन और जिनोक्त सूत्रों से शब्दायमान मानो रत्नत्रय के तीनों भेदों से युक्त था। रवि, शशि से मण्डित उस का कटिप्रदेश ऐसा प्रतीत होता था मानो भूतल पर दूसरा मेरु उत्पन्न हो गया हो। मोतियों की मालाओं (वन्दनवारों) से अलंकृत द्वार मानो दुर्गति रूपी स्त्री के प्रवेश का निषेधक था।

कणयायलुव्व उत्तंगसिंगु वहु कूडे किय ण ससंगु।
सोवण्णदंड मंडियउ अंगु धयवड छिवंति णं सग्गसंगु।
वरघंटालंकिउ णं गइंदु अप्पकु अकंपु जि जिणेंदु।
मत्तालकिउ णं कव्वपिंडु रयणच्चिउ णं सायरु अखंडु।
णं रयणत्तउ तिब्भेयजुत्तु नमणासणु णं जिणमणिई वुत्तु।
रविससिणउ मंडिउ कडियलम्मि णं वीओ मेरु पुणु भूयलम्मि।
मोत्तियमालालंकिय दुवारु णं दुग्गइ तिय पइसण णिवारु। ६,३।

श्रीपाल का स्वागत-वर्णन

श्रीपाल को देख कर राजा का मन भर गया। सभी लोगों ने उसे भव्य घोषित किया। राजा ने श्रीपाल को अपने गले से चिपटा कर अपने हाथों से हाथी पर बिठाया। सभी लोग जय-जय शब्द करते हुए चल पड़े। राजा की भाँति सभी ने हर्ष एवं उल्लास प्रकट किया। स्त्रियो की इतनी भीड हो गयी थी कि कही पर भी समा नही रही थीं। घर-घर में मणितोरण शोभित हो रहे थे। गलियाँ जनो से सकुल थी। प्रत्येक द्वार पर पल्लवों से युक्त सोने के मांगलिक कलस सन्निहित थे। स्त्री-पुरुष श्रीपाल की सागर-पार की चर्चा कर रहे थे। लोग अनुमान लगा रहे थे कि यह कोई स्वर्ग का राजा है अथवा देवता। राजा उल्लसित हो गाजे-बाजे के साथ जामाता श्रीपाल को अपने घर ले गया।

सिरिपालहु दंसणि तोसियउ पुणु भव्वु भव्वु तें घोसियउ।
कंठालिंगणु राएं करिवि पुणु गयसिरि रोविउ णिय करिवि।
जयजयसद्दें वरु चल्लियउ भूयलु समंतु तहं हल्लियउ।
दल वट्टणि खणेण पराइयेउ णारीयण कत्थ ण माइयउ।
घरि घरि मणितोरण सोहियइ रच्छा सोहंहि जणक्खोहियइं।
कचणकलसइ पल्लवसहिया गहि दारि दारि णिरु सण्णिहिया।
णारीणर जंपहि एहु वरु आयउ लंघिवि सायरु पवरु। इत्यादि (७,४)

डोमो का नृत्य-वर्णन

फिर डोमो को नृत्य का अवसर मिला। उन से माँगने के लिए कहा गया। पश्चात् डोमो के मुखिया ने कई प्रकार के नाटक अपने लोगो के साथ किये। उन्होने

कई कौतुक दिखाये, जैसे—कि वांस पर चढना, लटकना आदि । फिर, कई प्रकार के बाजों के साथ देव, मनुष्य, और विद्याधरो के मन को प्रसन्न किया ।

पुणु णट्टहो अवसरो मग्गिवि सुहयरु पुणु वि तेहि णाडयहु विहि ।
आरंभिय राणउं सयण समाणउं सिरिपालें णिरु जणिय दिहि ॥
कोऊहलु वहुविह दंसियउ दसारोहणु पुणु ववसियउ ।
कंसालताल वहु वज्जियइ सुरणरखेयर मण रंजियइ (७,९-१०)

इन वर्णनो को पढने के साथ इतिवृत्तात्मकता ही अधिक उभर कर हमारे मन को चमत्कृत करती है, वर्णन की चारुता नही । वस्तुत. इस कथाकाव्य में अधिकतर वर्णन विवरणप्रधान हैं । उन में कल्पना की अतिशयता या श्लिष्टता न हो कर विवरण की यथार्थता है । अतएव भाव और भाषा की अभिव्यक्ति में सरलता एवं स्वाभाविकता लक्षित होती है । दूसरे, वर्णनो में सक्षिप्तता और वास्तविकता अधिक है । तीसरे, अलंकरण की प्रवृत्ति नही मिलती । कही-कही उत्प्रेक्षा अवश्य मिलती है । किन्तु उस में वस्तु की सम्भावना मात्र ही अभिव्यंजित है । कल्पनाओ के विभिन्न रूपो का साहचर्य या सादृश्य-विधान हमें उस में नही मिलता । वास्तव में यह लोक-शैली का काव्य है, जिस में कथाप्रधान है और चलते हुए कथानक में ही वर्णन का वैशिष्ट्य है । अलग से वर्णनो को ढूँढ निकालना वहुत कठिन है । वे कथा से पूरी तरह लिपटे हुए हैं । कहीं-कही वर्णन बहुत संक्षिप्त हैं । यथा—समुद्र-संतरण, विवाह-वर्णन इत्यदि ।

समुद्रसन्तरण-वर्णन

दोनो ओर से उठने वाली तरंगो की भँवरो को, मच्छ-कच्छ आदि जलचरो को तथा दूर से वडवाग्नि को लाँघता हुआ व्याकुल हो धीरे-धीरे श्रीपाल तैरता हुआ समुद्र के किनारे पहुँच गया ।

उवहि तरंग भमणि लंघतउ मच्छकच्छजलयर लघंतउ ।
जिहंतु वीहलु तिहं गच्छतउ एम तरंतु तरंतु जि पत्तउ ॥ ७,२ ।

विवाह-वर्णन

फिर, शुभ मुहूर्त तथा लग्न में राजा ने रत्नमजूषा श्रीपाल को परणा दी । साथ में छत्र, चमर, हाथी, घोड़ा, माणिक, रत्न, दासी, दास आदि वहुत-सी वस्तुओ को तथा वस्त्रों को दायजे में दिया, जिसे कौन गिना सकता है ?

परिणिय सुहजोएण गुणालें छत्तचमरहयगय अप्पमाणइं ।
दिण्णइ मणिरयणइ सुहठाणइं दासी दासइ तं वहु दिण्णइं ।
अवर वत्थु को पवर विगण्णइं वरमदिरु काराविवि दिण्णउ । (६,१२)

राजा हाथी पर विठा कर श्रीपाल को गाजे-वाजे के साथ नगर में से घुमा कर घर ले जाता है ।

गय आरोहिवि जयजयसद्दें गिहि पेसिउ वरु तूरणिणद्दें।
पुणु सुमुहुत्तें लगुणु गणाविउं धवलु सेठि तहु जणणु अणाविउं। (६,१२)

इसी प्रकार अन्य स्थलो पर भी विवाह का वर्णन न हो कर विवरण मात्र हैं। सामान्यत आलोच्यमान कथाकाव्य में वर्णन संक्षिप्त तथा इतिवृत्तात्मकता से भरित हैं। समुद्र-यात्रा तथा युद्ध, रूप-वर्णन आदि लोकशैली में वर्णित गिने-गिनाये वर्णन है, जो लोकजीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्त करते है।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

पोत के चलते ही धवलसेठ का मन प्रसन्न तथा तन रोमांचित हो गया। भुंगल, भेरी, पटह आदि कई वाजे वजाये गये। वाँसो पर वड़ी-वड़ी ध्वजाएँ सजायी गयी। सभी को अत्यन्त अचरज हुआ। जयजयकार करते हुए सव आनन्दित हुए। भेरुंड पक्षी के भय से लोगो ने लोहे की बनी हुई टोपरी सिर पर धारण कर ली। रात को आँखो में नीद भरी होने पर भी वे सो नही पाते थे। जहाज में वैठे-वैठे लोगो को चक्कर आने लगे। कई लोगो का सिर घूमने लगा। कई चक्कर खा कर गिर पड़े। कई लोगो को उलटियाँ होने लगी। कई समुद्र में उठती हुई लहरों को देख कर डरने लगे। कुछ लोगो को कही भी अच्छा नही लगने लगा। कुछ सोचने लगे कि कब पार लगें। कुछ लोग अपने कर्मों को कोसने लगे। कुछ लोग कहने लगे कि यह मनुष्य जन्म ही व्यर्थ है, और कुछ लोग इस व्यापार को ही व्यर्थ वताने लगे। इस प्रकार कई दिनो तक जहाज में वैठे हुए लोगो की मन स्थिति गडवड रही। वाद में उन में स्थिरता आ गयी। वे सव गाते-नाचते, जल को देखते, नित्य जलचरो से विनोद करते हुए आनन्द से समय विताने लगे (५,१९-२१)

शृंगार-वर्णन

गुणमाला आँखो के कोयों में काजल आँजती है। दर्पण को देखती हुई तिलक करती है। सोने का हार वक्षस्थल पर धारण करती है। जूडे में सुगन्धित कुसुमो को खोसती है। वढिया मोतियो से माँग सँभारती है। कुंकुम की पत्रावली रचती है। दाढो के वीच पान का बीड़ा धरती है। सोने के आभूषणो से शरीर को सजाती है।

पुणु वत्त पत्त तहिं गुणमाला जहिं णयणरेह कज्जल ठवइ।
दप्पणु जोवंती तिलउ करंती कणयहारु उरयलि ठवइ॥
कुसुमसुयंधु सीसि संवरइ वरमोतिय माग समारइ।
पत्तावलि कुंकमह समारइ डसणअंति तंवोलु वि धारइ।
कणयाहरण विहूसिय गत्ती भणइ कावि सहि तासम्मि वत्ती। ७,१२

इसी प्रकार भावाभिव्यंजना में रसात्मक एव भावपूर्ण स्थलो में लोकजीवन की वास्तविकता की झलक मिलती है। इन वर्णनों को पढने से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन

स्वाभाविक और साधारण हैं। अन्य कथाकाव्यो की भाँति रोचकता और सजीवता नही है। कही-कही वातावरण का चित्र आँखो के सामने छा जाता है। अतएव लोकजीवन के स्वाभाविक वर्णन की दृष्टि से ही इस का महत्त्व है; पर कला के यथार्थ परिवेश में रचना का मूल रूप सटीक नही उतरता, केवल नखशिख, रूप-वर्णन आदि में अलंकरणता का परिचय मिलता है।

नखशिख-वर्णन

पूनम के चन्दा जैसा आधा भालपट्ट मानो कामदेव के विजय का पट्टा था। मैनासुन्दरी की भौहें टेढापन लिये हुए बिना डोरी के मानो काम का प्रचण्ड धनुष जान पडती थी। दोनो कानो में सोने के कुण्डल शोभायमान हो रहे थे। वे ऐसे जान पडते थे मानो सूरज और चन्दा अपने स्निग्ध करो से प्रकाश कर रहे हो। भौहो के अगले प्रदेश में तीक्ष्ण नासिका थी। उस से निकलती हुई साँस लक्षित नही होती थी। मानो कामदेव के छोडे हुए बाणो को बडी कठिनाई से सहन करती हो। प्रेम को प्रकाशित करने वाले कोमल भुज युगल मानो पृथ्वी पर काम के पाश थे। उठे हुए उरोज चन्द्रमा की प्रभा के समान स्वर्ण वर्ण के ऐसे मालूम हो रहे थे मानो काम ने ही अभिषेक के कलस स्थापित किये हो। उस की कटि सिंह के समान मध्य में क्षीण थी। त्रिवली भी अत्यन्त शोभित उसी में लीन थी। मानो रति-सुख के हेतु आ कर काम ने ही आसन जमाया हो। उस सुन्दरी के—

ता यहु वयणें मल्हंति कण्ण चल्लिय लोएं दिठी रवण्ण।
पुण्णिम ससि अद्धउ भालपट्टु णं कामणरेसहु विजयपट्टु।
वंकत्तणु भूजुयलुहु अक्खंडु णिगुणु वि धण्णुहुं णं कम्मचंडु।
सोहंति सवणजुव कुडलेंहि रविससि णिद्धाडिया णियकरेंहि।
अगपाएस पुणु तिक्ख णास णउ लक्खिज्जइ णिग्गंत सास।
कणति सहति कडक्ख वाण ण कामहो ते मेलति वाण।
भुयजुयलु सुकोमलु पियपयासु णं पयडु सु महियलि कामपासु।
उरुरुह उण्णय ससिपह णिसुंभ णं मयणहु थिय अहिसेय कुभ।
हरि लंक समाणी मज्झि खीण तिवली तरग पुणु तत्थ लीण।
आइवि कुलणियवुजि तहिं अलीढु ण रइसुह कारणि णिहिउ पीढु।
उरुजुयलउ णयणाहिरम्मु णं जणमण वंधण थंभ जुम्मु।
दिढ सविवध जं णूरवण्ण जंघाजुव पुणु वित्थर सछण्णु।
रत्तुप्पलदल सारिच्छ पाय णिम्मलु णहपह जिय दुमच्छाय ॥ २, १३ ॥

उरुयुगल देखने में इतने मनोहर थे मानो लोगो के मन को बाँधने के लिए दो खम्भे ही हो। दृढ सन्धिबन्धो से गठित अच्छे वर्ण वाली दोनो जांघे मानो प्रणय के प्रच्छन्न

आसन-पीठ थे । लाल कमल के समान उस के पैर थे तथा निर्मल नखों की कांति पेड़ों की छाया जैसी फैलती हुई जान पडती थी ।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

दूत की वातो को सुन कर राजा उसी क्षण क्रोध से भर कर हाथ में तलवार ले कर चल पडा । उस ने सेना को सम्बोधित करते हुए कहा कि उठो, मारो-मारो, झट से युद्ध के लिए सजो । शीघ्र ही हाथी, घोडे, रथ युद्ध में पेल दो । वैरी राजा को मार डालो । ऐसा कहता हुआ श्रीपाल भी तैयार हो गया मानो हाथ में तलवार ले कर विजयश्री ही उत्कठित हो रही हो । उस को देख कर सामन्त भी सज गये । असंख्य समर-तूर वजाये गये । दोनो ओर के योद्धा दौड पडे । युद्ध के मैदान में वे समा नही रहे थे । घोडे हीस रहे थे और मदोन्मत्त हाथी चिघाड रहे थे । तीक्ष्ण तलवार को कोश से निकाले हुए दल का दल चला जा रहा था मानो प्रलयकालीन समुद्र ही उछल रहा हो । श्रीपाल सिन्दूर से अरुण किये हुए श्रेष्ठ हाथी पर वैठे हुए चले जा रहे थे । पीछे-पीछे सेवक जन रतिसुत की भाँति जयश्री की कामना से अनुगमन कर रहे थे । सात सौ अंगरक्षक उस के सेवक थे । राजा वीरदमन भी उस समय तैयार खडा था । उस की ओर भी हाथी, घोडो का परिकर तथा छत्तीस सौ सुभट थे । चलो, चलो का शब्द चारो ओर गूँज रहा था । वैरी राजा श्रीपाल के सौन्दर्य को देख कर कहता है कि इस विषम रण में यह सुन्दर दिख रहा है । आज मैं इसे मृत्यु का आलिंगन कराऊँगा । कोई कहता है कि मैं अपनी भुजाओ का पराक्रम दिखाऊँगा । कोई अपने युद्ध-कौशल को दिखाने के लिए कहता है । इस प्रकार योद्धागण परस्पर वार्तालाप करते हुए युद्ध के लिए अपने मन को प्रेरित करते हैं । सभी लोग तैयार होकर हर्प एव उल्लास से भर कर चल पड़े । राजा भी क्रोधित हो कर वढिया हाथी पर वैठ कर चल पडा । क्षण भर में वेग से वे सव एक स्थान पर पहुँच गये (९,७) ।

युद्ध-वर्णन

युद्ध के वाजे वजने लगे । हय, निशान, ढोल और भेरी के वजने से चारो ओर गूँज हो गयी । दोनो ओर की सजी हुई चतुरगी सेना पहले दर्शन से क्रुद्ध हो कर क्षण भर में जयश्री के सुख को लूटने के लिए एक दूसरे को घायल करने लगी । पैनी धार वाली तलवारो को निकाले हुए योद्धा लोग धनुष की टकार करने लगे । हाथ में चक्र को धारण किये हुए दल के दल गुँथ गये । एक दूसरे को ललकारते हुए हाथी के सैनिक हाथी वालो से, घोडे के सवार घोड़ो पर चढे वीरो से तथा पैदल पैदलो से भिड़ गये । वे एक दूसरे को हकेलते हुए महाभट ऐसे जूझ गये कि रथ उछलने लगे । उस समय वहाँ कुछ भी नही सूझता था । दूसरो को और अपने को कोई वूझ ही नही रहा था । ऐसा जान पडता था मानो अन्धकार ने ही दो दल वाँध लिए हो । उस समय दोनो ही सेनाएँ क्रोध से उद्दीप्त हो अत्यन्त निविडतम को फैला रही थी ।

दोनों सेनाओ के घमासान युद्ध को देख कर मन्त्री जनो ने विचार किया कि राजा लोग आपस में निपट लें, सेना का क्यो सर्वनाश हो। किन्तु दोनो ही राजाओ को यह वात अच्छी नही लगी। श्रीपाल ने राज्य पर अपना दावा किया। दोनो में डट कर युद्ध हुआ। एक प्रहर तक दोनो वरावर रहे। दोनो में से एक भी नही जीता। तव क्रोध में भर कर श्रीपाल ने उस के पैरो में हाथ डाल कर कँपते हुए हाथो से उसे युद्धस्थली में पटक कर गिरा दिया। उसी समय जयजयकार सुनाई देने लगा। (९,८-१०)

राज्याभिषेक का वर्णन

मंगल गीतो और गाजे-वाजे के साथ राजा श्रीपाल को रत्नखचित सिंहासन के पास ले गया। कुमार को उस पर बिठा कर दोनों ओर जल से भरे हुए सोने के कलसो को स्थापित कर, उस जल से कुमार को स्नान कराया और उस के मस्तक पर सेहरा वाँधा। राजा वीरदमण ने अपने हाथो से श्रीपाल के पट्टा वाँधा। तिलक कर सारा राज्य प्रदान किया। फिर, विनय से कुमार से वोला—हे कुमार, तुम क्षत्रिय के गुणों से युक्त हो इस लिए सम्मान व विधिपूर्वक इस राज्य का पालन करना, जिस से किसी को कोई दु ख न हो। इतना कह कर राजा ने उसे प्रणाम किया। (९,१२)

संवाद

पं० रइधू की इस सिद्धचक्र कथा में संवाद संक्षिप्त, मधुर, सरल तथा सरस हैं। मुख्य सवाद इस प्रकार हैं—पयपालु-सुरसुन्दरी-सवाद, पयपालु-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-विद्यासाधक-संवाद, श्रीपाल-धवलसेठ-संवाद, मन्त्री-धवलसेठ-संवाद, चण्डाल-धरपाल संवाद, श्रीपाल-धरपाल-सवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, दूत-पयपाल-संवाद, वीरदमन-श्रीपाल-संवाद, श्रीपाल-मुनि-सवाद आदि।

इन सवादो में भावो की सरल अभिव्यक्ति सीधे-सादे शब्दो में हुई हैं। युद्ध के समय वीरदमन श्रीपाल को ललकारता हुआ व्यंग्य के साथ बोलचाल की भाषा में कहता है—

> तहु भासिउ णिसुणिवि पुणु पुणु विहसिवि वीरदमणपहु भासइं।
> भो भो सुदर तुहु वड्ढिय मणसुहु आयउ णिरु रायासइं॥
> हउ पुणु तुज्झु आस हउ पूरमि भज्जिम डिंभ भयवसं।
> अण्णु वि एत्थु अज्जु दसावमि संगामहो महारसं॥ (९, ९-१०)

इस प्रकार संवादो के साथ वर्णन भी आगे-आगे जुडे हुए मिलते हैं। यथा—

> सो जवसमत्ति पुणु भणइ तासु वे कर जोडिवि पथी जणासु।
> गुरुणामहु विज्जा मंतु दिण्णु सो भइविउ णउ जवियउ अछण्णु।

परमुत्तरसाहण मंतरेण सिज्झइ न मित्त महु चल मणेण ।
जइ तं तुहुं होसि महाणुभाउ ता विज्जा सिज्झइ महु अपाव ।
त सुणिवि भणइ सिरिपालु धीरु उवयारें सोहइ णरसरीरु ।
जिह रयणे सोहइ कणउ भव्वु वेरग्गें सोहइ जेम भव्वु ।
जिणदाणे सोहइ पउर दव्वु जिम सीले सोहइ लोउ सव्वु । (५,१०)

किन्तु कही-कही संवाद स्वतन्त्र तथा लोकशैली में वर्णित हैं। उनमें शब्द-जाल न हो कर ठेठ भाषा और संवादो का ठाठ दिखाई पडता है। जैसे कि—

चल्लहि धवलसेठि वुल्लावइ तासु महिम महि अण्णु ण पावइ ।
कुमरे पुच्छिय कि कारगि महु वुल्लावइ अक्खहु तुम्हह पहु ।
तेहि भणिउ तुहुं निरु मारेव्वउ कज्जु अप्पणउ तं सारिव्वउ । (५,१६)

वस्तुत. पात्रो के अनुकूल संवादो का समावेश इस काव्य की विशेपता है। श्रीपाल के सवाद अच्छी भाषा मे शिष्ट प्रयोग है, किन्तु किंकर, चण्डालों के वार्तालाप अन्तर लिये हुए हैं। यथा—

सिरिपालें जंपिउ वयणु ताम ।
अहो धवलसेठ णियकुलमयंक, अवहारि मज्झु सरु विगयसक ।
किं तुव पोहण चलणेण कज्ज, किं जीववहं तुम्हहं मणुज्ज ।
तं सुणिवि भणइ वणि पोहणाहं हउं चाउ णत्थि पूरिय वणाहं ।
मारिम णउं अण्णहो कारणेण हइं तुहु चलावम्मि विणु जितेण । (५,१८)

सक्षेप में, सवाद न तो अधिक विस्तृत है और न बिलकुल सक्षिप्त। कही-कही इन को पढने से पात्रो के चरित्र पर प्रकाश पडता है। प्रसगतः संवादों की मधुरता देखी जाती है। कुल मिला कर सवाद अच्छे हैं। रचना में उन का वैशिष्ट्य झलकता हुआ लक्षित होता है।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत रचना में दो वर्ग के चरित्र दृष्टिगोचर होते हैं। एक वर्ग का प्रतिनिधित्व मैनासुन्दरी और श्रीपाल करते है तथा दूसरे वर्ग का सुरसुन्दरी और धवल सेठ करते है। समूचे कथाकाव्य में श्रीपाल का चरित्र ही आदि से अन्त तक पाठको को प्रभावित एवं आकर्पित करता है। मैनासुन्दरी का वैशिष्ट्य सब से अलग है, जो सच्ची भारतीय नारी की प्रतिमूर्ति है।

श्रीपाल

श्रीपाल राजपुत्र होने पर भी दया, क्षमा, साहस, धैर्य, शील और नम्रता आदि गुणो से विभूपित दिखाई देता है। जन्म से क्षत्रिय होने के कारण उस में जातीय

स्वाभिमान, तेज और पौरुष का जहाँ दर्प मिलता है, वही राजोचित शालीनता, गम्भीरता और कर्तव्यपालन की गुरुता का भी परिचय मिलता है। वह स्वभाव से मधुर और शान्त है तथा मधुरभाषी है। सकट मे धवलसेठ की रक्षा करता है। उस के कंजूस मन को परख लेने पर भी उस से घृणा नही करता है। छल से धवलसेठ के द्वारा समुद्र में गिराये जाने पर भी धर्मपिता कह कर उसे क्षमा करता है और राजा से कह कर दण्ड देने से बचाता है। उसे पिता की भाँति सब साधन-सामग्री जुटा कर प्रदान करता है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी श्रीपाल में घमण्ड नही है। वह कई कन्याओ का वरण करता है। असख्य रत्न, धन-कंचन, दासी-दासो को प्राप्त कर लेने पर भी उस के मन मे तृष्णा की ज्वाला तथा व्यर्थ का अभिमान नही जगता। वह सब के साथ यथोचित व्यवहार तथा कर्तव्य का पालन करता है। इसी लिए कई देशो को जीत कर जब वह घर पहुँचता है तब सब से पहले माता से मिलता है और उन के चरणो में प्रणाम करता है। श्रीपाल का व्यक्तित्व इन्ही गुणो तक सीमित नही है। वह ससुर के नगर को घेर कर स्वयं राजा को अपने पास मिलने के लिए बुलाता है। जब वे नही आते तो आक्रमण न कर पत्नी से राय ले कर उसे सम्मान प्रदान करता है और स्वय राजा के दर्शन करने जाता है। नयी-नयी राजकुमारियो से विवाह होने पर भी नायक माता और पत्नी के उपकारो के प्रति कृतज्ञ तथा वास्तविक प्रेम का स्फुरण करने में उदासीन नही दिखाई देता। वह मैनासुन्दरी और माता के हितो का पूरा ध्यान रखता है। वर्षों के बाद पहली पत्नी से मिलने पर उस के प्रति नायक का प्रेम और भी अधिक गाढा हो जाता है। और विजय का सारा श्रेय वह मैनासुन्दरी द्वारा रचित सिद्धचक्र विधान और पत्नी-सेवा को देता है। इस से श्रीपाल की विनम्रता और उदात्तता का परिचय मिलता है। यही नही, कवि ने श्रीपाल को सुयोग्य राजा के रूप में भी चित्रित किया है। और जो बात आदि से अन्त तक उस के जीवन मे परिव्याप्त दिखाई देती है वह यह कि धर्म के प्रति उस की पूरी निष्ठा है। वह धर्म के विधिवत् पालन करने से ही अपने जीवन में सफलताएँ प्राप्त करता है। यही श्रीपाल का जीवन है।

धवलसेठ

श्रीपाल जहाँ परमार्थी है वहाँ धवल स्वार्थी। इस का चरित्र श्रीपाल से बिलकुल विरुद्ध है। वह बहुत ही कजूस और दिल का मैला है। श्रीपाल के वैभव को देख कर उसे डाह होती है। मन से वह उसे बिलकुल नही चाहता। चोर, डाकुओ से रक्षा के हेतु वह श्रीपाल को अपने पोत पर रख लेता है। और धर्म पिता इस लिए बन जाता है कि पोत चला देने के लिए उसे जिस धनराशि का वचन दिया था वह नही देनी पडेगी। सेठ जाति से वणिक् है, इस लिए धन के संग्रह में और व्यय की कमी में भलीभाँति सावधान [illegible] जातीय गुण है। कर न देने के लिए बन्दी बन

सकता है, श्रीपाल से सहायता की याचना कर सकता है; पर द्रव्य भेंट करते हुए उस का मन ही मर जाता है। हाँ, श्रीपाल के धन को हड़प जाने के लिए उस का बहुत बडा पेट है। यही नही, वह अपने धर्मपुत्र की बहू को भी अपनी बना कर रखना चाहता है। यहाँ उस की कामवासना का पता चल जाता है कि वह कितना नीच है। मित्र मन्त्रियो के समझाने पर भी वह नही मानता। वह काम में कितना अन्धा है, इस का कवि ने सजीव चित्र खीचा है। श्रीपाल की पत्नियो को रिझाने के लिए वह हर सम्भव प्रयत्न करता है, पर उसे सफलता नही मिलती। राजसभा मे श्रीपाल से भेट हो जाने पर भी वह कुटिलता नही छोडता। और बिना परिणाम का विचार किये श्रीपाल की पत्नियो की निन्दा करता है और डोमो को धन देकर राजसभा में प्रचार करवाता है। इस से जहाँ सेठ की अदूरदर्शिता का पता लगता है, वही उस के कपट पूर्ण रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। इस प्रकार कवि ने श्रीपाल और धवल सेठ के चरित्र में जातीय और वैयक्तिक गुणावगुणो पर प्रकाश डाल कर दो प्रकार के चरित्रो को उभारा है। दोनो ही विरोधी चरित्र हैं। एक दूसरे से दोनो में बहुत अन्तर है।

मैनासुन्दरी

स्त्री पात्रो में मैनासुन्दरी का चरित्र पाठको के मन पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला है। भारतीय आदर्श नारी का चित्र पूर्णतया उसमें सजीव हो उठा है। पिता के बार-बार कहने पर भी वह पति को वरने के लिए अपने को स्वतन्त्र नही समझती है। क्योकि भारतीय ललनाएँ यह भलीभाँति जानती हैं कि माता-पिता कभी उन का अहित नही करेंगे और फिर जितना अच्छा वर वे ढूँढ सकते हैं कन्या उसे कहाँ खोज सकती है? केवल रूप देख कर मुग्ध होने में जहाँ मन को तृप्ति मिलती है, वही अनेक असमर्थताओं तथा कुरूपताओ को भी सोचना समझना पड़ता है। छोटी-सी अवस्था में अनुभव की वह आँख कहाँ मिल सकती है, जो सदसत् का ठीक से निर्णय कर सके। फिर, मैनासुन्दरी जिस कर्म सिद्धान्त का पाठ पढती है उसे अपने जीवन में भी भली-भाँति उतारती है। उस का दृढ विश्वास है कि यदि मैं भली हूँ तो जग भला है। दुःख किसी के देने से नही अपने कर्मों से मिलता है। ससार तो उस में निमित्त मात्र है। यही हाल सुख का है। अतएव पिता के व्यवहार से असतुष्ट नही होती। पिता की आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझती है। पति के कहने पर वह कोढ के डर से अलग न रह कर उनके साथ रहती है और यथासंभव सेवा करती है। अपने धार्मिक विश्वास से तथा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मन्त्र तथा विधान का पालन कर पति के कोढ को दूर करती है। पति-सेवा का इस से बढ कर अन्य उदाहरण क्या मिलेगा। यदि सीता राम का और सावित्री सत्यवान का साथ देती है तो मैनासुन्दरी भी श्रीपाल का पूरा-पूरा साथ देती है और यथाशक्य सेवा कर पति को नीरोग बनाती

है। पति के प्रति उस के हृदय में असीम प्रेम है। श्रीपाल का मन इसे भलीभाँति जानता है इसलिए वह बारह बरस से एक दिन भी अधिक नही बिताता है। यही नही, पति से मैनासुन्दरी भी विदेश ले चलने का आग्रह करती है, पर सास के समझाने पर मान जाती है। इस से पता चलता है कि उस का स्वभाव हठी नही है। बडो की आज्ञा का पालन करती है। वह विनम्र है, शीलवती है। पति के हृदय को समझती है। उसकी धर्म में अटूट श्रद्धा है। वह कर्तव्य पालन में सदैव रत रहती है।

अन्य नारी-चरित्रो में रत्नमंजूषा का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। सकट के समय में वह धीरज नही खोती है। धवलसेठ के बहकावे में न आ कर अपने शील एव सदाचार पर दृढ रहती है। असत्य का सामना वह सत्य से करने में हिचकिचाती नही है। धर्म पर उस की आस्था अडिग है। वह हिताहित का विचार करने में विचक्षण है। यद्यपि उस का जीवन फूलो की सेजो पर पला है, पर पति के साथ काँटो पर चलने के लिए भी वह तत्पर दिखाई देती है। पति को पाने के लिए वह मृत्यु से भी आलिंगन करने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। इस प्रकार दोनो ही पति-प्रेम के रस मे सरावोर लक्षित होती है।

सुरसुन्दरी स्त्री पात्रो में मैनासुन्दरी से विपरीत विरोधी चरित्र के रूप में दिखलाई पड़ती है। स्वभाव से उसे रूप का दर्प एवं अभिमान है। अपने आगे वह किसी को कुछ नही समझती। धर्म तथा सिद्धान्त की बातो को वह बिलकुल नही मानती। पढने-लिखने में भी उस का मन नही लगता। पिता की हाँ में हाँ मिला कर काम निकालने में वह चतुर है। मैनासुन्दरी से उसे ईर्ष्या है। इसी लिए जब उस का विवाह कोढी से होता है तब उसे प्रसन्नता होती है। सुरसुन्दरी के इस चरित्र में कवि ने स्त्री जाति में सुलभ रूप-मद, ईर्ष्या, बराबरी वाले का अपमान देख कर प्रसन्न होना, मीठी-मीठी बातें बनाने में चतुर तथा अवसर से लाभ उठाना आदि गुणावगुणो का समावेश किया है।

राजा पयपाल में राजोचित स्वाभिमान का दर्प कूट-कूट कर भरा है। अतएव वह अपनी पुत्री के अपमान को सहन नही करता। इस से जहाँ उस के अगाभीर्य का पता चलता है, वही अदूरदर्शिता भी स्पष्ट हो जाती है। सक्षेप में, इस रचना मे सभी प्रकार के चरित्रो की मधुर सयोजना हुई है। कुन्दप्रभा जैसी माता, मैनासुन्दरी जैसी पत्नी और श्रीपाल जैसे पुत्र तथा पति का चरित्र अत्यन्त सजीव एव आदर्श रूप मे चित्रित है। भाई के रूप में अवश्य किसी आदर्श चरित्र की योजना नही हुई।

भावाभिव्यजना

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य में मार्मिक स्थल बहुत कम है, पर भावो की यथार्थ अभिव्यक्ति तथा सजीवता उन में भरपूर है। धवल सेठ जब कोकण द्वीप के राजदरबार में श्रीपाल को पान का बीडा देता हुआ देखता है तो मानो निष्ठुर वज्र से

ही आहत हो जाता है। सर्वांग से पसीना वह उठता है। एकटक वह उस का मुँह देखता रह जाता है। सभी का मन विस्मय तथा सन्देह से भर जाता है। वणिग्वर विचार करते हैं, सोचते हैं कि भयानक जलचरो से युक्त समुद्र से यह कैसे बाहर आया? धवलसेठ किसी सेवक से श्रीपाल के सम्बन्ध में पूछता है। उस की बातो को सुन कर सेठ की यह दशा होती है, मानो श्रीपाल ने ही दौड़ कर निष्ठुर वज्र का प्रहार किया हो। किसी प्रकार से लोगो ने उसे सम्हाला। हथेली पर सिर को लटकाये वह सेठ अपने स्थान पर पहुँचता है। आत्मग्लानि से उस का चित्त भर जाता है। कवि ने उस के भावो की मार्मिक अभिव्यंजना कर भावो को ही मानो सजीवता प्रदान कर दी है।

फिर, पापी सेठ मन्त्रियो के साथ बैठा हुआ क्षण-क्षण मे मन ही मन दुखी होता है। पश्चात्ताप करता हुआ वह कहता है कि मैं ने पाप के वशीभूत हो क्या कर डाला। जिस से बिना किसी कारण के उसे सागर में गिरा दिया। सो वह पुण्य से बच कर अपनी भुजाओ से सागर पार कर यहाँ आ गया। मेरा पाप ही मेरे सामने आ गया है। यहाँ से बच कर अब मैं कहाँ जाऊँ? वह देवी तो मुझे उसी समय मार डाल रही थी, पर रत्नमजूषा ने बचा लिया।

पुणु पाविउ तहिं मंति णिसण्णउं   चिंतइ खणि खणि मणेण विसण्णउं।
हा मइ पावें किं चिरु विहियउ   णिक्कारणि सो सायरि णिहियउ।
सो पुणु पुण्णें तिघुत्तरियउ   बिहुं भुएण दुत्तरु णिरु तरियउ।
मज्झु पाउ महु सम्मुहु आयउ   कह गच्छमि हउ एत्थ वरायउ।
तइ या देवहि मारिवि जंतउ   मंजूसइ रक्खियउ तुरंतउ।७,८।

सेठ की इन भावनाओ में कितनी आत्मगर्हा और ग्लानि छिपी हुई है कि वह अब जीवित ही नहीं रहना चाहता। वस्तुत भावो की यथार्थ एवं मार्मिक अभिव्यंजना कर कवि ने पूर्ण बिम्ब ही स्पष्ट कर दिया है। यह कवि की सब से बड़ी सफलता है। भावों के उतार-चढ़ाव के कई चित्र तथा दृश्य प्रस्तुत रचना में दिखाई देते हैं। वर्णनो की अपेक्षा कवि ने भावो के यथार्थ चित्रण में अधिक रसानुभूति अभिव्यजित की है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएँ इस सहजता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि रस उद्दीप्त हो कर संचार करने लगता है। रचना में कथा के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। अतएव रसाभिव्यक्ति में प्रभावाभिव्यंजकता बनी हुई है। धवलसेठ और रत्नमजूषा की भावनाओं को पढ़ कर सहज में ही उन की स्थिति का बोध हो जाता है। इसी प्रकार राजा धरपाल भी यह पता चलता है कि श्रीपाल डोम सरदार का पुत्र है तो वह क्रोध से संदीप्त हो नाना विरोधी भावों से भर जाता है। डोम सरदार के हाव-भावो को देख कर राजा क्षुब्ध हो उठता है। उस के भाव मलिन हो जाते हैं। किन्तु धीर चित्त वाला श्रीपाल क्षणिक भी विचलित नहीं होता। राजा को चिन्तित देख कर वह धीरे से उस के

पास जाता है। तब राजा चिल्ला पडता है—हे कायरो, उबारो। तुम सब क्या कह रहे हो ? क्यो इतना प्रेम दर्शा रहे हो ? मुझे सारी बाते बताओ, नही तो तुम्हारे प्राणो के खण्ड-खण्ड कर दूँगा। राजा की बातें सुन कर कोई डोम स्त्री विस्तृत विवरण सुनाती है। राजा उस के वचनो को सुन कर श्रीपाल को बुला कर पूछता है। श्रीपाल कहता है कि डोम जो कुछ बकते हैं वह क्या सच है ? इन वचनो से राजा की क्रोधाग्नि और भी भडक उठती है और वह चण्डाल को बुला कर कहता है कि इस पापी को मसान में ले जा कर छेद डालो। उस समय श्रीपाल मन में चिंतित होता है। उधर यह वृत्तान्त गुणमाला सुनते ही छाती पीटने लगती है, सिर धुनती है, विलाप करती है। वह दौडी हुई पिता के पास आती है और कहती है कि मेरा पति सच्चा है।
(७,१२-१४)

इस प्रकार एक साथ कितने भावो का सचार इस दृश्य में लक्षित होता है। भावो की सन्धि तथा शबलता मे औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कवि ने वातावरण के बीच भावो की इतनी सुन्दर चित्रमाला अकित की है कि उस का प्रभाव पाठक के मन पर पडे बिना नही रहता। यही नही, उस दृश्य की अमिट छाप सहृदय के चित्त पर अकित हो जाती है। फिर, ऐसे प्रसगो पर लेखक ने वर्णन में कृपणता नही दिखाई है। निम्न-उच्च सभी वर्ग के पात्रो के विभिन्न मनोगत भावो की पूर्ण एवं सफल अभिव्यजना इस रचना में बन पडी है। मुख्य बात तो यही है कि औचित्य का पूर्ण समाहार हुआ है। अतएव रसान्विति में क्लिष्टता न हो कर रस का पूर्ण आस्वादन मिलता है।

इस काव्य में मुख्य रस शान्त है। आरम्भ से ले कर अन्त तक निर्वेद भाव बना रहता है। संसार में कर्म की प्रधानता दर्शाने के लिए ही उद्देश्य रूप मे कथा की संयोजना हुई है। सिद्धचक्र-विधान का अनुष्ठान तथा व्रत का माहात्म्य स्थान-स्थान पर कवि ने बताया है। हसद्वीप में श्रीपाल के पहुँचने पर सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, चारण मुनियो का आगमन और धर्मोपदेश आदि निर्वेद भाव की प्रधानता को सूचित करते हैं, जो अन्त तक अपना प्रभाव बनाये रहता है। राजा वीरदमण श्रीपाल को सिंहासन देने के साथ ही संन्यास एव मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। अन्त में राजा श्रीपाल भी मुनिराज से धर्मोपदेश तथा भवान्तर के वृत्तो को सुन कर मुनि बन जाता है और घोर तपश्चर्या कर निर्वाण प्राप्त करता है। अतएव स्पष्ट ही इस में शान्तरस मुख्य है।

अन्य रसों में वीर, श्रृंगार, रौद्र और बीभत्स का सुन्दर परिपाक मिलता है। युद्ध-वर्णन में वीररस का सहज सचार दिखाई देता है। विवाह के प्रसग में तथा काम-भोग की अवस्था में सयोग शृगार का चित्रण हुआ है। इसी प्रकार वियोग काल की अनुभूतियो का भी स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है। वियोगविधुरा भारतीय नारी

का चित्र कितने स्वाभाविक ढंग से कवि ने दो पंक्तियो में चित्रित कर दिया है कि उस का वास्तविक रूप ही आँखो के सामने घूमने लगता है। यथा—

मलिणंवर तणु खीणिय पयलिय णेत्तवरा।
णाह णाम घोसंती पेच्छिय ताइ परा ॥७,१४॥

अर्थात् रत्नमंजूषा पति के वियोग में मलिन वस्त्रो को धारण किये हुए मौन बैठी थी। उस का शरीर क्षीण हो गया था। नेत्रो के पलक ही नही झँपते थे। वह गुणमाला को पति का नाम लेते हुए देख कर उसे बार-बार देखने लगी। यहाँ पर रत्नमंजूषा अपने पति का नाम नही लेती है। वह अपने विरह में मौन रहती है। मुख से भी कुछ नही कहती है। राजसभा में जा कर पतिदेव के समक्ष ही उस की वाणी का स्फुरण होता है। यह भारतीय जीवन और साहित्य की यथार्थ अभिव्यक्ति है, जो हमें अन्य देश के जीवन तथा साहित्य में इतनी कारुणिकता के साथ नही मिलती। यह भारतीय साहित्य और संस्कृति की अपनी विशेषता है, जिस के विभिन्न चित्र हमें आज भी देखने-पढने और सुनने को मिलते हैं। अपभ्रंश के प्रायः प्रत्येक कथाकाव्य में हमें नारी की महत्ता और उस के आदर्श रूप की गाथा चित्रित मिलती है।

वियोग-वर्णन

श्रीपाल के सागर में गिरते ही रत्नमजूषा मूर्च्छित हो जाती है। बड़ी कठिनाई से बहुत देर बाद वह उठती है और नाथ-नाथ चिल्लाती है। धाडें मार-मार कर वह ऐसा विलाप करती है मानो नभतल ही फूट गया हो। उस की वही दशा हो गयी, जो पाला गिरने से कमलिनी की हो जाती है।

उठिय णाह णाह जंपतिया।
हा विहि काइं काइं इहु जायउ   अणुचिंतिउ दुक्खु संपायउ।
मुक्कघाहण्ण णं णहयलु फुट्टइ   कय कम्महु महि कोइ ण छुट्टइ।
सरकमलिणि णं हिमहय मुक्किया   हा हा णाह णाह कहि मुक्किया।
हा हउं इत्यु अणाहु तुरंतरि   किम अप्पउ धारमि पोयतरि। (६,२१)

इस प्रकार वह तरह-तरह के विचारो तथा मनोभावनाओ को प्रकट करती हुई स्वाभाविक ढंग से विलाप करती है। उसे इतनी वेदना होती है कि वह अपने-आप को सम्हालने में समर्थ नहीं होती।

एक अन्य स्थल पर हमें गुणमाला का विलाप सुनाई देता है। गुणमाला शृंगार कर रही है। अपने शरीर को उस ने भलीभाँति सजा लिया है, पर सखी के मुँह से यह सुन कर कि जिस के लिए तुम सज रही हो उन्हें राजा के आदेश से मसान घाट पर श्मशान में ला रहे हैं, वह मूर्च्छित हो जाती है। क्षण भर में उठ कर वह फिर

से मूर्छित हो जाती है। चेतने पर आँसुओ के प्रवाह से वक्षस्थल सीचती है। वह कहती है कि हे स्वामी सच-सच कहो, जिस से मेरे प्राण दु:ख से न निकल सके।

> पेच्छिवि णाहहु सुदरि मुच्छिय पडिय खणे
> हाहारउ पुरि वड्ढिउ भिल्लिय समणजणे।
> पुणुउ मुच्छिवि सामिहु मुच्छइ ससिवयणी
> अंसुपवाहेँ सिंचिय उरयलुमयणयणी।
> जिम न पाण पमेल्लिवि महदुक्खेंण पहु
> तामहु वल्लह अक्खहिं सच्चउं वयणलहु। (७,१४)

उक्त वर्णन में हमें कवि की स्वानुभूति मूलक विरह की अतिशयता लक्षित नही होती, वरन् नारी जाति का स्वाभाविक हाहाकार ही मिलता है, जो सहजता के साथ अपनी करुणावस्था का मार्मिक चित्र उद्वुद्ध करता है। अतएव इस में विरह की वह सघनता और गम्भीरता नही आने पायी है, जो मनुष्य के हृदय को छू कर उसे तरल तथा द्रवित बना देती है।

काव्य में रौद्र रस की अभिव्यजना दो स्थलो पर हुई है। पहला स्थल तो वह है जहाँ राजा चण्डाल को क्रोध में भर कर श्रीपाल का वध करने का आदेश देता है—और दूसरा वह है जहाँ राजा पयपाल श्रीपाल के दूत को क्रोध के आवेश में मारने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल के कोढ के वर्णन मे वीभत्स रस का स्फुरण हुआ है। कुल मिला कर भावाभिव्यजना में रचना साधारण तथा कथा की मधुरिमा से मण्डित है। इस में भ० क० की भांति सप्रेष्य विम्बो का विधान तथा मूर्तामूर्त-योजना तो अवश्य नही है, पर अनुभूति की संवेदनात्मकता भावानुभावो मे भलीभाँति लक्षित होती है। यही इस कथाकाव्य की विशेषता है।

अलंकार-योजना

श्रीपाल कथा में अलंकारों का स्वाभाविक सौन्दर्य अपनी सहजता से हृदयग्राही तथा मनोरम है। सादृश्यमूलक अलकारो का ही विधान इस में दृष्टिगोचर होता है। कुछ मुख्य अलंकार निम्नलिखित हैं।

उवयारे सोहइ णरसरीरु, जिह रयणे सोहइ कणउ भव्वु। (५,१०)

(उदाहरण)

अर्थात् उपकार से मनुष्य तन वैसे ही शोभा पाता है जैसे कि रतन में लगा हुआ सोना भव्य जान पडता है।

यहाँ पर शरीर की शोभा उपकार से है—इस सामान्य अर्थ को उदाहरण से पुष्ट किया गया है, इस लिए उदाहरण अलकार है। यह बोलचाल की भाषा का अलकार है। इस का प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। ऐसे अलकार लोकतत्त्व को सूचित करते

है। उदाहरण की झड़ी ही इस रचना मे लगी हुई मिलती है। यथा—जिस प्रकार से ध्रुवतारा गगनतल मे इधर से उधर नही चलता उसी प्रकार पानी से भरे हुए समुद्र में भी वाहन नही बहे। जिस प्रकार विना त्याग के यश नही चलता, विना पवन के पेड़ नही हिलता, विना पुत्र के कुल सुखकारक नही होता, विना बुद्धि के शास्त्र का विचार नही होता, पर स्त्री के संग से जैसे शील की रक्षा नही होती, गुरु की आज्ञा भग करने से जैसे ज्ञान रक्षित नही रहता, विना राजा के सेना नही बढ़ती, विना सत्य के व्यवहार नही चलता, विना स्त्री के गृहस्थ धर्म नही पलता, जिस प्रकार अविवेक युक्त होने पर सयम का पालन नही होता उसी प्रकार वाहनगण भी कही चलने को समर्थ नही हुए। (६,१३-१४)

विणु देहिँ जिम धम्मु सुहासिउ विणु मंति जिम रज्जु पउत्तउ।
विणु वेरग्गें जिम तउ घित्तउ विणु पुत्तें जिम कुलु सुहयारउ।

(विनोक्ति)

यहाँ धर्म आदि के बिना शरीर आदि की शोभाहीनता कही गयी है।

इय णिसुणिवि पुणु दूउं वुत्तउ देव म वोल्लहि वयणु अजुत्तउ।
किं पंचाणणु गएण हणिज्जइ किं कम्में जिणवर वसि किज्जइ।

(काव्यलिङ्ग)

अर्थात् यह सुन कर दूत वोला कि हे देव, ऐसे अनुचित वचन आप मत वोलिए। क्या हाथी सिंह को पछाड़ सकता है? क्या कर्मो से जिनवर को वश किया जा सकता है? यहाँ पर वाक्यार्थमूलक काव्यलिंग है।

इन के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, अनुमान, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि मुख्य अलंकारो का प्रयोग हुआ है। रचना में उत्प्रेक्षा की तो प्रचुरता ही दिखाई देती है। कई नयी-नयी तथा सटीक उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग कवि ने किया है। वात-वात में उत्प्रेक्षा कवि की कल्पना को उभारती लक्षित होती है। जैसे कि—

तं सुणेवि सिरिपालु अभउ लहु।
चडिउ वससिरि दिसउ णिहालइ ण कम्में रोविउ विग्घालइ। (६,२०)

अर्थात् धवलसेठ की वार्तो को सुन कर दिशाओ को देखता हुआ श्रीपाल उस वाँस के सिरे पर चढ़ गया मानो कर्मो ने ही विघ्नो के घर पर चढा दिया हो। ऐसे उदाहरणो से रचना भरी पड़ी है। इस से की कवि लोकप्रवृत्ति तथा कल्पना की उन्मुक्तता का पता लगता है। अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो में कल्पना की नित नूतनता और उपमानों का नया प्रयोग दिखलाई पडता है। यद्यपि कही-कही पुरानी लीक का ही अनुसरण दृष्टिगोचर होता है, पर कवि की मौलिकता की छाप भी भलीभाँति दृष्टिगत होती है।

छन्द-विधान

अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्यो की भांति आलोच्यमान कथाकाव्य में पद्धड़िया छन्द का विशेप रूप से प्रयोग हुआ है। समग्र ग्रन्थ पद्धडियाबन्ध है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंश में इस का बहुत प्रयोग देखा जाता है। सस्कृत कविता वहुत कम पद्धड़िया या पज्झटिका अथवा पद्धति छन्द में लिखी गयी। आ० हेमचन्द्र के अनुसार इस छन्द में पाद के अन्त में अनुप्रास का होना आवश्यक है[1]। इस के कई भेद कहे गये हैं। आ० स्वयम्भू ने भी उल्लेख किया है कि पद्धडिया सोलह मात्राओ का छन्द होता है। यथा—

सुरसुंदरी णामा पढम उत्त सिवधम्मलीण अविवेइ जुत्त।
णिय जणणिहु सत्थें कुगुरुदेउ आराहिउ णिरु संसारहेउ। (१,११)

यहां चारो चरणो में सोलह-सोलह मात्राएँ तथा पाद के अन्त में अनुप्रास है। अन्य छन्दो में चारु, मदनावतार, दोहा, गाथा, पद्मावती, मौक्तिकदाम्नी आदि मात्रिक वृत्तो का प्रयोग हुआ है। चारु छन्द में प्रत्येक चरण मे दस मात्राएँ होती है[2]। उदाहरण है—

सोहग्गसुदरी, णामे गुणभरी। (१,१०)

यह सम द्विपदी वृत्त है। पाँचवी मात्रा पर यति है। इस का दूसरा नाम ललतक भी है। पद्मावती समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में वत्तीस मात्राएँ होती है। इस का उदाहरण है—

तं जिणवरमदिरु णयणाणंदिरु दिठउ तें झपियउ णिरु।
हा हा किं कारणु कुगइ णिवारणु जिणहरवारु जि दिण्णु थिरु। (६,३)

मौक्तिकदाम्नी समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में वत्तीस मात्राएँ होती है। यह स्कन्धक के समान कहा गया है[3]। उदाहरण है—

हा पोहणचालण तक्करपालण उग्घाडण जिणमंदिरहो।
भो महु मणरजणु अरियणभजण सज्जण णयणाणदिरहो। (६,२२)

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में अधिकतर मात्रिकवृत्तो का ही प्रयोग मिलता है। पद्धडिया तो संस्कृत मे अपभ्रंश से गया हुआ प्रतीत होता है। क्योकि पदान्तानुप्रास

---

१ चगणचतुष्टय पादान्तेऽनुप्रासे सति पद्धति। अपभ्रंशे चास्या भूयसा प्रयोग।
—छन्दोऽनुशासन, ३,७३।

२ पौ चारु। इवौ पचमात्रौ चारु। छन्दोऽनुशासन, ७,७१।

३ पण्मात्रश्चतुर्मात्रिपट्क द्विमात्रश्चेत्येभिमात्रागणै कृतेष्वेषु स्कन्धकसामादिषु त्रिषु स्त्रीत्व स्त्रीलिंग शब्दाभिधेयत्वम्। स्कन्धकसमा, मौक्तिकदाम्नी, नवकदलीपभा चेत्यर्थ। यति सैव। वही, ७, २१।

तथा पद्धड़ियाबन्ध की रचना अपभ्रंश काव्यो की मुख्य प्रवृत्ति रही है। अधिकाश अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य पद्धडिया शैली में लिखे हुए मिलते हैं। पं० रइधू का यह काव्य भी इसी शैली का है। वस्तुत. अपभ्रंश काव्यो की शैली तथा अलंकारो का विधान छन्द-योजना के अन्तर्गत हुआ जान पडता है। अन्त्यानुप्रास तथा यमक और पद्धड़िया-कडवक बन्ध की रचना से यह स्पष्ट हो जाता है। यथार्थ में अपभ्रंश की कविता में छन्दो का विशेष महत्त्व है। भावो के अनुसार, ताल और लय से समन्वित कई देशी छन्द भी इस में मिलते है, जिन का नाम तथा लक्षण ठीक-ठीक नही कहा जा सकता।

भाषा तथा शैली

श्रीपालकथा की भाषा सरल तथा चलती हुई है। तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव इस रचना पर लक्षित होता है। वाक्य-रचना और नाम-रूपो को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाषा साहित्य से प्रभावापन्न होने पर भी लोक के निकट है। उदाहरण के लिए—णियहत्थें छोडिय गुणालें, तं सुणेवि ते चोर णिकिठा, सिरिपालहु पुणु सरणि पइठा, आदि वाक्यो में लोक बोली की झलक मिलती है। रचना में छुट्टइ, ढोइयउ, छुटी, छुट्टइ, फुट्टइ, दोसिया, घोसिया, घडइ, चडाविया, छंडिउ, उठयउ, पुज्जियउ, आय, गय आदि क्रियाएँ लोक भाषा से मिलती-जुलती है। इसी प्रकार कोढिउ, छप्पयरवाला, डुल्लिय, भुल्लिय, मेल्लिय, पलोट्टइ (लोटना), खीर, अंसू, एकल्लउ, झलझलिय, फिरि, फिरि फिरि, को, जो, सो, कोइ, जहि, छिप्पइ आदि शब्द-रूपो पर देशीपन स्पष्ट झलकता है। अतएव अनुकरणात्मक शब्द भी रचना में विरल नही हैं। सक्षेप में, आलोच्यमान काव्य की भाषा सरल अपभ्रंग है, जिस में कही-कही लोक बोली का प्रभाव लक्षित होता है। वैसे भाषा न तो साहित्यिक ही है और न बोलचाल की। भ० क० की भाँति यह बीच की भाषा भी नही है। चलती से यही अभिप्राय है कि सीधी-सादी अपभ्रंश में यह रचना लिखी गयी है। शब्द-रूपो में सरलता तथा वाक्य-रचना स्वच्छ है। ग्रन्थ की श्लोकसख्या लगभग दो हजार है। इस दृष्टि से यह आकार में बड़ी रचना नही है, पर वर्ण्य विषय से काव्य की समग्रता का आभास मिल जाता है। यह काव्य अपभ्रंग प्रबन्ध काव्य की प्रसिद्ध पद्धड़िया शैली में लिखा गया है। रचना दस सन्धियो में तथा कडवको में निबद्ध है। कडवक पद्धडियाबद्ध हैं। साधारणत. एक कडवक में दस पंक्तियाँ और एक घत्ता है। घत्ता के आरम्भ में और अन्त में भी कही-कहीं दोहा मिलता है। किसी-किसी कडवक का आरम्भ ही दोहे से होता है। प० रयधू की शैली प्रसाद गुण से युक्त प्रवाहपूर्ण है। अपभ्रंश के कवियों में उन का अपना अलग व्यक्तित्व है, जो स्पष्टता और सरलता लिये हुए है। कठिन से कठिन विषय को सरलता से कहने का गुण कवि का वैशिष्ट्य है। वस्तुतः प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति के कारण रचना प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।

सिद्धचक्कहा

कवि का परिचय

कवि के सम्बन्ध मे अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नही हो सका है। स्वयं कवि के लिखे अनुसार नरसेन रचित सिद्धचक्ककहा का प्रमाण मिलता है।[1] जिनरत्नकोश में इस अपभ्रंश रचना के लेखक नरदेव और नरसेन को अलग-अलग कहा गया है, किन्तु वे दोनो एक ही हैं। लेखक का शुद्ध नाम नरदेव न हो कर नरसेन है। अलग से नरदेव की सिद्धचक्र या श्रीपालकथा नामक कोई रचना अभी तक उपलब्ध नही हुई है। अतएव हमारी समझ में दोनो लेखक एक ही हैं। रचना से तथा चौबीसी वन्दना से स्पष्ट है कि लेखक जैन था। इस रचना में वर्णित सिद्धचक्रव्रत की विधि दिगम्बर सम्प्रदाय से अनुमोदित है। सम्भवतः लेखक उत्तरप्रदेश के किसी स्थान का रहा होगा। कथा की भाषा से इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है।

समय

इस कथाकाव्य की सब से प्राचीन प्रति वि० सं० १५१२ की मिलती है, जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। इस से पता चलता है कि कम से कम सौ-डेढ सौ वर्ष पूर्व ही यह रचना लिखी जा चुकी होगी। अनुमानत कवि का समय चौदहवी शताब्दी कहा जा सकता है। पं० रयधू और नरसेन की श्रीपाल-कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना रयधू के पूर्व की लिखी हुई है।

गुर्जर देश के कवि धनपाल द्वितीय ने "बाहुबलिचरित" मे नरदेव का उल्लेख किया है। यथा—

णवयारणेहु णरदेव वुत्तु कइ असग विहिउ वरहो चरित्तु।

बाहुबलिचरित पन्द्रहवी शताब्दी (वि० सं० १४५४) की रचना है। अतएव नरदेव का समय चौदहवी शताब्दी के बाद का नही हो सकता। कवि के नरसेनदेव, नहसेन, नरदेव आदि नाम लिखे हुए मिलते है।

रचनाएँ

अभी तक कवि की लिखी हुई तीन रचनाओ का पता लगा है जो इस प्रकार हैं—सिद्धचक्रकथा, वर्द्धमानकथा और जिनरात्रिविधानकथा।

---

१ सिद्धिचक्कविहि रइय मइ णरसेणु भणइ निय मत्तिए।
भवियण जण आणंदयरे करिवि जिणेसर भत्तिए॥ २, ३६।

कथावस्तु

उज्जैन नगरी में राजा पयपालु (प्रजापाल) राज्य करता था। उस की रानी का नाम सुरसुन्दरी था। राजा की वडी कन्या सुरसुन्दरी और छोटी मैनासुन्दरी थी। छोटी कन्या पढने में तेज और सुन्दर थी। एक वार पढ-लिख लेने पर राजा ने वडी कन्या से वर माँगने को कहा। उस ने कौशाम्वी के राजकुमार सिंहरथ को वर लिया। जव छोटी कन्या ने मुनिवर समाधिगुप्त के पास सकल शास्त्रो को पढ लिया तव राजा ने उसे अपने निकट वुला कर वर माँगने को कहा। पहले तो वह चुप रही, फिर काँपते मन से वोली कि जिसे आप उचित समझें उस से विवाह कर दें। कन्या तो माँ-वाप पर निर्भर रहती है। फिर, जो कर्म में लिखा होगा उसे कौन मेट सकता है। राजा उस की इन वातो से क्रुद्ध हो जाता है। क्रोध में भर कर राजा जैसे ही नगर के वाहर पहुँचता है उसे कोढी राजा आता हुआ दिखाई देता है। राजा उसे मैना-सुन्दरी के योग्य समझ कर मन्त्रियो को आदेश दे देता है। दोनो का विवाह हो जाता है। किन्तु विवाह हो जाने पर राजा को पश्चात्ताप होता है। उज्जैन नगरी में पाँच सौ मन्दिर थे। श्रीपाल के साथ के कोढी वही रहने लगे। इसी समय सीमासन्धि का युद्ध आ पड़ा। मरहठा और सोरठ देश के युवराज सेना ले कर आ पहुँचे। किन्तु राजा उन्हें अग देश तक खदेड कर ले गया, जहाँ चम्पा देश के राजा अरिदमन शासन कर रहे थे। राजा घाडीवाहन के कुल में उत्पन्न अरिदमन की रानी कुन्दप्रभा श्रीपाल की माता थी। माता को आया हुआ देख कर श्रीपाल ने विनय का पालन किया। एक दिन मैनासुन्दरी अपने गुरु एवं मुनिवर समाधिगुप्त से कुष्ठव्याधि दूर करने के लिए सिद्धचक्र व्रत ग्रहण करती है। इस विधान की पूजा तथा व्रत से श्रीपाल का कुष्ठ दूर हो जाता है। अन्य कोढी भी गन्धोदक लगाने से अच्छे हो जाते हैं। लोगो को यह कहते सुन कर कि यह राजा का जमाई है, श्रीपाल मन ही मन दुखी होता है और वारह वरस के लिए विदेश-यात्रा के लिए निश्चय कर लेता है। श्रीपाल की माता तो तैयार हो जाती है, पर पत्नी उसे नही जाने देती। अन्त मे माता का उपदेश ग्रहण कर श्रीपाल सात सौ अगरक्षको के साथ वहाँ से चल पडता है। कई देशो तथा नगरो में विहार करता हुआ वह वत्स देश में पहुँचता है। वहाँ श्रीपाल को पकड कर समुद्र तट पर ले जाते है और वलि देने के लिए चन्दन से चर्चित कर उस की पूजा करते है। श्रीपाल घवल सेठ के पाँच सौ जहाजो को स्थिर देख कर कहता है कि तुम्हारे दस हजार वीर है इसलिए यदि इतने ही सिक्के दो तो मैं इन्हें चला सकता हूँ। सेठ तैयार हो जाता है। जहाज चल पडते हैं।

श्रीपाल उन सव के साथ यात्रा करता है। वे सव रत्नद्वीप पहुँचते है। हवा के जोर से जहाज उलटे चलते है, जहाँ एक लाख चोरो का दल धावा मारता है। घवल सेठ वाँध लिया जाता है। दोनो ओर की सेनाओ में युद्ध होता है। अन्त में श्रीपाल के पास सेवक दौडा आता है। वह सेठ को छुड़ाता है। वहाँ से माणिक-रत्नो

को ले कर वे सिंहद्वीप में पहुँचते है। उस समय वहाँ का राजा कनककेतु विद्याधर था। उस की रानी का नाम कनकमाला था। उस के तीन कन्याएँ थी। सब से छोटी का नाम रत्नमंजूषा था। एक वार मुनिराज ने वताया कि जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा। श्रीपाल वहाँ दर्शन के लिए जाता है और उन के देखते ही किवाड खुल जाते है। राजा समाचार पा कर अपनी पुत्री श्रीपाल को परणा देता है। कुछ दिन वहाँ रहने के वाद श्रीपाल साथियो के साथ जहाज मे वैठ कर स्वदेश के लिए चल पडता है। घवल सेठ रत्नमजूषा के लावण्य को देख कर काम से पीडित हो जाता है। वह मन्त्रियो से मन्त्रणा कर उन्हें राय देता है कि मैं तुम्हें लाख दाम देता हूँ तुम उछलते हुए मच्छो की घोषणा कर किसी प्रकार श्रीपाल को वाँस पर चढा दो और रस्सी काट दो, जिस से वह पानी में गिर पडे। लोग हल्ला मचाते हैं कि मच्छ आया और श्रीपाल जैसे ही उसे देखने को ऊपर चढता है, नीचे से रस्सी काट दी जाती है। रत्नमजूपा विलाप करती है। उसे मन ही मन बडा पश्चात्ताप होता है कि वाप ने परदेश मे मुझे क्यो व्याह दिया। सेठ उस के पास दूती भेजता है। वह दुतकार देती है। तव स्वयं सेठ हाथ जोड कर उस के पैरो पर गिर कर मनाता है। वह उसे भी फटकारती है। देवता का स्मरण करती है। मान-भद्र यक्ष और चक्रेश्वरी, अम्विका, पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी आदि देवियाँ आ कर सेठ का मुँह लहूलुहान कर अन्धा कर देती हैं और दोनो हाथो को पीछे वाँध देती हैं। तव रत्नमंजूपा मना कर उसे छुडाती है।

श्रीपाल तैरता हुआ दलवट्टण (दलपट्टन) नाम के नगर में पहुँचता है। वहाँ का राजा धनपाल अपनी रानी वनमाला से उत्पन्न गुणमाला को मुनि के वचनो के अनु-सार श्रीपाल को परणा देता है। वह राजा के साथ वही राज्य करता है। इतने में संयोग से घवलसेठ के जहाज भी वही आ लगते हैं। सेठ राजसभा में भेंट ले कर जाता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर लाख दाम में डोमो को तैयार करता है। वे इन्द्रजाल दिखा कर श्रीपाल को अपना पुत्र घोषित करते है। राजा श्रीपाल को वध करने की आज्ञा देता है। श्रीपाल गुणमाला को रत्नमजूषा के पास भेजता है। रत्नमजूषा राजा को सव वृत्तान्त सुनाती है। राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। राजा सेठ को मारने की आज्ञा देता है। किन्तु श्रीपाल उसे धर्मपिता कह कर वचा लेता है। उस का स्वागत किया जाता है। सेठ अपने कर्मों से पर-स्त्री लम्पट होने से अन्त में मर कर नरक गति को प्राप्त करता है।

गुणमाला और रत्नमंजूषा के साथ श्रीपाल सुखोपभोग करते है। एक दिन एक वणिग्वर वहाँ आता है। कुण्डलपुर में स्थित राजा मकरकेतु और रानी कपूर-तिलक की पुत्री चित्रलेखा के रूप तथा गुण के सम्वन्ध में विस्तार से वताता है। श्रीपाल उस की वातो से प्रभावित हो कर दूसरे ही दिन कुण्डलपुर के लिए चल पडता है। वह नाच-गान के साथ वाजा वजाने मे जगरेखा, सुरेखा, गुणरेखा, मनरेखा, रम्भा,

भोगमती और रतिरेखा को विजित कर चित्रलेखा के साथ सब का पाणिग्रहण करता है। कुछ समय बाद वहाँ एक व्यक्ति पहुँचता है, जो श्रीपाल को कंचनपुर के राजा वज्रसेन और रानी कंचनमाला की कन्या विलासमती के सम्बन्ध मे बहुत कुछ बताता है। श्रीपाल वहाँ जाता है। कन्या विलासमती के साथ उस का पाणिग्रहण सस्कार होता है। कुछ दिन वहाँ राज्य करने के बाद श्रीपाल वहाँ से प्रस्थान करता है। वह ठाणा कोकण द्वीप में पहुँचता है। वहाँ का राजा विजय अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस की अत्यन्त सुन्दर चौरासी रानियाँ थी। यशमाला पटरानी थी। उस राजा की सोलह सौ विदग्ध कन्याएँ थी। उन कन्याओ में गोरी सब से बडी थी। उन सब को समस्या-पूर्ति में जीत कर श्रीपाल परणा लेता है। उन सभी पत्नियो को ले कर श्रीपाल उज्जैनी के लिए चल पडता है। मार्ग में सात सौ कुमारियाँ मल्लिवाड की, हजार तैलंग की, पाँच सौ सोरठ की, पाँच सौ महाराष्ट्र की और सवा लाख गुजरात की तथा चार सौ मेवाड की परणा लेता है। छियानवे कन्याएँ वह समर, पुलिंद, भील, खस और बब्बर की लेता है। इस प्रकार श्रीपाल दल-बल के साथ उज्जैन नगरी मे बारह बरसो के बाद लौट कर पहुँचता है।

सेना को वह कटक में छोड कर अकेला घर पहुँचता है। मैनासुन्दरी सास से दीक्षा-ग्रहण करने की चर्चा करती है। श्रीपाल उस की बातो को सुन कर झट से द्वार खोल कर भीतर प्रवेश करते हैं। फिर, श्रीपाल सभी पत्नियो को बुलवाता है। वे सास तथा मैनासुन्दरी के पैरो पर पडती हैं। श्रीपाल की सेना चारो ओर से नगरी घेर लेती है। राजा पयपालु के पास दूत जाता है। राजा कम्बल पहन कर कुल्हाडी ले कर भेंट करने जाता है। श्रीपाल सम्मान करता है। फिर, कुछ दिनो के बाद श्रीपाल चम्पानगरी के लिए प्रस्थान करता है। काका वीरदमण से उस का युद्ध होता है। श्रीपाल राजा बनता है। वीरदमण मुनि बन जाता है। बहुत समय तक राज्य करने के उपरान्त श्रीपाल भी मुनि-दीक्षा ग्रहण करता है और घोर तपस्या कर निर्वाण-लाभ करता है।

प्रबन्ध-रचना

यद्यपि पं० नरसेन की सि० क० दो सन्धियो की रचना है, किन्तु बन्ध की दृष्टि से यह लघुकाय प्रबन्ध काव्य है। वर्ण्य विषय प० रयधू की सि० क० के तुल्य है। वर्णन अवश्य कम और संक्षिप्त हैं, पर लगभग सभी मुख्य वर्णनीय बातो का समावेश हुआ है। वस्तुत श्रीपालकथा विषयक दोनो रचनाएँ पौराणिक निबन्ध में अनुस्यूत हैं, जिन में साहित्यिक रूढियो का समावेश कम, पर पौराणिक बातो का उल्लेख विशेष है। उदाहरण के लिए अपभ्रश के प्रबन्ध काव्यो में मिलने वाली काव्य-रूढियो में से मगलाचरण और आत्मोल्लेख के अतिरिक्त अन्य बाते इस काव्य में नही मिलती। किन्तु विपुलाचल पर स्थित महावीर स्वामी के समवशरण में राजा श्रेणिक का वन्दना

करने के लिए जाना और यथास्थान बैठ कर इस कथा को तथा माहात्म्य को सुनने का विवरण दोनो में समान हैं।

घटनाओ के संक्षिप्त विवरण तथा नाटकीय सन्धियो की योजना मे कवि ने विशेष प्रबन्धपटुता का परिचय न देकर स्वाभाविकता को अभिव्यक्त किया है। इस लिए घटनाएँ सहज रूप में गतिशील लक्षित होती हैं। उन में कवि ने अपनी प्रतिभा का उपयोग न दर्शा कर एक आख्यान को ही प्रबन्ध का रूप देने का यत्न किया है। अतएव घटनाओ में कार्य-कारण योजना तथा शृंखला रूप में कई छोटे-छोटे वृत्त जुडे हुए मिलते है। आधिकारिक कथा मे पूर्ण प्रवाह और गतिशीलता है। किसी प्रकार का गत्यवरोध उस मे नही मिलता। प्रासंगिक कथाएँ तो नही, पर घटनाओ तथा वृत्तो की योजना अवश्य हुई है, जो मुख्य कथा के प्रेरक हैं। स्पष्ट ही पताका नायक और पताका कथाओ की संयोजना इस काव्य मे नही है। आदि से अन्त तक नायिका और नायक कथा के केन्द्रविन्दु है और विभिन्न घटनाएँ उन के जीवन की आशा-निराशाओ से संवलित एव प्रभावोत्पादक दिखलाई पडती हैं।

इस प्रकार वस्तु एवं विषय की रचना में यह कथाकाव्य साधारण रूप से निरवद्य कहा जा सकता है। कवि यदि चाहता तो इस कथा को और भी अच्छा रूप दे सकता था, पर अपने आप में यह इतनी स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है कि इस के अन्य रूप पर सहसा ध्यान आकर्षित नही होता।

सक्षेप में, वस्तु, विपय और सघटना की दृष्टि से अल्पकाय होने पर भी यह प्रवन्ध की कोटि की रचना है, जिसे एकार्थक काव्य कहा जा सकता है।[1]

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान काव्य में कथा उद्देश्य विशेष से नियोजित है। कवि ने इसे सिद्धचक्र कथा कहा है।[2] इस में सिद्धचक्र के माहात्म्य एवं फल का वर्णन है।[3] चौबीसी वन्दना के अनन्तर विपुलाचल पर महावीर स्वामी का आगमन तथा राजा श्रेणिक का वन्दना के लिए जाने का वर्णन है। यथास्थान वैठने के बाद गौतम गणधर से राजा श्रेणिक सिद्धचक्र का फल पूछते हैं और उन्हें यह कथा सुनाई जाती है। वस्तु-वर्णन में सब से पहले उज्जैनी नगरी का वर्णन है। कवि उस की शोभा का तथा सुख-समृद्धि का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह ऐसी जान पडती है मानो अमरावती ही खिसक कर धरती पर आ पडी हो।

उज्जेणि णयरि तहिं पयडि थिय   कणयरयण कोडिहिं जडिय।
वलिवडघरतह सुरवरहं   अमरावइ ण खसि पडिय ॥१,४॥

---

१ भापाविभापानियमात्काव्य सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणै पद्यै सन्धिसामग्रयवर्जितम् ॥ सा० द०, ६,३२८।

२ सा भगवइ मह्रु होउ पसण्णी   सिद्धचक्ककह कह उरवण्णी ।१,१।

३ पुछइ सेणिउ वीर जिणेसर   सिद्धचक्कफलु कहि परमेसर ।१,२।

फिर, कोढियो के दल का वर्णन है। किस प्रकार से अपने राजा पर चमर डुलाते हुए, घण्टा और सिंगीनाद करते हुए गलित नासा करचरणांगुलि वाले कोढी चले आ रहे थे—इसका स्वाभाविक वर्णन हुआ है। अनन्तर विवाह का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है।

विवाह-वर्णन

उस समय का दृश्य वडा विचित्र जान पडता है जब अन्त पुर की स्त्रियाँ कोढी राजा को देख कर रो पडती हैं। इधर मागलिक गीत गाये जाते हैं, वाजे वजते हैं और उधर माता तथा वहिन आदि रोती है।

वज्जइ मंदलु गिज्जइ मंगलु णारीयणु जण करहि अमंगलु।
माय वहिणि रोवति णिवारइ विहिण विहियउ को किरवारइ।१,१४।

मैनासुन्दरी उन्हे समझाती है। लोग भी अमंगल का निवारण करते हैं।

शान्ति के लिए ब्राह्मण वेद-पाठ करते हैं। हवन किया जाता है। श्रीपाल के सिर पर मुकुट बाँधा जाता है। मानो एक छत्र राज्य ही बाँध दिया गया हैं। मैना-सुन्दरी का भी श्रृंगार किया जाता है। उत्सव के साथ विवाह होता है।

वंभण वेय पढतह सतह अइ हव मंगल चारु करंतहं।
सिरि सिरिपालहु मउडु णिवद्धउ एयछत्तु ण रज्जु णिवद्धउ।
करकंकणु उरयलि हारावलि करइ रज्जु जिम सघर घरायलि।
मुद्दी वीसगुलि दिण्णिय तहु जिम विलसइ पुहविय समुद्दलहु।
सिद्धचक्कफल पुण्ण पहावे परिणिय कण्णारयणच्छावें।१,१४।

यात्रा-वर्णन

श्रीपाल के यात्रा करने के पूर्व माता उपदेश देती है। फिर, मागलिक क्रियाओ से पुत्र की अर्चना करती है, आरती उतारती है। सात सौ अंगरक्षको के साथ चतुरगी सेना ले कर श्रीपाल यात्रा करता है। अनेक देशो, नगरो में विहार करता हुआ, बड़े-बड़े सरोवर, नदी-घाट, पर्वत लाँघता हुआ वह वत्स नगर में पहुँचता है।

माय घरिणि विण्णिवि संवोहिवि अगरक्ख सयसत्त'विवोहिवि।
साहसकोडिभडह आसघिवि गउ पायार सत्त नह लघिवि।
णाणा देस णयर विहरतउ सरि सरवर पव्वय लघतउ।
गउ भडु वछणयरु वेसनलउ धवलु सेट्ठि जहिं अवगुणमालउ।१,२४।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल धवलसेठ के साथ समुद्र के किनारे जाता है। वह पाँच सौ जहाजो को चला देता है। वाजे वजाये जाते हैं। जलदेवता का पूजन करते हैं। तुरन्त

ही वे जहाज धरती छोड़ कर ऐसे चलने लगते हैं मानो आकाश के धुल जाने पर सूर्य-चन्द्र का तेज सहन करते हुए उडुगण चल रहे हो। सभी लोग मुद्गर निकाल कर संचार करते है। जहाज के बीचो बीच बाँस गाड़ते हैं। माथे पर लोहे की टोपरी लगाते हैं, जिससे वन्य पक्षी माथा न नोच सकें। आनन्द से भरे हुए वणिक् लोग चले जा रहे है। समुद्र मे जल की किलोलो से तरगें छूट रही है। हवा के बहाव में पोत बहते जा रहे है। इतने में ही लाख चोर उन के जहाज की ओर दौडे आते हैं।

पचसयइ जलजाणइ रयण समाणइं सायर मज्झि तरंति किह।
ण णहयलि घुलियइ उडुगण चलियइं ससिरवि तेउ सहति जिह।
मुग्गर कड्ढेविणु सचारिय वावस पडिवाई ओसारिय।
मज्झु वंसु रोपिउ उक्किट्ठउ तहिं चडेवि मर जियावइट्ठउ।
लोह टोपरी मत्थे अच्छइ णत भेरड चिडउ गलगच्छइ।
गहगहाइ चालहिं वाणिज्जहिं रयणदीव उप्परहि मणोज्जहि।
चलिउ सत्थु सहु जाणा रूढउ जलकल्लोलतरगह छूटउ।
वायूवसेण चरलति परोहण लक्खु चोर तहिं धाया मोहण।१,२६।

इन वर्णनो को पढ़ने से लगता है कि कवि ने इतिवृत्त को घटनाओ के साथ प्रसाद एवं मधुर शैली में इस ढग से ढाल दिया है कि पढते ही स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव इतिवृत्त प्रधान होने पर भी वर्णन सरस तथा सजीव हैं। घटनाओ के बीच वातावरण उत्पन्न करने में लेखक अत्यन्त कुशल जान पड़ता है। विवरण और वर्णन का अद्भुत मेल इस रचना की पहली विशेषता है।

युद्ध-वर्णन

युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव तथा प्रेरक है। पढते ही हृदय उछलने लगता है। यह वर्णन मुख्य रूप से दो स्थलो पर लक्षित होता है। पहला स्थल वह है जहाँ चोरो में और धवलसेठ के सैनिको में युद्ध होता है और दूसरे में श्रीपाल तथा वीरदमण का युद्ध वर्णित है। चोर लोग जहाज पर धावा बोल कर धवलसेठ को वन्दी बना लेते है। निम्नलिखित पक्तियो में उसी का वर्णन है। दोनो ओर से डट कर युद्ध होता है। वर्णन सरल तथा प्रसाद गुण से युक्त है इस लिए ज्यो का त्यो उद्धृत है।

एक्कमेक्क जुज्झति परोप्पर हक्क दिंति मारतिय मतु मतु।
धवलु सेट्ठि सगरि सण्णद्धउ दह सहसहि पायक्कहिं सुद्धउ।
धाणुक्किय चालिय अगवाणिय तीरी तोमर सर संधाणिय।
बखिय अगरक्खि सण्णाहइं टाटर सीसि देवि उण्णाहइं।
असिवर छुरिय फरिय चालतइ धाइय मुग्गर कुंत गुणतइ।
पुण मरहट्ठ पजाण उट्ठंतह सब्बलसेलह थहं फक्खतह।
धाइय सुहड सहारि सुछल्लह .... (१,२६)

इसी प्रकार सग्राम के लिए हर्षोल्लास से भरे हुए सैनिको की यात्रा का अत्यन्त सजीव एव चित्रात्मक वर्णन हुआ है। पटते ही रोमाच हो जाता है।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल के कहते ही लेहु, लेहु कहते हुए चतुरगी सेना सज कर तैयार हो गयी। चारो ओर सेना ही सेना दिखाई देने लगी। युद्ध के बाजे बजने लगे। मलकते हुए, नाचते हुए वीर चलने लगे। कवि के शब्दो में—

लेहु लेहु पभणंतु पवायउ चाउरगु वलु कहिमि ण मायउ।
णिग्गय धाणुक्किय किविमहंत धणुगुणहं वाण सज्जंत संत।
संगाम तूर काहलिय सद्द तिविलिय गुंजा काहलिय सद्द।
डव डिंडिम डिम तुरु तुरु रसति सुणि वीर सद्द रणमुह सवति।
कस घायह ताडिवि वर तुरंग असवारहि णिज्जिय वरतुरंग।
मल्हतउ गय घड पेरियाउ करडह सद्दे णच्चति याउ।
वहु छत्त विवणहु छाइयाउ तहि उभय वलइ रणि आइयाउ। (२,२२)

इसी प्रकार से संग्राम का भी शब्द-चित्र वर्णित है। भापा भावो के पीछे यहाँ दौडती-सी दिखाई देती है। भाव और भापा दोनो ही प्रवाहपूर्ण तथा वर्णन की कला से अनु-प्रेरित हैं। देखिए दो ही पक्तियो में कवि ने संग्राम का एक छोटा, पर सुन्दर चित्र अभिव्यक्त कर दिया है—

पहृति परोप्पर सुहडमल्ल तीरी तोमर वावल्लमल्ल।
फारक्क भिडिय फारक्क एहिं धाणुक्किय सिहु धाणुक्कि एहिं। (२,२२)

इस प्रकार वस्तुवर्णन विपय तथा भावो के अनुरूप है, जिस में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

भाव-व्यंजना

यद्यपि प्रस्तुत रचना में मार्मिक स्थलों की कमी है, पर भावो की गम्भीर अभिव्यंजना तथा संवेदनीय मार्मिक चित्रण मिलता ही है। राजा कोढी श्रीपाल को आवेश मे आ कर मैनासुन्दरी परणाते तो परणा देता है, पर वाद में उस के मन में वड़ा पश्चात्ताप होता है। वह अपनी मूर्खता पर और पुत्री के जीवन पर वार-वार पछताता है। वह अपनी निन्दा करता हुआ कहता है कि मैं नष्टबुद्धि क्रोधित हो कर क्या अनर्थ कर बैठा। कुमारी की रूपश्री को देख कर वह अपने आप को धिक्कारने लगा। राजा कहता है कि जिसने मुझे अमृतफल दिया उसे ही मैंने विषफल दिया। मैं ने रावण की भाँति ही अपयश प्राप्त किया है। इतना मेरा यश है, पर इसे सुन कर मुनिराज ने भी मेरी निन्दा की। इस प्रकार राजा मन में पछताता है, और कहता है कि मुझ निरे गँवार ने अपनी ही मूर्खता से कन्या को मार डाला। अन्त मे वह यह कह

कर सन्तोष कर लेता है कि अथवा मेरा इस में क्या दोष है ? शुभाशुभ कर्मों के परिणमन से ही प्राणी को सुख-दुःख प्राप्त होता है। (१,१५)

इसी प्रकार राजा धनपाल को जब धवलसेठ के छल का पता लगता है तब वह कुमार से क्षमा मांगता है। श्रीपाल भी कहता है कि आपका कोई दोष नही है। यह तो सब अर्जित कर्मों का फल है। राजा धनपाल उस के पैरो पर गिर पडता है और कहता है कि हे कुमार ! क्षमा करो, विषाद मत करो। हाथ पकड़ कर वह श्रीपाल को गजेन्द्र पर चढाता है। मंगलवाद्य बजते हैं। नगर में उत्सव मनाया जाता है। गुणमाला प्रसन्न हो जाती है। कवि उस की प्रसन्नता का वर्णन करता हुआ कहता है कि मानो अन्धे को दो आँखे मिल गयी हो, बहरे को सुनाई देने लगा हो और वन्ध्या को पुत्र मिल गया हो (१,५२)। रत्नमंजूषा पति से भेंट कर केशो से उन के पैरो को झाडती है। उन के आगे वार-वार लोटती है, प्रणाम करती है।

मंजूसा पुण भेट्टिउ सुरगु पयजुवल अतधरि उत्तमगु।
वल्लह पयझाड केसभार पुणु अग्गें लोटिय वार वार। १,५३।

श्रीपाल भी प्रेम-भाव दर्शाता है। फिर, एकान्त में वह धवलसेठ की करतूते सुनाती है। इस प्रकार रत्नमंजूषा की पति-भक्ति और आदर्श प्रेम को चित्रित कर कवि ने भारतीय नारी के स्वत्व को भलीभाँति अंकित कर दिया हैं। भावनाओ की मार्मिकता, परिस्थितियो की यथार्थता एवं कठोरता तथा चरित्रो की उत्कृष्टता का सगम एव समन्वय कर लेखक ने इस छोटी-सी रचना को प्रभावाभिव्यंजक एव मार्मिक बना दिया है। अन्य काव्यो की भाँति इस मे कथा की पुनरावृत्ति नही के बराबर, विस्तार से नही हुई है। अपभ्रश के प्राय. सभी कथाकाव्यो मे दो-दो, तीन-तीन वार कथा की आवृत्ति हुई हैं। प्रस्तुत रचना ही इस की अपवाद है। इस में मुख्य रस शान्त है। माता का उपदेश, सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, सिद्धचक्र व्रत का पालन, वीरदमण का साधु होना, मुनि से पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनना तथा मुनिदीक्षा ग्रहण कर तपस्या करना आदि शान्तरस के मुख्य स्थल हैं, जिन में आदि से अन्त तक समग्र रचना में निर्वेद का संचार लक्षित होता है। अन्य रसो में शृगार के दोनो पक्षो का तथा वीर, रौद्र एवं वीभत्स का चित्रण हुआ है। वियोग-वर्णन बहुत ही साधारण है। रत्नमजूषा पति के गुणो का स्मरण कर विलाप करती है तथा बाप को कोसती है—

णाह णाह पणवती कलु (रु) णु रुवती रयणमजूसा विहलगय।
सिरिपाल णरेसर महिपरमेसर पइ विणु हउ जीवति मुय।
कलुणु पलाउ करति समुट्ठिय कहि गउ णाह छाडि पभणंतिय।
कहिं गउ णाह कोडीभड समरसूर विहडावण गय घड।
कहिं गउ चलण परोहण चालण कहिं गउ जीवदया परिपालण।
कहिं गउ जणपिय पिय जगसुन्दर सहसकूड उग्घाडण मन्दिर।

पाविउ मइ विण्णिवि उसहेसहं काहे वप्प दिण्ण परएसहं ।
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय । १,४२ ।

उस का विलाप सामान्य नारी का चीत्कार है, जो असहाय अवस्था में अपने आप फूट पड़ता है । इस में न तो अनुभूति की सघनता है और न भावो की सकुलता ही; अपितु भावो के स्वाभाविक उद्‌गार सरलता से अभिव्यक्त है । श्रीपाल जब चोरों को ललकारता है तथा राजा पयपाल जब श्रीपाल के दूत को फटकारता है तब रौद्ररस की अभिव्यंजना हुई है ।

रे रे पाविट्ठहु समरिणिकिट्ठहु महु पहु बंधिवि लेहु रणे ।१,२७।

इसी प्रकार कोढ़ियो के कोढ के वर्णन में बीभत्स रस का संचरण लक्षित होता है । इस प्रकार प्रभावान्विति की दृष्टि से रचना साधारण तथा सफल है । भावो की विविध स्थितियो का तथा मानव-मन का अच्छा चित्रण उक्त काव्य में वर्णित है । इतिवृत्तात्मकता होने पर भी रसात्मकता का पूरा-पूरा समन्वय है । यही इस काव्य की विशेषता है ।

संवाद

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य में संवाद कम हैं, पर रचना की दृष्टि से उन का विशेष महत्त्व है । बोलचाल की भाषा में वर्णित होने के कारण संवादो में सरलता तथा सजीवता दिखाई पडती है । मुख्य संवाद इस प्रकार हैं—

राजा पयपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-द्वारपाल-संवाद, धवलसेठ-मन्त्री-संवाद, राजा धनपाल-श्रीपाल-संवाद और मैनासुन्दरी-श्रीपाल-संवाद आदि । इन संवादों में जहाँ पात्रो के मनोविज्ञान का चित्रण है, वही कथानक में भी गतिशीलता लक्षित होती है । क्योंकि कथा में संवादो से ही गति तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इस कथाकाव्य में आकार की दृष्टि से सवादो को कम नही कहा जा सकता । यदि संवादो को अलग कर दिया जाय तो कथा निष्प्राण ही प्रतीत होने लगती है । इस से सवाद का महत्त्व स्पष्ट है । श्रीपाल मैनासुन्दरी से कहता है कि लोग तरह-तरह की बाते करते हुए कहते हैं—यह राजा का जमाई है, इसलिए मैं चिन्तित हूँ । किन्तु मैनासुन्दरी स्त्री जाति के स्वभाव का परिचय देती हुई कहती है कि तुम्हारी चिन्ता का कारण यह न हो कर किसी कामिनी का स्मरण करना है । तब श्रीपाल उसे विश्वास दिलाता हुआ कहता है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य स्त्री मेरे हृदय में नही है ।

जामायउ तुहुँ णिव पयपालहु एम मणिवि स लहहिं सिरिपालहु ।
तं णिसुणेविणु मणि विहाणउ मयणासुन्दरि पुच्छिउ राणउ ।
दुब्बलु पहु तुव चिन्त ण जा मणि माणहि हियइं छियवर कामिणि ।

भणइ कुमरु तुहुँ देवि अयाणिय अण्ण णारि महु हियइं ण माणिय ।
गुज्झु ण दिण्णउँ मइँ मणि भाविउ परदारहु णिवित्ति चउसाहिउ ।
तोवि णाह कि णिय मणि रक्खहि गुज्झवत्त कि णउ महु अक्खहि ।
सुणु महु कोवि ण जाणइं सुंदरि एवहिं गायण गावहिं घरि घरि ।
ता पहो णाउ कोवि जाणइं सुसरहो णामें जणु वक्खाणइ ।
महु मणु वड्ढइ देवि सलज्जउ करमि सेव तुव ताय णिलज्जउ । १,२० ।

इसी प्रकार रत्नमंजूषा के पूछने पर श्रीपाल सक्षेप में माता-पिता के सम्बन्ध में कहता हुआ उन के चरित्रो पर प्रकाश डालता है । यथा—

भणइं वीरु पिय (इत्थ) रयणमजूसहं पिय महु छइ मालवदेसहिं ।
परम सणेही मयणासुन्दरि जो णिय रूवे जिणइ पुरन्दरि ।
मयणासुन्दरि सरिस महासइ णत्थि तीयणउ हुइय ण होसइ । (१,३३)
. ...

भणइं मजूस मिलिउ वरु चगउ णेह महाभरेण आलिंगिउ । (१,३५)

इस प्रकार सवादो में घरेलू वातावरण, संक्षिप्तता तथा चुस्ती स्पष्ट रूप से लक्षित होती है । संवादो के कारण ही पात्रो में सजीवता मुखर है । अतएव सवाद-रचना में यह रचना सफल वन पड़ी है ।

भाषा और शैली

इस काव्य की भापा वोलचाल के अधिक निकट है । कई स्थल तो हिन्दी की ओर उन्मुखावस्था को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं । अपभ्रंश के समस्त कथाकाव्यो में सिद्धचक्रकथा की भाषा सरल, देशी तथा भापाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस रचना की भाषा को पढ कर परवर्ती अपभ्रश की हिन्दी में ढलने की स्थिति का भलीभाँति परिज्ञान हो जाता है । संवादो में तो बिलकुल वोलचाल की भाषा लक्षित होती है । यथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज धोबी चमार घर करहिं भोज्ज ।
खर कूकर सूवर गसहिं मास हमि डोम भाउ कहियहिं कण्णास । (२,३)

तथा—

ता णरवइ कुद्धउ भणइ विरुद्धउ गहहु कहिउ तलवरह महुँ ।
मारहु चंडालु डोम विटालु अम्हह भण्डवि गोउ कहु ॥ (२,३)

रचना में प्रयुक्त अधिकाश शब्द-रूप देशी भापाओ से गृहीत हैं । उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्नलिखित हैं—

तलाय (तलाव), हंसि (हंसिनी), संड (सांड), धीवर, छत्तीस, वाहत्तरि, चउरासी, सत्तरि, छह, अट्ठारह, चउदह, चउसट्ठि, पासु (पास), पणिहारिय (पनहारिन), आजु (आज), मदलु, कायरा (कायर), गवार (गँवार), छार, भालय, दासी-दास, चयारि (चार), दस, दुक्खु, बारह, संकल, ठग, चोर, तीस, पहाड, आण (आन), आहि (हैं), पारु (पार), टोपरी (टोप के आकार की लोहे की बनी हुई चपटी और गोल तथा ऊपर उठी हुई टोपी), अगवाणिय (अगवानी), वणिजारिय(बनजारा), किसाणु (किसान), तीजी (तीसरी), भीतर, लगुण (लगुन), चउरी (चौरी), भावरि (भामर), कचोल, थालइ (थाली), सासु, बहिणि, दामु, छल छिद्दु, खोर, हत्थियारु, सुसुरु, लहू लुलायउ (लहूलुहान), तिण्णि (तीन), घडियाल, विवाहु, सुपारिय (सुपारी), अव, यहु, तुरन्तु, सोलह, जेट्ठी, चउथी, छट्ठी, रोलु (रोला), रावत्त (रावत), भतीजउ (भतीजा), कटारिय (कटार), डोम, डोर, आरत्तिय (आरती), धुरंधर और दमाम इत्यादि।

इसी प्रकार देशी क्रिया-रूपो तथा सर्वनामो की भी प्रचुरता है। भाषा ऐसे रूपो से जहाँ प्रवाहपूर्ण बन गयी है वही उस मे प्रसाद गुण भी विद्यमान है। वाक्यरचना की शैली आज की हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए—

लेहु लेहु (लेओ लेओ), लेहु देवि पहिरहु मोत्तिय सारिउ (लो देवि, मोती की साड़ी पहरो या पहनो), पाय पडिय (पाँव पड़ना), अद्धउ रज्जु देसु लइ वटिवि (आधा देश का राज्य वाँट लो), अज्जु अवहिण सामिय किय पूरी (आज अभी तक स्वामी ने मनोरथ, लौटने की बात पूरी नही-की) आदि।

सर्वनाम के कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—जो, सो, ए, को, हउ, हउ (हौं), कवणु (कौन), मइं (मैं), हमारे, अम्हारिय, इह, यहि, किह (कैसे), इस, जिह (जैसे), तिह (तैसे), जावहिं (जब), तावहिं (तब), महारी, तुम्हारी, मोर, मेरी, जही, तही, इय (यह), किं, महारउ, जाम, ताम, अव, यहु, यहउ, तुम्ह, अम्ह, हमि, तुम्हि, एत्तहि, तेत्तहु, जे, ता और जं इत्यादि।

देशी क्रियापदो की विशेष प्रवृत्ति भी इस रचना में दिखाई पडती है। जैसे कि छुत्तउ (छूते ही), भेट्टिउ (भेंटा, भेंट को), पुकारियउ आदि। अलग से भी भेंट शब्द मिलता है, पर द्वित्व की प्रवृत्ति यहाँ विशेष है। इसी प्रकार मैं भूल गया या मुझ से भूल हो गयी—के लिए "मय भुल्ले गय" वाक्य मिलता है। अन्य क्रियापद है—पूछिय, आयउ, तोडिय, देखिवि, लग्ग (लगे हुए), घल्लिय, ढोइय, छोडइ, पडिउ, छूटउ, हक्क दिति (हांक देते हैं), चालावहि (चलवाये), चलु (चलो), वीसरहु (विसरना), मारहु, सहारहु, हुवउ (हुआ), भउ (भल्लउ भउ), विसूरियउ, फिरइ, गइय, देइ, बुलावइ, लावति (लाता है), गय (गया), लयउ (लिया), खायइ, चक्खति, वुज्झिउ (बूझा), मग्गिउ (मांगा), खुल्लय (खुला हुआ) इत्यादि।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश की ढलती हुई अवस्था का स्वरूप सरलता से इस में प्राप्त होता है। यही नही, उस के विभिन्न शब्द-रूपो पर उस युग की छाप लगी हुई मिलती है। इस से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह रचना आ० हेमचन्द्र के व्याकरण लिखे जाने के बाद की है। क्योंकि भाषाविषयक कुछ बातें इस मे विशेष दृष्टिगत होती है।

प्रस्तुत काव्य नौ सौ पच्चीस श्लोकप्रमाण आकार वाला है। इस में कुल दो सन्धियाँ है। आश्चर्य तो यह है कि जिसे पं० रयघू ने दस सन्धियो में वर्णित किया उसे कवि ने दो सन्धियो में सम्पूर्ण कथानक के साथ निबद्ध कर दिया है। वर्णन भी रयधू के श्रीपालकथा काव्य से अच्छे तथा संक्षिप्त नही है। हाँ, वर्णनो की और मार्मिक स्थलो की कमी तो है, पर कथाकाव्य की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सफल है। इस की शैली भी अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यो की भाँति पद्धडिया बन्ध से समन्वित लोकमूलक है। शास्त्रीय शैली का निर्वाह इस में नही दिखाई देता। कथा में सवाद मधुर तथा प्रसाद गुण युक्त है। उन में रोचकता भलीभाँति मिलती है। देश, काल और वातावरण का भी पूर्ण सामंजस्य लक्षित होता है। सक्षेप मे, भाषा और शैली की दृष्टि से रचना महत्त्वपूर्ण है। कथा और काव्य के सुन्दर अगो का भी विनियोग इस काव्य में मिलता है। यह भी इस की एक मुख्य विशेषता है।

अलंकार-विधान

आलोच्यमान कथाकाव्य में अलकारो का सहज प्रयोग भलीभाँति लक्षित होता है। साधर्म्यमूलक अलकार ही प्रचुर हैं। बिम्बार्थ प्रस्तुत करने में अलकारो का योग आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। प्रस्तुत रचना में भी अमूर्त उपमाओ द्वारा सुन्दर बिम्बार्थ अनुस्यूत है। उदाहरण के लिए—धवलसेठ तब रत्नमंजूषा को देख कर काम से ऐसा बिंध जाता है कि वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है। उस के मन में शल्य ऐसे ही बैठ जाती है जैसे कि जीभ तालु से चिपक जाती है। जिस प्रकार सरोवर सूख जाने पर मछली बिललाने लगती है उसी प्रकार उस के तन-मन की दशा हो गयी। एक ही पंक्ति में इन भावो को लेखक ने कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यंजित कर एक साथ दो स्पष्ट बिम्बार्थों को चित्रित कर दिया है। जैसे कि—

तालु विल्लि लग्गइ मणि सल्लइ जिम सर सुक्कें मच्छउ विल्लहइं। (१,३७)

इसी प्रकार रूप तथा गुण-वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से सुन्दर बिम्ब ही खडा कर दिया है। यथा—

वे सुवर्तांहि जाया गुणघणाइं उवयारे णं सावण घणाइ। (१,३१)

अर्थात् विद्याधरराजा कनककेतु के अत्यन्त गुणशीला दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो उपकार करने में मानो सावन महीने के मेघ की भाँति सजल थी।

यहाँ पर मेघ की कल्पना में कवि ने सजलता, वर्पण तथा आनन्द-सृष्टि करने वाले गुणो को मेघ के विम्वार्थ से अभिव्यंजित कर राजपुत्रियो में करुणा, उपकार तथा सुख एवं हर्षप्रदायक गुणो की उत्प्रेक्षा की है। ऐसी उत्प्रेक्षाएँ वहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं। काव्यगत मुख्य अलंकार निम्नलिखित है—

णिय कम्मेंज्ज लिलाडहं लिहियउ सो को मेटइ जो विहि विहियउ। (१,९)

यहाँ पर कर्म से ही रंक होते है और कर्म से ही राजा—इस पूर्वार्द्ध का सामान्य कथन उत्तरार्द्ध के "लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं क. समर्थ." अर्थात् 'विधिना रचै न औरे होय'—इस विशेप कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। अतएव अर्थान्तर-न्यास है।

णरसुन्दरि घरिणि मणोहरिया जिह कामहु रइ रहुवइहि सिया। (१,५)
(उदाहरण)

अर्थात् राजा पयपाल की स्त्री नरसुन्दरी वैसी ही मनोहर थी, जैसी कामदेव की रति और श्रीरामचन्द्र की सीता थी।

जहिं सुद्धफलिह मणिभित्ति पिक्खि करि करइ वेधु पडिविंबु देखि। (१,५)
(भ्रान्तिमान्)

अंतेवरु सहु भणइ रुवंतउ कण्णारयणु ण कोढिहि जुत्तहु।
रयणमाल जो तिहुवणु मोहइ सो किम सुणहहु वंधी सोहइ। (१,१२)
(निदर्शना)

एयहं अधारी अग छारु, एयहं पुणु सोहइ सह अचार।
यहु पुणु ईसरु जिम फिरइ वारु, ...।
सूलपाणि जिम वहइ भीख, इहु भयरउ जिम जग देह सिक्ख। (१,१३)
(अनुमान)

यहाँ पर विभिन्न साधनो द्वारा श्रीपाल के शिवत्व, ईश्वरत्व आदि का निश्चय किया गया है, इस लिए अनुमान अलंकार है।

यद्यपि अन्य अलंकार भी ढूँढ कर वताये जा सकते हैं, पर मुख्यता उत्प्रेक्षा और उदाहरण की है। चलती हुई वातो में अलंकारों का प्रयोग भी रचना में कही-कही दिखाई देता है। उदाहरण के लिए—

जिम सूरु ण भुल्लइ हत्थियारु, सिरिपालु तेम मणि णमोयारु। (१,३९)

अर्थात् जिस प्रकार शूर-वीर सकट पड़ने पर हथियार से काम लेना नही भूलता उसी प्रकार श्रीपाल मन मे ध्याये हुए णमोकार मन्त्र को नही भूलता।

छन्दोयोजना

समस्त रचना पद्धड़िया छन्द में निवद्ध है। पूरे कडवक की रचना पद्धड़िया में हुई है। घत्ता मे अवश्य भिन्न-भिन्न छन्द प्रयुक्त हुए है। स्वतन्त्र रूप से केवल एक स्थल पर गाथा और दोहा का प्रयोग है। घत्ता के रूप में प्रयुक्त कुछ छन्द इस प्रकार है—संगीत, गीति, कर्पूर (उल्लाला), ललिता, उत्फुल्लक, घत्ता, अशोकपल्लवच्छाया, कुसुमायुधशेखर, ककेल्लिलता, ओहुल्लणक इत्यादि।

कुछ ऐसे भी छन्द है, जिन का नाम-लक्षण छन्दोनुशासन में नही है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित बत्तीस मात्राओं का छन्द कितना स्पष्ट है, पर इसके नाम का निश्चय नही हो सका है। उदाहरण है—

सिरिपालु णरेसरु पुज्जइ जिणवरु अछइ सुट्ठु भुजंतु महि।
सो समरसरुवरु भल्लउ हूवउ महि मंडलि जसु भमिउ तहिं॥ (१,१९)

इसके प्रथम और तृतीय चरण में अठारह तथा दूसरे और चौथे में तेरह मात्राएँ हैं, इस लिए यह घत्ता छन्द है, किन्तु जिन में अठारह और बारह तथा अठारह और चौदह मात्राएँ मिलती है उन का नाम स्पष्ट नही हो सका है। उक्त उदाहरण है—

कारुण्णु णिवारहिं हियउ सहारहिं पाणिय अंजुलि देहि तहो।
सिरिपालु अतीतउ गयउ जु बीतउ रयणमजूसा तुवहि कहो॥ (१,४२)

इस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में अठारह और दूसरे तथा चौथे चरण में चौदह मात्राएँ है। यह कुल चौंसठ मात्राओ का छन्द है।

प्रसग के अनुकूल प्रयुक्त होने वाले कुछ छन्दो का प्रयोग भी इस काव्य में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, श्रीपाल विदेश के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। माता पुत्र को उपदेश देती है। वह प्यार से बेटे को अच्छी सीख देती हुई उस का आलिगन करती है। इस प्रसंग में कवि ने सुतालिंगन छन्द का प्रयोग कर उस के नाम को चरितार्थ कर दिया है।

सुतालिंगन अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में सोलह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में बारह मात्राएँ होती हैं।[1] इसका उदाहरण है—

डिंभी पासडी भवहिति(भमहि) दडी आण आहि सुव मेरी।
एयह ण पतिव्वउ कहिउ ण किव्वउ घाड पहाड वसेरिय॥ (१,२३)

इसी प्रकार धवलसेठ की चेष्टाओ, हाव-भावों को देख कर कवि ने जिन विचारो को रत्नमंजूषा के मुख से अभिव्यक्त किया है वे मन्मथविलसित छन्द में निवद्ध हैं।

---

१ समे द्वादश ओजे षोडश सुतालिंगनम्। छन्दोनुशासन, ६,२०-४१।

मन्मथविलसित अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरण में सोलह तथा दूसरे और चौथे में चौदह मात्राएँ होती है।[1] उदाहरण है—

> कामिहिं णउ लज्जा वहिणि भणिज्ज णउ जाणहिस स (?) अवसरु।
> वहिणि ण जोवइ पाउ पलोवइ जिम वर गय तु कुक्कुरु खरु॥ (१,३८)

अन्य छन्दो मे छब्बीस मात्राओ का समद्विपदी द्विपदक या दोहक तथा वाईस मात्राओ का विच्छित्ति नामक छन्द भी प्रयुक्त है। दोहक का उदाहरण है—

> सिद्धचक्कविहि रइय मइं णरसेणु भणइ नियं सत्तिए।
> भवियणजण आणंदयरे करिवि जिणेसर भत्तिए। (२,३६)

विच्छित्ति के अन्तिम पद मे जगण का प्रयोग नही होता।[2] यहाँ भी उस का ध्यान रखा गया है। उदाहरण है—

> पुणु अक्खमि भव्व जंगणु भउ सिरिपाल जहं।
> आयण्णहु तपि सेट्ठिहिं दुट्ठ पवंच कहा॥ (२,१)

इस प्रकार आलोच्यमान रचना में छन्दो की नियोजना सुव्यवस्थित है।

अन्य कथाकाव्य

सत्तवसणकहा

अज्ञात रचनाओ में पं० माणिक्यचन्द्र कृत 'सत्तवसणकहा' सात सन्धियो की रचना उपलब्ध है। यह रचना लेखक को भरतपुर के जैनभण्डार से मिली है। इस की प्रत्येक सन्धि में एक-एक कथा वर्णित है। उपदेशात्मक कथा होने से इस में इतिवृत्तात्मकता की अतिशयता है। इस का रचना काल वि० स० १६३४ है।[3] लेखक जैसवाल कुल के थे। इस कथा की रचना टोडर साहु के पुत्र ऋषभदास के निमित्त हुई थी।[4] कवि मलयकीर्ति भट्टारक के वंश में उत्पन्न हुआ था।[5] भ० मलयकीर्ति सोलहवी शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य थे। वे भ० यश कीर्ति के पट्टधर थे।[6] अतएव निश्चय ही पं० मणिक्यचन्द्र उन के वाद में हुए।

---

१. समे चतुर्दश ओजे षोडश मन्मथविलसितम्। वही, ६,२०, ५२।
२ वही, पृ० ३३७।
३ जह सोलह सड चउतीस एण चइतहु उज्जलपक्खें सुहेण।
 आइच्चवार तिहि पचमीहि हहु गथु सऊरणु हुउ विहीहि। (७,३२)
४ णदउ सिरिपाला साहुणहु (णदु) सकुडुव सहिउ णियकुलमुचदु।
 सो टोडरसाहु पसिद्ध भव्वु तसु रिसहदास णदणु अउव्व।
 जसु णामें कीउ एहु कव्व सो नदउ सकुडवउ अगव्वु। (७,३२)
५. सिरिमलयकित्ति वसे अणिंदु णवउ कइयणु माणिक्कचदु (७,३२)
६ पं० परमानन्द शास्त्री 'काष्ठासघ स्थित माथुरसघ गुर्वावली, अनेकान्त, वर्ष १५, किरण २, पृ० ८१।

'सत्तवसणकहा' (सप्तव्यसनकथा) को पढने से दो बातें स्पष्ट रूप से समझ में आती है। पहली तो यह कि यह कथा प्रबन्ध की शैली में लिखी गयी है। दूसरी यह कि इस में वस्तु-वर्णन न हो कर कथा का विवरणमात्र है। किन्तु कथा के लगभग सभी गुण इस में मिलते हैं। संवाद-योजना भी मधुर है। भाषा सरल और स्पष्ट है। रावण और सीता का वार्तालाप सुनिए—

हउ खयरराउ तुहु उवरि तुट्ठु महु पाणपियारी होहि सट्ठु।
हउ सुणि रावणहु वि कहइ सीय काउवि आयासि णिरु उडीय।
गच्छइ सीहु वि पुणु भूमि भाइ ता सीहहु समकिउ काउथाइ। (७,१६)

यहाँ पर सीता की बात अत्यन्त सक्षेप में कह दी गई है। राम के विरह में भारतीय नारी सती सीता का एक चित्र देखिए—

सा रामु रामु आलवइ मंतु णियचित्ति धरिउ राघउ सुकतु।
णवि खाइ अण्णु णवि पिवइ णीरु मलमलिणवत्थ दुव्वलु सरीरु।
भयभीय सीय अच्छइ सुतित्थु रामहु लक्खणहु वि णियइ पंथु। (७,१७)

इस प्रकार वर्णन नाम मात्र के बहुत छोटे-छोटे हैं। उदाहरण के लिए रावण और जटायु का युद्ध चार पंक्तियो में ही वर्णित है, जो इस प्रकार है—

रावणहु भिडिउ अइसिग्घु जाम चिरुयालें किउ सगामु ताम।
ता रावणेण तहु विज्जछेउ करिऊण पुणुवि आउह समेउ।
डारिउ समुद्दि पुण्णाउ सोवि णिवडिवि णउ वुड्डिउ खयरु जोवि।
तत्थाउ थलें आएवि तेण वंधिउ सुवत्थु तहि वसएण (७,१६)

किन्तु युद्ध-यात्रा तथा राम-रावण युद्ध का विस्तृत वर्णन भी मिलता हैं। यथा—

सव सेण सहिउ सिरिरामयदु सण्णिद्धिवि चल्लिउ णं सुरेंदु।
सो रावणोवि भेरी सुणेवि सण्णज्झिउ सम्मुहुतिणु गणेवि।
इंदजउ मेहसरु कुंभयणु रक्खसवंशो खेयरहु गण्णु।
लंकाउ दसाणणु सेण लेवि चल्लिउ गयणगण तूर देवि।
खोहिणि चत्तारि सहस्स जुत्तु दसकंधरु आइवि गयणि पत्तु।
किवि भूयलेहि किवि णहि ठिएहि सव्वत्थ विवलु पूरिउ दिएहि। (७,२४)

युद्ध-वर्णन

ता उहय वलहि सगामु जाउ भड भडहि रहहु भिडिउ ताउ।
गउ गयहि पुणु हउ हयहि वग्गु खण खण करत करिवार अग्गु।
वरसहि समरगण वाणपति णावइ धाराहर घणहु जुत्ति।
रणभूमें भडहिमि भडु णिरुद्धु गउ गयहि तुरिउ तुरएहि कुद्धु। (७,२४)

वाण-वरसा का कितना सुन्दर चित्र उक्त पंक्तियो में प्रतिविम्वित है। इस के आगे रावण और लक्ष्मण का संवाद तथा युद्ध का वर्णन है। लेकिन ये वर्णन वहुत कम हैं। इन में वुरी आदतो से वचने के लिए कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है और इस लिए कथा ही मुख्य है। किन्तु रचना में रसात्मकता भी परिव्यास है। उदाहरण के लिए, सुन्दरी के अनुभावो का सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—

संकोइवि णियतणु धीरिवि पुणु मणु घूघटपट मुहु गोवियउ।
भीउ विवलवंतो बहु गुणवतो तहि दिठ सो णिरु कोवियउ। (१,१४)

इस कथाकाव्य में वस्तुत प्रवन्धमूलक कथाएँ है, जिनमें विवरण और वर्णन समान रूप से मिलते है। विवरण की प्रधानता होने पर भी वर्णन कही न कही लक्षित होते ही है और वे किसी भी प्रवन्ध के रसात्मक अंश भलीभाति कहे जा सकते हैं। कृष्ण और जरासिन्धु का युद्ध, नेमीश्वर का विवाह, द्यूतकीडा आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। इन वर्णनो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक कथाकाव्यात्मक संग्रह है, जिस में सात व्यसनो की अलग-अलग कथाओ का काव्यात्मक वर्णन है। भाषा की दृष्टि से भी इस रचना को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। लोकोक्तियो तथा देशी शब्दो की प्रचुरता और भाषा के प्रवाह की एक झलक इस में लक्षित होती है। उदाहरण के लिए—

घूघट, देवर, खीर, भेट, खंभु, खेल, दाख, मिठाई, खील, सिंघारे (सिंघाड़ा), गोद, गलु, कंख. छह, वारह, वालु (बालू, रेत), घी आदि शब्द हिन्दी के बिलकुल निकट हैं। शब्द-रूपो पर ही नही क्रिया-रूपो पर भी सतरहवी शताब्दी की वोलचाल की भाषा की छाप लगी हुई मिलती है। इस रचना को ध्यान से देखने पर निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश भाषा का युग और तत्कालीन देशी भाषा एवं साहित्य से पूरा-पूरा सम्वन्ध बना रहा है। कुछ क्रिया-पद इस प्रकार हैं—फिरिउ, फाडेवि, उडिउ, सुणिउ, दियउ, खेलहि, मारिउ, मरहि, करिय, आयउ, आवेहि, यिरि, भरि, रिहउ (रहा), कहिउ, सहइ, जाइ, कहइ, चडइ, देइ, खाइ इत्यादि।

इस कथाकाव्य में क्रियार्थक क्रिया के रूपो में सश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनो प्रकार की योजना मिलती है। यथा—'झाडिवि कालिमि पुणु करिय दूरि' (५,२) तथा—"तहि करि भोयणु भुजियउ तेण"। इस से पता चलता है कि अपभ्रश के परवर्ती युग में 'भोजन कर' आदि में प्रयुक्त होने वाले 'कर' का विकास हो गया था। क्योकि अन्य कथाकाव्यो में इस का प्रयोग नही मिलता। इसी प्रकार—अन्य परसर्गों का विकास भी विकसित रूप में इस काव्य में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ में 'खाने के लिए' प्रयोग है—'खाये वर' और इस काव्य में इस के स्थान पर 'विर' प्रयोग मिलता है।

खेले विर जावइ वालयाह। (२,३)

इसी प्रकार प्रेरणार्थक क्रियाओ में—खिल्लावइ, पट्ठाविउ, छोडावइ, जणावइ आदि मिलते है। इस रचना की सब से बडी विशेषता देशज प्रयोगो मे लक्षित होती है, जिन को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी भाषा तथा उस की बोलियो का विकास जनपदो की बोलियो के प्रवाह में अपभ्रश की परवर्ती विकसित धारा से हुआ है।

छुड्डु दाख मिठाई खोल सार सिंघारे मोयय वोर चार।
चणकाइ गोद भरि गयउ तत्थ सझा अवसर सिसु रमहि जत्थ। (२,३)
लीणी दिक्खा जिणउत्त जोवि। (२,३)
सिसु लेइ एउ चोरिवि दवक्कि गलु मोडिवि लावइ कख चप्पि।
सो वधिउ णिरु बहु वधणेहि पुणु लट्ठि मुट्ठि मारिउ घणेहि। (२,३)

अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यो की भाँति ही यह कथाकाव्य पद्धडिया वन्ध एवं कडवक शैली में निवद्ध है। कडवक-रचना घत्तो के रूप मे हुई है। इस काव्य की मुख्य विशेषताएँ है—

(१) केवल आधिकारिक कथाओ की सयोजना। प्रासंगिक वृत्तो का निर्देश मात्र।

(२) सात सन्धियो में सात कथाओ की रचना। इस प्रकार प्रवन्ध की शैली में सन्धिबद्ध काव्य-रचना।

(३) चलती भाषा में वर्णन करते चलना। वर्णन और विवरण में प्रवाह।

(४) वर्णनो का रोचक तथा सक्षिप्त होना और सवादो में मधुरता।

(५) पौराणिक शैली पर कथा-रचना। प्रत्येक कथा का निर्गमन गौतम गणधर से राजा श्रेणिक के पूछने पर महावीर स्वामी से मानना।

(६) काव्य-रूढियो का पालन-मगलाचरण, साहु टोडर के अनुरोध से कथा रचने का उल्लेख तथा आत्मपरिचय।

(७) यद्यपि कथाएँ उद्देश्य मूलक हैं और उन में सप्त व्यसनो से होने वाली हानि का वर्णन है, पर बीच-बीच में सूक्तियो तथा लोकोक्तियो से रचना और भी अधिक प्रभावशाली बन गयी है।

ता सीरें जपिउ रे णिकिट्ठु वालु बहि तेलु कत्थइ वि दिट्ठु। (३,२२)

(८) छन्दो में वैविध्य होना। घत्ता के रूप में कई छन्दो का प्रयोग होना।

(९) भाषा में हिन्दी की प्रारम्भिक विकसित अवस्था के साथ अपभ्रश से उस के साहचर्य का पता मिलना।

किं कज्ज लिए डोलेहि अध। मा रूसहि हउ जाणेवि वीर। (३,२१)
पाणी पीवहि मुह हत्थि लेहि। जीविय मरणहु रामु वि सहाय। (३,२१)

भो राम एहु रावणहु भाइ   आयउ तुह्नु सेवा करण राइ । (७,२३)
कैकेय चली रामहु वि अंत   वंदे कैकेयहु करि पणामु । (७,५)

संक्षेप में, रचना छोटी-छोटी कथाओ का संकलन होने पर भी कही-कही काव्यात्मक अंश से सरस एवं मधुर है। अपभ्रंश की काव्य-धारा का विकसित रूप किस प्रकार कथाओ की रचना में निहित है—इस को एक झलक मात्र इस काव्य में मिलती है। यद्यपि यह रचना शुद्ध कथा मात्र है, पर इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक स्थलों को संयोजना से स्पष्ट ही कथाकाव्य की कोटि में देखी जाती है। निश्चय ही कई वातों मे इस कथाकाव्य का महत्त्व है।

सुदंसणचरिउ

सत्तवसणकहा की भाँति सुदंसणचरिउ भी अप्रकाशित रचना है। यह वारह सन्धियो की रचना हैं। इसके लेखक कविवर नयनन्दी हैं। इस का रचना-काल सं० ११०० है।

णिव विक्कमकालहो ववगएसु   एयारह संवच्छर सएसु ।
तहिं केवल चरिउ अमच्छरेण   णयणंदी विरइउ वित्थरेण ।

इस में पंचनमस्कार के माहात्म्य स्वरूप सुदर्शन की कथा का वर्णन है। घटनाओ की योजना प्रसगत. मार्मिक, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक है। अपभ्रंश के उपलब्ध कथाकाव्यो में यह एक विशिष्ट कथाकाव्य कहा जा सकता है। यद्यपि इसकी वाह्य रचना अलंकृत एव शास्त्रीय प्रतीत होती है, किन्तु अन्तरंग में भाषा और शैली को मधुरता तथा लोकजीवन का पूरा पुट मिलता है। भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। सूक्तियों तथा लोकोक्तियो से यह काव्य अत्यन्त सप्राण तथा प्रसाद पूर्ण वन पडा है। इसके वर्णनो में परम्परागत प्रवृत्तियो की झलक मिलने पर भी नवीनता दृष्टिगोचर होती है। श्लिष्ट तथा अलंकृत शैली मे जहाँ कवि एक ओर वाणभट्ट के निकट दिखाई देता है, वही लोक जीवन के यथार्थ चित्रण में स्वयंभू का स्मरण हो आता है।

छन्दो की दृष्टि से भी इस काव्य का विशेष महत्त्व है। अपभ्रश के कवियो में से कदाचित् नयनन्दी ने सव से अधिक छन्दो का प्रयोग किया है। कवि की अन्य रचना सकलविधिविधान काव्य है, जिस में सौ से भी अधिक छन्दो का प्रयोग है। सुदंसणचरिउ मे भी लगभग साठ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। समूचा काव्य पद्धडियावन्ध शैली में वर्णित है। अलकारो की भी प्रचुरता इस रचना में दिखाई देती है। कही-कही कथा में अलौकिक वातो का भी समावेश है। मानवीय स्वभाव का अच्छा चित्रण इस काव्य में हुआ है। अपभ्रश की अन्य कथाओ की भाँति इस में साहित्यिक रूढियो का पूर्ण-

तया सन्निवेश नही है। किन्तु मंगलाचरण तथा आत्मशक्ति का कीर्तन अवश्य है। आत्म-विनय का भी प्रदर्शन है।

सुकवित्ते ता हउं अप्पवीणु चाउ वि करेमि किं दविणहीणु।
सुहडत्तु तवहु दूरें णिसिद्ध एवं वि होवि हउँ जस विलुद्धु।

कवि की रचना में मानवसुलभ प्रेम तथा उस के विपाक का अतिरंजित वर्णन है। इस लिए कही-कही घटनाओ मे अस्वाभाविकता प्रतीत होती है; किन्तु ऐसी कथाएँ भारतीय साहित्य तथा लोक-जीवन में विरल नही हैं, जो सामान्य नायक के आदर्श रूप तथा जीवन के यथार्थ तथा विद्रूप का चित्रण करने वाली हो। वस्तुत ऐसी कथाओ का आधार लोकजीवन है, जिसे कवि ने अपने अनुकूल ढाल कर साहित्यिक बन्ध मे अनुस्यूत किया है।

इस काव्य में जहाँ प्रेमाख्यानक की काव्य प्रवृत्तियाँ मूल रूप में लक्षित होती हैं, वही रीति-परम्परा की सामान्य बातें—नायिका-भेद, सुरतक्रीड़ा, नखशिख, नायिकाओ की वेश-भूषा, उद्दीपन रूप मे प्रकृति-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन आदि भी मिलती है। स्पष्ट ही कई प्रकार से नायिकाओ के भेद दर्शा कर कवि ने रीति-वृत्ति का परिचय दिया है।

वर्णनो में संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थो की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो में यह रचना विशेष रूप से संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यो से प्रभावित जान पड़ती है। किन्तु इसके साथ ही नये-नये उपमानो की रचना और गीत-पद्धति का मेल करना भी कवि नही भूला है। परन्तु अधिकतर उपमान और वर्णन-शैली प्राचीन परम्परा का अनुसरण करती दिखाई पड़ती है। डॉ० कोछड ने कुछ उद्धरणो के साथ संस्कृत की रचनाओ में और सुदसण चरिउ में भाव-साम्य दर्शाया है।[1] और भी कई स्थल ऐसे हैं जो संस्कृत के साथ ही हिन्दी के विद्यापति, केशव और जायसी आदि में भावों तथा शैली की दृष्टि से कही-कही बहुत अधिक समान दिखलाई पडते है।

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यो की भाँति ही इस काव्य में भी शृंगार, वीर और शान्त रस का मधुर परिपाक लक्षित होता है। प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से काव्य उत्तम एव शास्त्रीय नियमो से परिपोषित है। किन्तु प्रबन्ध-रचना में अवश्य घटनाओ के विस्तार में तथा अन्य प्रासगिक वृत्तो की सयोजना मे कुछ शैथिल्य जान पडता है। इसका कारण अति लौकिक बातो का समावेश ही जान पडता है। कुल मिला कर रचना प्रभावपूर्ण और सुन्दर है।

इस काव्य में भाषा भावो के अनुकूल सजीव एवं सप्राण है। भाषा में पदो की सुष्ठु योजना और लालित्य एवं अलंकरणता से जहाँ रचना मधुर बन पडी है वही कही-कही कृत्रिमता भी स्पष्ट रूप से झलकने लगी है। किन्तु जहाँ मुहावरो-सूक्तियो एवं

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १६६–६८।

लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है वहाँ रचना अत्यन्त स्फीत एवं मधुर वन पड़ी है। लोकोक्तियों का इस काव्य में अधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए—

करे ककणु कि आरिसे दीसए। (हाथ कगन को आरसी क्या ?)
एक्कें हत्थे ताल कि वज्जइ (क्या एक हाथ से ताली वजती है ?)
कि मारवि पचमु गाइज्जइ। (क्या ठमाका दे कर पंचम स्वर गाया जाता है)
जं जसु रुच्चइ त तसु भल्लउ। (जो जिसे रुचता है उस के लिए वही भला है)
पर उवएसु दिन्तु वहु जाणइ। (पर उपदेश कुशल वहुतेरे)

भाषा में अनुकरणात्मक शब्दों की प्रचुरता अन्य कथाकाव्यों से विशेष मिलती है। इसी प्रकार पद-योजना में सौष्ठव तथा लालित्य कवि की निजी विशेषता है। यथा—

कि कुसुमें गन्ध विवज्जिएण कि सूरे समर परज्जिएण।
कि भिच्चे पेसण सकिएण कि तुरए उरुढउ किएण।
कि दव्वे किविण करासिएण कि कव्वे लक्खण दूसिएण।
कि णीरसेण णच्चिय णडेग कि साहुहु इंदिय लंपडेण।

अनुप्रास एवं सालंकार भाषा में प्रसाद गुण युक्त रचना समूचे काव्य में दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो वहुत ही सुन्दर रचना हुई है। जैसे कि—

तो उल्ललइ चलइ खलइ तसइ ल्हसइ णीसमिह पणासइ।
णिसियर वलु णिव साहणहो णव वहु जेम ससज्झए दीसइ॥

किन्तु ऐसे स्थलों पर भाषा एवं रचना में कृत्रिमता ही अधिक लक्षित होती है। छन्दों की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश के अन्य काव्यों की भाँति इस में भी मात्रिक वृत्तों की मुख्यता है, किन्तु वार्णिक वृत्त भी कम नहीं मिलते। लगभग साठ छन्दों का प्रयोग इस काव्य में हुआ है, जिस में चालीस-वयालीस मात्रिक छन्द हैं। जि० क० की भाँति वसंतचच्चर, मन्दारदाम, मानिनी, कुवलयमालिनी, मणिशेखर, उण्हिया और आनन्द आदि कई नये छन्द भी इसमें प्रयुक्त हैं।

लोक-जीवन और समाज-संस्कृति की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण रचना है। इस में वसन्तमास में चाँचर खेलने, हिंडोले झूलने और वन-उपवन में विहार करने तथा गीत आदि के उल्लेख में सामन्तकालीन भारतीय जीवन की एक झलक मिल जाती है। कवि को भूगोल विषयक जानकारी का पता भी इस रचना से मिल जाता है। स्वयं कवि ने अपने काव्य के सम्बन्ध में कहा है—

कोमलवय उदार छन्दाणुवरं गहारमत्थट्ठं।
हिय इच्छिय सोहग्ग कस्स कलत्त च इह कव्वं॥

अर्थात् अभिलषित सौभाग्यशालिनी स्त्री की भाँति इस काव्य में उदार कोमल वचन तथा श्रेष्ठ छन्द हैं।

पउमसिरीचरिउ

दिव्यदृष्टिकवि धाहिल विरचित 'पउमसिरीचरिउ' (पद्मश्रीचरित) चार सन्धियो की रचना है। यद्यपि कवि ने इसे धर्मकथा कहा है, (१,१) किन्तु यह एक प्रेम कथाकाव्य है, जिस में समुद्रदत्त और पद्मश्री के प्रेम-व्यापारो का सुन्दर वर्णन है। इस काव्य के अध्ययन से दो बाते बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कथाबन्ध अस्वाभाविक है; क्योकि पूर्व जन्म की घटना को ले कर कथा आगे बढती है, जो पूर्वार्द्ध से विच्छिन्न जान पडती है। दूसरे यह कि समूची कथा धार्मिक वातावरण से लिपटी हुई है। यदि इन दोनो प्रसंगो मे विश्लिष्ट कर कथा पर विचार करें तो शुद्ध प्रेमकथा लक्षित होने लगती है। रचना छोटी होने पर भी काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भावानुभावो का बहुत ही सुन्दर चित्रण इस काव्य में हुआ है। वस्तु-वर्णन अलकृत होने पर भी स्वाभाविक है। लोक-जीवन की झलक भी इस मे मिलती है। वर्णन विस्तृत तथा मधुर है। समुद्रदत्त और पद्मश्री का प्रथम मिलन वसन्तमास मे उद्यान के माधवीलता के मण्डप में होता है। धीरे-धीरे स्नेह बढता है। पद्मश्री के सात्त्विक भावो तथा अनुभावो का कवि ने बहुत ही सुन्दर चित्र अभिव्यजित किया है।

पउमसिरि ससज्झस तरलनयण ठिय लज्जोहामिय नमिय वयण।
नीसास समीरण चचलाइ गणयन्ति केलि पक्कयदलाइ। २,८।

वह समुद्रदत्त को अपने हाथो से प्रचुर कपूर से भरित पान देती है, अपने हाथो से गूँथी हुई मौलश्री की माला अर्पित करती है।

कप्पूर पउर विरहय सणेहु पउमसिरि देइ तवोलु तेहु।
मयराणदिय भमर जाल निय हत्थ गुत्थ वर वउलमाल।
साणद लेवि घण नीलकेसि आणेवि निवेसिय तेण सीसि।

कवि ने इन प्रेम-व्यापारो को स्वच्छन्द रूप से नही दर्शाया है। इस का कारण भारतीय सामाजिक चेतना है, जो असयत प्रेम का बन्धन दूभरता से स्वीकार करता आया है। नैतिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक भी था कि मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्तियो को न उभारा जाय। किन्तु धार्मिक कथाओ में भी मूल रूप में प्रेम का ही बीज अकुरित दिखाई देता है, जिन मे वासना का भी सयोग है, किन्तु धार्मिक प्रभाव का आवरण डाल कर कवि ने उन्हें आदर्श रूप प्रदान कर दिया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऐसी रचनाओ में हमें रीतिकालीन भूमिका के बीज बिखरे हुए मिलते हैं। इन में नखशिख-वर्णन, स्त्रियो के भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जलक्रीडा, कामावस्थाओ का वर्णन आदि मुख्य हैं।

अन्य कथाकाव्यो में हरिभद्रसूरि कृत 'णेमिणाहचरिउ' के अन्तर्गत सनत्कुमार चरित भी प्रेम कथाकाव्य है, जिस में कुमार के रोमाटिक तथा साहसिक कार्यो की

गाथा का वर्णन है। शृंगार के दोनो पक्षो का इस में विशद चित्रण है। यह काव्यात्मक अंश तीन सौ तैंतालीस रड्डा छन्दो में निवद्ध है।[1]

धम्मपरिक्खा

श्री हरिषेण रचित 'धम्मपरिक्खा' (धर्मपरीक्षा) पद्धडियावंध ग्यारह सन्धियो की रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाँति इस काव्य मे भी जंवूद्वीप, वैजयन्ती नगरी, उज्जैनी नगरी, राजा, वन-उपवन आदि के वर्णन हैं। वन-वर्णन मे परिगणनात्मकता लक्षित होती है। साहित्यिक रूढियो में मंगलाचरण, पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख, आत्म-विनय, बुद्धि का उपयोग, गुरु-स्मरण, कथा का आधार तथा काव्य-रचना का कारण कहा गया है। समूची कथा धर्म तथा उपदेश से भरित है। कथा कल्पित है, जो वैष्णव धर्म पर एक व्यग्य मात्र है। किन्तु पवनवेग और मनोवेग प्रचलित धर्म से मन को सन्तुष्ट न कर वास्तविकता का रहस्य खोलते दिखाई देते हैं। कथा का विकास सवादो से होता है। कथा को पढते ही हरिभद्रसूरि के 'धूर्ताख्यान' का स्मरण हो आता है। सभव है उसी रचना के ढाँचे पर कवि ने यह काव्य लिखा हो। समूची काव्य शैली संवाद में वर्णित है। कही-कही अलकृत वर्णन भी दृष्टिगोचर होते हैं।

समया इय जाय अहो समया रिसहो पुणु णाहि सुओ रिसहो।
अरिहो सण राम रपू अरहो विजिणोवि विहंडणु सोवि जिणो ।१०,११।

रचना कई छन्दो में निवद्ध है। गीति शैली में भी वर्णन हुआ है। लोकजीवन की अच्छी झलक इस मे मिलती है। भाषा में प्रवाह तथा माधुर्य है। अनुरणनात्मक शब्दो की प्रचुरता है। कवि ने रासा छन्द का भी उल्लेख किया है।

इय पर रइय पुराणि ण सच्चउ मइं मुणियं,
रासय छंदु वियाणहु एरिसु मइं भणिउं ।५,१६।

कथानक अल्प होने से तथा वाद-विवाद की प्रधानता से रचना का सौन्दर्य फीका पड गया है। कथा कथा न होकर धार्मिकवार्त्ता वन कर रह गयी है। इसलिए इसे कथाकाव्य कहने में संकोच होता है। वस्तुत. यह उपदेशात्मक पद्यवद्ध कथा है, जिसे प्रवन्ध के ढांचे में ढाल कर कहा गया है। 'करकण्डचरिउ' दस सन्धियो मे निवद्ध अपभ्रंश का पौराणिक काव्य है, जिस में एक कथा के अन्तर्गत कई कथाएँ वर्णित हैं। यद्यपि रचना मे कथानक-रूढियाँ मिलती हैं, पर अवान्तर कथाओ की भरमार से आधिकारिक कथा का स्वाभाविक विकास नही हो पाया है। काव्यात्मक दृष्टि से रचना

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २०३।

प्रभावोत्पादक तथा विभिन्न काव्यागो से समन्वित है। भावानुभावो की सुन्दर अभिव्यंजना काव्य का अपना वैशिष्टय है[1]। इसी प्रकार 'जबूसामिचरिउ' और 'जसहरचरिउ' भी पौराणिक काव्य हैं, किन्तु 'णायकुमारचरिउ' चरितकाव्य है। महाकवि पुष्पदन्त ने कथावस्तु की योजना श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य के व्याज से नागकुमार के सुन्दर चरित्र के वर्णन के लिए की है।[2] कथानक को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की अन्तिम सन्धि के पूर्व श्रुतपचमी व्रत का कही भी उल्लेख नही है। केवल नागकुमार के लक्ष्मीमती से प्रगाढ प्रेम और अन्य जन्म में उसे व्रत के फलस्वरूप पाने का कारण निर्दिष्ट है, जो ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है, जिस का प्रभाव पाठक के मन पर नही पडता। डॉ० हीरालाल जैन ने नागकुमार का सम्बन्ध नागजाति तथा नागराजाओ से जोडा है, जिस से उस की ऐतिहासिकता का पता लगता है[3]। सम्भव है नागकुमार राजा की किसी गाथा को अथवा चरित को कवि ने देखा-सुना हो और उस में कल्पना का पुट दे कर अतिलौकिक घटनाओ से समन्वित कर दिया हो। इस प्रकार नागकुमार का चरित तथा श्रुतपचमी व्रत का फल अति-लौकिक तथा पूर्व जन्म की घटनाओ से सबद्ध है, जब कि कथाकाव्यो में व्रत का फल इसी जन्म में जिस ने उस व्रत का पालन किया उसे प्राप्त हुआ, दर्शाया गया है। अतएव हमारे विचार में णायकुमारचरिउ कथाकाव्य न हो कर पौराणिक शैली में लिखा हुआ चरितकाव्य है। अपभ्रश के मुख्य चरितकाव्य इस प्रकार है—१. सुकु-मालचरिउ—विबुध श्रीधर, २ णेमिणाहचरिउ (अमरकीर्तिगणि), ३ महावीरचरिउ—(अमरकीर्तिगणि), ४ जसहरचरिउ (अमरकीर्तिगणि), ५. सुलोयणाचरिउ (देवसेनगणि), ६ पज्जुण्णचरिउ (सिंह कवि), ७ पासणाहचरिउ (देवदत्त), णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मण), वाहुवलिचरिउ (धनपाल), चन्दप्पहचरिउ (भ०-यशःकीर्ति), पासणाहचरिउ (श्रीधर), सभवणाहचरिउ, वरांगचरिउ (तेजपाल), सुकुमालचरिउ (मुनि पूर्णभद्र), अमरसेनचरिउ णायकुमारचरिउ (कवि माणिक्कराज), जंबूसामिचरिउ (सागरदत्तसूरि), सातिणाह-चरिउ (शुभकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), वरागचरिउ (देवदत्त), सुलोयणाचरिउ (देवसेनगणि), पासणाहचरिउ (असवाल) सुभद्राचरित (अभयगणि), वज्रसामिचरिउ (जिनप्रभसूरि), णेमिणाहचरिउ, चदप्पहचरिउ (दामोदर), पासणाहचरिउ (देवचद), सातिणाहचरिउ (महिन्दु), पासचरिय (तेजपाल), वर्द्धमानचरित्र (श्रीधर), सुकमाल-चरित्र (श्रीधर) सातिणाहचरिउ (कवि ठाकुर) तथा मल्लिणाहकव्व (जयमियहल), इत्यादि। प० रयधू के अधिकाश काव्य चरितकाव्य या पौराणिक है।

---

१ डॉ० हरिवश कोछड़ अपभ्रश-साहित्य, पृ० १८१-६६।

२ आहासमि सुयपचमिहे फलु णायकुमारचारुचरिउ।१,१।

३ देखिए, णायकुमारचरित की भूमिका, पृ० ३५-३७।

क्षुल्लक कथाएँ

अपभ्रंश-साहित्य मे कथा-साहित्य प्रभूत राशि में उपलब्ध है। छोटी-छोटी कथाएँ अनेक भण्डारो में दबी हुई पडी है। इन मे से अधिकाश कथाएँ धार्मिक है, जिन में उपदेश तथा व्रत-माहात्म्य वर्णित है। सभी कथाएँ पद्यबद्ध हैं। अमरकीर्तिगणि की 'पुरन्दरविहाणकहा', लाखू की 'चदणछट्ठीकहा', रयधू की 'अणथमीकहा' आदि ऐसी ही कथाएँ हैं, जो पद्यबद्ध होने पर भी विवरणात्मक है। भ० ललितकीर्ति विरचित 'जिणरत्तिकहा' में रात्रिभोजन का निषेध तथा उस के फल का वर्णन है। ये कथाएँ आकार में छोटी तथा इतिवृत्तात्मक है। इन कथाओ मे कुछ विधान कथाएँ भी है, जो व्रतो के विधान से समन्वित हैं। विमलकीर्ति कृत 'सोखवइविहाणकहा' तथा भ० विनयचन्द्र रचित 'णिज्झरपंचमीविहाणकहा' आदि, ऐसी ही रचनाएँ हैं। अपभ्रश मे कई कथाकोश भी मिलते हैं। श्रीचन्द कृत 'कहाकोसु' अपभ्रंश का सब से बड़ा कथा-कोश है। इस में तिरेपन सन्धियाँ है। इन्ही का 'रयणकरडसावयायार' इक्कीस सन्धियो की रचना है, जिस में सम्यग्दर्शन के विभिन्न अगो में प्रसिद्ध होने वालो की कथाएँ सकलित हैं। पं० रयधू कृत 'पुण्णासवकहाकोसु' में पुण्य का बन्ध, करने वाली कथाएँ तेरह सन्धियों में वर्णित है। इसी प्रकार 'अणुवयरयणपईव' में लक्ष्मण कवि ने आठ सन्धियो में पाँच अणुव्रतो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से सम्बन्धित कथाओ के माध्यम से गृहस्थो को सदाचार पालन करने का उपदेश दिया है। इन के अतिरिक्त और भी कथाएँ, विधान, कथाकोश तथा उपदेशात्मक विविध रचनाएँ हैं, जो मनुष्य जीवन की विभिन्न घटनाओ पर प्रकाश डालती हुई हमे सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देती है। स्पष्ट ही इन कथाओ का उद्देश्य मनोरजन न हो कर रीति-नीति की शिक्षा प्रदान करना है।[1]

अपभ्रश की कई कथाएँ स्वतन्त्र रूप में या अन्य भाषाओ में लिखित कथाओ के साथ छोटे-बडे गुटकों में लिखी हुई मिलती हैं। घूलियागंज, आगरा के जैन मन्दिर मे स्थित भण्डार के कथाकोशो का विवरण इस प्रकार है—प्रथम कथाकोश मे निबद्ध कथाएँ सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो में है। दूसरे कथाकोश में अपभ्रश मे लिखित कथाएँ हैं—जिनपूजापुरन्दरविधान (पट्कर्मोपदेश से लिखित), चन्दनषष्ठी (लाखू) निर्झरपचमी (विनयचंद), पाखवइ (करकण्ड से लिखित), पाखवइकथा, सुख-सम्पत्ति विधान कथा, अनन्तविधान, दुवारसि नरगउतारी विधान कथा, सुगन्धदशमी विधान, रोहिणीचरित, निर्दुखसतमी विधान, जिनरात्रिविधान कथानक और जयमाल। ये कथाएँ छह कडवको से ले कर बीस कड़वको तक मे लिखित मिलती है। रोहिणी चरित दो परिच्छेदो की रचना है। साधारणतया ये कथाएँ विवरण मात्र हैं, जिन में साधारण रूप से कथा वर्णित है।

---

१ प० परमानन्द शास्त्री 'अपभ्रश भाषा का जैन कथा साहित्य' अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६ ७, पृ० २७२-७८ तथा—देवेन्द्रकुमार जैन · 'अपभ्रश कथाकाव्य', 'शोध-पत्रिका १२,४।

इन कथाओ में काव्य तत्त्व मुख्य न हो कर इतिवृत्त की प्रधानता है। इस लिए वर्णनो में चमत्कार या विच्छित्ति न हो कर कथन मात्र है। उदाहरण के लिए नगर, वन-उपवन, उद्यान, प्रकृति आदि के वर्णन इन में नही मिलते। विधान-पूजा का वर्णन देखिए—

चमरकलस चंदोय धयावलि वंदणमाल रभ सोहावलि।
गीय णट्ट मगल णिग्घोसहि कोट्टय अक्खय पुंज सुतोसहि।

जल चन्दण तंदुल वहु फुन्लहि, चरु दीवावलि धूव महल्लहि। (त्रिकालचउवीसी, ब्रह्मसाधारण, ३) ऐसे वर्णन भी इन रचनाओ में विरल है। नगर-वर्णन में—

मागहदेस मज्झि कंचणपुरु राउ पसिद्धउ पिंगलु णं सुरु। (वही, ४)

जैसी पंक्तियाँ ही मिलती हैं। ये कथाएँ आकार-प्रकार में इतनी छोटी है कि वस्तु किसी न किसी घटना का प्रकाशन मात्र हैं। इसलिए उन में वैविध्य नही मिलता। वे धार्मिक वृत्तो से नियोजित तथा कल्पित जान पडती हैं। संक्षेप में, कथा इन में मुख्य है और काव्य-तत्त्व गौण।

पंचम अध्याय

अपभ्रंश-कथाकाव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

कथावस्तु

अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यो की कथावस्तु लोकजीवन से उद्धृत है। उन में कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण किन्ही पौराणिक रूढियों के साथ लक्षित होता है। कथाकाव्यो की अपेक्षा चरितकाव्यो पर पौराणिक प्रभाव अधिक है। आलोचित कथाकाव्यो में कथावस्तु उद्देश्य विशेष से नियोजित है। ऐसी कथाएँ किसी व्रत-माहात्म्य का फल प्रकाशित करती है। भ० क० में यदि श्रुतपंचमी व्रत का फल दर्शाया गया है तो श्रीपालकथा में सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य और उस का फल वर्णित है। जो कथाएँ किसी उद्देश्य विशेष को ले कर नही लिखी गयी वे मूल रूप में लोककथाएँ हैं, जिन पर धार्मिक वातावरण तथा सामाजिक विधान का रंग-रूप चढा दिया गया है। जि० क० और विलासवती की कथाएँ मूलत लोककथाएँ ही है। इन कथाओ में लोकजीवन की वास्तविकता तथा कथाभिप्रायो का सुन्दर योग दिखाई देता है। अतएव वस्तु की प्रथम सामान्य प्रवृत्ति लोक-जीवन की उद्धरणी है, जो किसी न किसी धार्मिक अथवा मानवीय आस्था से सम्बद्ध है।

उक्त कथाएँ शृंखलाबद्ध रूप से वर्णित है, जिन में कई कहानियाँ एक साथ जुडी हुई हैं। अतएव कई स्थानो पर कथाओ की पुनरावृत्ति किसी न किसी पात्र के विवरण से हुई है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा को व्यापार के लिए भाई के साथ घर से निकलने, भाई से छले जाने और भटकते हुए तिलकद्वीप मे आ पहुँचने की कहानी सुनाता है। इसी प्रकार घर लौट कर माँ से मिलने पर वह समूचा वृत्तान्त सुनाता है। इसी प्रकार जि० क०, श्रीपालकथा तथा अन्य कथाकाव्यो मे कवि स्वयं या किसी पात्र के मुख से एक से अधिक बार कहानी को दुहराते लक्षित होते हैं। अतएव यह भी कथाकाव्यो की एक सामान्य प्रवृत्ति है।

वस्तु संस्कृत कथाओ की भाँति सरस होने पर भी गद्य में वर्णित न हो कर पद्य में वर्णित है।[1] नाटकीय सन्धियो का निर्वाह भी महाकाव्यो की भाँति इन कथाकाव्यो में देखा जाता है। कहानियो की भाँति कुतूहल, औत्सुक्य और घटनाओ का चमत्कार आदि से अन्त तक इन कथाकाव्यो में मिलता है।

---

१ कथायां सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। साहित्यदर्पण, ६, ३३२।

कथानक का विकास मानव-जीवन की पूर्णता को ध्यान में रख कर क्रमशः होता है, जिस मे नायक-नायिका संयोग-वियोग के आवर्तों में झूल कर अन्त में संसार से निवृत्त हो कर पारमार्थिक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होते हैं। भारतीय जीवन का लक्ष्य अन्ततोगत्वा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। अतएव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो की क्रमश साधना तथा अवाप्ति के लिए नायक-नायिका का प्रयत्न तथा सफलता-प्राप्ति का वर्णन ही उक्त कथाकाव्यो में दृष्टिगोचर होता है।

राजशेखर ने प्राचीनो की दृष्टि से तीन तथा निजी मत से सात प्रकार की कथावस्तु का उल्लेख किया है। दिव्य, दिव्यमानुष और मानुष ये तीन भेद प्राचीन काल से ही साहित्यशास्त्र मे वर्गीकृत हैं, किन्तु पं० राजशेखर पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्यपातालीय के भेद से सात प्रकार मानते है।[1] यही नही, दिव्यमानुष के उन्होने चार उपभेद माने हैं।[2] वस्तुत' अर्थव्याप्ति विषयक यह भेद पात्रो की दृष्टि से वर्गीकृत है, जिस में नायक को केन्द्र में रख कर वस्तु की योजना की जाती थी। और इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में नायको की कोटि के अनुसार प्रबन्ध-संघटना तथा उस की अभिधा का विधान होता था। किन्तु प्राकृत और अपभ्रश-साहित्य मे यह व्याप्ति पूर्णतया चरितार्थ नही मिलती। अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे स्पष्ट रूप से नायक के नर से नारायण बनने की गाथा गर्भित है। इस लिए नायक के उदात्त-अवदात होने के कठोर बन्धन का उन में प्रतिपालन नही हुआ है। परन्तु नायक में औदार्य, शौर्य, क्षमा, तितिक्षा, धैर्य, साहस और विवेकशीलता आदि गुणो का समावेश अवश्य दर्शाया है।

अपभ्रश के कथाकाव्यो की वस्तु उत्पाद्य अर्थात् कल्पित हैं, क्योकि लोककथाएँ प्राय. कल्पित ही मिलती हैं। भले ही उन में वर्णित या कही जाने वाली घटना सच्ची हो, पर जनश्रुतियो के रूप में प्रचलित होने से कई प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन उन में देखे जाते हैं। लेकिन ये कथाएँ सच्ची मान कर कही गयी हैं, क्योकि धार्मिक व्रत तथा अनुष्ठानो में आस्था उत्पन्न करने के लिए कथाओ का स्वाभाविक तथा गतिशील होना आवश्यक है। इन में लोकमनोविज्ञान तथा जन-जीवन की यथार्थता का भलीभाँति समावेश दिखाई देता है। इस लिए अपभ्रंश के कथाकाव्यो में लोकमानस, सामाजिक रीति-नीति तथा रूढियो की प्रबलता लक्षित होती है। प्रथम शताब्दी में ही जैन कथाओ में कथानक-रूढियो का समावेश हो गया था, जिन में लोक-जीवन तथा

---

१ "स त्रिधा" इति द्रौहिणि , दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। "सप्तधा" इति यायावरीय , पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च। काव्यमीमांसा, नवम अध्याय।

२ दिव्यमानुषस्तु चतुर्धा। दिव्यस्य मर्त्यगमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेद । दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीय । दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीय । प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थ । वही नवम अध्याय।

लोक-विश्वासो का जीता-जागता स्वरूप मिलता है।[1] और इस का सब मे बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी ये कथाएँ किसी न किसी रूप में उन्ही अभिप्रायो तथा घटनाओं के साथ देश-विदेशो में सुनी जाती हैं।

कथा-रूप

अपभ्रश के इन कथाकाव्यो में प्रयुक्त सभी कथाओ का रूप ऐकिक कहानी की भाँति है, जिस में कई सरल कथाओ से मिल कर एक बृहत्कथा बनती है। मूल रूप मे कथा बहुत छोटी रहती है। किन्तु वस्तु-वर्णन विभिन्न अभिप्रायमूलक घटनाओं के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करने वाले प्रबन्ध काव्य का रूप ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्तकथा मे भविष्यदत्त की कथा के साथ तीन अन्य उपकथाएँ जुडी हुई हैं। मुनि के आशीर्वाद से भविष्यदत्त का उत्पन्न होना तथा पाँच सौ व्यापारी एव भाई बन्धुदत्त के साथ यात्रा के लिए जाना और छल से भाई के द्वारा मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को छोड दिया जाना, वहाँ से भविष्यदत्त का तिलकपुर में पहुँचना और भविष्यानुरूपा से मिलना, बन्धुदत्त के लौट कर आने पर उसी द्वीप मे फिर से मिलने और छल से पुन· भाई को अकेला छोड कर भाभी के साथ घर पहुँचने की कथा एकसूत्र में बद्ध है। किन्तु पूर्व विदेह क्षेत्र में देवेन्द्र का यशोधर नाम के मुनिराज से पूर्व भव के मित्र धनमित्र की कथा का पूछना और मुनिदेव का इस भव में भविष्यदत्त का वर्णन करना और विपत्ति मे पडा हुआ बताना, जिसे सुन कर सुरेश्वर का तिलकपुर में आना और भविष्यदत्त को सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर लिख कर मणिभद्र यक्षेश्वर को कह कर जाना, एक दूसरी कथा है, जो उपवाक्य की भाँति आधिकारिक कथा से जुडी हुई है। इसी प्रकार भविष्यानुरूपा की कथाएँ तथा विजयार्धवासी मनोवेग विद्याधर की कथा भिन्न कथाएँ होने पर भी उपकथाएँ हैं। कही-कही शृखलित कहानी के रूप भी मिलते हैं। जैसे कि, जिनदत्त सिंहलद्वीप पहुँच कर मालिन से राजकुमारी श्रीमती की कथा सुनता है और वहाँ पहुँचकर जिनदत्त कुमारी को कहानी सुनाता है। उस कहानी का आधिकारिक और प्रासगिक कथा से कोई सम्बन्ध नही है। अतएव वह कहानी के भीतर की कहानी है, जो विकसनशील कथातत्त्वो से उद्भूत हुई है। अन्य कथाओ मे भी शृखला रूप में कथाएँ आबद्ध हैं, जिन में मुख्य रूप से विलासवती कथा में एक कथा से दूसरी और दूसरी से तीसरी कई कथाएँ एक के बाद एक उपजती चली जाती है। संक्षेप मे, इन कथाकाव्यो का कथा-रूप ऐकिक तथा शृंखलाबद्ध रूपो मे दृष्टिगोचर होता है, जो बन्ध की दृष्टि से कसा हुआ तथा प्रभावपूर्ण है।

---

१. सी० एस० मल्लिनाथन् तामिल भाषा का जैन साहित्य, पृ० १०।

कथा-प्रकार

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन प्रकार के मिलते हैं। ये तीन प्रकार हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्य प्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। विलासवती, जिनदत्त-कथा और पद्मश्रीचरित (पउमसिरीचरिउ) प्रेमाख्यानक कथाकाव्य हैं, जिन में विभिन्न संकटो एवं आपत्तियो में डूबते-उतराते नायक-नायिका वियुक्त हो कर सच्चे प्रेम के कारण अन्त में एक-दूसरे से मिलते हैं। इन दोनों ही कथाकाव्यो मे नायक-नायिका बिछुड कर एक-दूसरे से मिलने की आशा छोड बैठते हैं, किन्तु किसी ऋषि या साधु के कहने से मिलने का उपक्रम करते हैं और अन्त मे संयोग हो जाता है। सनत्कुमार और विलासवती का प्रेम तो विवाह होने से पूर्व ही स्थिर हो जाता है। नायिका नायक की मृत्यु का झूठा समाचार सुन कर सती होने का उपक्रम करती है, किन्तु असफल हो कर कई स्थानो मे ले जायी जाती है और अन्त में एक आश्रम मे पहुँच जाती है, जहाँ नायक भी भटक कर पहुँचता है। जिनदत्त का प्रेम भी पुतली के रूप में उत्कीर्ण विमलमती के रूप को देख कर उस पर इतना आसक्त हो जाता है कि काम की दसवी अवस्था तक उस का मनःसन्ताप बढ जाता है और उस के साथ विवाह होने पर ही वह शान्त होता है। इस प्रकार इन दोनो कथाकाव्यो में विवाह के पूर्व ही प्रेम-भाव का उदय होना, मूर्ति-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेम का बीज अकुरित होना, किसी बगीचे में या वाडी में नायिका के मिलने पर उस का वृद्धिगत होना तथा दूती के माध्यम से पुष्पित होना और विघ्न-बाधाओ रूपी झकोरो से पुष्प का टूट कर गिरना, पर अन्त मे दैवी-पवन से पुष्प का खिल कर वृक्ष रूपी नायक से संयोग हो जाना आदि बातें समान रूप से विलासवती, जिनदत्त और पद्मश्रीचरित में वर्णित है।

व्रतमाहात्म्य के फल वर्णनस्वरूप भविष्यदत्त, सिद्धचक्रकथा और सुदर्शन-चरित आदि कथाकाव्य वर्णित हैं। भ० क० मे यदि श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित है तो सिद्धचक्रकथा मे सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य वर्णित है और सुदर्शन-चरित में पंचनमस्कार का माहात्म्य-वर्णन के फलस्वरूप सुदर्शन की कथा वर्णित है।

उपदेशात्मक कथाकाव्यो में धर्मपरीक्षा और सप्तव्यसनकथा ही उपलब्ध है। इन दोनो ही कथाकाव्यो में असत्प्रवृत्तियो, बुरी आदतो तथा बुरे मार्ग को छोड कर जैनधर्म के अनुकूल आचरण करने का उपदेश अभिहित है। अतएव इन में कथा अत्यन्त अल्प अथवा अत्यन्त संक्षिप्त है और इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेश की प्रधानता है। इनमें वर्णन की प्रवृत्ति विशेष न हो कर विवरण ही मुख्य है। इस लिए कथा के व्याज से धर्मका उपदेश ही इनका मुख्य प्रतिपाद्य है।

उक्त कथा-प्रकारो में से उपदेशात्मक कथाओ को छोड़ कर दोनो मे आधिकारिक कथा के साथ अन्य प्रासंगिक कथाओ की भी योजना मिलती है। कहीं-कहीं अवान्तर कथाओ तथा पूर्व भव की कथाओ का भी विस्तृत वर्णन दृष्टिगत होता है।

प्रबन्ध-संघटना

अपभ्रंग के सभी कथाकाव्यो की वस्तु सन्विबद्ध है। प्रबन्ध-संघटना में सभी काव्यो मे नाटकीय सन्धियो, अर्थ-प्रकृतियो एवं कार्यावस्थाओं का निर्वाह देखा जाता है। किन्तु वि० क० को छोड कर पताका-रचना अन्य कथाओ में नही मिलती है। साधारणतया इन कथाकाव्यो में नायक के द्वारा नायिका तथा राज्य की प्राप्ति का वर्णन है, इसलिए कथा का उठान नायक की द्वीपान्तर-यात्रा से आरम्भ हो कर राजा वनने तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ढल जाता है। अतएव राज्य करने और उस के वाद की अन्य घटनाओ मे मुनि के नगरागमन और साधु वनने की घटनाओ को छोड़ कर अन्य कोई घटना इन कथाकाव्यो में नही मिलती। और न उस के वाद के अंश की कथा में कसावट, गति और उतनी रोचकता निहित है, जितनी की कथा के इस अंश के पहले के भाग में लक्षित होती है।

इन कथाकाव्यो की वस्तु का आरम्भ कतिपय साहित्यिक रूढियो के साथ होता है। काव्य-रचना के प्रारम्भ में मगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, कथा लिखने का प्रयोजन, कथा-प्रेरक का सकीर्तन, सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्म-परिचय, श्रोता-वक्ता का उल्लेख तथा प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में या अन्त में ईश्वर-वन्दना (जिनस्तुति) और रचना के अन्त में आशीर्वाद आदि काव्य-रूढियो का पालन हुआ है। उक्त कथाओ में इन में से मगलाचरण, आत्मपरिचय तथा कथा लिखने का प्रयोजन एवं कथा लिखवाने वाले का उल्लेख अवश्य आगे-पीछे देखा जाता है।

कथाकाव्यो का नामकरण घटना विशेष पर आधारित न हो कर पात्रो के नाम पर ही अधिकतर अभिहित है। यद्यपि व्रतकथाएँ घटना विशेष पर आधारित हैं, पर कथा का नाम प्राय नायक के नाम पर प्रसिद्ध रहा है। व्रतकथाओ के नाम पर सिद्ध-चक्रकथा और श्रुतपंचमीव्रतकथा कहा गया है। किन्तु श्रुतपंचमीकथा के नाम से प्रसिद्ध न हो कर भ० क० भविष्यदत्त के नाम से आख्यात है। हाँ, सिद्धचक्रकथा अवश्य लेखक ने घटना विशेष के आधार पर नाम दिया है। किन्तु यथार्थ में इस का नाम श्रीपालकथा है। अन्य कथाकाव्यो में सप्तव्यसनकथा घटनाओ के आधार पर दिया हुआ नाम है। शेष रचनाओ जैसे जिनदत्तकथा, भविष्यदत्तकथा, सुदर्शनचरित तथा विलासवतीकथा और पद्मसिरीचरित आदि के नाम नायक-नायिकाओ के आधार पर रखे गये हैं। परन्तु धर्मपरीक्षा की घटनाएँ कार्य विशेष से सम्बद्ध होने के कारण धर्म की श्रेष्ठता दर्शाने के फलस्वरूप उस का नाम धर्मपरीक्षा रखा गया है। इस प्रकार घटना, कार्य तथा नायक-नायिकाओ के नामो के आधार पर इन कथाकाव्यो के नाम अभिहित हैं।

विषय की दृष्टि से अपभ्रंग के कथाकाव्य तीन रूपो में मिलते हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्यप्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। इन में से उपदेशात्मक कथा को छोड कर

दोनो प्रकार की कथाओ में आधिकारिक कथा के साथ ही अन्य प्रासगिक कथाओ की भी योजना मिलती है। आधिकारिक कथा का सूत्र आदि से अन्त तक परिव्याप्त रहता है। किन्तु इन का सम्वन्ध घटनाओ के क्रमिक विकास मे न हो कर कथा-सूत्रो को जोडने तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार पूर्व भव की कथा से सम्वन्ध स्थापित करने में है। इस प्रकार सभी कथाकाव्यो में कथावस्तु लोक-जीवन से गृहीत होने पर भी अन्त में कवि की कल्पना उद्देश्य विशेष से उस का सम्बन्ध पूर्व भव की घटनाओ से जोडती लक्षित होती है।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यो की वस्तु ख्यातवृत्त है, पर लोक कथाओ के रूप में उन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये लोक कथाएँ हैं, जिन पर धार्मिक आवरण काव्य-रूढ़ियो तथा कथानक के अभिप्रायो के साथ आवेष्टित है। अतएव आलोचित कथाएँ प्राकृत-साहित्य से गृहीत होने पर भी स्पष्ट रूप से एक ही कथा जितनी भाषाओ में लिखी मिलती है उन सब में कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, और दूसरे इन कथाओ को लोक से सुन कर लिखे जाने के सकेत मिलते हैं। तीसरे, इन में लोकजीवन का पूरा पुट है। लाखू ने स्वयं लिखा है कि मैं ने जिनदत्त-कथा को अर्हद्दत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा है।

वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम
अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। जि० क० १,३।

तथा—

कीलिय रववणे अरुहदत्तो घणे।
तहिं सदयागउ सवलि जिय दिग्गउ। वही, ३,९।

जिनदत्त का दूसरा नाम अर्हद्दत्त लिखा है। इस प्रकार विबुध श्रीधर ने किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।

चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थाज्जातेयमद्भुतकथा कविकण्ठभूषा।
विस्तारिता च मुनिनाथगणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजेभ्य.।
भ० क० (श्रीधर), १,५२।

अतएव अपभ्रश के कथाकाव्यो की कथावस्तु पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य के अनुरूप लिखी जाने पर भी किसी आचार्य या व्यक्ति के मुख से सुन कर लिखी गयी है अथवा प्राकृत की कथाएँ जनश्रुतियो के रूप में प्रचलित कथाओ का आधार ले कर लिखी गयी हैं। यही कारण है कि इन कथाओ मे प्रयुक्त वस्तु तथा कथानक रूढियाँ अन्य लोक कहानियो से वहुत मिलती-जुलती हैं।

सक्षेप में, ये मनुष्य लोक की कथाएँ है, जिन में चमत्कारपूर्ण वातो का

समावेश पाठको के मन पर पूरा-पूरा प्रभाव डालने के लिए किया गया है। कथानक की संयोजना में धार्मिक व्रत का महात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास की सरणि का रूप पूर्ण रूप से समाहित है। साथ ही लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण इन में सामाजिक व्रत-विधानो तथा रीति-नीति का विवरण मिलता है। सभी कथाओ में घटनाओ का क्रमिक विकास दिखाई पडता है। वि० क० में यदि कथा का आरम्भ यकायक नाटकीय दृश्य की भाँति चित्रित है तो भ० क० में पौराणिक विधि से और जि० क० में अलंकरणमूलक। लगभग सभी रचनाओं में पूर्व भव की कथा तथा अन्य अवान्तर कथाओ की भी योजना हुई है। आधिकारिक कथा छोटी-छोटी कई कथा-कडियो के मेल से शृखला रूप में निबद्ध है। अतएव कथा-संघटना जटिल न हो कर सरल है। भ० क० जायसी के पद्मावत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो विभिन्न खण्डो में विभक्त है। इसी प्रकार वि० क० भी दो खण्डो में विभक्त जान पड़ती है। आधिकारिक कथा में घटनाओ के उठाव में वातावरण तथा सयोग का अद्भुत सामंजस्य है। कही-कही दैवी संयोग से भी काम लिया गया है। वि० क० में और जि० क० में नायक के जीवन में बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्षो की मुख्यता होने से घटनाओ में कई मोड दृष्टिगोचर होते है, जिन से कथानक मे आकस्मिक गतिशीलता आ गयी है। सामान्य रूप से सभी कथाकाव्यो में बाह्य और आन्तरिक संघर्ष का मेल प्रतिपादित है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढती है और संघर्षों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उग्र बन कर चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं तथा अन्त मे बड़ी तीव्रता से निगति की अवस्था में दिखाई देने लगती हैं। वस्तुतः कथानक की इन स्थितियो का सम्बन्ध फलागम एव फलप्राप्ति से है। जहाँ कार्य सिद्ध हुआ वही कथा की धारा विरत हो कर बिखर जाती है। अतएव इन कथाओ के अन्त मे मिलने वाली पूर्व भव की कथाओ का सम्बन्ध मुख्य कथा से न हो कर हेतु रूप में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थापित करने तथा जन्म-जन्मान्तरो के कथासूत्रो से जोड़ने में है। अतएव इन में घटनाओ का विकास न दिखा कर उस का विवरण मात्र का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी कथा में मुनिव्रत के पालन तथा तप करने का वर्णन है और जि० क० में तीनो लोको की रचना का विस्तृत वर्णन है। ये वर्णन कथा के अन्त में होने से कथा की गतिशीलता में कोई व्यवधान या बाधा उपस्थित नही हुई है। प्रयोजन की निवृत्ति के पश्चात् ही ऐसा हुआ है। वस्तुत. साहित्यिक प्रयोजन लौकिक सुख की प्राप्ति होने पर ही हो जाता है। किन्तु इन सभी कथाकाव्यो में पारलौकिक सुख (स्वर्ग एव मुक्ति-प्राप्ति) भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा धार्मिक व्रत-कथाओ के फल रूप में वर्णित है। इस प्रकार दुहरे प्रयोजन इन काव्यो में भलीभाँति निहित हैं। यथार्थ में कथा की सयोजना धार्मिक व्रत का माहात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास को समझने के निमित्त हुई है। और इसी लिए ये सभी कथाएँ कथानक-रूढियो से समन्वित हैं, जिन में मध्यकालीन भारतीय जीवन की सामान्य झलक झलमलाती लक्षित होती है।

वस्तु-वर्णन

इन कथाकाव्यो में वस्तु-वर्णन परम्पराभुक्त, श्लिष्ट और परम्परामुक्त तीनो रूपो में मिलता है। परम्परागत वर्णनो में रूढ उपमानो, एक ही प्रकार से वस्तु का वर्णन तथा रूढ़ कल्पनाओ का परिपालन दृष्टिगोचर होता है। नगर, राजा, समुद्र, विवाह, युद्ध, कुमार-जन्म, मद्यपान-गोष्ठी और रूप-वर्णन आदि परम्परित है, जिन में अधिकतर रूढ कल्पनाओ तथा उपमानो का प्रयोग हुआ है। परन्तु सस्कृत के लक्षण ग्रन्थो मे उल्लिखित कवि-समय का पूर्णतया पालन इन में नही हुआ है। फिर भी, काव्यगत कुछ रूढ बातें प्रयुक्त है। उदाहरण के लिए, समुद्र को परम गम्भीर कहना, सुन्दर नगरी को स्वर्ग का एक खण्ड बताना, वसन्त में कोयल का कूजना और वन-वर्णन में वृक्षो की नामावली प्रस्तुत करना आदि। श्लिष्ट वर्णनो में कुमार जिनदत्त तथा समुद्र के वैभव की तुलना, वनवर्णन तथा सन्ध्यारजनीवर्णन आदि स्थल दृष्टिगत होते है।

मीणमयरिल्लओ मगलसमिल्लओ णीलरुविणिच्छरो वोभुव सविच्छरो।
णं सुकइसच्छओ दसियपयच्छओ पेयपयसुणओ गीवयणिहुणओ।
कण्हुव सलोणओ सखसिरिमाणओ विझगिरिसण्णिहो पोसियसमयइहो।
वेयलयवारओ णं सुपडिहारओ मेहुवकयारवो कंठुव सहारओ। (४,२०)
कसणकज्जल अलसिकुसुमयलि अलिसिमिर ममिसम सरिस।
घणतमालदलपडलवण्णउँ दहदिसिवहपसरियउ तिमिरु तेण भुवणयलु छण्णउ।
तममोहिउ सुन्दरयरुवि भुवणु वहूउ रउद्दु।
खलसंगेलि चित्तु इउ सज्जण होइ जु खुद्दु॥ (३,२४)

इन वर्णनो में श्लेप अलकार तथा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार लक्षित होता है। अलंकृत वर्णनो में जि० क० मुख्य है, जिस में राजा, नगरी आदि का वर्णन अलंकृत है। ऐसे वर्णनो मे अलकारो की ही विच्छित्ति देखी जाती है। यदि उन्हें अलकारनिरपेक्ष देखा जाय तो वर्णन में सौन्दर्य नही रह जाता है। वस्तुत अपभ्रश के कथाकाव्यो में श्लिष्ट एवं अलकृत वर्णन वहुत कम है। कही-कही प्रकृति की पृष्ठभूमि में तथा वातावरण के बीच अवश्य सुन्दर चित्र दिखाई देते हैं।

परम्परामुक्त वर्णनो में तेल चढाना, शकुन-अपशकुन, वरात, पंगत (पंक्तिभोज), समस्यापूर्ति करना तथा पूजा-स्तवन आदि के वर्णन निहित हैं। इन वर्णनो में लोकगत उपमानो का प्रयोग होने से तथा शैली की सरलता और सरसता से वर्णन अत्यन्त सजीव बन पडे है। लोकमूलक गीति शैली में वर्णित होने से इन मे माधुर्य और प्रसाद है। ये वर्णन सर्वत्र प्रसाद गुण से युक्त है।

भाव-व्यंजना

भाव-व्यजना की दृष्टि से मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दुःख मय घात- प्रतिघातो के वीच सयोग और वियोग की विवृति एव परमपद की प्राप्ति समान रूप से सभी कथाकाव्यो में वर्णित है। भ० क० में यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती में नायक और नायिका का सच्चा एव पवित्र प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल और सिद्धचक्रकथा में मनुष्य की भोगलिप्सा और नारी के अवदात प्रेम की गाथा वर्णित है। अतएव संयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियो में मानसिक दशाओ का सहज चित्रण हुआ है। आत्मगर्हा, ग्लानि, पश्चात्ताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावो का संचरण विभिन्न प्रसंगो मे लक्षित होता हैं।

कई वर्षों के वाद वेटे से मिलने पर सेठानी की आंखे आंसुओ से गीली हो जाती हैं। वह उसे गोद में उठा लेती है। मातृस्नेह उमड पडता है। स्तनो से दुग्ध की धारा वह उठती है। वह वेटे का सिर चूमती है और आलिगन करती है।

सेट्ठिणि पुणु असुजलद्दअत्थ उच्छगे करेवि सुउ लवइ वत्थ।
तुहुं जायउ अज्जवि मज्झु पुत्त महुखीरपवाहें भरिय सोत्त।
सिरि चुंवेवि आलिंगिवि बहुत्तु आणंद सुय सिंवियउ पुत्तु। (६,११)

इस प्रकार पुत्र के सयोग से हर्षातिरेक में माता का वात्सल्य भाव यहाँ अभिव्यंजित है। इसी प्रकार जिस समय भविष्यदत्त भाई के साथ वाणिज्य के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करने का विचार करता है तव माता कमलश्री का मन भय और आशंका से भर जाता है। वह कहती है—एक तो द्रव्य कमाने के लिए वाहर जाने की इच्छा विचित्र हैं और दूसरे दैव का चारित्रिक विधान कौन जानता है? यदि सरूपा दुष्टता से वन्धुदत्त को सिखा-पढा दे तो वह तुम्हारा अमंगल करेगा और लाभ की चिन्ता में मूल भी गँवा वैठोगे।

एक्क दव्वि अहिलासि विचित्तइ को जाणइ दाइयह चरित्तइ।
जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ वन्धुअत्तु खलवयणहिं वासइ।
तो तउ करइ अमंगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंततहो।
भ० क०, ३, ११।

पुत्र के प्रति माता की यह शंका स्वाभाविक ही है। माता और पुत्र को विविध मन स्थितियो की इन सभी कथाकाव्यो में स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। प्रिय के दु:ख की आशंका तथा सुख का अनिश्चय सकल्प-विकल्पो में ही नही अनुभूत मानवीय भावो में अभिव्यक्त है। सौत की मनोदशा का परिज्ञान तथा अमगल की शका इन्ही भावो में उच्छ्वसित है, जिन से कमलश्री के अनुभवजन्य ज्ञान का पता लगता है। किन्तु भविष्यदत्त छल से वन्धुदत्त के साथ भविष्यानुरूपा के चले जाने पर जहाँ उस का मन

प्रिया के वियोग में सन्तप्त हो उठता है, वियोग की आँच को नही सह पाता है, वही प्रियतमा के सम्बन्ध में नाना संकल्प-विकल्पो से भर जाता है। उस में भय, आशंका, तिरस्कार और नारी विषयक शील सम्बन्धिनी आशा तथा त्रास के भाव संचार करने लगते हैं। वह कहता है—मेरी प्रियतमा मुझे प्राणो से भी अधिक प्यारी है। न जाने उस की क्या गति होगी ? अथवा जिसने उसे ग्रहण कर लिया है वही उसे त्रास देगा। मुझे छल से, जो पोत चलवा कर अकेला छोड गया है—भला उसे अन्त तक वह क्यो छोडेगा ? यदि किसी प्रकार बलात्कार किया जायेगा तो निश्चय ही वह प्राणो का विसर्जन कर देगी अथवा दृढ़ शील के बल से छूट जायेगी।

अण्णुवि आसि महादिहिगारउ पियकलत्तु पाणहमि पियारउ।
ण मुणह तहिमि कावि गइ होसइ अह जं जेण गहिउ त तासइ।
मइ वचिवि जो पोयइ पिल्लइ सो अवसाणि सावि किं मेल्लइ।
इच्छइ जइवि णाहि तो फिट्टइ दिढ सीलहु बलेण जइ छुट्टइ।

भ० क०, ७, ७।

अपनी पत्नी के छले जाने पर इस प्रकार के शंका, वितर्क, भय और त्रास आदि भावो से भरित संकल्प-विकल्पो का उठना स्वाभाविक ही है।

पति श्रीपाल के समुद्र में गिरा दिये जाने पर वियुक्त रत्नमंजूषा जहाँ पति के गुणों का स्मरण कर उनकी याद करती है, वही माता-पिता और अपने भाग्य को कोसती है। वह कहती है—मेरे पिता ने निमित्तज्ञानी के कहने से मेरा विवाह-परदेश में क्यो किया ?

पाविउ मइं विण्णिवि उसहेसहं काहे वप्प दिण्ण परएसह।
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय।

सि० क०, (नरसेन), १,४२।

किंतु श्रीमती अपने शरीर और हृदय को कोसती है और निर्लज्ज बता कर उन की निन्दा करती है। उस का कथन है कि संयोगावस्था में रतिविषयक सुख को प्राप्त कर जिस शरीर और हृदय ने आनन्द लूटा है उसे अब लज्जित हो कर तडाक से फूट जाना चाहिए।

तें तुव भमउं समउं रइरससुहु सेवंताह वट्टए।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए॥ जि० क०, ४, २५।

यहाँ पर नायिका का वियोगाधिक्य तथा पति के प्रति वास्तविक रति-भावना और विवशता के भावो का एक साथ उदय हो कर श्रीमती को मथता-सा लक्षित हो रहा है। कई प्रसगों में भावो की सबलता तथा एक से अधिक भावो का सचार एक साथ अभिव्यक्त हुआ है। भावो की तीव्रता में मनुष्य की विभिन्न मनस्थितियो का स्पष्ट चित्रण मिलता है। भ० क०, जि० क०, वि० क० और सि० क० (नरसेन)

रचनाओ मे भाव व्यजना मे कवियो को भावोत्कर्ष की अभिव्यक्ति में निश्चय ही सफलता मिली है।

आलोचित कथाकाव्यो में विभिन्न मार्मिक स्थलो की सुन्दर संयोजना हुई है, जिन में से कुछ मुख्य है—बन्धुदत्त के छल से भविष्यदत्त को द्वीप में अकेला छोड़ देने पर साथ के लोगो का मन ही मन संताप करना, अपने आप को धिक्कारना, भविष्यदत्त को अकेला छोड कर बन्धुदत्त के घर लौटने पर कमलश्री की व्यथा का बढ जाना, भविष्यानुरूपा के सास-ससुर के सम्बन्ध में पूछने पर माता की ममता का स्मरण कर भविष्यदत्त के हृदय का द्रवित हो जाना, श्रीपाल का मैनासुन्दरी से वियुक्त हो कर द्रव्यार्जन के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करना, श्रीपाल और जिनदत्त का समुद्र पार करना, विलासवती और सनत्कुमार तथा पद्मश्री और समुद्रदत्त का उद्यान में मिलन, हस और हसी का वियोग वर्णन और माता का पुत्र से मिलना इत्यादि। मार्मिक स्थलो से कथा की रसात्मकता का संचार होने के साथ ही पात्रो की मन स्थिति का भी परिज्ञान हो जाता है। मानसिक दशाओ में वात्सल्य, दाम्पत्य और पति-भक्ति आदि में निहित रति भाव, क्रोध, भय, हास, उत्साह, जुगुप्सा और निर्वेद नामक स्थायी भावो तथा विविध सचारी भावो और अनुभावो का विधान हुआ है।

सभी कथाकाव्यो का पूर्वार्द्ध शृगार के संयोग और वियोग दोनो ही पक्षो से अनुरजित है, किन्तु उन का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। इस लिए शृंगार और शान्त सामान्यत दो ही रस मुख्य हैं। लेकिन भ० क०, सिद्धचक्र कथा और विलासवती कथा में वीररस का भी मधुर परिपाक हुआ है। अन्य रसो में हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत का सन्निवेश यत्र-तत्र हुआ है।

रसाभिव्यंजना में अपभ्रश-कवियो ने औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा है। कही भी विरोधी रसो तथा विरुद्ध वातो की एक साथ अभिव्यक्ति नही हुई।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण में अपभ्रश कथाकाव्यो के लेखको में धनपाल, लाखू और साधारण सिद्धसेन को जितनी सफलता मिली है, उतनी अन्य किसी कथाकाव्यकार को नही। इस कथाकाव्य के लेखको ने सामान्य व्यक्ति को नायक बना कर उस के जीवन के चरम उत्कर्ष की सरणि प्रदर्शित की है। कथाकाव्यो में जहाँ यथार्थ से आदर्श की ओर बढने तथा जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का सन्देश निहित है, वही जन सामान्य की मागलिक भावनाओ की मधुर अभिव्यजना है। सामान्य रूप से इन कथाकाव्यो में जीवन के घोर दु.खो के बीच उन्नति का मार्ग प्रदर्शित है, जिस पर चल कर कोई भी व्यक्ति सुख एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि इन कथाकाव्यो के नायक राजर्षि वश के अथवा प्रख्यात नही है, पर राजोचित आन-बान तथा उदात्त गुणो से युक्त हैं। वे धीर-वीर ही नही क्षमाशील और उदार भी है। उन से जहाँ एक ओर दाक्षिण्य तथा आत्मविनम्रता है, वही दूसरी ओर साहस तथा क्षात्रोचित आत्मतेज एव दर्प का उज्ज्वल प्रकाश है। वे स्वाभिमान से भरे-पूरे तथा अन्याय का प्रतिकार करने वाले हैं। उन में मधुरता और सरलता का अद्भुत मिश्रण है। जीवन की कठोरताओ का अनुभव कर वे वास्तविकता से परिचित होते है। और इसी लिए जहाँ नायक उदात्त गुणो से समन्वित हैं, वही यथार्थ के धरातल पर असहाय, दीन, विवश, किंकर्तव्यविमूढ और सकटो से भरपूर है। उन के जीवन में जहाँ पिता का तिरस्कार, भाई का छल-कपट, धर्मपिता का विश्वासघात, आधि-व्याधि आदि विघ्न-बाधाओ की भरमार है, वही माता का स्नेह, प्रियतमा की सेवा-शुश्रूषा और पुण्यजनित सुख-वैभव तथा दैवी सयोगो की मधुरता परिव्याप्त है। स्पष्ट ही अपभ्र श के कथाकाव्यो में सामान्य व्यक्ति को नायक स्वीकार कर कदाचित् भारतीय साहित्य में पहली बार शास्त्रीय विधान से अलग कथाकाव्य की रचना का प्रचलन हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि कथा-काव्य में चित्रित नायक दु ख और सुख दोनो से आपूरित है। किन्तु उन का जीवन दु ख से आरम्भ होता है और अनेक सकटो को झेलने के अनन्तर कही सुख की झलक मिलती है। वास्तव में दु ख ही उन के जीवन को सुख की ओर बढने के लिए उज्ज्वल आशा एव प्रकाश करता है। और दुःख के बाद ही वे वियोग की आँच में तच कर सुख-संयोग प्राप्त करते हैं।

यदि इन कथाकाव्यो को ध्यान से देखें तो सामान्य व्यक्ति के नायक होने पर भी वे वणिक् या राजपुत्र ही होते हैं, माली, बढई या चमार नही। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये कथाएँ सौदागर या व्यवसायी वणिक्पुत्रो तथा प्रेमी राजकुमारो के आख्यानो को ले कर लिखी गयी है। अतएव इन का प्रतिपाद्य विषय भी उक्त दोनो से सम्बद्ध है। द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा के लिए वणिक् कुमारो का सार्थवाहो के साथ नाना इतिहास प्रसिद्ध है। इसी प्रकार अधिकतर प्रेमकथाएँ राजकुमारो से सम्बन्धित मिलती हैं। मनुष्य-जीवन की भाँति प्रबन्ध एव कथा में मानव का चरित्र ही मुख्य होता है। कवि या लेखक विभिन्न चरित्रो को प्रकाशित कर हमारे जीवन की परतें खोल कर रख देता है। अतएव कई प्रकार के चरित्र हमें काव्य और कथा-साहित्य मे देखने को मिलते हैं। अपभ्रश के कथाकाव्यो में मुख्य रूप से वर्गगत और वैयक्तिक चरित्रो का चित्रण हुआ है। वर्गगत चरित्रो में हम विरोधी प्रवृत्तियो वाले पात्रो तथा चरित्रो को कई कोटियो (Types) में वर्गीकृत देख सकते हैं, जिन में भविष्यदत्त, कमलश्री, मैनासुन्दरी और विलासवती का चरित्र मुख्य है। प्रवृत्तियो में प्रवृत्त पात्रो के वर्गगत चरित्रो में भी कई अन्तर दृष्टिगत होते है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त सीधा-सरल, निर्भय और साहसी है, पर उस की माता कमलश्री चालाकी को, छल-कपट को जानने वाली भय और आशका से सदा त्रस्त रहती है। इसी प्रकार अन्य वर्गगत चरित्रो में जहाँ

हमें सरूपा, राजा पयपालु, रानी अनंगवती आदि में व्यक्तिगत तथा जातिगत स्वभाव, संस्कार एवं चारित्रिक मैलापन दिखाई देता है, वही वे असत् प्रवृत्तियो के समवेत वर्ग में पृथक् रूप से लक्षित है ।

कुल मिला कर आदर्श और सामान्य दोनो रूपो मे कथाकाव्यो में चरित्रांकन हुआ है। आदर्श चरित्रो में सामान्य वणिक् पुत्र, साहसिक कुमार, सफल सेनापति, प्रशासक और महापुरुष एव स्वर्ग प्राप्त करने वाले मुनि के रूप में भविष्यदत्त का चारित्रिक स्वरूप तथा इसी रूप में जिनदत्त का रूप दिखाई पड़ता है। कथाकाव्य में चित्रित सभी प्रमुख पात्र सामान्य से विशेष की ओर उन्मुख होते हैं। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि वे आदर्शोन्मुख यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये गये हैं। इस दृष्टि से ये भिन्न प्रकार के चरित्र हैं, जो विशेष रूप से अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यो में चित्रित है।

प्रत्येक काव्य की सफलता-असफलता का बहुत कुछ श्रेय पात्रो के चरित्र पर निर्भर रहता है। जो चरित्र हमारे जीवन के अधिक निकट होते हैं तथा जिन में मानवीय गुणो का समावेश रहता है वे हमारे जीवन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। किन्तु वैयक्तिक गुणो के साथ ही उन में कुछ सामाजिक सस्कार निहित रहते है, जो रूढियो तथा धर्म-विश्वास आदि मे परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—जैनधर्म मे कर्म-सिद्धान्त व्यवहार तथा आध्यात्मिक दोनो ही रूपो में सब से मुख्य सिद्धान्त है। इस लिए इस सम्प्रदाय के लोगो के द्वारा लिखित कथा या प्रबन्ध आदि में नायक-नायिका में सस्कार या शिक्षा के रूप में अवश्य ही कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास या आस्था प्रकट की जायगी। यदि हम ध्यान से कथाकाव्यो में वर्णित सभी कथाओ का अवधान-पूर्वक अध्ययन करें तो हमें अचरज होगा कि सभी कथाओ के मूल में कर्म पर विश्वास विशेष अभिप्राय के रूप में निहित है।

डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य के विचार से भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से धार्मिक गाथाओ एवं कथाओं में सामान्य विश्वासो से बँधा हुआ है। कर्म और भाग्य विषयक मान्यता युग-युगो से ऐसा ही सामान्य विश्वास है।[1] देवी-देवताविषयक कुछ विश्वास तथा यक्ष-यक्षिणियो की पूजा के सकेत इन कथाकाव्यो में मिलते हैं। इस प्रकार कथाओ का धरातल सामान्य जीवन से सम्बद्ध हैं, जिस में धवल सेठ, डोम, बन्धुदत्त, समुद्रदत्त आदि सामान्य चरित्र तथा उन के साथ ही श्रीपाल, विद्याधर, भविष्यदत्त, जिनदत्त आदि आदर्श नायक तथा चरित्रों की अवतारणा हुई है।

यद्यपि कथाकाव्यो मे गृहीत नायक बिलकुल आदर्श नही हैं, पर उन का जीवन एव चरित्र आदर्शोन्मुख है। अतएव हम उन्हें सामान्य चरित्र का नही कह सकते। वस्तुत. उन के जीवन का क्रमिक विकास सत्प्रवृत्तियो के कारण ही होता है। इस

१. "हीरोज ऑव द जैन लीजेण्ड्स," जैन एन्टिक्वेरी, भाग १५, किरण १, पृ० ११।

लिए भले ही वे राजर्षि या अवतार न हो, पर सामान्य व्यक्ति के रूप में उन का चरित्र शुद्ध मानवीय है। पात्रो का विचार करते हुए हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि नायक दिव्य न होने पर भी अपने असाधारण कार्यों से दिव्यमानुप अवश्य हैं जो अन्त में दिव्यता को प्राप्त करते है। सभी कथाकाव्यो के नायको का चरित उदात्त एव भव्य है, इस लिए उन्हें सामान्य नही कहा जा सकता। हाँ, वे सामान्य जीवन के व्यक्ति हैं। काव्य में प्रत्येक असाधारण एव अवतारी पुरुष तक को सामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित करना ही पडता है, नही तो रस-दशा मे साधारणीकृत कैसे हो सकेगा? इस प्रकार कथाकाव्य में तो नही, पर चरितकाव्य मे अवश्य नायक दिव्य देखा जाता है। इस दृष्टि से चरित और कथाकाव्य में वही अन्तर है, जो नाटक और प्रकरण में है। नाटक में राजर्पिवंश का चरित होता है जो दिव्यता से युक्त रहता है,[1] किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित।[2] यहाँ इतना विशेष है कि कथाकाव्य का नायक उदात्त ही होता है।

सक्षेप में, नायक धीर, वीर, क्षमाशील, विनयी आदि उदात्तगुणो के रूप में चित्रित तथा सद्गुणो का प्रकाशक दृष्टिगत होता है। यह सच है कि सस्कृत काव्य-परम्परा की मान्यता के अनुसार अपभ्रश के काव्यो में नायक का स्वरूप नही दिखलाई पडता है, किन्तु जाति के रूप में या वश के रूप में नही, अपितु प्रवृत्ति और चरित्र के रूप में नायकोचित गुणो की प्रतिष्ठा तथा उस का स्वरूप अपभ्रश के कथाकाव्यो में भलीभाँति लक्षित होता है।

संवाद-संरचना

अपभ्रश के कथाकाव्यो में सवाद-सरचना कई रूपों मे मिलती है। यदि जि० क० के सवाद अलकृत है और गीति शैली में कही-कही वर्णित हैं तो भ० क० में सरल, स्वाभाविक और सजीव है। प्राय सभी कथाकाव्यो में सवादो की मधुरता और सर-सता लक्षित होती है। किसी-किसी मे हाव-भावो का प्रदर्शन तथा व्यग्य का भी उचित सनिवेश हुआ है। बडे और छोटे दोनो प्रकार के सवाद इन कथाकाव्यो में मिलते है। वि० क० में कुछ सवाद कहानी बन गये हैं और कुछ सवाद अधिक लम्बे हो गये हैं। किन्तु सि० क० में सवाद सक्षिप्त और मधुर हैं। इन सभी कथाकाव्यो में वातावरण तथा दृश्यो के बीच सवादो की योजना हुई है। भाषा भी सवादो के अनुकूल है। इन सवादो में नाटकीयता, वाक्चातुर्य, कसावट तथा भावों का पूरा प्रदर्शन परिलक्षित होता है।

---

१ प्रख्यातवस्तुविपये प्रख्यातोदात्तनायक चैव।
राजर्पिवंशचरित तथैव दिव्याश्रयोपेतम्॥
नानाविभूतिसयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्य भवति हि तन्नाटक नाम॥ नाट्यशास्त्र, १८, १०-११।

२ नोदात्तनायककृत न दिव्यचरित न राजसभोग वही, १८, १००।

अकेली भ० क० में मनोवैज्ञानिक चरित्र, नाटकीयता, प्रवाह एवं क्षिप्रता तथा हाव-भावो का प्रदर्शन सवादो मे सुनियोजित है। किसी-किसी कथाकाव्य मे स्थानीय रगीनता (Local Colurs) भी देखी जाती है।

कउण काज थेरी आरडहि, काहे कारणि पलावे करहि।
किसि कारणि दुख धरहि सरीरु वेगि कहेहि इउ जंपइ वीरु ॥

जि० चउ०, २०६।

तथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज, धोवी चमार घर करहिं भोज्ज।
खर कूकर सूवर गसहि मास हमि डोम भाउ कहियहिं कण्णास ॥

—सि० क० (नरसेन), १,४९।

कथानक के विकास में भो इन सवादो का महत्त्वपूर्ण योग है। संवादो के कारण ही पात्र सजीव वन गये है। नरसेन कृत सि० क० मे घरेलू वातावरण, सक्षिप्तता तथा कसावट सवादो मे ही लक्षित होती है। सक्षेप में, अपभ्रंश के कथाकाव्यो में निहित सवादो मे निम्न-लिखित सामान्य वातें दिखाई पडती हैं—

संवादो के बीच चलते हुए वर्णनो का समावेश, वातावरण, दृश्य एव चित्रो के वीच संवाद-योजना, संवादो में कथा की आवृत्ति, चलती हुई भाषा में मधुर तथा सरस संवादो की रचना और सरलता, सरसता तथा सजीवता की अभिव्यक्ति। इसी प्रकार सामान्यत सवादो में कसावट, वाग्वैदग्ध्य और प्रसगानुकूल भावो के उतार-चढाव लक्षित होते हैं। कुल मिला कर सवादो की सयोजना उक्त कथाकाव्यो में विषयानुरूप विभिन्न मन स्थितियो में उत्तम वन पडी है।

कलात्मक संविधान

भाषा

जिनदत्तकथा को छोड कर अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाषा सरल तथा शास्त्र और लोक के वीच की मिश्रित भाषा है। प्रयुक्त भाषा मे वोलचाल के शब्द, मुहावरे लोकोक्तियो एवं सूक्तियो के समावेश के साथ ही संस्कृतनिष्ठ अथवा संस्कृत से वने या विगडे हुए शब्दो की प्रचुरता है। जि० क० में शब्दो की तोड मरोड अधिक मिलती है। लेकिन विकृत शब्दो में सस्कृत से आगत शब्दो का ही वाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न-लिखित है—

अब्भउ (अर्भक), सप्पसूणु (सप्रसून), णाइणिलए (नाकनिलये), इच्चाइ (इत्यादि), वहूव (वभूव), इहा (इभा-हथिनी), विडोउ (विडौजा-इन्द्र), उवायण (उपायन), छम (छद्म), तण्णंग (तन्वंगी), णिसाडय (चन्द्रमा), आकूवारवीइव (आकूपारवीचीइव), फग्गु (फल्गु-व्यर्थ), वग्गु (वर्ग), दीहियइ (दीर्घिका), णिरघेहिं (निष्पापै), अरियण (अरिजन), रण्ण (अरण्य), अलविय (अलपित-मौन), अडइ (अटवी), सभंत (संभ्रान्त), मह (मम), अव्वुवा (अम्बुवाणा), इगिव (इगित), आसेसण (आश्लेषण-आलिंगन), विसुउ (विश्रुत), कणिलउ (कनिलयं-जलस्थान, समुद्र), वत्तु (वक्त्र), मुइयउ (मुदित), विद्धु (वृद्ध) और कोय (कोक) इत्यादि ।

कुछ शब्द-रूप तो ऐसे है जिन को सहज में समझ लेना सरल नही है । कई आवृत्तियो के पश्चात् तथा कवि की उक्त प्रवृत्ति से भलीभाँति परिचित हो लेने पर ही ये शब्द-रूप समझ में आते है, जो इस प्रकार है—

खेउ (खेद), कउक्के (कृतोत्कृष्टे), तप्परु (तत्पर), सीयरियइ (स्वीकृत), पउत्त (प्राप्त), सेउ (श्रेय), उत्त (युक्त), पंचास (पचास्य), सारय (शारद, शरद्कालीन) जलघर) आदि । जि० क० में ही कही-कही सस्कृत के शब्द ज्यो के त्यो प्रयुक्त है और कही-कही वाक्य रचना पर स्पष्ट रूप से सस्कृत का प्रभाव लक्षित होता है । सस्कृत के कुछ शब्द हैं—महाविल (आकाश), भूघणु (भ्रूधनुष्), मेहिली (मैथिली), मेंठु (मेण्ठ), अह (अह्नि, दिन), ख (आकाश), णोड (नोड), वेस (वेश), रव, दल (पत्ता), को (कौन), आलय, कठ, सेमल, सरल, साल (शाल), देवद्रुम और देवदार इत्यादि । इसी प्रकार गणिया (गणिका), विड (विट), खामोयरि (क्षामोदरी), कर (हाथ), वासर (दिन), उदर आदि शब्द भी दृष्टिगत होते है । इन शब्द-रूपो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जि० क० की भाषा पर निश्चय ही सस्कृत का प्रभाव है । यही नही, लाखू ने सस्कृत के शब्दो को अपभ्रंश की प्रकृति में ढाल कर उन्हें विकृत रूप में अपनाने की चेष्टा की, जिस से भाषा में कृत्रिमता झलकने लगी है । केवल शब्द-रूपो पर ही नही क्रिया-रूपो पर भी सस्कृत का प्रभाव देखा जा सकता है । जैसे कि—पिच्छती (प्रेक्ष्यन्ति), पायडिय (प्रकटित), संकमिल्लु (सक्रमित), उण्णमिय (उन्नमित), परिणिय (परिणीता), आणिउ (आनीत), वहूव (वभूव), अचित, सपाइउ (सप्राप्त), विरएव (विरचित), जति (यान्ति), सतविय (सतप्त), वहेइ (वहति), वट्टए (वर्तते), पभणिउ (प्रभणित), पयासइ (प्रकाशते) और णिवसति (निवसंति), विरइउ (विरचित) इत्यादि ।

इसी प्रकार वाक्य-रचना पर भी कई स्थलो पर सस्कृत की झलक भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है । विभक्त्यर्थ प्रयोगो में सस्कृत की तृतीया विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट रूप से कई स्थलो पर हुआ है । उन के उदाहरण हैं—

सुणेइ तं जिणाइद्दत्तिणा पयंपिउ । उद्दिट्ठए—ऊर्ध्व दृष्टि से
णवकारें जलणिहि बुद्दु वीर उच्छलिउ ण अब्भुउ गुणगहीर ।
आवीलिवि संसालें जणसंसालें ताहि रोलु गुणि गुविज्जुवा ।

जिणयत्त विवाहुच्छवरसिणा णं णडंतु चालिय मुवहि ।
चिंतइ मणेण जगि विणु धणेण होइ ण असोउ अणवरउ भोउ ।
गोधूलिय वेलए लेव हारि परिणिय जिणयत्तें सा कुमारि ।

सर्वनाम शब्दो का प्रयोग भी किसी-किसी स्थान पर संस्कृतनिष्ठ दिखाई देता है। किन्तु ऐसे प्रयोग विरल ही हैं। उदाहरण के लिए—

ता दिट्ठ तेण सजणिय रोस । एक्केण तेण रणरंगधीर ।
अहिमाणसालि जे णर ससोए । उट्ठायउ केणवि धरिवि चेल ।

यदि जि० क० की भाषा साहित्यिक एवं अस्वाभाविक है तो जि० च० में प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है। सिद्धचक्रकथा की भाषा भी बोलचाल के अधिक निकट है। नाम-रूप तथा क्रियाओ पर स्पष्टत देशी पानी चढा हुआ मिलता है। और इसी लिए 'सप्त-व्यसनकथा' में घूंघट, सिंघ, चोली, तारा, भाइ, पास, पंखि, गुटिया, चारि, बारह आदि शब्द-रूप तथा फाडी, जडी, बोलिउ, मारिउ, आयउ, चल्लहि, मरहि, उट्ठिउ, पडिय, झूरइ, जाणइ, आणइ इत्यादि देशी हैं। इसी प्रकार जि० च० में भी चउरी, चउकु, पाण जूवा, दामु, तहाँ, जहाँ, कापरु, नीक, तुरंतु, तवहि, मोती, वार, वरात, वाखर, डाडी, डोला, जुहारु, हीरा, सोना, जुआरी, पूरा, झूठउ, असीम, वाडी, वहुत, सीग, टेव, जूडउ, डोकरी, पापी, पाप, पोटली, खोड (खोट), समदहि (समदो), छुरी, विमाणु काकर (ककड), भुणसारु (भिनसारा, भुनसारा), आदि शब्द-रूप देशज मिलते हैं। क्रिया-रूपो मे फाटी, काटि, झाडे, झुलाइ, छाडि, फेरियउ, मारउ, चाहइ, चडी, काढि, भेटियउ, नीसरउ, देइ, काटा, जाउ, करि, वूड्यो, भई, गई, दिखालइ, खेलत, चंपिउ, खूटउ, दीनी, पहिरइ, खायइ आवहु, विलखाइ, पडी, चडाइ, चालिउ, चले, लइ जाइ, लीयउ, कियो, कराउ, कीए, निकले, उठाइ, पूछियउ, आवइ, हुय, देखत, आगइ, रडियउ इत्यादि देशी क्रियाओ के रूप में दृष्टिगोचर होते है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपभ्रश के कथाकाव्यो मे जहाँ एक ओर संस्कृत से प्रभावापन्न भाषा मिलती है, वहीं दूसरी ओर बोलचाल की भी वानगी मिलती है, जिसे देख कर सहज में ही यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रश समय-समय पर लोक बोलियो का आँचल पकड कर विकसित हुई है। अपभ्रंश-युग में संस्कृत और प्राकृत-साहित्य की वहुमुखी उन्नति होने से यह स्वाभाविक ही था कि अपभ्रंश के (संस्कृत भाषाविद्) कवि सस्कृत के शब्द-रूपो से अपभ्रश को समृद्ध वना कर उस का साहित्य संस्कृत-साहित्य के समकक्ष रचते। वस्तुत. अपभ्रंश भाषा में तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दो का प्राधान्य है।

शैली

अपभ्रंश के कथाकाव्य प्रबन्ध काव्यों की भाँति सन्धिबद्ध है। कम से कम दो तथा अधिक से अधिक बाईस सन्धियों में निबद्ध कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन में सन्धियों की रचना कडवकों में हुई है। कडवक के अन्त में घत्ता देने का विधान मिलता है। यद्यपि अपभ्रंश-काव्य सन्धियों में कडवकबद्ध मिलते हैं, किन्तु कडवकों की रचना में नियत पंक्तियों का परिपालन नहीं देखा जाता है। आ० स्वयम्भू के अनुसार एक कडवक में आठ यमक एवं सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिए।[1] लेकिन आठ पंक्तियों से लेकर चौबीस पंक्तियों तक के कडवक आलोचित कथाकाव्यों में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के लिए कडवकों की संख्या का न तो कोई नियम मिलता है और न विधान ही। किन्तु सामान्यतः एक सन्धि में दस से चौदह के बीच कडवकों की संख्या मिलती है। अपभ्रंश के उक्त कथाकाव्यों में कम से कम ग्यारह और अधिक से अधिक छियालीस कडवक प्रयुक्त हैं।

यद्यपि कडवक के अन्त में ध्रुवक के साथ द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी का विधान है,[2] पर अधिकतर दुवई, गाथा, उल्लाला आदि द्विपदी तथा अडिल्ला, घत्ता और वस्तुक आदि चतुष्पदी छन्दों का प्रयोग घत्ता के रूप में दृष्टिगत होता है।[3] इन के अतिरिक्त कई छन्द घत्ता के रूप में प्रयुक्त कथाकाव्यों में देखे जाते हैं।

'कडवक' शब्द प्राकृत के तथा देश्य 'कडप्प' शब्द से बना है, जिस का अर्थ समूह है।[4] अपभ्रंश में इसे 'कडव्व' कहा जाता है। नियत पंक्तियों में समान छन्द की योजना करने के कारण 'छन्दों के समूह' की रचना विशेष को कडवक कहना सार्थक जान पडता है। अतएव 'कडवक' अलग से किसी छन्द का नाम न हो कर काव्य की प्रबन्धात्मक रचना विशेष है, जिस से वस्तु समान पंक्तियों में वर्णित होने के कारण प्रबन्ध-रचना में कसावट तथा सशिल्प-रचना में सुन्दरता आ जाती है। फिर, मुख्यरूप से एक ही छन्द तथा एक ही शैली में लिखे जाने से विषय-वर्णन तथा भावों की अभिव्यक्ति सरलता और सरसता से अभिव्यंजित लक्षित होती है।

---

१ स्वयम्भूछन्द, ८,१५

२. ता तिविहा छपई चउपई य दुवई य तासु पुण्ण दुण्णि।
छ-चउप्पईउ कडवय-निहणे छड्डुणिय णामा वि ॥क० द०, २,३२ वृत्ति।
मयणपराजयचरिउ की भूमिका से उद्धृत।

३ सन्धिहिं आइहिं घत्ता दुवई गाहाडिल्ला ॥
घत्ता पद्धडिआए छड्डुणिआ वि पडिल्ला ॥स्वयम्भूछन्द, ८,२०

४ एते चत्वार शब्दा निकरवाचका। कडप्पो कटप्रशब्दभवोऽप्यस्ति। स च कवीना नातिप्रसिद्ध इति निबद्ध। 'णिअरे कडप्पकइअका'।
—देशीनाममाला (हेमचन्द्र) २,१३।

अलंकार-विधान

आलोचित कथाकाव्यों में साधर्म्य या औपम्यमूलक तथा लोकव्यवहारमूलक अलकारों की मुख्यता है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, श्लेष, व्यतिरेक, स्मरण और रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग लक्षित होता है। उपमा को छोड कर प्रायः सभी अलंकारो में स्पष्टरूप से औपम्य गम्यमान है। लोकव्यवहारमूलक अलकारो में उदाहरण, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम और समाधि आदि का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार तर्कन्यायमूलक अलंकारों में अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग और अनुमान उक्त काव्यो में प्रयुक्त है। अन्य अलंकारों में परिसंख्या, यथासख्य, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा विषम आदि अलंकार दृष्टिगत होते हैं। प्रयुक्त अलंकारो में जहाँ परम्परित रूढ उपमानो का प्रयोग है, वही लोकगत उपमानो से सजीवता आ गयी है। रूढ उपमान भी कही-कही कथन की शैली से तथा परिवर्तनगत वैविध्य से कुछ नवीन से हो गये हैं। उदाहरण के लिए—नयनो की उपमा सामान्यत. मृग, मीन, रक्त कमल से तथा कही-कही खजन पक्षी से दी जाती है। किन्तु इन काव्यों मे किसी स्थल पर आँखो को कमल के पत्तो के समान कहा गया है। इसी प्रकार है—केश-कलापो को मदन की डोरी का बना हुआ पाश कहना, माथे को काम का विजयपट्ट वताना, कपोलो पर लटकती हुई अलको को कामदेव के धनुष् और वाण कहना, स्तनो की उत्प्रेक्षा कामदेव के स्नान करने के दो कलसो से करना, जाँघो को कामदेव की शरण में आने वालो के लिए वँधने का खम्भा कहना इत्यादि सभी नवीन उपमान है।

लोकगत उपमानो में कुछ कवि की कल्पना से प्रसूत हैं तथा कुछ लोक से ग्रहण हुए हैं। उदाहरण के लिए—रोमावलि को चीटी की पंक्ति से उपमा देना, सन्ध्या के पश्चात् फैलते हुए अन्धकार को सौत की डाह का कालापन वताना, जूनी पगडण्डी को जैनधर्म की पुरानी पोथी कहना, वडवानल से युक्त समुद्र को अकायर कहना, खाइयो से वेष्टित तथा रत्नो से निबद्ध हाट-मार्ग को मोक्ष-मार्ग कहने की कल्पना करना, तथा उपकार करने में सावन के मेघ की कल्पना करना, इत्यादि। लोकप्रसिद्ध बातो में वियोगिनी को ग्रीष्मकालीन वृक्ष की भाँति सूखती हुई वताना, विना पानी के तडपती हुई मछली से साम्य दर्शाना, विरह-काल में नयनो की उपमा पाला मारी हुई कमलिनी से देना, शूर-वीर के हथियार को णमोकार मन्त्र के न भूलने की भाँति सदैव स्मरण करते रहना कहना, कोढ़ी श्रीपाल को भिक्षा-ग्रहण करने वाले शूलपाणि की भाँति द्वार-द्वार घूमते-फिरते वताना तथा क्रोधित बन्धुदत्त को कोपाग्नि से प्रज्वलित होने पर वणिको की वातो को अग्नि पर घी छिड़कने की भाँति कहना, इत्यादि।

छन्दोयोजना

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। यद्यपि वैदिक छन्द ताल और संगीत पर आधारित है, पर उन में अक्षर प्रधान है। उन का आधार गण, मात्रा और स्वराघात है। और इसी लिए नियत अक्षरो में आकलित होने से उसे 'वृत्त' कहा जाता है। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य 'जाति' कहा गया है।[1] आ० हेमचन्द्र के मत में छन्द का अर्थ वन्ध और एक अक्षर से ले कर छब्बीस अक्षर तक की जाति की सामान्य सज्ञा "छन्द" है[2]।

आ० भरतमुनि ने पात्रों की भाँति वृत्तो के भी तीन गण माने है[3]—दिव्य, दिव्यतर और दिव्यमानुष। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, वृहती और पक्ति को उन्होंने दिव्य कहा है।[4] वस्तुत लोक में तीन प्रकार के छन्द प्रचलित है[5]—गणछन्द, मात्राछन्द और अक्षरछन्द। यह कहना वहुत कठिन है कि सव से पहले मात्रिक छन्द का जन्म हुआ अथवा वर्णिक का। किन्तु वैदिक और अवेस्ता के छन्दो को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सगीत और लय के आधार पर वृत्त का जन्म हुआ था। क्योंकि आसुरी वृत्त और गाथाएँ यजुर्वेद तथा अवेस्ता में समान हैं।[6] समस्त सामवेद गीतिमन्त्रों से भरपूर है।

यथार्थ में छन्द और संगीत का घनिष्ठ सम्वन्ध है। इसी लिए यह स्वाभाविक है कि संगीत के अनुरूप छन्द मे भी स्वरो तथा अक्षरो की नियत योजना एवं सविधान हो। शब्द स्वर और अक्षरो का सयोग ही होता है। अतएव स्वर और अक्षर के भेद से छन्दो के भी मात्रिक और वर्णिक दो भेद कहे जा सकते है। गणछन्द वास्तव में अक्षरो के समुदाय की सहति है, इस लिए उसे अलग से नही मान कर अक्षरछन्द में गर्भित मानना चाहिए। और इस प्रकार शब्द-रचना के मूल स्वर और अक्षर के अनुसार वैदिक वृत्त वर्णमय हैं। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, त्रिष्टुप्, पंक्ति और बृहती तथा उष्णिक्। ये सभी वर्णवृत्त हैं। गायत्री में आठ-आठ अक्षरो के तीन चरण होते हैं। अनुष्टुप् के चारो चरणो में समान रूप से आठ-आठ अक्षर होते है। जगती में चार पाद तथा प्रत्येक पाद में वारह अक्षर प्रयुक्त होते हैं। त्रिष्टुप् के एक पाद में ग्यारह और कुल मिला कर चवालीस अक्षर कहे गये हैं। पंक्ति

---

१ पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसख्यात जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥ —नारायण।

२ छन्द ॥ आशास्त्रपरिसमाप्ते छन्द इत्यधिकृत वेदितव्यम्। इदानीमेकाक्षराद्या षड्विंशत्यक्षरावसानाश्छन्दोजातीराह। छन्दोऽनुशासन, २,१-२।

३. सर्वेषामेव वृत्तानां तज्ज्ञैर्ज्ञेया गणास्त्रय ।
दिव्यो दिव्यतरश्चैव दिव्यमानुष एव च ॥ नाट्यशास्त्र, १४,६२।

४. गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च वृहती पक्तिरेव च। वही, १४,६२।

५ आदौ तावद्ग गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्तत परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम् ॥ छन्द शास्त्र, पृ० ४६।

६. रुलियाराम कश्यप वैदिक ओरिजिन्स ऑव जोरास्ट्रियानिज्म, पृ० १४।

छन्द के पहले के दो पाद बारह-बारह अक्षरो के तथा शेष दो चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। जिस मे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद आठ-आठ अक्षरो का तथा तृतीय पाद बारह अक्षरो का होता है वह बृहती छन्द है। उष्णिक् में अट्ठाईस अक्षर होते हैं। इस मे आदि और अन्त का चरण आठ-आठ अक्षरो का होता है और मध्यग बारह का। इन में तनिक-तनिक परिवर्तन कर देने से एक ही वृत्त के कई भेद हो जाते हैं। इस से स्पष्ट है कि वैदिक वृत्त वर्णिक हैं। उन मे अक्षर-परिमाण की संहृति मुख्य है।

साधारणत यह कहा जाता है कि लौकिक छन्दो की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, किन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि समय-समय पर शास्त्रीय वृत्त एवं जाति बन्धो से हट कर नये-नये छन्द तथा बन्धों का प्रयोग साहित्य में होता रहा है। अतएव भाषा और बोलियो की भाँति ही विभिन्न लयो और देशी राग-रागनियों में प्राकृत के छन्द साहित्य में देशी भाषा के साथ ढलते रहे हैं तथा विविध नाम-रूपो से प्रसिद्ध एवं प्रचलित रहे। उदाहरण के लिए—सोरठा, मरहट्ठा, चर्चरी, वसंतचच्चर, संगीत, गीति और रास आदि लोकप्रसिद्ध छन्द हैं, जो धीरे-धीरे अपभ्रंश-कविता के प्रचलन के साथ ही काव्य मे प्रयुक्त किये गये। अपभ्रंश-काव्यो में इस बात का उल्लेख है कि उस युग में महापुरुषो के नाम के साथ ही लोकगीत प्रचलित थे। पुष्पदन्त के महापुराण मे धवल गीतो का उल्लेख है, जिन का सम्बन्ध कृष्ण-चरित से कहा जाता है। आद्य मराठी में इस प्रकार के गीत 'ढवलगीत' कहे जाते हैं[1]। आ० हेमचन्द्र ने धवलमगल, फुल्लडक तथा झम्बटक आदि ऐसे ही गीतो का उल्लेख किया है, जो विभिन्न प्रसंगो में देवगान आदि विविध मांगलिक कार्यों तथा उत्सवो के अवसर पर गाये जाते थे।[2] इसी प्रकार के अन्य छन्दो को अपभ्रंश-काव्यों तथा छन्दशास्त्रो में ढूँढा जा सकता है, जिन का लोक-जीवन से पूर्ण सम्बन्ध रहा है। डॉ० द्विवेदी ने बंगाल में पाये जाने वाले मंगलकाव्य तथा पंजाब में गाये जाने वाले रुक्मिणीमंगल नामक ऐसे ही लोकगीतो का उल्लेख किया है, जो भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो में देवताओ के यश.गान अथवा मांगलिक कार्यों में प्रचलित रहे हैं।[3] हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो की चौपाई-दोहा वाली शैली की भाँति अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो में कडवक शैली मिलती है, जिस मे पद्धड़िया (चौपाई की जाति का छन्द) तथा दुवई, गाथा आदि (सामान्यतया दोहे की जाति के छन्द) की रचना होती है। किन्तु कही-कही कडवक के आरम्भ में और अन्त में भी पद्धडिया छन्दो से दुवई जुडी हुई मिलती है। इस प्रकार प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश-कथाकाव्यो में कडवक शैली प्रयुक्त है। यह अपभ्रंश की अपनी शैली है जो संस्कृत, प्राकृत में नही मिलती।

---

१ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य 'अपभ्रंश साहित्य', होलकर कालेज मेगजीन, इन्दौर, १९५७-५८, पृ० १११।

२ छन्दोऽनुशासन, ५,४०-४२।

३ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० १११।

यदि साहित्यिक रचना-शैलियो की दृष्टि से विचार किया जाय तो कई प्राकृत की तथा लोकप्रचलित गीत एव सवादमूलक शैलियाँ अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे देखी जा सकती है। केवल शैलियो पर ही स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है। क्योकि अभी तक इस पर किसी विद्वान् का ध्यान ही नही गया। अपभ्रंश के प्रत्येक कथाकाव्य में कई प्रकार के गीत मिलते हैं, जो लोकप्रचलित शैली मे लिखे गये जान पडते हैं। अतएव इस प्रकार के गीतो मे भाव और भाषा की बनावट न हो कर लोक-गीतो का माधुर्य और प्रवाह लय पर आधारित है। उदाहरण के लिए—

रमंत कंत सारसं	रमंत नीर माणुस
सु उच्छलंत मच्छयं	विसाल नील कच्छय
विलोल लोल नक्कय	फुरंत चारु चक्कय
खुडत पत्त केसर	पलोइय महासर। (वि० क० ५,१५)

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में वसन्त मे गाये जाने वाले तथा चर्चरी आदि गीतो का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ध्रुवक का प्रयोग गीत के अन्त में होता है। कडवक के अन्त में घत्ता के रूप में ऐसे कई छन्दो का प्रयोग उक्त कथाकाव्यो में दिखाई पडता है। घत्ता के कई भेद है। ये किसी न किसी लोक शैली के ही विविध रूपान्तर प्रतीत होते हैं।

यद्यपि संस्कृत और प्राकृत के साहित्य में भी गीतो की सृष्टि हुई है, किन्तु अपभ्रश में गीतो की मुख्यता है। गीत नाम से कई रचनाएँ इस साहित्य में मिलती हैं। सस्कृत के विक्रमोर्वशीय नाटक में अपभ्रश के प्रसिद्ध चर्चरी गीत का उल्लेख ही नही उदाहरण भी मिलता है। यथा—

चर्चरी गीत—

गन्धुम्माइ अमहुअरगीएहिं
वज्जतेहिं परहुतूरेहिं।
पसरिअ पवण्हुव्वेलिअ पल्लवणिअरु
सुललिअ विविह पआरेहिं णच्चइ कप्पअरु। (४,१२)

इस गीत की विशेषता यह है कि अपभ्रश में ही लिखा गया है। सस्कृत के अन्य ग्रन्थो में भी इस प्रकार बिखरे हुए अपभ्रश के गीत मिलते हैं। आ० अभिनवगुप्त के तन्त्रसार मे प्रयुक्त गीत का एक उदाहरण देखिए—

सोच्चिअमासइ
भवतरुविसरउ।
सअलउअद्धजालु-
निअ घअणि परिमरि मेहहरो। ९,१०।

इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्यो की शैली का सम्बन्ध मुख्य रूप से छन्द एवं गीत-रचना से है। कही-कही तो इन की शैली इतनी सरल और मधुर है कि लगता है आपस में बात कर रहे हो। जैसे कि—

केत्थु वि वराहाहं वलवंत देहाहं
मह वग्घु आलग्गु रोसेण परिभग्गु
केत्थु वि विरालाइं दिट्ठइं करालाइं
केत्थु वि सियालाइं जुज्झंति थूलाइं
ताहे पासे णिज्झरइं सरंतइं गिरिकंदर विवराइं भरंतइं।

(भ० क०, विवुध श्रीधर)

संक्षेप में, जि० क० और वि० क० को छोड कर अपभ्रंश के कथाकाव्यो की शैली प्रसाद गुण से युक्त तथा मधुर है। संवादों में अवश्य सभी कथाकाव्य लोक-शैली को प्रकाशित करते हुए लक्षित होते है। यथा—

वहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ।
मा रुवहि धीए धीरत्तु वरि णिब्भरु होइवि महु वयणु करि।
सो लितु दितु तहि दिण गमइं जहि रुच्चइ तहि फिरि फिरि रमइ।(वही)

साधारणतया जि० क० और वि० क० में वर्णन-शैली अलंकृत है। सन्धिवहुला तथा समस्त पदावली में वाक्य-रचना की प्रवृत्ति इन दोनो रचनाओ मे मिलती है। किन्तु संवादो में शैली स्वच्छ तथा मधुर है। जि० क० का ही एक उदाहरण देखिए—

हउं एक पुत्तु कुलजलहि पोउ महु विणु ण जियइ पिय जणणिलोउ।
तथा— जई मज्झु सीलु सजमु अपाउ ता वुड्डिवि पोहणु एहु जाउ।

अतएव कुल मिला कर शैली की दृष्टि से अपभ्रश के कथाकाव्यो की रचना स्फीत एवं प्रेरक है।

षष्ठ अध्याय

लोक तत्त्व

लोककथा के रचना-तत्त्व

भारतीय साहित्य में लगभग दो सहस्र वर्षों से भी अधिक समय से दृष्टान्त रूप में लोक कथाओ का प्रचलन रहा है, जिन मे रीति-नीति की शिक्षा चित्तानुरंजन से समन्वित एवं प्रेरक रही है। डॉ० हर्टेल के विचार में पचतन्त्र की कथाएँ इक्कीस सौ वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।[1] ये कथाएँ कल्पित होने पर भी लोक-जीवन में व्याप्त हैं। यो तो भाषा और साहित्य लोक-जीवन से ही अनुप्राणित रहता है और इस लिए यदि यह कहें कि साहित्य जीवन की अनुकृति है तो अनुचित न होगा। परन्तु साहित्य में लोक-जीवन का चित्र अपने वास्तविक स्वरूप में अभिव्यजित न हो कर लेखक की कल्पना, भाषा और शैली के विविध रूपो तथा घटनाओ से प्रभावित हो कर कई रूपो तथा आकारो में लक्षित होता है। अतएव लोक का वास्तविक रूप उस में उभरने नही पाता। लेकिन लोककथा या लोक साहित्य में वह अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होता है, इस लिए हम उसे 'लोक' शब्द से सम्बद्ध मानते हैं। क्योंकि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन, उपदेश या नीति-रीति की शिक्षा प्रदान करना ही नही है, वरन् अपने युग या जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना भी है। इस का कारण यही है कि साहित्य, समाज और संस्कृति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी लिए हम समाज तथा सस्कृति से विश्लिष्ट कर साहित्य का यथार्थ मूल्याकन नही कर सकते। लोक साहित्य का सब से अधिक वैशिष्ट्य इसी बात में है कि वह परम्परागत तथा लोक युगीन भारतीय जीवन तथा सस्कृति का यथार्थ रूप वास्तविक परिवेश में युग-युगो के बाद भी सजीव बनाये रहता है। इस से यह स्पष्ट है कि उस में लोक-मानस का सहज समावेश लक्षित होता है। अतएव इस में क्या आश्चर्य कि रूढि तथा परम्परा के रूप में देश-विदेशो में विविध मान्यताएँ तथा विश्वास समान रूप से सहस्र वर्षों से काई की भाँति जमे हुए चले आ रहे हैं। लोक तत्त्व से समन्वित रचनाओ में हमें लोक-जीवन से सम्बन्धित सामाजिक सस्कार, त्योहार, मागलिक कार्य, लोक प्रचलित रूढियाँ, क्रीडाएँ, वेशभूषा, खान-पान, विश्वास और समाज-रीति एव राजनीति का समावेश रहता है।

---

१ डॉ० जोन्स हर्टेल पचतन्त्र का सम्पादित सस्करण, प्रस्तावना पृ० ...

डॉ० सत्येन्द्र ने लोक-कहानी के निर्माणतत्त्व में निम्न-लिखित वातों का उल्लेख किया है[1]—लोक-मानस (Folkmental-element), कथा-रूप (Tale-form), पात्र (Persontages) अभिप्राय, कथानक रूढ़ि या कथा-तन्तु (Molif), सामान्य घटना (Incidents), संघटना (Organisational sections of a tale) अक्षर कथा या कथामानक Tale type), उपयोग दृष्टि (Utility point of view) अलंकरण (Ombellishment) और वातावरण।

लोक-मानस

लोक-कथा का सवसे वढ कर तथा प्रथम अनिवार्य तत्त्व है—लोक-चेतना की अभिव्यक्ति। लोक-कथा एवं गीतो में ही हमें स्पष्ट रूप से जन-मानस की अन्तः सलिला प्रवहमान लक्षित होती है। अतएव युग-युगीन लोक-संस्कृति के विविध रूपो की स्पष्ट छाप उन पर लगी हुई दिखाई देती है। कही-कही यह जातीयता से ओतप्रोत होती है तथा कही-कही सामान्य लोक-जीवन से प्रभावित एवं चित्रित। उदाहरण के लिए, प० नरसेन कृत सि० क० में भाँवर के साथ ही चौरी का भी उल्लेख है, जो केवल बुन्देलखण्ड के जैन लोगो में ही प्रचलित है। भाँवरें पड जाने के वाद यह निश्चय-सा हो जाता है कि वर-वधू प्रणय-सूत्र में वँध गये हैं। किन्तु इस के वाद भी चौरी में सात भावरें पड़ने का अर्थ यही समझ में आता है कि यदि भाँवरो के समय कोई छल या धोखा हो गया हो तो वर-वधूको एक वार और अवसर दिया जाता है। इसी लिए इस के पहले गुड़ा का खेल भाँवर और चौरी पडने के बीच खेला जाता है, जो एकान्त में होता है और जिस का यही उद्देश्य जान पडता है कि वर-वधू परस्पर एक-दूसरे को परख कर मन भर लें। उस के वाद चौरी में सप्तपदी की आवृत्ति होने पर वह सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित एवं पक्का हो जाता है।

जि० चउ० में भी चउरी का उल्लेख मिलता है।

चउरी रचीय हरिए वास अरु तह थापे पुण्ण कलास। जि० चउ०, १२५।

चउरी रची धरे हरे वास तोरण थापे पूर्न कलास ॥वही, ४४६।

अपभ्रश के प्राय सभी कथाकाव्यो में चौक पूरना, मण्डप सजाना, मड़वा गाडना, जल-देवता या किसी अन्य देवता का पुष्प-अक्षत आदि से पूजन करना, यात्रा की मगल-कामना के लिए दधि, दूर्वा, अक्षत या जौ आदि को सिर पर डालना, मगल कलस सजाना और वरात का सजाना तथा नगर में वर-वधू की फेरी फेरने आदि

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१३ से उद्धृत।
चउरी भावरि सत्त दित्राविय रयणमजूस तास्रु परिणाविय। सि० क०, १,३५।
बुन्देलखण्ड में चउरी या चौंरी को चौडो मारना कहते हैं, जो एक रस्म के रूप में जैनियों के यहाँ अभी तक प्रचलित है। किन्तु धीरे-धीरे अव यह चलन उठता जाता है। साधारणतया 'चउरी' का अर्थ कटनी या वेदी होता है।

वर्णनो में लोक-मानस की स्पष्ट झाँकी दृष्टिगोचर होती है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोचित कथाकाव्यो की कथाएँ लोक-कहानियाँ है, जो जातीय जीवन एवं वातावरण के परिपार्श्व मे लोक-चेतना से परिव्याप्त हैं।

लोक-गाथा कहे या लोकाख्यान ?

संभव है कि कुछ विद्वान् अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो को पद्यबद्ध देख कर इन्हें परम्परा से प्रचलित लोक-गाथा या कथागीत कहना उपयुक्त समझें, किन्तु ये लोकथाएँ हैं, जो श्रुतियो के रूप में युग-युगो से प्रचलित रही हैं। प्राय' सभी देशो में ऐसी लोक-कहानियाँ सुनी जाती हैं, जिन में हजारो वर्षों के जन सामान्य के विश्वास तथा रीति-रिवाज निहित रहते हैं। अतएव पद्यबद्ध या कुछ गीतो से युक्त होने के कारण हम इन्हें लोक-गाथा नही कह सकते। क्योकि मूल रूप में इन से मिलती-जुलती अधिकाश कहानियाँ आज भी बंगाल प्रान्त मे सुनी जाती हैं। अपभ्रश की कथाओ का पद्यवद्ध होना तत्कालीन साहित्य के लिए कोई नयी बात नही थी। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' तो वहुत पहले ही पैशाची भाषा में लिखी जा चुकी थी। आर्यशूर (चौथी शताब्दी) कृत जातकमाला तथा शिवार्य रचित (ई० पू० प्रथम) भगवती आराधना एवं हरिषेण विरचित वृहत्कथाकोष आदि पद्य में लिखी हुई कथाएँ हैं, जिन में छोटी-बडी सभी प्रकार की कथाएँ दृष्टिगत होती हैं। भारतवर्ष में ही नही अफगान देश में भी अवदान या लोकाख्यान (Legends) पद्यबद्ध मिलते हैं।[१] फिर, लोकगाथा कथात्मक गीत कही जाती है, जिस का रचयिता अज्ञात होता है तथा उद्भव की दृष्टि से इस का इतिहास सन्दिग्ध रहता है।[२] यद्यपि लोक-कथा का रचयिता भी अज्ञात रहता है, पर गाथा तथा कथा का मुख्य अन्तर गीति तत्त्व है; इतिहास नही। लोकगाथा वर्षों से जिस रूप में मौखिक प्रचलित रहती है उसी रूप में लोक मे सुनी तथा गायी जाती है, किन्तु कहानी में घटना ही सामान्य रहती है, जिस में कई प्रकार के कथा-मानक तथा अवान्तर प्रसंगो की लेखक उद्देश्य विशेष से सयोजना कर विषय के अनुरूप कथा को ढाँचा प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, आल्हा को लोक-गाथा माना जा सकता है, पर मधुमालती या विलासवती को नही। लोक-गाथा में इतिहास का भी थोडा-बहुत अंश समाहित रहता है, लेकिन कथाकाव्य के लिए वह आवश्यक नही है। स्पष्ट ही गाथा इतिहास तथा विश्व-रचना के विचारों से सम्वद्ध होती है और कथा जीवन की सामान्य घटनाओ को अभिव्यक्त करती हैं। इन्हें हम धर्मगाथा भी नही मान सकते। क्योकि इन में वाल-देव के रूप में न तो अतिलौकिक घटनाओ का समावेश है और न

---

१. डेमव्स एम० एल० पापुलर पोइट्री आव द वेलोसिस। रायल एशियाटिक सोसायटी, द्वितीय जिल्द, लन्दन, १६०७।

२ डॉ० सत्यव्रतसिन्हा भोजपुरी लोक-गाथा का अध्ययन, हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष ६, अक ४, पृ० ३६।

बालक को जन्म से ही असाधारण दर्शाने का यत्न। अपभ्रंश के चरितकाव्यों में अवश्य ऐसे वृत्तो की संयोजना दृष्टिगोचर होती है, जैसे कि प्रद्युम्न के जन्म होने पर दैत्य द्वारा हरण (प्रद्युम्नचरित-सिंह), करकण्डु का जन्म दन्तिपुर के श्मशान में होना (करकण्ड-चरित-मुनि कनकामर), देवताओं का मर्त्यलोक में आ कर बालक नेमिनाथ का अभिषेक आदि संस्कार करना (नेमिनाथचरित-लक्ष्मण देव) इत्यादि।

भविष्यदत्तकथा का लोक-रूप

यद्यपि अपभ्रंश की कथाएँ सच्ची मान कर लोगों के मन पर धार्मिक प्रभाव डालने के लिए लिखी गयी हैं और उन का उद्देश्य मनोरंजन नहीं है; किन्तु कथा के अन्तर्गत वर्णित घटनाएँ तथा कथाभिप्राय आज भी हमें लोक-कहानियों में लक्षित होते हैं। भ० क० भी मूलतः लोककथा है, जो उद्देश्य विशेष से धार्मिक वातावरण के बीच वर्णित है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है। कही पर यह कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कहीं सौदागर के रूप में।[1] अधिकतर लोक-कहानियों में राजकुमार की कहानी इस से मिलती-जुलती सुनी जाती है। बंगाल में प्रसिद्ध लोककथाओं में 'कलावती राजकन्या' की कहानी ऐसी ही एक रूपकथा है, जिस में पाँचों राजकुमार ईर्ष्यावश सब से छोटे दोनों राज-कुमारों को छोड़ कर कलावती को पाने के लिए जहाज में बैठ कर यात्रा करते हैं। किन्तु दोनों भाई भी डोंगी में बैठ कर प्रस्थान कर देते हैं। तीन बुढ़ियों के देश में पहुँच कर दोनों भाई पाँचों भाइयों को (बुढ़िया के चंगुल से फँसे हुओं को) छुड़ाते हैं। लेकिन फिर भी दोनों की उपेक्षा की जाती है। मार्ग में दिशा-भ्रम की दशा में दोनों भाइयों में से बड़ा बुद्धू पाँचों की सहायता करता है, पर अन्त में तूफान आने से पाँचों भाई डूब जाते हैं। बुद्धू कलावती के नगर में पहुँच कर देखता है कि पाँचों भाई वन्दीगृह में हैं। उसे भी वन्दी बना लिया जाता है। किन्तु वह कला-कौशल से पाँचों भाइयों तथा कलावती को साथ में ले कर छोटे भाई समेत पोत में बैठ कर यात्रा के लिए आगे बढ़ता है। पाँचों भाई कलावती को बुद्धू के पास देख कर जल-भुन जाते हैं और उन दोनों भाइयों को समुद्र में फेंक देते हैं। कलावती को कैद कर अपने नगर में ले जाते हैं। राजा कलावती से राजकुमार के साथ विवाह करने के लिए कहता है, पर वह तैयार नहीं होती। तब राजा मार डालने की धमकी देता है। वह एक महीने का व्रत धारण करती है। इसी बीच दोनों राजकुमार आ कर कलावती से मिलते हैं। राजा को जब सारा रहस्य ज्ञात होता है तब वह बुद्धू का विवाह कलावती के साथ धूम-धाम से कर देता है, और उस के छोटे भाई की किसी अन्य राजकुमारी से। पाँचों भाइयों को अपने किये का दण्ड मिलता है।

---

१ डॉ० नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण पृ० २५८।

यदि भ० क० की घटनाओ का विचार किया जाये तो निम्नलिखित घटनाएँ मुख्य लक्षित होगी—

(१) सेठ धनवइ का कमलश्री को त्याग कर दूसरा विवाह सरूपा से करना और उससे बन्धुदत्त का जन्म होना। भविष्यदत्त का ननिहाल में पालन-पोषण होना।

(२) पाँच सौ व्यापारियो तथा बन्धुदत्त के साथ भविष्यदत्त की कंचनद्वीप यात्रा, मार्ग में मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को अकेला छोड कर बन्धुदत्त की आज्ञा से जहाज का कचनद्वीप के लिए प्रस्थान करना।

(३) भविष्यदत्त का उजाड़ नगर तिलकपुर में प्रवेश करना, अपने साहस से राक्षस को प्रसन्न कर राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण कर बारह वर्षों के बाद अपने नगर के लिए प्रस्थान कर समुद्र-तट पर पहुँचना। संयोग से वन्धुदत्त का मिल जाना। छल पूर्वक भविष्यदत्त को छोड कर भविष्यानुरूपा के साथ अतुल संपत्ति ले कर वन्धुदत्त का स्वदेश-गमन करना। मार्ग में जल-देवता के प्रभाव से तूफान का आना और भविष्यानुरूपा की शील-सरक्षा होना। एक मास की अवधि में पति से मिलने का स्वप्न देखना। घर पहुँच कर विवाह की तैयारी होना, इतने में ही भविष्यदत्त का लौट कर घर पहुँचना। राजा को सच्चा वृत्तान्त ज्ञात होने पर बन्धुदत्त को दण्ड देना।

(४) राजा का भविष्यदत्त के साथ सुमित्रा को व्याहने का प्रस्ताव रखना, धनवइ का स्वीकृति देना। पाचालनरेश चित्राग का सुमित्रा को मांगना और सकल राज्य को वश में करने का प्रस्ताव रखना। भविष्यदत्त का युद्ध के लिए तैयार होना और चित्रांग को बन्दी बना कर सुमित्रा से विवाह करता, सुखोपभोग करने के बाद सन्यास में दीक्षित होना तथा परमपद प्राप्त करना।

ये मुख्य घटनाएँ क्या है अपने आप में छोटी-छोटी चार लोक-कहानियाँ हैं, जो अलग-अलग आज भी कई रूपो में कही-सुनी जाती हैं। जहाँ तक कथा की पहली मुख्य घटना एवं कहानी का सम्बन्ध है वह सौतेली माँ की कहानी से सम्बन्धित है, जिस में एक ही राजा या सेठ की कई रानियो या दो पत्नियो में से सब से छोटी के साथ और उस के पुत्र के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है और बड़ी को तथा उस के पुत्र को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। दोनो ही सौतेले भाई कुछ तो स्वभाव से और कुछ माता के सिखाने से विमाता के पुत्र को धोखा दे कर मार डालने की चेष्टा करते हैं, पर अपने इस कार्य में उन्हे पूर्ण सफलता नही मिलती। इतना ही नही, विमाता का पुत्र अपने भाइयो की सहायता या सकट से उन की रक्षा करता है अथवा दुष्कृत्य के लिए उन्हें क्षमा कर देता है। किन्तु वे ही भाई फिर से धोखा दे कर उस का अनिष्ट करने की चेष्टा करते है, पर उन्हें सफलता नही मिलती।

पहली मुख्य घटना से सम्बन्धित एक अन्य घटना है—माता का पुत्र से न मिलने के कारण पुत्र-प्राप्ति के लिए व्रत-धारण करना और परिणामस्वरूप पुत्र से भेंट

होना। ऐसी कई व्रत-कथाएँ हैं, जिन में बाहर गये हुए अथवा किसी प्रकार बिछुड़े हुए पुत्र या पति की प्राप्ति के लिए व्रत-विधान निर्दिष्ट हैं तथा जिन के पालन से अभीष्ट सिद्धि दर्शायी गयी है। स्कन्दपुराण के अन्तर्गत गणेशचतुर्थी की कथा ऐसी ही है, जिस मे इस व्रत के पालन से रानी दमयन्ती ने सात महीने में पुत्र और पति से भेंट की थी। इसी प्रकार 'ठाकुरमारझुलि' में संकलित 'कलावती राजकन्या' नाम की कहानी में भी कलावती एक महीने के व्रत के फलस्वरूप पति को तथा बुद्बू और भुतुम की माता जल-देवता की आराधना से पुत्र को यात्रा से लौट कर वापिस प्राप्त करती है।[1] भ० क० तथा इन सब कहानियो में संकटो में डूबते-उतराते पुत्र एवं पति का वर्णन है। ऐसी और भी अन्य कथाएँ हैं जिनमें पुत्र या पति के बिछुड़ने तथा वर्षों बाद मिलने की कहानी वर्णित है। किन्तु ये कथाएँ व्रतविशेष से सम्बद्ध न हो कर साहसिक राजकुमारों तथा सौदागरो की कहानियाँ हैं, जिन में संकटो को पार कर कंचन-कामिनी एवं अतुल वैभव प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से अपभ्रंश की जि० क० और सि० क० में समानता लक्षित होती है। वस्तुत. संकट-निवारण के लिए व्रत-उपवास का पालन करना भारतीय जीवन की चिर प्रचलित लोक-रूढ़ि है। अतएव लोक-कथाओ मे उस का निर्देश होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार किसी उजाड़ नगरी या गन्धर्वों के देश में अथवा पातालपुरी में किसी बहुत सुन्दर राजकुमारी का अकेला रहना और नायक का साहसिक कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करने या प्राप्त हो जाने की घटना का भी लोक-कथाओ तथा भ० क० में वर्णन है। बंगला की 'घुमन्तपुरी' नामक दादी की सुनायी हुई कहानी ऐसी ही है, जिस में एक राजा का पुत्र माता के बार-बार मना करने पर भी पिता की आज्ञा से देश-भ्रमण के लिए निकल पडता है और निर्जन एव नि:शब्द वन में किसी राजभवन में पहुँच जाता है। भ० क० की भाँति उस नगरी को भी राक्षसो ने उजाड दी थी।[2] न जाने क्यो राजकुमारी को छोड कर राक्षसो ने सब का प्राणान्त कर दिया था। अन्त में राजकुमार राजकन्या को प्राणान्तक नीद से जगा कर, बुद्धिबल से राक्षसों का अन्त कर देता है। मूल रूप में अपभ्रंश की ये कथाएँ छोटी-छोटी लोक-कहानियाँ हैं, जिन में मुख्य घटनाओ तथा लोकवार्त्ताओ में अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त की कथा की कई घटनाएँ अलग-अलग कहानियो में तथा स्वतन्त्र कहानी के रूप में मिलती हैं। 'कथासरित्सागर' में वर्णित विदूषक-ब्राह्मण की कथा और जिनदत्त की कथा में मूलभूत कोई अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। जि० क० की पूर्वार्द्ध की घटना मित्रो के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जिनदत्त का जाना और वहाँ पुतली के रूप को देख कर मोहित हो जाना तथा उसी कुमारी से विवाह करने का उल्लेख

---

१ स० दक्षिणारंजनमित्र ठाकुरमारझुलि, बांगला रूपकथा, बगाब्द १३५६, पृ० १६।
२ वही, पृ० ६६।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित' में भी मिलता है।[1] वस्तुत चित्र या मूर्ति को देख कर मोहित होने का उल्लेख प्राकृत तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ है। इस कहानी (कथा) का साहित्यिक रूपान्तर इस प्रकार है—

कथासरित्सागर	जिनदत्तकथा
१. भद्रा को ढूँढता हुआ विदूषक पौण्ड्रवर्धन नामक नगर में पहुँच कर किसी वुढिया के यहाँ शरण लेता है। वह अपनी उदासी एवं व्यथा का कारण उसे सुनाती है।	१. जिनदत्त सागरदत्त तथा व्यवसायियो के साथ सिंहलद्वीप में पहुँचने पर मालिन के यहाँ जा कर रुकता है। वह अपनी व्यथापूर्ण कहानी कहती है।
२. इस नगर के राजा देवसेन की दु.खलब्धिका नाम की अत्यन्त रूपवती कन्या है। कच्छपदेश के राजा से उस का विवाह हुआ था। किन्तु घर में प्रवेश करते ही वह तथा एक अन्य राजा मर गया। तव से कोई राजकुमार उस से विवाह करने के लिए तैयार नही होता। राजा की आज्ञा से उस के शयनागार में प्रतिदिन एक ब्राह्मण या क्षत्रिय पुरुष भेजा जाता है। आज मेरे वेटे की पारी है। उस के मरने पर मैं भी प्रात काल आग में जल मरूँगी। इसलिए मैं तुम्हें सारा घर दान मे दे रही हूँ।	२. मालिन कहती है—इस नगर के राजा घनवाहन की रानी विजया की श्रीमती नामक अत्यन्त सुन्दर कन्या है। रात में जो भी उस के पास रहता है उसे वह विष की पत्ती की भाँति खा जाती है। राजाज्ञा से उस की रक्षा के लिए प्रतिदिन एक मनुष्य भेजा जाता है। मेरे एक ही पुत्र है उस की आज पारी है। इसलिए मैं रो रही हूँ।
३ विदूपक राजकन्या के पास रात भर पहरा देता है और राक्षस की भुजा काट कर अपनी वीरता का परिचय देता है। राजा कटी हुई भुजा देख कर प्रसन्न हो विदूपक के साथ राजकुमारी का विवाह कर देता है।	३ मालिन के वेटे के वदले जिनदत्त राजकुमारी के महल मे पहरा देता है और आधी रात में कुमारी के मुख से निकलते हुए भुजग को देख कर सावधानी से प्रहार कर मौत के घाट उतार देता है। राजा अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त के साथ कर देता है।

---

[1] अगरचन्द नाहटा "क्या राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है।", नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अक १, स० २०११, पृ० ४३।

४. विदूषक एक रात चुपचाप उठ कर ताम्रलिती चला जाता है। वहाँ स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता कर उस के जहाज पर यात्रा करता है। बीच समुद्र मे फँसे हुए जहाज को विदूषक चला देता है। स्कन्ददास घोषणा के अनुसार सम्पत्ति का आधा भाग और कन्या नही देना चाहता है। और धन के लोभ से विदूषक के शरीर में बँधी हुई रस्सी को काट कर समुद्र में गिरा देता है। किन्तु कटे हुए पुरुष की जाँघ के सहारे समुद्र पार कर वह समीपवर्ती कर्कोटक नगर की राजकन्यासे विवाह कर आगे बढ जाता है।

४. जि० क० में पूर्वार्द्ध में जिनदत्त एक उद्यान में सागरदत्त से मिलता है। सागरदत्त अनफूले बगीचे को अपने चमत्कार से प्रफुल्लित कर देने के उपलक्ष्य में जिनदत्त को धर्मपुत्र बना लेता है।

५. भद्रा को ढूंढ़ निकालता है और उस के साथ सुखोपभोग करता है।

५. सिंहलद्वीप से लौटने पर सागरदत्त मोती-रत्न आदि सम्पत्ति तथा राजकन्या के लोभ से जिनदत्त को छल पूर्वक समुद्र में उतार देता है। निमित्तज्ञानी के कथनानुसार विद्याधर वहाँ आते हैं और समुद्र पार करते हुए जिनदत्त को विमान में बैठा कर ले जाते हैं तथा विद्याधर-कन्या का विवाह उस के साथ कर देते हैं। जिनदत्त सभी पत्नियो को साथ में ले कर अपने घर जाता है और वसन्तपुर में राज्य करता है।

वस्तुत' यह घटना ज्यो की त्यो श्रीपालकथा अथवा सिद्धचक्रकथा से मिलती-जुलती है। श्रीपाल का वत्स नगर जाना, सार्थवाह धवलसेठ के अटके हुए जहाजो को चलाना। सेठ का वायदे के अनुसार श्रीपाल को धन न देना, तथा धन और स्त्री के लोभ में श्रीपाल को समुद्र में गिरा देना, किन्तु मन्त्र के तथा देवी के प्रभाव से सुन्दर नगर में पहुँचना और निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार राजा की कन्या से विवाह हो जाना, आदि।

विलासवतीकथा का लोक-रूप

अपभ्रंश की लगभग सभी कथाएँ लोक-जीवन में घुली-मिली मिलती हैं। ये कथाएँ केवल भारतवर्ष में ही नही इजिप्ट, मिश्र, चीन, रूस और जर्मन आदि देशो में भी लोक-कथाओ के रूप में प्रचलित हैं। देश-देशान्तरो में भ्रमण करने से कही-कही रूप में तथा घटनाओ मे अन्तर आ गया है, नाम भी बदल गये है, पर मूल रूप में उन का उद्देश्य तथा अभिप्राय आज भी ज्यो का त्यो सुरक्षित हैं। विलासवती की कथा भी ऐसी ही एक प्रेमकथा है, जो रूपान्तरो के साथ देश-विदेश में प्रचरित एव प्रचलित रही है।

हिन्दी के प्रेमाख्यान तथा अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक कथाकाव्यो में वस्तुविषयक यह सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है कि राजकुमारी किसी राजकुमार को वातायन में से देख कर उस पर रीझ जाती है। पहली बार दोनो उद्यान मे नियत समय पर मिलते हैं। एक दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर प्रेम-पाश में बँध जाते हैं। धीरे-धीरे प्रेमांकुर स्फुट होने लगता है। दासी या मालिन दोनो की सहायता करती है। किन्तु दोनो के समागम होने के पूर्व ही ऐसी कोई विघ्न-बाधा आ पहुँचती है कि दोनो बिछुड जाते हैं। दोनो को समुद्र यात्रा करनी पडती है। जहाज के डूब जाने पर नायक काष्ठ-फलक के सहारे समुद्र पार करता है। अपनी प्रेमिका से मिलने में उसे कई प्रकार के संकटो का सामना करना पडता है। और बडी कठिनाई से अन्त में जा कर दोनो का मिलन होता है। किन्तु प्रेमिका का कुछ समय बाद ही हरण होता है और नायक को युद्ध कर उसे जीत कर लाना पडता है। इस प्रकार समूचा कथानक राजकुमार के साहसिक कार्यों से तथा विपत्तियो से भरा हुआ रहता है। अनेक संकटो को पार करने के बाद ही राजकुमार अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है।

इस प्रकार की प्रेमकथाओ मे दुखहरनदास की 'पुहुपावती' महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यान है, जिस में राजकुमार और पुहुपावती की प्रेमकथा वर्णित है। सक्षेप में कथासार इस प्रकार है[1]—

राजापुर देश के प्रजापति नामक राजा के एक सुन्दर राजकुमार था। जन्म के समय ही ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि यह बीस वर्ष की अवस्था में योगी बन कर सुन्दर राजकुमारी का वरण कर कई देशो के राजाओ को जीतेगा। बीसवें वर्ष में राजकुमार ने पिता से युद्ध की आज्ञा माँगी, किन्तु उनके मना करने पर असन्तुष्ट हो कर वह अनूपगढ पहुँच गया। वहाँ के राजा अम्बरसेन तथा रानी वसुधा के पुहुपावती नाम की अत्यन्त रूपवती राजकन्या थी। एक दिन राजकुमार योगी के वेश मे राजमहल के कोट के निकट से जा रहा था। पुहुपावती अपनी खिडकी में से उस के रूप को देख

---

१ रामचन्द्र तिवारी 'हिन्दी-प्रेमाख्यानों की परम्परा में एक नवीन प्रयोग', हिन्दी-अनुशीलन वर्ष ६, अक १-४, पृ० ४६-५१।

कर मोहित हो गयी। राजकुमार भी उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उद्यान में चिन्ता पूर्वक बैठ गया। पुहुपावती ने मालिन को दूती बना कर राजकुमार के पास भेजा। दोनो प्रेम-साधना में रत हो गये। दूती के प्रयत्न से दोनो का मिलन हुआ। किन्तु यह प्रतिज्ञा की कि जब तक विवाह न हो जायगा तब तक समागम नही करेंगे।

एक दिन राजा अम्बरसेन के साथ राजकुमार शिकार खेलने गया। बीहड़ वन में वह बिछुड़ कर मार्ग भटक गया। राजकुमार सिंहलद्वीप जा पहुँचा। राजकुमार का मामा उसे ढूँढता हुआ सिंहलद्वीप में पहुँच कर कुमार को लौटा लाया। उस के पिता ने राजकुमार का विवाह काशीनरेश की पुत्री चित्रसेनी से कर दिया। किन्तु कुमार पुहुपावती को न भूल सका। पुहुपावती ने दूती को राजापुर भेजा। वह राजकुमार को साथ मे लिवा कर चल दी। मार्ग में धर्मपुर नगर में राजकुमार को दानव हर ले गया। दानव सात समुद्र के बेगमपुर के बेगमराय की पुत्री रंगीली से राजकुमार का विवाह करा देता है। किन्तु अवसर पा कर वह रंगीली को साथ ले कर अनूपगढ़ के लिए चल देता है। मार्ग में दोनो वियुक्त हो जाते हैं। रंगीली की पार्वती सहायता करती हैं। उधर भटकते हुए राजकुमार को धर्मपुर मे स्थित दूती सहायता प्रदान कर उसे अनूपगढ लिवा जाती है।

एक दिन राजकुमार पुहुपावती को साथ में ले कर राजापुर के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में उज्जैन का राजा रोठगँवार मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता है। दोनो मे युद्ध होता है। राजकुमार की विजय होती है। राजापुर पहुँचने पर कुमार का विधिवत् राजतिलक होता है। सुखपूर्वक राजसुख का उपभोग करते हैं। भगवान् राजकुमार की कीर्ति को सुन कर परीक्षा के लिए आते हैं। राजकुमार दान के रूप मे पुहुपावती को देने के लिए तैयार हो जाता है। इस महान् त्याग को देख कर चतुर्भुज भगवान् अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं।

कथागत साम्य

विलासवती और पुहुपावती दोनो के ही कथानक में कई बातें समान हैं, जो निम्न-लिखित हैं—

(१) राजकुमार के उत्पन्न होने पर ज्योतिषी का भविष्यवाणी करना। वि० क० मे सनत्कुमार के विद्याधरो के राजा बनने की भविष्यवाणी है और पुहुपावती मे रूपवती राजकन्या तथा राजा से युद्ध करने और विजय लाभ की घोषणा है।

(२) दोनो ही कथाओ में राजकुमारी राजकुमार को वातायन में से देख कर मोहित होती है। विलासवती तो प्रेमोपहार में मौलश्री की गूँथी हुई माला राजकुमार के ऊपर गिराती है। दोनों ही अपनी-अपनी दूती भेज कर उद्यान में पहली बार राजकुमार से मिलती हैं। मिलने का यह उपक्रम नायिका की ओर से होता है।

(३) दूती की सहायता से राजकन्याएँ बराबर प्रेमोपहार भेजती रहती है और एक-दूसरे से मिल भी लेती हैं। किन्तु विवाह किये बिना समागम नही करती। नायक इस के लिए तैयार नही होता। दोनो इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) प्रेम की रस-दशा में पहुँचने तथा विवाह की तैयारी के पूर्व ही नायक नायिका से वियुक्त हो सिंहलद्वीप की यात्रा करता है। वि० क० में इस यात्रा का कारण राजा-रानी का लांछन कहा गया है और पुहुपावती में मृगया मे भटक जाने से राजकुमार उस द्वीप मे जा पहुँचता है। पोत भग्न होने पर नव दम्पति-युगल बिछुड जाता है और देवी की कृपा से अन्त मे मिल जाते हैं।

(५) नायक-नायिका का विवाह हो जाने पर वि० क० मे विलासवती का हरण बताया गया है और पुहुपावती मे हरने की तैयारी। अभिप्राय यह है कि दोनो में नायिका की सरक्षा के लिए नायक को युद्ध करना पडता है और किसी अतिलौकिक शक्ति के बल से वे उस बडे युद्ध में विजय-लाभ करते हैं।

वि० क० में नायक के वियुक्त हो जाने पर स्वयं विलासवती उस की खोज में निकल पडती है। किन्तु पुहुपावती मे दूती नायक को ढूँढ कर लाती है। यह दोनो में विशेष अन्तर है। इस के अतिरिक्त राजकुमार चित्रसेनी और रंगीली से भी विवाह करता है, किन्तु वि० क० में केवल विलासवती से विवाह का वर्णन है। जि० क० और सि० क० में अवश्य नायक कई विवाह करते हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार की अधिकतर कथाएँ काल्पनिक जान पडती है। इन मे लोक-जीवन में व्याप्त प्रेम की महत्ता तथा सच्चे प्रेम के निर्वाह में विपत्तियो का यथोचित निर्देश हुआ है। प्रेमकथा की सामान्य विशेषता है—चित्र, मूर्ति या प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा नायक-नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उसे पाने की चेष्टा करना। किसी-किसी कथा में स्वप्न में किसी सुन्दरी के रूप से आकर्षित हो उसे पाने का प्रयत्न उल्लिखित है। वस्तुत. इन कथाओ की वस्तु-योजना दो रूपो में मिलती है। पहले के अनुसार नायक या नायिका की खोज कर प्राप्ति का सामान्य वर्णन है। जि० क० में चित्रकार को बुला कर सेठ कुमारी के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करता है और सुन्दरी के पिता के पास उसे भेजता है। किन्तु इस प्रकार एक-दो, चार या आठ विवाह करने में विशेष कोई चमत्कार लक्षित नही होता। किन्तु प्रेम का जो बीज धीरे-धीरे भूमि में जड़ जमा कर विकसित होता है और आँधी-तूफानो को भी झेल कर जो अटल और अचल खडा रहता है वस्तुत विशेष महत्त्व उसी का है। यथार्थ में वि० क० दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक कोटि की रचना है, जिस में दु ख, संकट, विरह की तपन एवं ऊष्मा सह लेने के बाद सुख, शान्ति, शीतलता तथा बरसात की वास्तविक नमी की तरावट है, जो जीवन को अधिक समय तक सक्षम बनाने मे समर्थता व्यक्त करती है। नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' भी इस से कुछ-कुछ मिलती हुई रचना है, जिस में अनेक कठिनाइयो के पश्चात् राजकुँअर समुद्र से प्रणमोती निकालने में सफल होता है और फलस्वरूप

इन्द्रावती से उस का विवाह होता है। यदि इन कथाओ को ध्यान से देखा जाय तो विलासवती, इन्द्रावती और पुहुपावती आदि राजकुमारी झरोखे मे से राजकुमार को देख कर ही कामासक्त हो जाती हैं और दासी आदि की सहायता से मिलने का उपाय ढूँढ निकालती है और मिलन भी हो जाता है; किन्तु प्रायः सभी लेखको ने किसी न किसी वहाने से सभी राजकुमारो की समुद्र-यात्रा और विशेष कर सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन किया है।

श्रीपालकथा का लोक-रूप

व्रज की लोक-कहानियो में भाग्य की प्रधानता प्रदर्शक कई कहानियाँ है, जिन में किसी राजा की सात कन्याओ में से सब से छोटी पुत्री के यह कहने पर कि 'मै अपने भाग्य का खाती हूँ' राजा उस का विवाह अत्यन्त असमर्थ अथवा कुष्ठगलित किसी व्यक्ति से कर देता है। किन्तु राजकुमारी रोग का कारण जान कर सेवा-शुश्रूषा से अपने पति का रोग-निवारण कर लेती है। अन्त में उस का पति पिता के समान ही वैभवशाली वन जाता है।[1] गाँवो में यह कहानी लकडहारे के रूप में सुनी जाती है। राजा छोटी राजकुमारी से चिढ कर उस का विवाह किसी लकड़हारे से कर देता है। किन्तु धीरे-धीरे वह सम्पन्न हो जाता है और जंगल में राजमहल वनवा लेता है। समय के फेर से राजा दरिद्री हो जाता है और अन्त में भिखारी बन कर कन्या के दरवाज़े पर पहुँचता है। श्रीपालकथा में अन्तिम घटना को कम्वल और कुल्हाडी ले कर राजा को वुलाने में यही लोकतत्त्व लक्षित होता है, जिसे कथानक के अनुसार कुछ वदल दिया गया है। इस प्रकार की कहानियो में कथा का मुख्य अभिप्राय एक ही है कि 'होनी होय सो होय'।

वुन्देली और अवधी लोक-कहानियो मे भी भाग्य से सम्वन्धित कई कहानियाँ मिलती हैं। इन कहानियो में राजा सात पुत्रियो में से सब से छोटी लडकी का विवाह 'अपने भाग्य की कमाई खाते हैं' कहने पर कोढी के साथ कर देता हैं। कोढी व्यक्ति शापित गन्धर्व रहता है। अतएव विवाह होते ही उस का कोढ अच्छा हो जाता है। अन्त मे इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उस के लिए राजमहल वनाता है और वह उस महल मे सुखी जीवन विताता हैं।[2] इसी प्रकार इस से मिलती-जुलती कई कहानियाँ मिलती हैं। एक भोजपुरी कहानी में कोई स्त्री कोढी पति की सेवा कर देवता के वर-दान से अनेक वर्षो के उपरान्त उस के शरीर में चुभे हुए हजारो काँटो को अलग कर रोग से मुक्त करती है।[3] इस प्रकार इन सभी कहानियो में पत्नी सेवा के वल पर अपने

---

१. डॉ० सत्येन्द्र व्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६६।

२ डॉ० गगाचरण त्रिपाठी अवधी, व्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० १४०।

३ डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।

पति का रोग-निवारण करती हुई दिखाई देती है। अतएव कर्म या भाग्य की प्रधानता मुख्यरूप से इन सब लोक-कहानियों में व्याप्त है।

कथा-मानक-रूप

अपभ्रंश के कथाकाव्यो में प्रयुक्त लगभग सभी कथाएँ छोटी-छोटी कई सरल कहानियो से मिल कर बनी है, जो उपवाक्यों की भाँति मुख्य वाक्य से जुडी हुई लक्षित होती हैं। ये कथाएँ सामान्य पशु-पक्षी या मनोरंजन की कहानियाँ न हो कर अभिप्राय गर्भित लोककथाएँ है, जिन में व्रत तथा अनुष्ठान के अंग सोद्देश्य नियोजित है। किन्तु मूल रूप मे ये ही कथाएँ देश-विदेशो में पात्रो के नाम, स्थान और क्षेत्रीय भिन्नता के साथ कई रूपो में प्रचलित रही है। अतएव विभिन्न कहानियो के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रारम्भिक कथा का सामान्य रूप सरलता से निश्चित किया जा सकता है। वस्तुतः कथा-मानक की प्रणाली से छोटी वडी सभी प्रकार की कहानियो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष से ही कथाओ की वास्तविकता की पहचान हो सकती है। इस लिए कथा के मानक रूपो का निर्धारण करना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है।

एक ही कहानी युग-युगो तक विभिन्न देशो में निर्गमन करती हुई विविध रूपान्तरो के साथ आज भी हमे सुनने को मिल सकती है। प्रत्येक देश के रीति-रिवाज तथा सामान्य विश्वास इन कहानियो में तथा कथाओ में भलीभाँति निहित रहते हैं। अतएव उन के मूल रूपो को ढूँढ निकालना अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। कथा-मानक-रूपो के निर्वारित हो जाने पर सरलता से उस के मूल तक पहुँच सकते हैं। और इसी लिए कहानी के अध्ययन में उस के मूल रूप को पहचानने तथा समझने के लिए कथा के मानक रूपो का अत्यन्त महत्त्व है।

यथार्थ मे कथा-मानक-रूप विभिन्न कथाओ में निहित वह अन्तर्राष्ट्रीय रूप होता है, जो सामान्य रूप से कई कहानियो में समान रूप से निवद्ध लक्षित होता है। क्योकि क्षेत्रीय तथा जातीय भिन्नता के कारण विभिन्न देशो की भाषा, साहित्य और संस्कृति में मौलिक अन्तर होने पर भी उन में कुछ ऐसे सामाजिक सस्कार तथा सामान्य विश्वास युग-युगो से प्रचलित रहे है, जो सर्वव्यापक तो नही पर अधिकतर देशो में सर्वमान्य रहे है। इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा जनपदीय ही नही देश-विदेशो की लोक-सस्कृति तथा लोक-रूढियो का पता लगता है। इतिहास और भूगोल जहाँ हमें विभिन्न सस्कृतियो के उदय और विकास की कहानी समझाता है, वही कथा के मानकरूप लोकगत सामान्य विश्वासो का विश्लेषण कर किसी भी देश की सस्कृति और सभ्यता का प्राचीनतम ऐतिहासिक या भौगोलिक रूप का विचार कर निष्कर्ष रूप में सामान्य भाव-भूमि को निर्धारित करते हैं। यही इन की सब से बड़ी विशेषता है।

उक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही कई विद्वान् यह मत निश्चित कर सके हैं कि कहानियो का वास्तविक जन्म भारतवर्ष मे आर्यवश से हुआ है।[1]

अकेली भ० क० मे निम्नलिखित कथा मानक-रूप हो सकते है—

१—सौतेला भाई

१. दो भाई व्यापार करने के लिए जहाज पर बैठ कर यात्रा करते हैं। माता की सीख से सौतेला भाई बडे भाई को मार्ग में किसी निर्जन द्वीप में छोड़ कर आगे बढ़ जाता है।
२. बड़ा भाई सकट में पड जाता है। घने जंगल में हो कर वह उजाड नगरी मे पहुँचता है। वहाँ राक्षस के अधीन किसी सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है।
३. लौटते समय छोटे भाई से भेंट हो जाती हैं। वह छल से फिर उसे निर्जन द्वीप मे छोड़ कर भाई की पत्नी के साथ घर आ कर विवाह रचता है।
४. बड़ा भाई राजा के पास पहुँचता है। छल का रहस्य खुल जाता है।

बंगला कथाओ में से 'घुमन्तपुरी' और 'कलावती राजकन्या' का कुछ-कुछ अंश इस कथा से मिलता-जुलता है। घुमन्तपुरी में उक्त भ० क० की भाँति माँ के मना करने पर पिता की आज्ञा से एक राजकुमार बीहड वन में अकेला चल देता है। जंगल में उसे एक उजाड नगरी तथा राजमहल दिखाई देता है। उस में सोती हुई राजकुमारी मिलती है। राजकुमार उसे मरणान्तक नीद से जगा देता है। दोनो का विवाह हो जाता है। 'कलावती राजकन्या' मे सौतेले भाइयो की कहानी है। छोटे भाई कलावती के देश से उसे प्राप्त कर लाते हैं। किन्तु मार्ग में बडे भाई उन्हें समुद्र मे गिरा देते हैं और घर पहुँच कर ब्याह की तैयारियाँ करते है। इतने में छोटे भाई पहुँच जाते हैं और छल-कपट का भेद खुल जाता है।

राक्षस या राक्षसिन के अधिकार में राजकुमारी के रहने का वर्णन अनेक कहानियो में मिलता है। 'सोनेर काटी रूपार काटी' नामक बंगला कथा मे राक्षसिन के अधिकार में राजकुमारी का विवरण है। इसी प्रकार 'पातालपुरी' नाम की बंगला लोक-कथा में शून्य (उजाड) नगरी और उस मे राजमहल मे राक्षसिन के अधीन रहने वाली राजकुमारी का वर्णन है। 'एण्ड्रोमीडा' में सर्प के रूप मे दैत्य का देश उजाड़ना वर्णित है। वह राजकुमारी को अपने वश में इसलिए रखता है कि वह उस से विवाह करना चाहता है। अपभ्रंश की इस कथा मे व्रज की कहानियो की भाँति सर्प-दैत्य का राजकुमारी से विवाह करने की चाहना का उल्लेख नही है।[2] किन्तु इस प्रकार की अन्य

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।
२ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २४१।

कथाओं में राक्षस से युद्ध कर उस के अधीन राजकुमारी से नायक के विवाह करने की घटना का उल्लेख मिलता है।

५—लोभी वणिक्

१. एक धनी-मानी सेठ धन कमाने की इच्छा से समुद्र की यात्रा करता है। किन्तु समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज टस से मस नही होता तो किसी राजकुमार को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है।
२. राजकुमार जहाज चला देता है और साथ ले चलने की अपनी इच्छा प्रकट करता है। वणिक् सेठ इस लोभ से कि इस को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ न देनी पड़े कुमार को धर्मपुत्र के रूप में मान कर साथ में ले जाता है।
३ लौटते समय राजकुमार की नई वहू के रूप को देख कर तथा साथ में अतुल धन-राशि को देख कर वणिक् राजकुमार को समुद्र में गिरा देता है।

'कथासरित्सागर' में भी 'विदूषक-ब्राह्मण' कथा के अन्तर्गत विदूषक ताम्रलिप्ती नगरी में पहुँच कर स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता करता है और उस के फँसे हुए जहाज को सम्पत्ति के आधे भाग और कन्या के विवाह के वदले पुरस्कार स्वरूप चला देने में समर्थ होता है। किन्तु वनिया धन के लोभ से उसे समुद्र मे गिरा देता है।[1] अपभ्रंश, प्राकृत तथा अन्य लोक-कथाओ में यह वृत्त सामान्य है। 'ढोला' में मोतिनी के लालच में सेठ मामाओ के द्वारा नल को समुद्र में गिरा देने का उल्लेख है।

६—सहस्रकूट चैत्यालय का फाटक खोलना

१ एक राजकुमार पाँच सौ पोतो के साथ समुद्र की यात्रा के लिए चल पडता है।
२. किसी अच्छे द्वीप (हंस या रत्न) में जा कर जहाज रुकते हैं। राजकुमार जिन मन्दिर में देव-दर्शन के लिए जाता है। किन्तु सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को वन्द देख कर ठिठक जाता है।
३. द्वारपाल के वताने पर वह फाटक को छूता है। हाथ लगाते ही फाटक खुल जाता है। इस वृत्त को जान कर राजा अपनी कन्या का विवाह राजकुमार के साथ कर देता है।

ढोला में भी भौमासुर दाने के महलो की शिला सरकाता है।[3] इसी प्रकार भ० क० में भविष्यदत्त के धक्का देने पर वर्षों से वन्द पडा हुआ मन्दिर खुल जाता है। और भी अन्य जैन कथाओ में हाथ लगाते ही मन्दिर के खुल जाने का वृत्त मिलता है।

---

१ प० केदारनाथ शर्मा कथासरित्सागर, प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद सहित, मूल लेखक महाकवि सोमदेव भट्ट, तृतीय लम्बक।
२ डॉ० सत्येन्द्र ब्रज लोक-सा[illegible]तृ, पृ० ४५०।
३ वही, पृ० ४५०। तथा-मध्य [illegible]त्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

सि० क० या श्रीपाल कथा में निम्नलिखित कथा के मानकरूप कहे जा सकते है। यथा—

१—करम वड़ो संसार में

१. एक पिता की दो पुत्रियाँ हैं। पिता राजा है। उन की योग्यता की परीक्षा लेता है। वडी पिता को और छोटी कर्म को वडा वताती है। राजा छोटी वेटी पर क्रुद्ध हो कर उस का विवाह कोढी से कर देता है।

२. कोढी का रोग दूर हो जाता है। वह अत्यन्त प्रतापी राजा वनता है।

३. दामाद ससुर को अपने प्रताप तथा वैभव से चमत्कृत कर देता है। वह कर्म का माहात्म्य स्वीकार कर लेता है।

श्वेताम्वर-साहित्य में श्रीपाल की कथा मे वडी पुत्री का संकटो में पड कर छोटी पुत्री यानी वहन के शरण मे आने का उल्लेख भी मिलता है। 'लीयर' में छोटी पुत्री के विशेष प्रेम प्रकाशित न करने पर पिता उसे अपने घर से निकाल देता है। शेक्सपियर के 'किंगलियर' नाटक में भी इस का उल्लेख है। वस्तुत. राजा का भूल स्वीकार करना और पुत्री के सम्मान करने की वात कई कहानियो मे मिलती है।[1] इजिप्ट देश की कथा में भी 'भाग्य विपयक' कहानी 'द स्टार ऑव इसिस' नाम से मिलती है जिस में देवी के प्रसाद से भाग्योदय वतलाया गया है।[2] वुन्देली और अवधी में भाग्य से सम्वन्धित कई कहानियाँ मिलती है। अवधी, व्रज और भोजपुरी लोक-साहित्य में पुत्रियो के प्रेम की परीक्षा में सव से छोटी पुत्री को देश से निकालने का चित्रण है।[3] किसी-किसी कहानी में कोढी से विवाह करने का भी उल्लेख मिलता है। कोढ़ी अथवा लुंज या अंगहीन से विवाह होने का वृत्त देश-विदेश में अनेक कहानियों में है।[4]

२—असाध्य रोग से मुक्ति

१ किसी कन्या का पति कुष्ठ रोग से पीड़ित है। विवाह होने पर पति पत्नी को पास में आने से रोकता है, पर वह नही मानती।

२ मन्त्र पूर्वक व्रत-विधान के पालन से तथा रात-दिन सेवा-शुश्रूषा करने से वह पति को निरोग वना लेती है।

३ कुष्ठ रोग दूर होने पर पति का भाग्य चमक उठता है।

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२८।

२ आफ्टरमाथ ए सप्लेण्ट टु द गोल्डन वाउ, पृ० ३६०।

३ डॉ० गगाचरण त्रिपाठी अवधी, व्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित), पृ० १८५।

४ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

बुन्देल और अवधी कहानियो मे किसी राजा की सात पुत्रियो का वृत्तान्त मिलता है। सब से छोटी लडकी का विवाह कोढी के साथ होता है। व्यक्ति शापित गन्धर्व होता है। अतएव विवाह होते ही कोढ दूर हो जाता है और इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उन दोनो के लिए राजमहल बना देता है।[1] अपभ्रंश की उक्त कथा में कुमार शापित तो नही है, पर दैवी शक्तियो की सहायता से ही उस का अभ्युदय होता है। भोजपुरी कहानी में भी कोई स्त्री अपने कोढी पति की सेवा कर देवता के वरदान से अनेक वर्षों के उपरान्त उस के शरीर में चुभे हुए हजारो काँटो को अलग कर उसे रोग से मुक्त करती है।[2] सम्बुल जातक में भी स्वामी एवं पतिभक्त पत्नी के द्वारा पति के कोढ को दूर करने का उल्लेख है।[3]

३—अटके हुए जहाज को चलाना

१. एक कुमार वाणिज्य-यात्रा के लिए जाता है। मार्ग में एक नगर मे ठहरता है।
२. किसी सार्थवाह के जहाज तभी समुद्री द्वीपो की यात्रा के लिए सजते हैं। सार्थवाह प्रस्थान करता है, पर जहाज अटक जाता है।
३. मनुष्य की बलि के लिए परदेशी कुमार को राजा की आज्ञा से पकड लिया जाता है। कुमार मन्त्र की शक्ति से जहाज चला देता है।

ब्रज की कई कहानियों में अटके हुए जहाज को चला देने का उल्लेख मिलता है।[4] कथासरित्सागर में भी विदूषक द्वारा फँसे हुए जहाज को चलाने का उल्लेख है।[5]

४—डाकुओ से मुठभेड़

१. कोई कुमार सार्थवाह-सघ के साथ समुद्री यात्रा करने के लिए चल पड़ता है।
२ किसी समुद्री-तट पर एक लाख डाकू मिल कर पीछा करते हैं और सार्थवाहो के मुखिया को पकड लेते हैं।
३ सार्थवाहो का अधिपति लोभ से डाकुओ के हवाले खुद चला जाता है। वे उसे बाँध कर पेड से कस देते हैं।

---

१ डॉ० गगाचरण त्रिपाठी अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित प्रबन्ध), पृ० १४७।
२ डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।
३ स० प्रो० ई० बी० कावेल द जातक आर स्टोरीज ऑव द बुद्धाज फार्मर बर्थ् स, पाँचवीं जिल्द, पृ० ४८।
४ डॉ० सत्येन्द्र ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४५०।
५ प० केदारनाथ शर्मा कथासरित्सागर, हिन्दी अनुवाद सहित, प्रथम खण्ड, तृतीय लम्बक के अन्तर्गत 'विदूषक-ब्राह्मण' की कथा।

४ कुमार इस वृत्तान्त को सुन कर डाकुओ को ललकारता है और डट कर उन का सामना करता है। सब डाकू लोग उस के पैरो पर गिरते हैं।

डाकुओ से समुद्र-यात्रा करते समय मुठभेड होने का वृत्त कई जातक कथाओं में मिलता है। डॉ० सत्येन्द्र ने दूसरे प्रसंग में संकट काल में डाकुओ से मुठभेड होने का उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार इस वृत्त को अन्य लोक-कहानियो में भी ढूँढा जा सकता है।

जि० क० के कथा मानक-रूप इस प्रकार हैं—

१—पुतली-दर्शन से प्रेम

१. एक वणिक् पुत्र एक दिन अष्टाह्निका के दिनो मे किसी चैत्यालय की वन्दना करने के लिए मित्रो के साथ जाता है।
२. चैत्यालय के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण पुतलियो के रूप को देख कर किसी एक पुतली पर मोहित हो जाता है। घर में आ कर काम की दशों अवस्थाएँ क्रमश. प्रकट होने लगती हैं।
३. वणिक् सेठ चित्रकार को बुला कर उस कन्या के पिता के पास उसे भेजता है। दोनो का विवाह हो जाता है।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित्र' में भी राजपुत्र चित्रसेन का मन्त्रीपुत्र रत्नसार के साथ अष्टाह्निका में ऋषभदेव के मन्दिर मे किन्नरियो का गान सुनने और पुत्तलिका के रूप पर मोहित हो जाने का वृत्त मिलता है।[2] चित्र-दर्शन और मूर्तिदर्शन से प्रेम होने का वृत्त अन्य कहानियो में भी ढूँढा जा सकता है। सूफी कहानियों में स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन से सम्बन्वित कई कहानियाँ मिलती हैं।

२—जिनदत्त की यात्रा

१ जिनदत्त माता-पिता के मना करने पर भी धन कमाने के लिए घर से बाहर निकल पडता है। पत्नी को ससुराल के नगर के उद्यान में छोड़ कर जड़ी के प्रभाव से अदृश्य हो जाता है। वहाँ से चल कर वह दशपुर के वन में पहुँचता है।
२ वन के सूखे फल-फूलो को हरा-भरा कर देने से वणिक् समुद्रदत्त जिनदत्त को अपना धर्म-पुत्र बना लेता है। वह उसे अपने नगर मे ले जाता है।
३ नगर की स्त्रियाँ जिनदत्त के रूप-सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो जाती हैं। जादू की वस्तुओं में कई चीजो का उल्लेख अनेक कहानियो में मिलता है। स्टिथ थॉमसन ने ऐसी अनेक वस्तुओ का निर्देश किया है।[3]

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०८।

२ अगरचन्द नाहटा 'क्या राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है?", नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अक १, पृ० ५३।

३ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २५४-२५५।

३—श्रीमती

१. किसी नगर में एक राजकुमारी अकेली महल में रहती थी। रात को जो भी उस के पास रहता था सवेरे वह मरा हुआ मिलता था। इस लिए राजा ने पारी से एक-एक व्यक्ति प्रतिदिन के लिए नियत कर दिया।

२. एक दिन एक वणिक्पुत्र उस नगर में मालिन के यहाँ जा कर ठहरता है। उसी दिन मालिन के पुत्र की वारी होने से वह अत्यन्त विलाप करती है।

३. वणिक्पुत्र बुढिया को समझा कर उस के स्थान पर स्वयं जाता है।

४. वह रात भर राजकुमारी श्रीमती के महल में पहरा देता है। आधी रात को कुमारी के मुँह से निकलने वाले भुजंग को तलवार के वार से मार कर कुमारी के साथ विवाह करता है।

इस प्रकार उक्त कथा में राजकुमारी सर्प के अधीन वर्णित है। किन्तु कथा-सरित्सागर में तथा जगदेव की कथा में सब बाते समान हैं, पर सुन्दरी राक्षस के अधीन है। जगदेव के अन्य वृत्तो में अवश्य एक राजकुमारी के मुँह से रात को नागिन निकलने और एक मनुष्य को रोज डसने का उल्लेख मिलता है।[१] इसी प्रकार बगला 'डालिम-कुमार' कथा के अन्तर्गत ऐसी ही राजकुमारी का वर्णन है, जिस के साथ रोज एक मनुष्य का विवाह होता है और रोज उस के मुँह से निकलने वाला सर्प रात में उसे मार कर खा जाता है। डालिम कुमार सर्प को मार कर राजकुमारी से विवाह करता है।[२]

४—छलिया धर्मपिता

१. एक वणिक्सेठ किसी कुमार को धर्मपुत्र बना कर द्वीपान्तरो की यात्रा करता हुआ सिंहलद्वीप में पहुँचता है।

२. कुमार साहसपूर्ण कार्यों से वहाँ के राजा की पुत्री से विवाह कर लेता है।

३. मार्ग में लौटते समय धर्मपिता कुमार की सुन्दर पत्नी को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। वह छल से कुमार को समुद्र में गिरा देता है।

ब्रज-कहानी में नल अपने दो मामाओ के साथ सोने की गोट की खोज में जहाज से किसी द्वीप की यात्रा करता है। मामा दोनो जहाज पर रहते है। नल मोतिनी से विवाह कर लाता है। मामाओ की दृष्टि बदल जाती है। वे नल को समुद्र में फेक देते हैं।[3] उक्त अपभ्रश-कथा में भी धर्मपिता जहाज पर रह कर समुद्र-तट पर क्रय-विक्रय करता है। बुन्देलखण्डी कथा 'सब से बडा पुण्य कौन' मे भी राजकुमार को

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३४१।
२ स० दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार ठाकुरमारझुलि, पृ० १६४।
३. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य वि[illegible] पृ० २३०।

एक व्यापारी द्वारा समुद्र में फेंक देने तथा महादेवजी के प्रसाद से अपने नगर मे पहुँचने का वृत्त मिलता है। अपभ्रंश कथाओ की भाँति अन्त में राजकुमार सब को क्षमा कर देता है।[1] पाश्चात्य देशो की लोक-कथाओ मे भी वीरता और साहसपूर्ण कार्यों की कहानियाँ मिलती है, जिन मे समुद्र में गिरने और बच कर समुद्र के तट पर आने का वृत्त भी है।[2] वि० क० में भी उक्त वृत्त मिलता है।

५—साहसी कुमार

१. जिनदत्त अपने जीवन में अनेक साहसपूर्ण कार्य करता है।

२. राजकुमारी के मुँह से निकलने वाले सर्प को मारता है। समुद्र मे गिराये जाने पर सूखे लकडी के टुकडे के सहारे समुद्र पार करता है।

३ विद्याधरो के देश में कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है।

अवध में भी साहसी राजकुमारो की कई कथाएँ प्रचलित है, जिन में से एक कहानी में राजकुमार डायन को अपनी तलवार से काट कर उस के अधीन राजकुमारी से विवाह करता है।[3]

६—भविष्यवाणी की संपूर्ति

१ किसी नगर का राजा ज्योतिषी से पूछता है कि इस कन्या का वर कौन होगा? वह बतलाता है कि जो व्यक्ति अपनी भुजाओ से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस का पति होगा।

२ राजा अपने अनुचरो को समुद्र-तट पर नियुक्त कर देता है। एक दिन एक कुमार अपनी भुजाओ से समुद्र पार करता हुआ दिखाई पड़ता है। राजा को सूचना दी जाती है।

३. उन दोनो का विवाह हो जाता है।

इस वृत्त का उल्लेख कथासरित्सागर तथा प्राकृत-अपभ्रंश कथाओ और भारतीय लोक-कथाओ में भी मिलता है।

७—कौतुकी जिनदत्त

१. विद्याधरों के देश में रह कर जिनदत्त कई प्रकार की विद्याएँ सीख लेता है।

२. एक दिन कौतुकवश पत्नी को विमान मे बिठा कर विहार करता हुआ अकृत्रिम चैत्यालयो की जा कर वन्दना करता है।

---

१ शिवसहाय चतुर्वेदी गाँने की विदा, पृ० १२७-२८।
२ स० थॉमस जे० सहान ए बुक ऑव फेमस मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स, १९५४।
३ शिवमूर्ति सिंह वत्स अवध की लोक कथाएँ, भाग २, पृ० ३६।

३. लौटते समय चम्पा नगरी के चैत्यालय मे त्यक्त पत्नियो को देख कर रात वही के वन में विताता है। सुबह होने के पहले ही वह विद्या से रूप बदल कर नगर में चला जाता है।
४. जिनदत्त उस नगर में भी कई कौतुक दिखाता है; जैसे कि—शिला को हँसाना, मदोन्मत्त हाथी को वश में करना, इत्यादि।

मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का वृत्त 'क्षत्रचूडामणि' आदि कई जैन कथाकाव्यो में मिलता है।

८—प्रिय-मिलाप

१. जिनदत्त अपनी पहली पत्नी चम्पा को उपवन में अकेली छोड़ कर अदृश्य हो जाता है, जो निकटवर्ती चैत्यालय में जा कर शरण लेती है।
२. श्रीमती सार्थवाह के साथ चपापुर में पहुँचने पर अवसर पा कर चैत्यालय की ओर पुर के वाहर उद्यान में चली जाती हैं। वहाँ विमलमती से भेट हो जाती है और उसी के साथ रहने लगती है।
३. शृंगारमती को स्वय जिनदत्त विमान में विठा कर वहाँ के उद्यान मे छोड़ देता है। जब सुबह वह विमान और पति को नही देखती है तो विलाप करती है। उस का करुण क्रन्दन सुन कर विमलमती श्रीमती को भेजती है। वह भी उन के साथ में रहने लगती है।

इस प्रकार सब पत्नियो के एक स्थान पर मिलाप होने का वृत्त 'प्रियमेलकतीर्थ' में संकलित कई कहानियो में मिलता है, जिन में वियुक्त पत्नियाँ व्रत, अनुष्ठान कर प्रवसित पति को प्राप्त करती हैं[1]। अन्य भारतीय धार्मिक कथाओ में भी व्रत के परिणामस्वरूप प्रवसित पति को प्राप्त करने का वृत्त मिलता है। वि० क० के कथा मानक-रूप निम्नलिखित हैं—

१—पिता से अपमानित राजकुमार

१. एक दिन कोतवाल कुछ चोरो को पकड कर लिये जा रहा था। चोरो ने राजकुमार को सामने देख कर क्षमा-याचना की। उन के गिडगिडाने पर राजकुमार ने उन्हें मुक्त कर दिया।
२ कोतवाल ने जा कर राजा से शिकायत की कि जनता की राय के विरुद्ध कुँवर ने चोरो को छुडवा दिया। राजा ने आज्ञा दी कि विना कुँवर के जाने चोरो को शूली पर चढा दो।
३ जव राजकुमार को इस घटना का पता चला तव वह पिता से रुष्ट हो कर उस के राज्य की सीमा से वाहर चला गया।

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१४।

उक्त वृत्त पिता से रुष्ट हो कर नगर छोड़ना, दुखहरनदास की 'पुहुपावती' नामक कथा में भी मिलता है।

२—विलासवती का प्रेम

१ एक दिन वसन्त के समय राजकुमार सनत्कुमार मित्र के साथ उद्यान की ओर जा रहा था। विलासवती झरोखे में से॰उस के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो अपने हाथ से गूँथी हुई मौलसिरी की माला उस के ऊपर गिराती है, जो सिर पर गिरती है। मित्र गले में डाल देता है।

२ दोनो वगीचे मे मिलते हैं। परस्पर वार्तालाप होता है।

३. सनत्कुमार परदेश चला जाता है। विलासवती को पता चलता है कि उसे शूली पर चढा दिया गया है तो वह भी आधी रात मे अकेली श्मशान की ओर चल देती है। अनेक संकटो के वाद वह अपने प्रेमी को प्राप्त करती है।

यह प्रेमाख्यानक वृत्त है, जो सूफी तथा प्रेम-कथाओ मे किसी न किसी रूप में मिलता है। इसी का एक अश 'पउमसिरीचरिउ' में है।

३—राजरानी का लांछन

१. किसी राजकुमार को उद्यान में देख कर रानी उस पर रीझ जाती है।

२. राजकुमार उस की पुत्री से प्रेम करता है। एक दिन वह वहाँ से निकलता है तो रानी अपने पास कुँवर को वुलाती है। वह उस के सामने प्रेम-प्रस्ताव रखती है। राजकुमार उसे ठुकरा देता है।

३. राजा के आने पर रानी कुमार पर आरोप लगाती है। राजा कुँवर को शूली पर चढ़ाने का आदेश देता है।

४. चिर काल के पश्चात् रहस्य खुलता है। रानी पश्चात्ताप करती हैं। कुँवर से क्षमा माँगती है।

लाछन लगाने और झूठे पड़ने की कई कहानियाँ लोक मे प्रचलित हैं। किसी-किसी कहानी में अलग-अलग तथा किसी में दोनो वृत्त एक साथ मिलते हैं।

४—जादू की चादर

१ सनत्कुमार ताम्रलिप्ती से चल कर श्रीपुर पहुँचता है। वहाँ उसे अपने नगर का मनोरथदत्त नामक मित्र मिल जाता है।

२ मित्र के यहाँ कई दिनो तक ठहर कर वह सिंहलद्वीप की यात्रा करता है।

३. चलते समय मित्र उसे 'मोहन पट' नाम की जादू की चादर भेंट करता है, जिसे ओढ़ लेने से मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

लोक-कहानियो में चादर, टोपी, खड़ाऊँ आदि ऐसी कई जादू की वस्तुओ के नाम मिलते हैं, जिन के उपयोग से मनुष्य अदृश्य हो सकता था।

५—निर्जन मे सुन्दरी

१. राजकुमार समुद्र की यात्रा में पोत के भग्न हो जाने से किसी निर्जन वन के समुद्रीय तट पर पहुँचता है।
२. उस वन में सहसा किसी सुन्दरी को देख कर उसे आश्चर्य होता है। वह अपनी प्रेमिका में प्रेम व्यक्त करता है।
३. वह सुन्दरी उस की प्रेमिका ही निकलती है।

६—सार्थवाह का धोखा देना

(१) सार्थवाह

१. कोई राजकुमार अपनी प्रेमिका पत्नी के साथ भग्नध्वजा वाले पोत पर बैठ कर स्वदेश वापिस लौटना चाहता है।
२. सार्थवाह उसे अपने जहाज पर बुला लेता है।
३ मार्ग मे कुमार की सुन्दर पत्नी के रूप के आकर्षण से उस की नियत बदल जाती है। वह धोखे से कुमार को समुद्र में गिरा देता है।
४ कुमार-पत्नी के सामने वह प्रेम-प्रस्ताव रखता है। वह अस्वीकार कर देती है। पोत भग्न हो जाता है।
५ नायक-नायिका काष्ठफलक के सहारे बहते हुए किसी एक ही द्वीप में थोड़ी दूर पर किनारे लगते है। दोनो परस्पर मिल जाते है।

नौका डूबने, नायक-नायिका के अलग-अलग बह जाने की घटना प्रेम-गाथाओ में समान रूप से मिलती है। इसी प्रकार समुद्र में नायक को गिराने और नायिका की ओर आकृष्ट होने का वृत्त व्रज के ढोला में तथा अन्य कहानियो में मिलता है।[1]

(२) भविष्यदत्त

१. एक माँ पुत्र चाहती है। पुत्र उत्पन्न होता है। पति पत्नी को छोड देता है।
२ बेटा साहस, चतुराई और बुद्धिमता से कई साहसपूर्ण कार्य करता है।
३. सौतेले बेटे के वैभव को देख कर पति पत्नी से क्षमा माँगता है और प्राणो से अधिक प्यार करता है।

'टॉमथम्ब (Tomthumb) मे तथा व्रज की किसी कहानी में भी इसी प्रकार माँ के चाहने पर पुत्र की प्राप्ति तथा उस के अनेको साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख मिलता है।[2]

---

१. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१६।
२ वही, पृ० २४१।

(३) सरूपा

१. सौतेली माँ अपने सौत के पुत्र की बढ़ोत्तरी न देख कर अपने लड़के को उन्नत बनाना चाहती है, इस लिए वह सौतेले भाई को द्वीप या समुद्र में छोड़ देने के लिए कहती है।

२. किन्तु सौतेला पुत्र कई संकटो को पार कर अतुल धन और वैभव से सम्पन्न हो जाता है। और सौतेली माँ के पुत्र को अपनी करनी पर सब के सामने नीचा देखना पड़ता है।

३ सौतेली माँ और पुत्र को दण्ड मिलता है।

'जुनीपर वृक्ष' में भी सौतेली माँ सौत के पुत्र से घृणा कर मरवा डालती है। किन्तु तरह-तरह के चमत्कार के बाद सौतेली माँ को दण्ड मिलता है। उक्त कथा-रूप की भाँति व्रज में भी कुनाल और पूरनमल के वृत्त ऐसे ही कहे जाते हैं।[१]

(४) बहादुर कुमार

१. एक वणिक्पुत्र अपने साहस तथा चतुरतापूर्ण कार्यों से राजा को प्रसन्न कर लेता है।

२. वह राक्षस का सामना कर और राजाओ से युद्ध कर सुन्दरी तथा राजकुमारी से विवाह करता है।

'बहादुर दर्जी' में भी दर्जी के दानवो और मनुष्यो को जीत कर राजकुमारी से विवाह करने का उल्लेख है।[२]

७—सुन्दरी का अपहरण

१. सनत्कुमार मलयपर्वत की किसी गुफा में विद्या-सिद्ध करने के लिए जप करता है। विद्याधर राजा विलासवती को हर कर ले जाता है।

२. मित्र वसुभूति विलासवती का पता लगाता है और सनत्कुमार को बताता है।

३ सनत्कुमार को विद्या सिद्ध हो जाती है। पत्नी का वृत्त जान कर वह दूत को भेजता है। किन्तु विद्याधर युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

४ दोनो ओर की सेनाओं में युद्ध होता है। सनत्कुमार की विजय होती है। नायक-नायिका परस्पर मिलते हैं।

यह वृत्त देश-विदेश की अनेक कहानियो में मिलता है।

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २९१।

२, वही, पृ० २३७।

८—सर्प-दंश

१ सनत्कुमार और विलासवती समुद्र में बहते हुए एक द्वीप के किनारे पहुँचते हैं।

२. घूमते हुए सनत्कुमार को कण्ठगत प्राणाधीन विलासवती दिखाई देती है। नायिका प्यास से व्याकुल होती है। नायक कमल के दोने में निकटवर्ती जलाशय से पानी लेने जाता है।

३ जब वह पानी ले कर वापिस लौटता है तो बड़ के पेड के नीचे प्रेयसी को नही देख कर बहुत हैरान होता है। कुछ दूर पर सनत्कुमार विलासवती की चादर को लीलते हुए अजगर को देखता है। वह मरने के विचार से अजगर के सिर पर पैर मारता है। अजगर सिकुड़ जाता है।

४. सनत्कुमार को विश्वास हो जाता है कि विलासवती नही रही।

व्रज की नल और मोतिनी तथा बंगाल की फकीरचन्द कहानी में भी सर्प दश की घटना का उल्लेख है।[1] ढोला-मारू रा दोहा मे भी नव विवाहिता मारवणी को पीवणे सांप द्वारा डँसे जाने का वृत्त मिलता है।[2] इसी प्रकार चन्दायन तथा उस के बंगला अनुवाद 'सती मयना ओ लोर चन्द्रानी' (दौलत काजी) में भी निद्रित चन्द्रानी को किसी पेड़ के नीचे सांप के डँसने की घटना मिलती है।[3]

५ कमलश्री

१. पुत्र यात्रा पर बाहर व्यापार करने जाता है। माता अकेली रहती है।

२. व्रत पूर्वक प्रतीक्षा करती है।

३ बरसो के बाद पुत्र लौट कर घर आता है।

इसी प्रकार रविव्रत कथा में पुत्र के वियोग में मुनि से व्रत ग्रहण कर सेठ-पत्नी सविधि पालन करती है। परिणामस्वरूप पुत्र सकुशल लौट कर घर आ जाता है। भारतीय धर्मकथाओ में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती है, जिन मे किसी व्रत के पालने से पुत्र धन-मान से युक्त हो घर वापिस लौटता है। वियुक्त पुत्र की प्राप्ति के लिए कई व्रतो का उल्लेख मिलता है[4]। जैसे कि—सकष्ट चतुर्थी (भाद्रपद कृ० ४), वैशाख शु० षष्ठी और श्रावण शु० १५, आश्विन या कार्तिक का व्रत।

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३१८।

२ ढोला-मारू रा दूहा की भूमिका, पृ० ३०, प्रकाशित काशी ना० प्र० सभा, काशी।

३ श्री नित्यानन्द तिवारी 'लोरिक-चन्दा-पँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय'। हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० ४६।

४ स० प० जगन्नाथ शास्त्री व्रतकोश, प्रथम भाग, पृ० ८५, ४४ और ८३।

६. ईर्ष्यालु पिता

१. एक पिता के एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न होता है।

२. युवक होने पर उस का पिता एक दिन उसे माँ का अत्यन्त स्नेह मिलते देख अपनी पत्नी से रुष्ट हो जाता है और उदासीन हो कर पत्नी को छोड़ देता है।

'चुल्लधम्मपाल' नामक जातक कहानी में भी रानी का पुत्र के प्रति अत्यन्त स्नेह देख कर राजा पुत्र को मरवा डालता है, जिस से वह नरक में जाता है[1]। उक्त कथा में पिता पुत्र को न मार कर पत्नी का त्याग कर देता है। अन्त में पिता को दण्ड मिलता है। वह बन्दी बनाया जाता है, पर पुत्र उसे छुडा लेता है।

७. सुकृत का फल

१. पूर्व जन्म में मित्र का उपकार करने से इस जन्म में यक्ष या विद्याधर पद को प्राप्त कर मित्र संकट के समय में आ कर कुमार की सहायता करते हैं, जिस से उस का जीवन धन-मान तथा वैभव से समृद्ध हो जाता है।

२. पूर्व जन्म के सुकृत से वह अन्त में राजा बन जाता है। प्रजा उस से सन्तुष्ट रहती है। वह चिर काल तक राजसुख का उपभोग करता है।

८ भविष्यदत्त की समुद्र-यात्रा

१. भविष्यदत्त पाँच सौ वणिको के साथ व्यापार करने के लिए समुद्र-यात्रा करता है। मैनागद्वीप में वह छूट जाता है।

२. वह उजाड़ नगरी में पहुँचता है। वहाँ सुन्दरी मिलती है।

३. भविष्यदत्त का विवाह उस सुन्दरी से हो जाता है। अपनी इस यात्रा में उसे सुन्दरी और अतुल सम्पत्ति मिलती हैं।

'सिन्दवाद जहाजी की दूसरी यात्रा' में भी भविष्यदत्त की भाँति सिन्दवाद के किसी टापू में छूट जाने की घटना का उल्लेख मिलता है। वह द्वीप भी उजाड़ होता है। सिन्दवाद कुछ दिनो तक अकेला वहाँ भटकता है और अन्त में हीरे की घाटी में पहुँच जाता है।[2] इसी प्रकार लोक-कथा के 'वेजान नगर' जैसे 'वेगम नगर' में दानव समूचे नगर को तो उजाड देता है, पर रंगीली नाम की राजकुमारी के सौन्दर्य से अभिभूत हो कर उस का संरक्षक बन जाता है। वह राजकुमार से उस का विवाह कर देता है[3]। भ० क० से यह घटना विलकुल मिलती-जुलती है।

---

१ स० प्रो० ई० बी० कावेल द जातक आर स्टोरीज ऑव द बुद्धाज फार्मर बर्थ्स, तृतीय जिल्द, १९५७, पृ० ११७।

२ द अरेबियन नाइट्स, हिन्दी अनुवाद, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १९२२, पृ० १९०।

३ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० ३३८।

९—सुन्दरी के लिए युद्ध

१. भविष्यदत्त के अपूर्व साहस तथा बल एवं बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हो राजा अपनी पुत्री सुमित्रा से उस का विवाह तय कर देता है।
२. सिन्धुनरेश कर तथा राजकुमारी की माँग करता है। भविष्यदत्त दूत को फटकार देता है।
३ दोनो में युद्ध होता है। भविष्यदत्त विजयी घोषित होता है। राजकुमारी से उस का विवाह हो जाता है।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की यह लोकप्रिय घटना है। कई लोक-कथाओं में युद्ध पूर्वक सुन्दर स्त्रियो की रक्षा और उन के साथ विवाह करने का वृत्त मिलता है। इसी प्रकार पाँच सौ वणिको या पाँच सौ पोतो के साथ समुद्रीय यात्रा करने का वृत्त अपभ्रंश तथा कई जातक कथाओ में मिलता है[1]। अपभ्रश की अधिकतर कथाओं में सिंहलद्वीप की यात्रा का वृत्त वर्णित है, जो लोक-साहित्य और साहित्य में अत्यन्त लोकप्रिय अभिप्राय रहा है।

अन्य कथा-मानक-रूप है—

१—छिप कर सुनना

१. किसी स्त्री का पति बारह बरस के लिए धन कमाने परदेश में जाता है।
२. बारह बरस पूरे हो जाते हैं, पर उस का पति लौट कर नही आता।
३. पातिव्रत्य की रक्षा करती हुई वह पति की प्रतीक्षा करती है।
४. एक दिन पति चुपचाप आ कर दरवाजे से सट कर सास-बहू की बातों को ध्यान से सुनता है। अन्त में प्रकट हो जाता है।

इस वृत्त का एक अंश 'पेनीलोप', कथासरित्सागर की उपकोशा तथा लोक-कथाओ में मिलता है।[2] लोकगीतो में तो इस की बहुत चर्चा मिलती है।

२—पुण्य का फल

१. भटकते हुए निर्जन द्वीप मे यक्ष द्वारा सहायता पहुँचाना।
२ विमान में बिठा कर यक्ष या विद्याधर द्वारा अभीष्ट स्थान पर ले जाना।
३ काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना।
४ निर्जन वन में या उजाड नगरी मे सुन्दरी की प्राप्ति होना, इत्यादि।

---

१ स० बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, पृ० १०८।
२ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२३-२४।

भारतीय कथाओ में पूर्व जन्म के पुण्य से इस जन्म में सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने की कई घटनाओ का उल्लेख मिलता है। वर्लिगमे ने इस का विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1]

३—छह मास की आन या अवधि

१. धर्मपिता नायक को धोखे से समुद्र में गिरा देता है।

२. नायक की पत्नी को अपनी बनाना चाहता है।

३. सुन्दरी उसे उपदेश देती है, पर डर के मारे जहाज पर अकेली होने से पति के वियोग में या अन्य कोई बहाना बता कर छह मास की अवधि के बाद धर्मपिता के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए कहती है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यो में किसी में नायिका छह मास की आन ले लेती है कि यदि पति से भेंट नही हुई तो प्राण त्याग दूँगी। किसी में जलदेवी स्वप्न में एक मास की अवधि देती है। और किसी में जलदेवी स्वयं प्रत्यक्ष हो कर पति के पास पहुँचाने का आश्वासन देती है। बडे भाई द्वारा छोटे भाई की हत्या का प्रयत्न करना और उसे मार कर उस की पत्नी को अपनी बना लेने की चेष्टा का वृत्त अवधी और भोजपुरी लोक-गीतो में भी मिलता है।

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यो में कई छोटे-बडे कथा मानक-रूप मिलते हैं। इन में से कुछ कथा-मानक-रूप तो बहुत ही अधिक प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरो के साथ देश-विदेश की कहानियो में मिलते हैं। उदाहरण के लिए—बर्न महोदया के कथा-रूपों मे मैनासुन्दरी के कोढी के साथ विवाह होने के बदले किसी राजा के पुत्री के गर्व से क्रोधित हो कर भिखारी के साथ उसे व्याह देने का वृत्त मिलता है।[3] किन्तु ब्रज की कहानी में 'राजा विकरमाजीत परदुख भजनहार' अंगहीन व्यक्ति को राजकुमारी वरती है।[4] इसी प्रकार प्रेमिका की प्राप्ति में अनेक संकटों का विधान प्रेमाख्यानक एवं सूफीकाव्यो में मिलता है। ब्रज और बगला कहानी की भाँति मिस्र और इजिप्ट की कहानियो में भी समुद्र में जहाज के टूटने पर नायक-नायिका के अलग-अलग बहने की घटनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार सर्प के अधीन सुन्दरी का वृत्त भारतीय लोक-कथाओ की भाँति मिस्र की कहानी में भी मिलता है।[5]

---

१ ड्युगेने वेट्लन वर्लिगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, १९२१, पृ० २६।

२ डॉ० गगाचरण त्रिपाठी अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६७।

3 डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २३४।

४ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

५. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।

डॉ० सावित्री सरीन के द्वारा उल्लिखित अभिप्रायो में से अधिकतर उक्त कथा-मानक-रूपो में ढूढे जा सकते हैं। वस्तुतः भारतीय लोक-कथाओ तथा अपभ्रंश की इन कथाओ में बहुत अधिक साम्य है। केवल हेतु कथाओ तथा घटनाओ के मोड़ में अन्तर मिलता है। इस अध्ययन से यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यो की वस्तु कल्पित एव लोक जीवन से उद्धृत है। और इन कथाओ में भी आदिम जाति की सभ्यता और सस्कृति के प्रारम्भिक रूप प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। अतएव लोक-साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से इन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, क्योकि मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य की धारा का विकास इसी लोकसजीवनी प्राप्त अपभ्रंश-काव्य-धारा से हुआ है। इसी लिए चिर काल से प्रबन्ध एवं कथाकाव्यो में अपनायी गयी कथानक-रूढ़ियों का समा-वेश परवर्ती काल की रचनाओ में भी ज्यो का त्यो लक्षित होता है।

कथाभिप्राय

कथा के मूल अभिप्राय

कथा का मूल तत्त्व अभिप्राय है। क्योकि कथा में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक तथा काव्यगत कथानक-रूढियो की संयोजना किसी मूल अभिप्राय या भाव की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए निहित रहती है। ये मूल अभिप्राय या मूलभाव परम्परागत लोक-रूढियो या सामान्य विश्वासो की उपज होते हैं, जिन में आदिम सस्कार के बीज प्रतीक रूप में सन्निहित रहते हैं। अतएव अभिप्रायो के साथ ही स्थानीय वातावरण तथा जातीय सस्कारो की पूरी-पूरी छाप लोक-कथा पर लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त की कथा पर स्पष्ट रूप से राजपूती रंग चढ़ा हुआ मिलता है। इसी प्रकार अन्य कथाओ पर भी स्थानीय रग-रूप चढा हुआ दिखलाई पडता है।

स्टिथ थॉमसन के अनुसार 'मोटिफ' में लोकवार्त्ता (Folklore) के किसी अंग (Item) का विश्लेषण किया जाता है।[१] वस्तुत· लोकवार्त्ता में मौखिक रूप में लोक-परम्परा से गृहीत देव-कथाएँ या पुराण-कथाएँ (Myths), त्योहार, गीत, अन्ध-विश्वास तथा जनसामान्य की कहानियाँ विहित रहती हैं। इस शब्द का सव से पहला प्रयोग विलियम जें० थॉमस ने सन् १८४६ में किया था।[२] वस्तुत· अपभ्रश के कथा-

१ "In folklore the term used to desegnate any one of the parts into which an item of folklore can be analyzed In folk art there are molip of design, forms which are repeated or combined with other forms in characteristic fashion," Stith Thompson · Dictionery of Folklore Mythology and Legend, Volumn 2, Page 753

२ "The common orally transmitted traditions, myths, festivals, songs, superstitions and stories of all peoples. The term was first used by William J. Thoms in 1846"—Dictionery of Anthropology, Page 216

काव्यो में लोकाख्यान (Legends) ही मिलते हैं; देव या पुराण कथाएँ नही। इन में जातीय अभिप्राय लोक-जीवन के सामान्य संस्कारो के रूप में तथा देश-विदेशो के सामान्य विश्वास मूल अभिप्रायो के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथा-मानकरूपो में तो सामान्यत. प्रदेश विशेप की परम्परागत कथाओ का मानक-रूप निर्धारित किया जाता है, किन्तु मानकरूपो के तुलनात्मक विश्लेषण से निष्कर्ष रूप में जो मुख्य बात लक्षित होती है वही विश्व के सामान्य अभिप्राय के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार मोटिफ या अभिप्राय प्रकार या मानक प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है, जो परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं।[१]

ये अभिप्राय कई प्रकार के हो सकते हैं। स्टिथ थॉमसन ने मुख्य रूप से तीन श्रेणियो में अभिप्रायो को विभक्त किया है[२]—पौराणिक (Mythological), चामत्कारिक एवं अतिलौकिक तथा विविध। यथार्थ में कथा के मूल में कोई न कोई भाव या अभिप्राय अवश्य निहित रहता है। यह कोई आवश्यक नही है कि किसी कहानी में एक ही अभिप्राय हो। एक कहानी मे कई अभिप्राय हो सकते हैं। जिन घटनाओ के आवार पर कथा की रचना होती है सम्भव है कि उन सब में कोई न कोई अभिप्राय अभिव्यक्त हो। यही नही, एक घटना में कई अभिप्राय ढूँढे जा सकते हैं। अभिप्रायो में कथानक के प्रायः सभी मुख्य अग लिपटे रहते हैं। डॉ० सरीन के मत में कथानक घटना, चरित्र और कार्य के मेल से बनता है। इस लिए घटना चरित्र और कार्य के भी अभिप्राय हो सकते हैं।[3]

अपभ्रंश के कथाकाव्यो में कथा के अन्तर्गत निहित मूल अभिप्राय इस प्रकार हैं—(१) भाग्य तथा कर्म, (२) सौतेली माता की ईर्ष्या, (३) भाई का विश्वासघात, (४) भाग्य का पलटना, (५) उजाड नगरी, (६) राक्षस से मुठभेड़, (७) आपत्ति की सूचना, (८) सत की तौल, (९) राक्षस या साँप के अधीन राजकुमारी, (१०) भविष्यदत्त की बुद्धिमत्ता, (११) राज्यसभा में चतुराई, (१२) शील-परीक्षा, (१३) पति का भूल स्वीकार करना और पूर्व त्यक्त पत्नी को अपनाना, (१४) पुरस्कार तथा दण्ड, (१५) योग्यता की परीक्षा, (१६) युद्धपूर्वक राजकन्या से विवाह करना, (१७) वैवाहिक जीवन, (१८) भविष्यनिर्देशन, (१९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (२०) धार्मिक विश्वास—श्रुतपचमी व्रत के पालन से परदेश को गये हुए पुत्र की अवधि के भीतर प्राप्ति, पुनर्जन्म, सत्य की रक्षा, करनी का फल, तपस्या कर कर्मो के

---

१ डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७३।

२ स्टिथ थॉमसन 'स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड्स, जिल्द द्वितीय, पृ० ११९९।

३. डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७४।

क्षय कर देने से मोक्ष-प्राप्ति, सम्यक् आचरण तथा व्रतों के पालन से स्वर्ग-प्राप्ति, मोक्ष को परमपद मानना, इत्यादि।

अकेली भ० क० में उक्त अभिप्राय निहित हैं। इन में से अधिकतर अभिप्राय स्टिथ थॉमसन के द्वारा वर्गीकृत अभिप्रायो से मिलते-जुलते है। भारतीय लोक-कथाओ में तो सामान्य रूप से ये अभिप्राय अत्यन्त व्यापक है।

इसी प्रकार वि० क० में निम्नलिखित कथाभिप्राय मिलते हैं—

(१) विद्याधरो के द्वारा राजा होने की भविष्यवाणी, (२) प्रेयसी की प्राप्ति में विभिन्न बाधाएँ, (३) जादू की चादर, (४) नव विवाहिता पत्नी को सर्प का काटना, (५) नाग का विचारशील होना, (६) नववधू का अपहरण, (७) विद्या-सिद्धि, (८) अपहृत स्त्री के लिए युद्ध, (९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (१०) भविष्यवाणी की सपूर्ति, (११) सार्थवाह का धोखा देना, (१२) काष्ठफलक के सहारे तीन या पांच दिन में समुद्र पार करना, इत्यादि।

जि० क० में प्रयुक्त मुख्य अभिप्राय इस प्रकार है—

(१) मूर्ति दर्शन से प्रेम, (२) जादू की जडी से अदृश्य होना, (३) सूखे बगीचे को हरा-भरा करना, (४) सांप के अधीन राजकन्या, (५) राजकुमारी के मुँह से सांप का निकलना, (६) शयन-कक्ष मे सर्पदंश, (७) सांप को मार कर राजकुमारी से व्याह करना, (८) धर्मपिता का धोखा देना, (९) समुद्र पार करना, (१०) छह मास की आन, (११) शील-रक्षा, (१२) विद्या-सिद्धियाँ प्राप्त करना, (१३) विमान में बैठ कर उडना, (१४) विद्या से रूप-परिवर्तन, (१५) पत्थर की शिला को हँसाना, (१६) मन्दोन्मत्त हाथी को वश में करना, (१७) प्रेम-परीक्षा, (१८) किये हुए का फल पाना, (१९) विवाह के लिए परीक्षा, (२०) कठिन कार्य को करना आदि।

मुख्य रूप से सि० क० में निम्नलिखित अभिप्राय प्रयुक्त हैं—

(१) कर्म और भाग्य, (२)स्वामीभक्त पत्नी, (३)सच्ची सेविका, (४)विद्या-प्राप्त करना, (५)बारह वर्ष की अवधि, (६)निम्न धातु का सोना बनाना, (७)मनुष्य की बलि, (८)अटके हुए जहाज को चलाना, (९)डाकुओ से मुठभेड़, (१०) धर्मपिता का विश्वासघात, (११) सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना, (१२) मन्त्र के प्रभाव से समुद्र पार करना, (१३) जिनशासन की देवियो का प्रत्यक्ष होना, (१४) दण्ड देना, (१५) कर्मफल का भोगना, (१६) दूरदर्शिता, (१७) पहचान के लिए प्रमाण देना, (१८) भविष्यवाणी का चरितार्थ होना, (१९) छिप कर सुनना, (२०) पिता से बड़ी पुत्री, (२१) कोढी से राजा बनना, (२२) गया हुआ राज्य वापिस युद्ध में जीत कर लेना, इत्यादि।

इन के अतिरिक्त बिछुडे हुए पुत्र से मिलना, एक मास या छह मास की आन, यक्ष या विद्याधर का सहायक होना, समुद्र में तूफान आने से या किसी के धोखा देने

पर काष्ठफलक के सहारे पार उतरना, स्वप्न-दर्शन, छोटे से बड़ा होना, विमान में बैठ कर आकाश में उड़ना, पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी मुख्य अभिप्राय अपभ्रंश के प्राय सभी कथाकाव्यों में लक्षित होते हैं।

अभिप्रायों का अध्ययन

१. सर्प-दंश का अभिप्राय

यह एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। कई देशो में विवाह होने के पश्चात् प्रथम समागम इतना भयावह और अपवित्र कार्य समझा जाता है कि सुहागरात को पति या तो अपने बदले किसी व्यक्ति को नियुक्त करता है अथवा अन्य कोई कन्या के कौमार्य की रक्षा करता है।[१] वस्तुत: सर्प और सम्भोग मे अद्भुत साम्य माना जाता है। अतएव नवविवाहिता को सर्प का डसना काम सम्बन्धी अभिप्राय से सम्बन्धित है। जैन-साहित्य मे काम का रूपक नाग से व्यक्त किया जाता है।[२] पेंजर महोदय के विचार से सर्प पुरुष के लिंग का प्रतीक है।[३] सर्प किसी न किसी रूप में पुष्पवती होने की अवस्था और संस्कार से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण-पूर्वी बोलिविया के चिरिगुआनो में मिलने वाली प्रथा में साँप को मार कर झूठमूठ बूढी स्त्रियाँ पुष्पवती कन्या को समझाती हैं।[४] कुछ लोग इस का सम्बन्ध नागजाति से जोड़ते हैं। और कई विद्वान् शिव की पूजा शिश्न के रूप में होने से द्रविड़ और जंगली कबीलो से इस का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। संहिता, स्मृति तथा सूत्र-ग्रन्थो में सर्प की पूजा का उल्लेख मिलता है। मिस्र में भी सर्पपूजा के प्रमाण मिलते हैं। बाबू धनपति बनर्जी के मत मे प्राचीन मिस्र में भी शिश्नपूजा का प्रचार था। बनर्जी के मत को उद्धृत करते हुए तिवारीजी ने लिखा है कि लिंग चिह्न, अशोभन पूजा-विधि और बैल-पूजा के तत्वो के आधार पर बाबू धनपति बनर्जी ने शिव के स्वरूप तथा विकास पर मिस्र का प्रभाव बताया है। उन का कथन है—भारतीय द्रविड़ो और मिस्र के लोगो का सम्पर्क ३०००-४००० वर्ष ई० पू० के लगभग हुआ होगा और तभी एक-दूसरे की सामाजिक रीति-नीतियो से प्रभावित हुए होंगे।[५] अतएव यह कहा जा सकता है कि सर्पदंश का अभिप्राय मिस्र या द्रविड़ जाति के लोगो की रीति-नीति-पद्धति से सम्बन्धित है। इसलिए ऐतिहासिक

---

१. टॉनी पेन्जर द ओसन ऑव स्टोरी, द्वितीय जिल्द, पृ० ३०६।

२ कामनाग विषधाम नाश को गरुड कहे हैं, क्षुधामहादवज्वाल तासु को मेघ लहे हैं।—बृहज्जिनवाणीसंग्रह, पृ० ४६।

३ टॉनी पेन्जर द ओसन ऑव स्टोरी, द्वितीय जिल्द, पृ० ३०५।

४ जेम्स् जार्ज फ्रेजर गोल्डन बाउ, छटा भाग, पृ० ६०७।

५ बाबू धनपति बनर्जी द इव्युल्यूशन ऑव रुद्र आर महेश इन हिन्दूइज्म, 'द क्वार्टरली जर्नल ऑव मिथिक सोसायटी', जिल्द १०, अंक ३, १९२०, पृ० २२१। श्री नित्यानन्द तिवारी 'नारिकेल-चन्दा-पंचारा में सर्प-दंश का अभिप्राय', हिन्दुस्तानी, भा० २३, अंक १, पृ० ५३ में उद्धृत।

दृष्टि से उक्त अभिप्राय ई० पू० तीन हजार वर्ष के लगभग मिस्र और भारत में प्रचलित था। 'स्टिथ थॉमसन ने भी इस प्रकार के मूल अभिप्रायो का सकेत किया है। ये अभिप्राय मूलरूप में आदिम मानस की यथार्थ प्रतीति को अभिव्यक्त करते हैं।

२. सर्प के अधीन सुन्दरी

यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। किसी साँप, डायन या राक्षस के अधीन रहने वाली कन्या का उल्लेख तथा तत्सम्बन्धी अभिप्राय मिस्र और रूस की कहानियो में भी मिलता है। राल्स्टन ने 'रशियन फोक-टेल्स' नामक पुस्तक में 'द विच गर्ल' नाम की रूसी कहानी की तुलना एक पोलिश कहानी से की है, जिस में भक्षक की भुजा काट कर कन्या की रक्षा का वृत्त मिलता है[1]। मिस्र की कहानी मे नागदेवो के राजा के अधीन रहने वाली किसी सुन्दरी की घटना का उल्लेख मिलता है। अतएव यह अभिप्राय ई० पू० २०००-१७०० की मिस्र की कहानी के पूर्व का कहा जा सकता है[2]।

३. उजाड नगरी

यह अभिप्राय भी प्राचीन प्रतीत होता है। भारतीय लोक-कथाओ में तथा 'अरेबियन नाइट्स' में उजाड नगरी या द्वीप का उल्लेख मिलता है। यह भी एक अन्ध-विश्वास है कि राक्षस या डायन चाहे तो किसी नगरी को उजाड सकते हैं। वस्तुत यह भारतीय सामान्य विश्वास है, जो देश-देशान्तरो में पहुँच गया है। क्योकि राक्षस, भूत, पिशाच आदि योनियाँ भारतीय धर्म-पुराण एव शास्त्रो में भी वर्णित हैं। जैन ग्रन्थो में भी व्यन्तर, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि को अलग-अलग जाति का माना गया है।[3]

४. सुन्दरी का अपहरण

सर्प के वेश मे किसी पुरुष द्वारा सुन्दरी के अपहरण का अभिप्राय व्यापक है। प्राय. नवविवाहिता सुन्दरी का ही रूप-परिवर्तन कर हरण किया जाता है। यह अभि-प्राय 'लोरिक-चन्दा-पँवारा' में भी मिलता है।[4]। वस्तुत इस अभिप्राय का सम्बन्ध प्राचीन अनार्य जाति से है, जो आदिम मानस को प्रकाशित करती है। वैसे भी साहित्य में तथा लोक-कथाओ में सुन्दरी का अपहरण एक व्यापक अभिप्राय माना जाता है।

---

१ देखिए, द ओशन आव स्टोरी, दूसरी जिल्द, पृ० ७१।
२ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।
३ व्यंतरा किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा । तत्त्वार्थसूत्र, ४,११।
तथा–ओं गोमुखमहायक्षत्रिमुखयक्षनायकतुम्बरुकुसुममातगविजयअजितब्रह्मयक्षराजकुमारषण्मुख-पातालकिन्नरगरुडगन्धर्वयक्षराजकुबेरवरुणभृकुटिगोमेधपार्श्वब्रह्मशान्ति एते वर्तमान जिनयक्षा।
बृहत्खरतरगच्छ पंचप्रतिक्रमणसूत्रार्थ, पृ० ८८।
४ नित्यानन्द तिवारी लोरिक-चन्दा-पँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय हिन्दुस्तानी' भाग २३, अक १, पृ० ११।

५—मनुष्य की वलि

मनुष्य की वलि का उल्लेख अपभ्रंश की श्रीपाल तथा सि० क० में मिलता है। हिन्दू पौराणिक साहित्य में भी इस का वृत्त मिलता है। मनुष्य की वलि चढ़ाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होती है। यह प्रथा कई देशो मे प्रचलित रही है।[१] अतएव यह सामाजिक अभिप्राय सभ्यता तथा संस्कृति का सूचक है।

६—जादू की जड़ी

स्टिथ थामसन, पेन्जर तथा व्लूमफील्ड ने जादू की कई वस्तुओ का उल्लेख किया है। वस्तुतः इन का एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। यूरोप में तो नही, पर मोरक्को मे अवश्य कुछ यवनो में यह अन्धविश्वास है कि कुछ पौधे विशेष रूप से चमत्कारी होते है। वे ग्रीष्म ऋतु में उन जादू के पौधो को तोड़ते है।[२] अपभ्रंश की जि० क० में वसन्त में जड़ी मिलने का उल्लेख है। अतएव यह अत्यन्त प्राचीन अभिप्राय जान पड़ता है।

७—विमान में वैठ कर यात्रा करना

स्टिथ थॉमसन ने ऐसे अभिप्रायो को चमत्कारी (Magic) नाम दिया है।[३] इस अभिप्राय का सम्बन्ध पुराणो तथा धार्मिक गाथाओ से है। जैन पुराणो में ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिन में स्वर्ग का लालच दे कर विमान में विठा कर स्वर्ग भेजने के वहाने यज्ञ तथा वलि का समर्थन और उस के महत्त्व का उल्लेख है। वास्तव में इस मान्यता का जन्म सव से पहले भारत में ही हुआ होगा।

८—शिला को हँसाना

पेन्जर महोदय का कथन है कि इस प्रकार की जादुई की वातें लोक-गीतो में भी पायी जाती हैं।[४] यूरोप और एशिया में भी इस प्रकार के विश्वास जन सामान्य में प्रचलित रहे हैं। किन्तु इन का मूल स्थान भारतवर्ष है।[५] इसी प्रकार जादू की चादर, देवियो का प्रत्यक्ष होना, रूप-परिवर्तन आदि अभिप्राय जादुई तथा चमत्कारिक वातो से सम्बन्धित हैं, जिन की जड भारतीय जनता के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में निहित है। अतएव इन का इतिहास आदिम जातीय रीति-पद्धतियो एवं अतिप्राकृतिक शक्तियो में विश्वास रखने से सम्वद्ध है।

---

१ सर जेम्स जॉर्ज फ्रेजर गोल्डन वाउ, छठा भाग, १९५५, पृ० २७६।
२ वही, भाग ७, जिल्द २, पृ० ५१।
३ स्टिथ थॉमसन मोटिफ-इन्डेक्स ऑव फोक लिटरेचर, पहली जिल्द, १९५५।
४ एन० एम० पेन्जर द ओसन ऑव स्टोरी, पहली जिल्द, १९२४, पृ० २९।
५ वही, भूमिका।

९—सिंहलद्वीप की यात्रा

सिंहलद्वीप की यात्रा का अभिप्राय केवल भारतवर्ष की कथाओ में मिलता है। यहाँ की जनता में शताब्दियो से यह सामान्य विश्वास रहा है कि समुद्र पार किसी द्वीप में कोई अत्यन्त सुन्दरी रहती है, जिसे पाना बहुत कठिन है। प्राकृत तथा अपभ्रंश कथाओ में अधिकतर सिंहलद्वीप का नाम मिलता है। किसी-किसी में कंचन-द्वीप या कनकद्वीप का भी उल्लेख हुआ है। जायसी के पदमावत में सात समुद्रों का उल्लेख है[1]—खीर, खार, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और प्रेम-समुद्र। येस तो स्पष्ट ही प्रतीक रूप में प्रयुक्त है। परन्तु जि० क० मे कवि ने रुचिपूर्वक सात समुद्रो का वर्णन न कर हिम, कुंडल, मैनाग, तिलक, सहजावइ, छोहार, पावाल, नीलमणि और सिंहलद्वीप का उल्लेख किया है।

वेणातडु चइ हिमदीउ गउ।
भंभा पट्टणु वामंति किउ वोहित्थु वि कुंडलदीवि णिउ।
मयणाउदीउ छंडिवि चलिया पुणु तिलयदीवि ते पइसरिया।
तं छंडिवि सहजावइ वरिया छोहारदीवि ते अणुसरिया।
पुणु मेच्छदीउ संखंतरिउ पावालदीउ खणे आसरिउ।
णीलामणि दीवेँ पुणु गइया जहिं धणुह पंचसय पडिम ठिया।
तं पत्तउ सिंहलदीउ जहिं। जि० क०, ३, २५।

मुनि कनकामर के 'करकण्डचरिउ' में भी सिंहल द्वीप का उल्लेख है। वास्तव में मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथा की रूढि के रूप में प्रचलित हो गया था। जोगेन्द्रचन्द्र घोष ने इस पर विचार करते हुए लिखा है कि कई रचनाओ मे सिंहलद्वीप समुद्र से घिरा हुआ वर्णित है।[2] इस प्रकार सिंहल-द्वीप की यात्रा एक सामान्य अभिप्राय के रूप में शताब्दियो से साहित्य में प्रचलित है। साहित्यिक तथा लोकाख्यान की परम्परा हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं मे मध्य युग के पूर्व लिखे गये साहित्य से प्राप्त होने के कारण मध्ययुगीन साहित्य में भी कथाकाव्यो में तथा प्रबन्धकाव्यो में सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथानक-रूढि के रूप में प्रयुक्त मिलती है। जातक-कथाओ में अवश्य अत्यन्त प्राचीन काल में सार्थवाह पाँच सौ व्यापारी या पोतो के साथ यात्रा करने के लिए प्रवाल, रत्न, नीलमणि आदि की खान वाले द्वीपो में जाते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। गुम्भियाजातक मे पाँच सौ व्यापारियों की यात्रा का उल्लेख है।

---

१ खार खीर दधि जलउदधि सुर किलकिला अकूत।
को चढ़ि नाघै समुद ए, है काकर अस बूत ।—राजा-गजपति-सवादखण्ड

२ जोगेन्द्रचन्द्र घोष, 'सिंहल इन सेण्ट्रल इण्डिया', न्यु इण्डियन एण्टिक्वेरी, पहली जिल्द, अक्तूबर १९३८, पृ० ४६३।

निष्कर्ष

अभिप्रायो के अध्ययन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश-कथाएँ केवल भारतवर्ष की सीमा में ही नही, अपितु उन के विभिन्न वृत्त एव घटनाएँ देश-विदेशो की लोक-कथाओ में भी प्रचलित रही है। उदाहरण के लिए, पेट में साँप प्रवेश करने का अभिप्राय बंगला, अवधी और व्रज आदि की लोक-कथाओ में ही नही, शेक्सपियर के नाटको में भी मिलता है[1]। इसी प्रकार चमत्कारिक बातें तथा जादुई की वस्तुओं वाली कहानियाँ भारतवर्ष मे ही नही, संसार के उन सभी देशो में प्रचलित रही है, जिन में जादुई शक्तियों का प्रचार रहा है। अतएव प्रत्येक प्रकार के अभिप्राय ससार के सभी भागो में पाये जाते हैं। सरल से सरल कहानी में भी सभी प्रकार की जादुई में से किसी न किसी का समावेश पाठको का मन अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किया जाता है[2]। वैदिक काल की कहानियो में उन का उपयोग अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए होता था। पौराणिक युग में रूढ़ि के रूप में उन का प्रयोग किया जाने लगा था। अतएव धार्मिक कथाओ पर उन का प्रभाव आज तक ज्यो का त्यो लक्षित होता है। कथासरित्सागर से मिलती-जुलती यूरोप और पश्चिम एशिया की कथाओ की समता बताते हुए पेन्जर महोदय ने कहा है कि यदि इन कथाओ का मूल स्थान भारतवर्ष है तो कथासरित्सागर से भी प्राचीन कथाएँ भारत में मिलनी चाहिए, जो कि हमारे यहाँ मिलती है[3]। विचार करने पर उन का यह कथन निराधार प्रतीत होता है। क्योकि वेदो मे वर्णित देवासुर-संग्राम की भाँति जातक-कथाओ में देवासुर का युद्ध और प्राकृत, अपभ्रंश कथाओ में विद्याधरो तथा राजाओ का युद्ध वर्णित है। राम और रावण का युद्ध दो व्यक्तियो का युद्ध न हो कर देव और असुर जाति की प्रवृत्तियो का संघर्ष था। वि० क० में अनगरति विद्याधर का विलासवती को हरण कर ले जाना और विद्याधरियो के बीच उद्यान में सहकार वृक्ष के नीचे रखना, आदि बातें रामायण से मिलती-जुलती है। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो में पाँच सौ व्यापारियो के संघ की यात्रा करना भी एक कथानक-रूढि है, जो बौद्धकालीन भारतवर्ष की व्यावसायिक स्थिति से सबद्ध है। अतएव सिंहलद्वीप का अभिप्राय दो हजार वर्षो से अधिक प्राचीन निश्चय रूप से कहा जा सकता है।

पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय हैं। बर्लिंगमे महोदय ने हिन्दू और यूरोपियन कथाभिप्रायो की समता में जातक कथाओ में

---

१ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० २१३।

२ स्टिथ थॉमसन स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड, दूसरी जिल्द, १९४९, पृ० ७५३।

१ एन० एम० पेन्जर द ओसन ऑव स्टोरी की भूमिका, पृ० २२।
'But some of his parallels in Europe and Western Asia are very old, and if the idea at the root of the all is Indian it must be very old also, much older than the 'KATHA-SARITSAGAR' as we have it' The Ocean of Story, Vol 1, foreward XXII

से जिन अभिप्रायो को प्रकाशित किया है, उन में से अपभ्रंश के कथाकाव्यों में मिलने वाले अभिप्राय निम्नलिखित हैं—पिता से जेठी पुत्री[1], कर्मफल[2], निम्नधातु को सोना बनाना[3], पुनर्जन्म[4], सौत का ईर्ष्यालु व्यवहार और जादू की चिडिया[5] इत्यादि।

श्रीपाल कथा में पिता से जेठी पुत्री और कर्मफल दोनो अभिप्राय एक साथ प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार निम्न धातु को सोना बनाने का अभिप्राय भी उस में निहित है। पुनर्जन्म का सम्बन्ध तो प्रत्येक अपभ्रंश-कथा में हेतु कथाओ के रूप मे प्रकाशित किया गया है। वस्तुत: पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक भूमि की देन हैं। विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और मीमासको मे प्रचलित रहा है। इस सिद्धान्त पर जितना अधिक विचार और बल जैनो ने दिया है, कदाचित् उतना अन्य मतो ने नही दिया है। क्योकि समूचा जैन-दर्शन कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है। व्यवहार पक्ष मे वही अहिंसामूलक आचार-विचार की संस्कृति के रूप मे प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यो में निहित अधिकतर अभिप्राय आर्य और अनार्य संस्कृति के सूचक हैं। इनमें लोक-गीतों की भाँति प्राचीन रीति-रिवाज, सामान्य विश्वास, मान्यताएँ और अन्धविश्वास आदि आदिम मानस को प्रकट करते हुए लक्षित होते हैं। जेम्स हेस्टिंग्स के विचार में लोक-गीतो में इस प्रकार के अभिप्राय किसी राष्ट्र के जीवन की अभिव्यक्ति होते है, जो परम्परा के रूप मे प्रचलित रहते हैं[6]। किन्तु अपभ्रश की इन कथाओ मे मिलने वाले अभिप्राय जातीय अभिप्राय के रूप में ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय रूप मे भी मिलते है। अतएव इन की प्राचीनता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

अभिप्रायो का वर्गीकरण

अपभ्रश के इन कथाकाव्यो मे कई प्रकार के कथाभिप्राय मिलते है, जिन सब का पूर्ण विवेचन करना सभव नही है। फिर भी, स्टिथ थॉमसन की वर्गीकरण की पद्धति के आधार पर प्रमुख अभिप्रायो को वर्गीकृत किया गया है। थॉमसन महोदय ने जिन

---

१. इयुगेने वेरसन वरलिंगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, १९२१, पृ० ३४।
२ वही, पृ० ३५।
३ वही, पृ० ३६।
४ वही, पृ० ३६।
५ वही, पृ० ३५।
६ जेम्स हेस्टिंग्स इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड इथिक्स, जिल्द ६, तृतीय सस्करण, १९५५, पृ० ५७।
'Folklore consists of customs, rites and beliefs belonging to individuals among the people, to group of people, to inhabitants of districts or places, and belonging to them apart from and often times in definite antagonism to the accepted customs rites, and beliefs of the State or the nation to which the people and the groups of people belong.' Encyclopedia of Religion and Ethics By James Hastings, Vol VI 1955, Page 57.

वर्णनात्मक अभिप्रायो का उल्लेख किया है,[१] उन्हें सरल समझ कर छोड़ दिया गया है। वर्गीकृत अभिप्रायो में मुख्य हैं—

पशु सम्बन्धी, जादू सम्बन्धी, चमत्कारी, मनुष्यभक्षी राक्षस, परीक्षाएँ, बुद्धिमान और मूर्ख, धोखे, भाग्य का पलटना, भविष्य-निर्देशन, अवसर तथा भाग्य, पुरस्कार तथा दण्ड, कर्म का फल, धार्मिक विश्वास, सामाजिक, चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक अभिप्राय।

उक्त अभिप्रायो में से 'कर्म का फल' और 'धार्मिक विश्वास' नामक दोनो अभिप्रायो को थॉमसन के अनुसार 'धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत एक ही माना जा सकता था, किन्तु कर्म सिद्धान्त होने से धर्मविषयक न हो कर सिद्धान्तपरक है। पहले कहा जा चुका है कि कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और मीमासको की वैचारिक मान्यता से सम्बन्वित है। यद्यपि कर्म शब्द कई रचनाओ में प्रयुक्त मिलता है, पर उन विभिन्न मतों से सम्बन्धित प्राचीन रचनाओ में रचनाकारो ने कई अर्थों में उस का प्रयोग किया है, इस लिए विविध दार्शनिक तथा पौराणिक ग्रन्थो में वह पारिभापिक शब्द बन कर रह गया है।

अभिप्रायो का अध्ययन और वर्गीकरण करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के सामान्य विश्वास, रीति-रिवाज भारतवर्ष में ही नही, संसार के कई देशो में पाये जाते हैं; जिन की झलक हमें कथाभिप्रायो के रूप में लोक-कथाओ में मिलती है। प्रो० मैक्समूलर के मत में धार्मिक आख्यानो में तथा लोक-कथाओ में रूपकतत्व के साथ प्रकृति-पूजा भी मिलती है, पर अब इस मान्यता का खण्डन हो चुका है।[२]

पशुसम्बन्धी अभिप्राय

(द) नाग का विचारशील होना

(१) सनत्कुमार को देख कर पैरो से कूँचे जाने पर भी अजगर का कुंडली सिकोड़ कर कर्तव्य बुद्धि का परिचय देना।

---

१ स्टिथ थॉमसन स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड, दूसरी जिल्द १९४९, पृ० ७५३।

२ इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जिल्द ९, १९५७, पृ० ४४६।

"But the work of E B Tylor, followed by that of Sir James Frazer, whose 'GOLDEN BOUGH' extended to the lower Cultural customs of the peasantry of Europe, and made popularty effective by the adroit pen of Andrew Lang, demolished there theories by demonstrating that analogies to these supposed survivals of 'ARYAN' religion among the European peasantary were to be found also among primitive people in all parts of the world" Encyclopaedia Britannica Vol 9, Page 446

(अ) जादू सम्बन्धी अभिप्राय

(१) विलासवती का अपहरण। सनत्कुमार जिस जादू की चादर को विलासवती को ओढा कर गया था उसे अजगर का उगलना। उसे देख कर सनत्कुमार को विश्वास हो जाना कि विलासवती मर गई है।
(२) जड़ी पा कर जिनदत्त का अदृश्य हो जाना।
(३) जादू की चादर ओढ लेने पर विलासवती का दिखाई नही पडना।
(४) जिनदत्त का राजसभा में पत्थर की शिला को हँसाना।

(ब) जादुई पशु

(१) राजकुमारी के मुँह से साँप निकलना।

(स) मनुष्य का रूप-परिवर्तन

(१) जिनदत्त का वामन रूप धारण करना।

(२) चमत्कारी

(१) विमान में बैठ कर यात्रा करना।
(२) मणिभद्र यक्ष का भविष्यदत्त की सहायता करना।
(३) सपरिवार भविष्यदत्त को मनोवेग विद्याधर के द्वारा विमान में बिठा कर तिलकद्वीप की यात्रा कराना।
(४) सनत्कुमार का विमान में बैठ कर ससैन्य विद्याधरो से युद्ध करना।

(व) असाधारण शक्ति वाले मनुष्य

(१) श्रीपाल का सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना।
(२) भुजाओ से समुद्र को पार करना।
(३) काष्ठफलक के सहारे समुद्र को तैर कर किनारे पर पहुँचना।
(४) मदोन्मत्त हाथी को वश मे करना।

(स) अन्य लोक की यात्रा करना

(१) जिनदत्त का विमान में बैठ कर अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना करने जाना।

(द) देवी-देवता का प्रत्यक्ष होना तथा सहायता करना

(१) श्रीपाल तथा सि० क० में पद्मावती आदि देवियाँ आकर रत्नमंजूषा की सहायता करती हैं और धवल सेठ को दण्ड देती है।
(२) जि० क० में तथा भ० क० मे जल-देवता के द्वारा नायिका के सतीत्व की रक्षा होना।

वात्सल्यपूर्ण वचनो के द्वारा पुत्र के प्रति वास्तविक स्नेह हाव-भावों से प्रकट करती है।

८. भाग्य का पलटना

(१) सब से छोटी पुत्री मैनासुन्दरी का रानी बनना।
(२) श्रीपाल को कोढी से राजा होना।
(३) वणिक्पुत्र जिनदत्त का राजा बनना।

(ब) दुर्बल की जीत

(१) भविष्यदत्त की सिन्धुनरेश के संग्राम में अल्प साधन-सेना के होते हुए भी विजय होना।
(२) सनत्कुमार को विद्याधरों के युद्ध में विजय मिलना।
(३) मैनासुन्दरी के द्वारा प्रतिपादित कर्म की जीत होना।

(स) घमण्डी का सिर नीचा

(१) सनत्कुमार का दूत भेज कर विलासवती को वापिस माँगना। किन्तु घमण्ड में आ कर विद्याधर अनंगरति का युद्ध करना और युद्ध में हार जाना।

(द) शील का पुरस्कार

(१) भविष्यानुरूपा शील की रक्षा करती हुई पति के न मिलने से निराश हो कर भी अपने को स्थिर रखती है। फलस्वरूप पति को राजा के रूप में पाती है।
(२) जि० क० में भी शील की रक्षा करती हुई जिनदत्त की पत्नियाँ अन्त में पति और राजसुख के वैभव को प्राप्त करती हैं।

९ भविष्य-निर्देशन

(१) जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा।
(२) जो भुजाओ से समुद्र को पार करता हुआ इस द्वीप के तट पर आयेगा वही इस राजकुमारी का वर होगा।
(३) जो मदोन्मत्त हाथी को वश में करेगा वही इस कन्या का पति हो सकेगा।

(ब) शर्त रखना

(१) यदि तुम अटके हुए जहाज को चला दोगे तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।

(स) वायदा करना

(१) श्रीपाल मैनासुन्दरी से बारह बरस में लौटने का वायदा कर व्यापार करने जाता है।

(द) वचन देना

(१) जिनदत्त मालिन को वचन दे कर उस के बेटे के स्थान पर स्वयं राजकुमारी के महल में पहरा देने जाता है।

(य) आदेश देना

(१) राजा ईशानचन्द्र रानी के आरोप लगाने पर सनत्कुमार को शूली का आदेश दे देता है।

१० अवसर तथा भाग्य

(१) भाग्यवश फन्दा लगाते समय ऋषि का वहाँ आ पहुँचना और सनत्कुमार को मरने से बचा लेना।

(२) मित्र का मिल जाना। नायक की सहायता करना।

(ब) दुर्भाग्यपूर्ण घटना

(१) निर्जन वन में विलासवती को साँप का डस लेना।

(२) समुद्र में नायक को गिरा देना।

(स) विद्याधरो के देश में विद्याएँ सीखना

(१) जिनदत्त विद्याधरो के देश में कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है। राजा स्वय पुत्री के साथ आकाशगामिनी और परशस्त्रनिवारिणी नाम की दो विद्याएँ उसे प्रदान करता है।

(द) विद्या की सिद्धि

(१) सनत्कुमार मलय पर्वत की गुफा में विद्या की साधना कर सिद्धि प्राप्त करता है।

११. पुरस्कार तथा दण्ड

(१) राजा भूपाल भविष्यदत्त के साथ धोखा-धडी करने से बन्धुदत्त को और साथ में धनवइ को दण्ड देता है तथा भविष्यदत्त को आधा राज्य सौंपता है।

(य) असाधारण घटनाएँ

(१) श्रीपाल का अटके हुए जहाज को मन्त्र के बल से चलाना।

(२) डाकुओ से श्रीपाल की मुठभेड़ होना और एक लाख डाकुओ को वश में कर लेना।

(४) मनुष्यभक्षी राक्षस

(१) पूरे नगर के लोगो को मार कर खा जाने वाले राक्षस का वर्णन भ० क० में है। केवल राजकुमारी ही उस में जीवित है।

(५) परीक्षाएँ

(१) भविष्यदत्त के कहने पर राजा भूपाल भविष्यानुरूपा की शील-परीक्षा के लिए जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नामक दो दासियों को भेजता है।

(व) विवाह के लिए परीक्षा

(१) जि० क० में चम्पा नगरी का राजा जिनदत्त को वामन के रूप मे देख कर शंकित होता है और अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त से करने को तैयार नही होता। मन्त्रियो के कहने पर कि यह प्रच्छन्न विद्याधर जान पड़ता है, राजा उस की परीक्षा लेता है और जिनदत्त से परिचय पूछ कर उसकी जाँच-पडताल करता है।

(२) भविष्यदत्त सुमित्रा से विवाह करने के लिए सिन्धुनरेश से युद्ध कर अपने रणकौशल की परीक्षा देता है।

(स) पहेलियां

(१) श्रीपाल पहेलियो को बुझा कर विभिन्न राजकुमारियो से विवाह करता है।

(द) योग्यता की परीक्षा

(१) श्रीपाल कथा में राजा अपनी दोनो कन्याओं की योग्यता की परीक्षा लेता है।

(य) पहचान के लिए परीक्षा

(१) श्रीपाल कथा में कोकण का राजा डोमो के कहने से श्रीपाल पर अविश्वास कर उसे डोम समझता है। तब गुणमाला के पूछने पर श्रीपाल रत्नमंजूषा को समुद्र तट से बुला कर अपना परिचय देने को कहता है। राजा उसे पहचान लेता है कि यह तो मेरा भानजा है। इस प्रकार परिचयपूर्वक पहचान होती है।

(र) साहस के कार्य

(१) सनत्कुमार का विद्या-सिद्ध करना।
(२) भविष्यदत्त का राक्षस से युद्ध करने के लिए तैयार होना।
(३) श्रीपाल का काका से युद्ध कर राज्य वापिस लेना।
(४) विलासवती का साहसपूर्वक आधी रात को पति के मृत्यु के समाचार को सुन कर मसान में सती होने के लिए जाना।
(५) धनवइ का साहस बटोर कर युद्ध के लिए सजना।
(६) जिनदत्त का समुद्र पार करते समय विद्याधरो को ललकारते हुए युद्ध के लिए आह्वान करना।

६. बुद्धिमान और मूर्ख

(१) सनत्कुमार का विलासवती को मरा हुआ समझ कर फाँसी लगा कर मरने की चेष्टा करना।
(२) ऋषि का सनत्कुमार को समझाना। विलासवती की प्राप्ति का उपाय बताना।
(३) भविष्यदत्त का माता को नाग-मुँदरी दे कर भविष्यानुरूपा के पास यह कह कर भेजना कि माता के साथ राजसभा में मिलो।

(ब) राजसभा में चतुराई

(१) भविष्यदत्त का अप्रकट रूप से राजभवन में बैठना। राजा का धनवइ और बन्धुदत्त को बुला कर सच्चा वृत्तान्त पूछना। ऐन मौके पर भविष्य दत्त का प्रकट होना।

७ धोखे

(१) धोखे से सार्थवाह का सनत्कुमार को समुद्र में गिराना।
(२) धोखे से बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को मैनागद्वीप मे अकेला छोड जाना।
(३) समुद्र में रत्नो की पोटली गिर गयी है, कह कर समुद्रदत्त का जिनदत्त को समुद्र में उतार देना।
(४) धवल सेठ का श्रीपाल को चकमा दे कर जहाज में बँधी हुई रस्सी काट कर समुद्र मे पटक देना।

(ब) डोमो के द्वारा राजा को धोखा देना

(१) धवल सेठ श्रीपाल को समुद्र पार कर राजा के यहाँ आया हुआ देख कर डोमो को धन दे कर राजा के पास भेजता है। वे नृत्य-गान करने के पश्चात् श्रीपाल को अपना खोया हुआ पुत्र घोषित करते हैं। वृद्धा डोम

१२. कर्म का फल

(१) समुद्रदत्त जिनदत्त के साथ विश्वासघात करने से कुष्ठ से गल-गल कर अल्प आयु में ही प्राण त्यागता है ।

(ब) पूर्व जन्म की करनी का फल

(१) सनत्कुमार ने पिछले जन्म मे हंस और हंसी को कौतुक से वियुक्त किया था, इस लिए इस जन्म में उसे विलासवती का बार-बार वियोग सहन करना पड़ता है ।

(२) पूर्व जन्म के कर्म के विपाक से ही श्रीपाल को कुष्ठ हुआ ।

(स) पुण्य-फल

(१) पुण्य-फल से पूर्व जन्म के दो मित्रो ने संकट के समय में भविष्यदत्त की सहायता की ।

(द) पूर्व जन्म का संस्कार

(१) पूर्व जन्म में विलासवती का प्रेम सनत्कुमार से होने से तथा सस्कार विद्यमान होने से परस्पर प्रथम दर्शन मे ही एक-दूसरे के अनुरागी तथा ग्राहक बन गये ।

१३. धार्मिक विश्वास

(१) वि० क० में वट के वृक्ष के नीचे विलासवती को साँप का डसना कहा गया है । अतएव पीपल की भाँति वड के नीचे साँप का निवास करना धार्मिक विश्वास कहा जा सकता है ।

(२) सिद्धचक्र विधान से श्रीपाल का कुष्ठ दूर होना ।

(३) मन्त्र की शक्ति से समुद्र पार करना ।

१४. सामाजिक

(अ) प्रथाएँ

(१) श्रीपाल कथा में मनुष्य की बलि का अभिप्राय मिलता है ।

(२) भाई (फूफा का लड़का)—बहन (मामा की लडकी) का विवाह ।

(३) गान्धर्व विवाह ।

इसी प्रकार चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक रूप में अभिप्राय अपभ्रंश के इन कथा-काव्यो में प्रयुक्त है । प्रतीक रूप में प्रेमियो का सन्देश ले जाने के लिए तोता, मैना, चील, कौआ आदि पक्षियों का नाम मिलता है । भ० क० में कमलश्री व्यापार के लिए परदेश गये हुए पुत्र को घर लौटाने का सन्देश कौवे को दे कर भेजती है ।

लोक-जीवन और संस्कृति

धार्मिक विश्वास

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्य जैन कवियों के द्वारा रचित हैं। इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि इन में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन तथा उन के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का स्वरूप एवं मोक्ष-प्राप्ति का उपाय वर्णित हो। किन्तु मध्यकालीन देवी-देवता विषयक मान्यताओं का उल्लेख भी इन काव्यों में मिलता है। यही नहीं, जल (वरुण)—देवता का पूजन[1], जल-देवता का प्रत्यक्ष होना, संकट पड़ने पर देवी-देवताओं द्वारा संकट-निवारण आदि धार्मिक विश्वास उक्त कथाओं में लिपटे हुए लक्षित होते हैं।

जैन शास्त्रों में स्पष्ट रूप से देवी-देवताओं की पूजा-मान्यता का निषेध है। केवल जिन या अर्हन्त की पूजा विहित है। जिन या अर्हन्त चौबीस कहे गये है, जिन्हें तीर्थंकर कहते हैं। इन के अतिरिक्त किसी देवी-देवता को मानना 'देव-मूढ़ता' कहा गया है। मूढ़ता का अर्थ है—मूर्खता। मूढ़ता का पालन करने वाला मिथ्यात्वी कहा गया है और मिथ्यात्वी कभी सम्यक्दृष्टि बने बिना मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता। इस लिए सम्यक्त्वी बनने के लिए मूढ़ता को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। किन्तु परवर्ती काल में मत-मतान्तरो के अधिक प्रभावशील होने पर बौद्धो की भाँति जैनों ने भी जिनशासन की देवियों की कल्पना की, जो जन-सामान्य में चौबीस तीर्थंकरो की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे चौबीस संख्या में आठवी शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गई थी। परन्तु जैन ग्रन्थो में अधिकतर पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी के नाम मिलते हैं। पद्मावती अत्यन्त प्रसिद्ध देवी हैं। मुस्लिम-युग में जैनो मे इस की मान्यता का इतना अधिक प्रचार हुआ कि लोग मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने लगे।

जैनो का सामान्य विश्वास है कि जिन या तीर्थंकर न तो किसी को कुछ देते-लेते है और न किसी का कुछ बना-बिगाड़ सकते हैं। जो कुछ अच्छा-बुरा फल मनुष्य प्राप्त करता है वह अपने-अपने कर्म के उदय से। तीर्थंकर-मूर्ति तो उन आदर्शों की अनुकृति मात्र है, जिन्हें अपने जीवन में उतार कर हम भी कर्म-बन्धनो से रहित हो जिन या शिव की अवस्था को प्राप्त कर सकते है। अतएव तीर्थंकरो की पूजा पारमार्थिक दृष्टि को ले कर प्रचलित हैं। और इसी लिए जैन-मन्दिरो मे भोग लगाने और प्रसाद ग्रहण करने की प्रथा कभी नही रही है। किन्तु लोक-जीवन मे चमत्कारिक बातो से प्रभावित होने पर जैन समाज में जिनशासन की देवियो का प्रचार लोक-सम्पदा, प्रभुत्व और ऐश्वर्य पाने के निमित्त हुआ। कहा जाता है कि सिद्धान्तो के खण्डन-मण्डन एव वाद-विवाद में बौद्धो की ओर से जब तारा देवी घट में प्रस्थापित की गयी थी तब

---

१ इत्थंतरि सुमुहुत्तु सम[illegible] [illegible]वकु चदणु वद्धारिउ।
पुज्जिय जलदेवय [illegible] [illegible]लिदीवंगारि। भ० क०, ७,३।
जाइवि पूजिय ज[illegible] [illegible]ण वावसाइ। सि० क०, १,२५।

जैनो की पद्मावती ने आ कर सहायता की थी। देवियो की मान्यता के पश्चात् ही कदाचित् यक्ष और यक्षणियो की कल्पना की गयी। और जिनशासन की देवियों की भाँति ही यक्ष-यक्षणियो की सख्या भी चौवीस मानी गयी।

कवि रल्ह ने चौवीस तीर्थंकरो की वन्दना के पश्चात् चक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, क्षेत्रपाल, अम्बिका, पद्मावती और चौवीस यक्ष-यक्षणियो की वन्दना की है।

चक्केसरि रोहिणी जयसारु जालामालिणि अरु खेत्तपालु
अविमाइ तुव नवऊ सभाइ पदमावति कइ लागउ पाइ ॥

जि० चउ०, १०।

जे चउवीस जखजक्खिणी ते पणमउ सामिणि आपुणी।
कुमइ कुवुधि देवि महु हरहु चउविह संघह रक्ष्या करहु ॥वही, ११।

चौबीस यक्ष और यक्षणियो की तथा जिनशासन की देवियो की मूर्तियाँ जयपुर के पाटौदी मन्दिर की भित्ति पर उत्कीर्ण हैं।

यही नही, पद्मावती के पति धरणेन्द्र और रोहिणीपति चन्द्र का भी स्मरण कवि ने किया है।

इंद दहण जमणेरि उजाणु वरुणु वाय धणवि ईसाणु।
पणमउ पोमिमिणिवइ धरणिदु रोहिणे कतु जयउ णहिचंदु ॥वही, १२।

जिन-सरस्वती के प्रसाद से तो धनपाल और रल्ह दोनो ने ही काव्य की रचना की। इसी प्रकार नवग्रहो का भी रल्ह ने सादर स्मरण किया है। संकट के समय नायिकाओ को या तो जलदेवता-देवो आ कर बचाते हैं अथवा ज्वालामालिनी और पद्मावती देवो आ कर रक्षा करती हैं। इस प्रकार देवी-देवता विषयक धार्मिक विश्वास अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो मे मिलता है। और इसी प्रकार मणिभद्र यक्ष के द्वारा भविष्यदत्त का सकट-निवारण और विमान में विठा कर गजपुर पहुँचाने का उल्लेख हुआ है। यही नहीं, पुनर्जन्म की मित्रता के कारण मनोवेग विद्याधर के साथ गजपुर से विमान में वैठ कर तिलकद्वीप जाने का उल्लेख भी इस काव्य मे वर्णित है।

प० नरसेन की सि० क० मे स्पष्ट रूप से जल-देवता के रूप में मानभद्र यक्ष और जल-देवी के रूप में पद्मावती का उल्लेख है। यक्ष के साथ क्षेत्रपाल देवता और देवियो के गण में चक्रेश्वरी, अम्बिका, रोहिणी, ज्वालामालिनी, व्यन्तरेन्द्र आदि का आगमन, धवलसेठ पापी के हाथों को पीछे वाँधना, मुँह को लहूलुहान करना और रत्नमंजूषा के शील की रक्षा का वर्णन भी इस काव्य में हुआ है।

अहो जलदेवय तुम्हि णिरिक्खहु इहि पापि यहि पासि मुहि रक्खहु।
वहु दुक्ख णिरंतर अण्ण भवंतर कासु कियहो णाह मइं।
परलाउ करतहं एम रुवतहं जलदेविहि गणु आउ तहिं ॥

माणिभद्दु सायरु हल्लोलिउ　　पोहणु घरि करिउ मुहुं वंभोलिउ ।
चक्कसरिय चक्क जिम फेरिय　　वणि आउलिय परं परिफेरिउ ।
हरिदंसण अंवाइय आइय　　कुक्कुड सप्पइ इह पोमाइय ।
खेत्तवालु सुणहहं रह घायउ　　घवलसेट्ठि मुहुं लहू लुलायउ ।
धूमायारु कियउ तव रोहिणि　　अग्गि पज्जालिय जालामालिणि ।

ज्वालामालिनी देवी के द्वारा अग्नि प्रज्वलित करने और व्यंतरो के द्वारा उपसर्ग करने के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन जैन-साहित्य में अतिमानवीय शक्तियो के अलौकिक प्रदर्शन में भारतीय जनता की आस्था सबल हो चुकी थी। भारतीय साहित्य में तथा स्थापत्य कला में यक्ष और यक्षणियो के स्पष्ट निदर्शन मिलते हैं। यक्षो की मान्यता में हिन्दू और जैन लोगो के पौराणिक विचार बिलकुल मिलते-जुलते हैं। क्योकि यक्षो की मान्यता अलग से न हो कर देवताओ के साथ सम्बद्ध है। इस लिए मूर्तियो में तीर्थंकर की प्रतिमा के दोनो ओर यक्ष या यक्षिणी चित्रित मिलती है। इसी प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा में देवी पद्मावती अपने सिर पर उन्हें धारण किये हुए कही-कही लक्षित होती है। वस्तुत इन्हे जैन धर्म की सकट-काल में रक्षा करने वाले देवी-देवताओ के रूप मे माना गया है। अतएव इन्हें शासनदेवता कहा जाता है। तीर्थंकरो से ये निम्न-कोटि के माने जाते हैं। इन का सम्वन्ध पूजा और पुजापे से ही अधिक है; जब कि तीर्थंकर राग और द्वेष से रहित माने गये हैं। इसी लिए वैष्णव और जैन देवी-देवता किन्ही बातो में मिलते-जुलते है।[1] इस प्रकार यक्ष-यक्षणियो तथा देवी-देवताओ की मान्यता का ही नही, सि० क० मे चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती तथा दस दिशपाल गोमुख और मानभद्र यक्ष तथा व्यंतरेन्द्र की स्तुति-पूजा का भी उल्लेख है।

शकुन-अपशकुन

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो में शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-सम्बन्धी विश्वास लगभग सभी रचनाओ में मिलते हैं। भ० क० में जब भविष्यदत्त मैनागद्वीप में अकेला छोड दिया जाता है तब वह वन में भटकता हुआ थक कर सो जाता है। दूसरे दिन वह फिर आगे बढता है तभी उसे शुभ शकुन होने लगते हैं, (भ० क० ३,५)। वि० क० में भी शकुन का वर्णन है।

एत्तहि सारसु रवु वित्थरियउ।
इय चिततहं सुमिण पओयणु　　दाहिणु वाहु फुरिउ तह लोयणु।
सउण सत्थु अणुकूलउ दीसइ　　रन्ने वि कन्नय लाहु पयासइ। (५,२४)

इसी प्रकार अपशकुन-वर्णन भी मिलता है।

तह फुरिय वामलोयण असुह　　उप्पन्न कुमारह चित्ति दुह। (५,२४)

---

१ शशिकान्त जैन मर्मे कामन एलीमेन्ट्स इन द जैन एण्ड हिन्दू पेन्थियन्स-यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, जैन एण्टिक्वेरी, जिल्द १८, अंक २, पृ० ३३।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी

शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-दर्शन की सार्थकता की भाँति नैमित्तिक या ज्योतिषी की भविष्यवाणी में भी सामान्य विश्वास इन कथाकाव्यो में निहित है। सनत्कुमार को बचपन में किसी नैमित्तिक ने बताया था कि तुम विद्याधरो के राजा बनोगे और सुन्दर कन्या-रत्न से पाणिग्रहण होगा। अतएव विजन वन में स्वप्न आने पर सनत्कुमार नैमित्तिक की बातो का स्मरण कर उस पर अपनी आस्था प्रकट करता है।

ता कुमारु चिंतइ मणे एरिसु   रिसिहि न वयणु होइ अन्नारिसु। (५,२४)

इसी प्रकार धवल सेठ के लोभ देने पर जब डोम लोग राजा धनपाल की सभा में जा कर श्रीपाल को अपना पुत्र बताते हैं तो राजा को बहुत क्रोध आता है। वह मन ही मन सोचता है कि नैमित्तिक के कहने से अपनी भुजाओ से समुद्र-संतरण करने वाले इस श्रीपाल के साथ गुणमाला को ब्याह कर मैं सचमुच लोगो की दृष्टि में गिर गया। किन्तु श्रीपाल के द्वारा वास्तविक रहस्य के प्रकाशन करने पर राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। श्रीपाल नैमित्तिक की भविष्यवाणी को दुहराता है।

णिमित्तिउ जं कहइ णरेसर   सो किम सव्वु होइ परमेसर।
सि० क० (नरसेन)

इसी प्रकार सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक खोलने, समुद्र पार करने और भुजाओ से वा काष्ठफलक के सहारे समुद्र तैरते हुए विद्याधरो के देश मे पहुँच कर नैमित्तिक के अनुसार नायक के विवाह होने में भविष्यवाणी की संपूर्ति का सामान्य विश्वास चरितार्थ मिलता है।

दूरस्थ देश मे कौआ उडा कर सन्देश भेजना

भ० क० में कमलश्री पुत्र भविष्यदत्त को द्वीपान्तर से बुलाने के लिए कौआ को सन्देश दे कर उड़ाती है और कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में लिवा लाओ (भ० क० ६,१)।

जाति सम्बन्धी

अपभ्रंश की इन कथाओ में जातिविषयक सामान्य विश्वास भी मिलते हैं। इन विश्वासो में से मुख्य हैं—रात को भोजन न करना, बिना देव-दर्शन एवं पूजन के सुबह उठ कर भोजन न करना, विविध देव-देवियो की पूजा करना और व्रत-विधान का पालन करना, मद्य, मांस और मधु का भक्षण नही करना और अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना करना, इत्यादि। इसी प्रकार बालक के जन्म के एक महीने के पश्चात् जिन-मन्दिर में जा कर बालक की माता का आनन्दोत्सव मनाने का वर्णन भ० क० (१,१६) में

है। वस्तुत यह जातीय सामाजिक आचार है कि प्रसूति होने के बाद माता एक महीने तक मन्दिर जा कर देव-दर्शन नही कर सकती और एक महीने के बाद देव-दर्शन ही कर सकती है, पूजन-विधान नही। इसी प्रकार यह भी एक जातीय सामान्य विश्वास है कि स्त्री मूर्ति का अभिषेक नही करती तथा पुरुष ही मुक्ति प्राप्त करता है, स्त्री नही। स्त्री की मुक्ति के लिए उसे पुरुष-पर्याय धारण करना अनिवार्य है। इसी प्रकार किसी भी जीव को मारने से नरक-गति मिलती है और सताने से वैसा ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरण के लिए, सनत्कुमार ने पिछले जन्म में हस मिथुन में से कौतुक से हसी को पकड़ लिया था, जिस से हंस उस के वियोग में कण्ठगत हो गया था। परिणामस्वरूप इस जन्म मे सनत्कुमार को प्रेमिका विलासवती का कई बार वियोगजन्य दारुण दु ख सहन करना पडा। माणिक्यचन्द्र कृत 'सत्तवसणकहा' में ऐसी ही कथाओ का वर्णन है, जिस में इस जन्म में जुआ, चोरी आदि बुरी आदतो के शिकार लोगो को दुर्गति प्राप्त हुई और अगले जन्म में उन्हें नरक या नरक जैसी यातनाएँ भोगनी पडी। इसी प्रकार अच्छे कर्म करने वाले, न्याय-पथ पर आरूढ लोगो को स्वर्ग व क्रम से मोक्ष-प्राप्त होने का सामान्य विश्वास सभी कथाकाव्यो में व्याप्त है।

सामाजिक आचार-विचार

इन कथाकाव्यो में सामाजिक आचार-विचारो का जहाँ-तहाँ समावेश हुआ है। दोहला होने पर स्त्री की मनोकामनाएँ पूर्ण की जाती थी। भविष्यानुरूपा के दोहला होने पर वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करती है और भविष्यदत्त परिजनो के साथ उसे तिलकद्वीप ले जाता है। नैमित्तिक लोग गर्भ के लक्षणो को देख कर बालक या बालिका के होने की पहले से ही सूचना दे देते थे। कमलश्री के बालक होगा, इस बात को बहुत से लोगो ने पहले ही जान लिया था (भ० क० १,१५)। पुत्र के जन्म होने पर बहुत उत्साह के साथ उत्सव मनाया जाता था। घर के बाहर द्वार पर तोरण बाँधे जाते थे। मगल कलश सजाये जाते थे। मोतियो की रंगावली पूरी जाती थी। राजमहल में बधावा जाता था। बाजे बजते थे। दान दिया जाता था। युवतियाँ अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणो को धारण कर एकत्र होती थी। मगलगीत गाये जाते थे (भ० क० १,१५-१६)। जन्म से छठे दिन बालक का छट्ठी का उत्सव मनाया जाता था। जिनदत्त के उत्पन्न होने के छठे दिन आनन्दपूर्वक प्रमुख उत्सव मनाया गया था। उस दिन रात भर जागरणपूर्वक उछाह मनाया गया था (जि० क० १,२३)।

बालक के जन्म के दसवें दिन नामकरण नामक संस्कार किया जाता था (जि० क० १,२३)। बालक के एक महीने के हो जाने पर माता युवतियो के समूह के साथ पुत्र को गोद में ले कर देव-दर्शन के लिए जिन-मन्दिर जाती थी (भ० क० १, १६)। छठे या आठवें वर्ष में बालक को उपाध्याय के घर पढने बैठाल दिया जाता था। शस्त्र और शास्त्र दोनो प्रकार की विद्याओ का आम रिवाज था। शस्त्रविद्या में

विविध प्रकार के आयुधो का संचालन, सवारी करना और सब प्रकार के वारो को रोकना आदि बातें प्रचलित थी, और शास्त्रविद्या मे व्याकरण, छन्द, कोश, तर्क, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रचार था। साथ ही सकल कलाओ की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। गीत, नृत्य और कला (चित्रकला) आदि का उस समय अच्छा प्रचार था (जि० क० १,२४)। कन्याएँ भी व्याकरण, छन्द, नाटक, निघंटु, तर्क, अमरकोश और अलकार ग्रन्थो तथा वहत्तर कलाओ, विज्ञान, गीत, नृत्य, प्राकृत काव्य, आयुर्वेद, सकल पुराण-शास्त्र, सामुद्रिक लक्षण, कामशास्त्र, छहो भाषाओ, छहो दर्शन, छियानवे धर्म-सम्प्रदायो एव अठारह लिपियो का ज्ञान प्राप्त करती थी (सि० क० १,७)। जि० चउ० मे पाँचवें वर्ष में बालक को उपाध्याय के घर पढने भेजने का उल्लेख है। (जि० चउ० ६३)। बालको की विद्या का आरम्भ ओकार से होता था (जि० चउ० ६४)। लक्षण, छन्द, तर्क, व्याकरण, पुराण आदि की भाँति ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा बालक ही विशेष रूप से ग्रहण करते थे। अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा का भी प्रचार था। उपाध्याय के घर से सकल शास्त्रों मे निष्णात हो कर शिष्य घर लौटते थे। कन्याएँ मुनि से शिक्षा ग्रहण करती थी। पुत्र की विद्या-प्राप्ति के उपलक्ष्य मे सेठ-साहूकार दान देते थे। विद्यालय से बालक को दान-उत्सवपूर्वक घर लाया जाता था (भ० क० २,२-३)। इस प्रकार मध्ययुगीन भारतीय समाज मे शिक्षा का अच्छा प्रचार एव मान था।

विवाह का कार्य प्राय ब्राह्मण लोग करते थे। वे विवाह तय करते थे, लग्न शोधते थे और वैवाहिक विधि सम्पन्न करते थे। वर-कन्या के माता-पिता योग्य कुल तथा वर-वधू को देख कर ही विवाह करते थे। वर्ण-व्यवस्था का प्रचार था। राजा अपनी कन्या ब्राह्मण को नही देता था। किन्तु वणिक् या साहसी कुमार को व्याह देता था। गन्धर्व विवाह भी होता था। किन्तु आम प्रचार नही था। विवाह में कन्या को दायजा देने की प्रथा थी। कही-कही लडका लड़की को और लडकी लडके को देख कर किसी शर्त पर या साधारण रूप से विवाह करते थे और कही-कही ब्राह्मण चित्रपट को दिखा कर लडका-लडकी का मन भरते थे (जि० चउ० १०५-१०६)। इस से स्पष्ट है कि वे विवाह-कार्य में अपना मत स्वतन्त्र रखते थे। विलासवती का सनत्कुमार से ऐसा ही प्रेम था कि वह उसे छोड़ कर अन्य किसी से ब्याह नही करना चाहती थी। किन्तु मैनासुन्दरी माता-पिता को आज्ञा एव रुचि का पालन करती है।

विवाह के पूर्व कन्या पक्ष की ओर से लग्न भेजी जाती थी। वर के माता-पिता उत्सव मनाते थे। पक्ति-भोज देते थे। तब गाजे-बाजो के साथ बरात प्रस्थान करती थी। बरात बैलगाडी, हाथी और घोडो पर जाती थी। जिनदत्त की बरात मे एक करोड बैल थे। बरात में स्त्रियाँ भी जाती थी। वे मार्ग में मंगल गीत गाती चलती थी (जि० क० २, ११)। विवाह-स्थल पर मँडवा गाडा जाता था। कटनी बनाई

जाती थी। चौक मोतियो की रंगावली से पूरा जाता था। बरात को प्रायः नगर से वाहर ठहराया जाता था। वर हाथों में कंकण, गले में श्वेत पुष्पों की माला तथा हार, कानो में कुण्डल और सिर पर सेहरा वाँधते थे। वर के प्रस्थान करने समय मंगलाचार किया जाता था। वर की सवारी हाथी पर निकलती थी। वरात के नगर में पहुँचने पर घर-घर मे दिवाली मनायी जाती थी। विवाह मे नृत्य-गान की प्रथा थी। कन्या के द्वार पर वर के पहुँचने पर उस का तिलक किया जाता था। वर को मोतियो से पूरित चौक मे विठाया जाता था। तरह-तरह के मंगलाचार किये जाते थे (वि० क० १०,४)। मगल गान गाये जाते थे। कई तरह के वाजे वजते थे। तिलक तथा मगलाचार के पश्चात् ब्राह्मण वेद की ऋचाओ को पढते थे (सि० क० १,१४)। मगल हवन होता था। ससपदी के साथ भाँवरें पडती थी। विवाह के अन्त में कई प्रकार के नृत्यगान तथा कौतुक होते थे। वर कई दिनो तक ससुराल में रह कर राग-रग मे मस्त रहता था। कन्या की बिदा के समय वर-वधू के सिर पर दूर्वांकुर तथा सिद्धि के लिए जौ डाले जाते थे। दायजे में दास-दासी, हाथी-घोडा, गाय-भैंस तथा सेना एव रत्न, हीरा, मोती, माणिक आदि दिये जाते थे। वहू के साथ वेटे के विवाह से लौटने पर माता उत्सव मनाती थी। वेटे-वहू की नजर उतार कर आरती उतारती थी (जि० क० ३,२)। न्यौछावर कर दान देती थी। कपूर के दिये जलाये जाते थे।

इस प्रकार विवाह-कार्य प्रमुख सामाजिक उत्सव के रूप में किये जाते थे। लोगो को आसन पीढो पर विठाया जाता था। वहुत स्वागत-सत्कार किया जाता था। (भ० क० १,९) मामा और फूफा के भाई-वहनो में व्याह होने की प्रथा थी। श्रीपाल और गुणमाला ममेरे-फुफेरे भाई-वहन थे। वस्तुत यह दक्षिण भारत की प्रथा है, जो जैन साहित्य मे कई काव्यो तथा पुराणो में वर्णित मिलती है। इसी प्रकार जूडे में फूलो को खोसना आज भी दक्षिण भारत में प्रचलित है। किन्तु कुंकुम की पत्रावली रचना और माँग को मोती से भरना उत्तर पश्चिम और विशेष कर राजस्थान की प्रथा जान पडती है। उत्तर भारत में ही पुरुष कानो में कुण्डल पहनते हैं। राजा भविष्यदत्त कानो में सोने के कुडल पहनते थे (भ० क० २०,९)। सिर पर सोने के मुकुट वाँधते थे। राजा का यह विशेष वेश था। कन्याएँ गेंद से खेलती थी (भ० क० १,८)। वे वीणा-वादन और नृत्य-गीत में कुशल होती थी। बडे घर की स्त्रियाँ मोतियो से जडी हुई साडी पहनती थी (सि० क० २,१४)। इसी प्रकार उत्सवो के समय रत्नजडित अगिया पहनती थी। उन पर हीरा, सोना आदि की नक्काशी कढी रहती थी (जि० चउ० १३४-१३५)। पुरुष-स्त्रियाँ प्राय. जल-विहार, जल-क्रीड़ा करते थे। वसन्त में वन में विहार करते थे। इस प्रकार अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे वर्णित जीवन सामन्तकालीन वैभव से युक्त है। कही-कही राजपूतकालीन प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है. किन्तु आखेट-क्रीडा करना, वलि देना, शूली पर चढाना आदि वाते इन में नही मिलती। परन्तु जिनदत्त का कुमारी के मुँह से निकलते हुए भुजंग को मारना,

भविष्यदत्त का राक्षस को मारने के लिए तैयार होना तथा विभिन्न नायको का युद्ध करना आदि इस बात के प्रमाण है कि व्यावहारिक हिंसा में प्रतिकार करना जैन शास्त्रो तथा साधुओ के द्वारा विहित था। पं० नरसेन ने बलि-प्रथा में बछडा, घोडा तथा बकरे का उल्लेख किया है (सि० क० १,६)। इसी प्रकार नर-बलि का भी उल्लेख मिलता है (सि० क० ४,१७)।

लोक-निरुक्ति

लोक-निरुक्ति मे जन सामान्य में प्रचलित शब्दावली का अध्ययन किया जाता है। वस्तुत. प्रचलित देशी शब्दो का मूल रूप ढूँढ निकालना बहुत ही कठिन है। क्योकि शताब्दियो तक चलन मे रहने वाले शब्द जनता के प्रयत्न-लाघव, मुख-सुख और अशिक्षा के कारण घिस-पिस कर कई रूपो में बदले हुए मिलते हैं। फिर भी, भाषा विशेष के शब्दो के बदलाव की अपनी प्रक्रिया एव कुछ सामान्य नियम होते हैं, जिन के अनुसार स्थानीय नाम तथा पुरुष-स्त्रियो के नामो का अनुसन्धान किया जा सकता है।

अपभ्रंश कथाकाव्यो में प्राप्त पुरुषों की नामावली इस प्रकार हैं—चंदसेखर (चदसिहरु), जीवदेउ, जिणदत्तु, विमल, रल्ह, सील्ह, वील्ह, दंता, सारु, घनु, चमरु, पीता, धाधू, धण्णुदेउ, सवारु, सुमति, महामति, कन्हउ, खोखरु, विज्जाहर, तीकउ, वीकउ, सुरुपाल, दिउपालु, तेजू, आसे, वासे, अजउ, विजउ, रजउ, उवहिदत्तु, चारुदत्तु, गुणदत्तु, सुवत्तु, सोमदत्तु, वणउ, वणदत्तु, सिरिगणु, हरिगणु, आसादित्तु, छीथे, हुप्पा, शुदत्तु, जयदत्तु, धणवाहण, असोक, भविसयत्तु, वंधुयत्तु, धणयत्तु, सोमप्पइ, धणवइ, घणेसरु, मुगुत्तु, समाहिगुत्तु, णरसेणु, पयपालु, सिरिपालु, धवलु, कनयकेउ, धरवालु, धणयालु, मयरकेउ, अरिदमणु, भुवालु, हरिवलु, सणयकुमारु, वसुभूइ, मेहेसरु, वज्जोयरु, जसोहणु, चंदउत्तु, हारप्पह, जसुवम्मु, इसाणुचंदु, इत्यादि।

स्त्रियो के नाम हैं—

कंचणमइ, पोमावइ, कमलसिरि, विमला, विमलमति, सिरियामती, असोक-सिरी, रूपादे, कचणदे, उपमादे, मामादे, चित्तरेह, सावलदे, तारादे, मंदोवरि, चद्रामती हीरादे, रेवती, सारगदे, वीरमदे, गगादे, कमलादे, पियसुंदरि, भोगवती, मोरवती, कइलासकुमारि, सिंगारमइ, वसतमाला, विलासवइ, णरसुंदरि, सुरसुंदरि, मयणासुंदरि, रयणमजूसा, वणमाला, गुणमाला, चित्तलेह, जगरेहा, सुरेहा, गुणरेहा, मणरेह, रंभा, रइरेहा, विलासमई, जयलच्छी, लच्छि, सरुवा, मयणवेय, णायसिरि, भविसाणुरूव, अनगसुंदरि, गोरि इत्यादि।

प्रमुख नगरो के नाम इस प्रकार हैं—

सेयविय (श्वेताम्बी), तामलित्ति (ताम्रलिप्ती), कंपिल्ल, उज्जेणि, गयउरु (गजपुर), दहिपुर (दशपुर), वसतपुर, चंपापुर, कोकण, पोयणउर (पोदनपुर), रयणूउर (रथनूपुर), तिलयउर (तिलकपुर), सिरिउर (श्रीपुर), आदि।

सप्तम अध्याय

परम्परा और प्रभाव

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ में तथा साहित्य में अपभ्रंश का अत्यन्त महत्त्व है। भापा के अन्तर्गत नये-नये शब्द-रूप, सर्वनाम, परसर्ग, देशज क्रियापद एवं कृदन्त क्रियाओ का वाहुल्य तो अपभ्रश में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता ही है, पर उत्तरवर्ती काल में लिंग की अव्यवस्था और क्रिया में लिंग भी लक्षित होता है, जिन में से अधिकाश उपादान आ० भा० आर्यभापाओ मे आज भी कुछ ज्यो के त्यो तथा विकसित अवस्था में देखे जा सकते हैं। भापा विपयक इस अध्ययन से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का निकास-विकास उर्दू या किसी अन्य भापा से न हो कर परम्परागत मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ की विकसित धारा से हुआ है और इसी लिए भाषा विकास की दृष्टि से उस का जन्म सस्कृत से न हो कर अपभ्रश से हुआ है। लेकिन इस का यह अर्थ नही है कि सस्कृत से उस का सम्वन्ध नही था, या नही है। वस्तुत. अपभ्रश का लगाव भी सस्कृत से रहा है, किन्तु उस की जडें वोलियो में लक्षित होती है। बोली जाने वाली प्रत्येक भाषा व्यावँहारिक एवं जन-जीवन से सम्वद्ध होती है। वह किसी भाषा या शास्त्र के वल पर जन्म नही लेती। यही वात हिन्दी के सम्वन्ध मे भी लागू होती है। इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नयी अवस्था मे ढलने और विकसित होने के सम्वन्ध से ही अपभ्रश और हिन्दी का सम्वन्ध जोडा जाता है, मूल रूप में नही।

यद्यपि वैदिक साहित्य में कुछ विखरे हुए आख्यान मिलते हैं, किन्तु मूल रूप मे उन का सम्वन्ध इतिवृत्त से न हो कर मन्त्रो की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है। इस लिए वस्तु रूप में उन में घटनाएँ न हो कर उन का सकेत मात्र है। यास्क के निरुक्त में ऐसे ही आख्यानो का उल्लेख है। परन्तु 'वृहद्देवता' में अवश्य वे आख्यान रूप में वर्णित हैं। वस्तुत भारतीय साहित्य मे कथा के रूप में सव से वडा सकलन महाभारत कहा जाता है। महाभारत का एक चौथाई भाग उपाख्यानो से भरपूर है। किन्तु उस से भी प्राचीन गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' कही गयी है, जो पैशाची प्राकृत में एक लाख श्लोकप्रमाण लिखी गयी थी। संस्कृत मे वृहत्कथा-श्लोकसग्रह, वृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर के नाम से विभिन्न कवियो के तीन रूपान्तरित काव्य मिलते हैं, जिन को देखने से यह पता लगता है कि इस देश में पद्यवद्ध कथा लिखने का चलन अत्यन्त प्राचीन है। कथाओ की इस परम्परा में आर्यशूरकृत जातकमाला, शिवार्य

रचित भगवतीआराघना, हरिषेण विरचित बृहत्कथाकोष, संघदासकृत वसुदेवहिण्डी, नेमिचन्द्र रचित आख्यानमणिकोश, श्रीचंद विरचित कथाकोष, ब्र० नेमिदत्त कृत आराधनाकथाकोश तथा पं० रइधू विरचित आराधनासार और पुण्यास्रवकथाकोष आदि पालि, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे हुए कथाकोश हैं, जिन मे विभिन्न कथाएँ संकलित हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य मे पद्यवद्ध कथाओ का लेखन ई० पू० छठी शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गया था; किन्तु कथाकाव्य के रूप मे लोक-कहानी को कथाभिप्रायो से समन्वित कर कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश में प्रवन्ध शैली में पहली वार इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। इन में वर्णित कथाएँ दादी-नानी की कहानियाँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से नियोजित तथा कवि की कल्पना से अनुस्यूत हैं। अतएव कुछ कथाएँ लोक-कथा या जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानो से सम्वद्ध हो कर प्रवन्ध के आकार में रचित हैं।

यद्यपि प्रवन्ध मे वर्णित एवं आलोचित मुख्य कथाकाव्यो को महाकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है, किन्तु मेरी दृष्टि में महाकाव्य की रचना साधारण बात न होने से तथा महत्कार्य और आदर्श का विधान जीवन की समूची घटनाओ एवं प्रमुख पात्रो में व्याप्त होने पर और जीवन के शाश्वत प्रश्नो का समाधान अथवा जीवन-सन्देश की स्पष्ट अभिव्यक्ति होने पर ही कोई प्रवन्धकाव्य महाकाव्य कहा जा सकता है। और इस मान्यता के अनुसार इने-गिने दस-बीस महाकाव्य ही विश्व के साहित्य में मिल सकेंगे। अतएव अपभ्रंश की इन कथाओ को हमने एकार्थकाव्य की कोटि का माना है; जिन में लोक-कथाएँ कतिपय घटनाओ के विग्रह में मानवीय संवेदना से सजीव एवं चारित्रिक विधान में अनुभूति पूर्ण लक्षित होती हैं। इन मे कहानी के लगभग सभी तत्त्वो का तथा साहित्यिक रूढियो का भलीभाँति समावेश है। कथा के अन्तर्गत मुख्य घटनाओ के घटित होने पर उस वृत्त की एक से अधिक वार आवृत्ति होती है। इसी प्रकार हेतु कथाओ तथा सामान्य कथाभिप्रायो की भी समन्विति रहती है, जो कथा काव्यो का विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। चरितकाव्य एक प्रकार के सकलकथा-काव्य होते हैं, जिन में किसी महापुरुष का जीवन-चरित आदि से अन्त तक वर्णित रहता है। वास्तव में चरित लोक में देखा जाता है, काव्य में तो केवल वस्तु-वर्णन ही निवद्ध रहता है। अतएव कथाकाव्य और चरितकाव्य का मौलिक अन्तर वस्तु-वन्ध और शैली में दिखलाई पडता है। चरित शब्द ही पृथक् अभिधा का वाचक है। नाट्यशास्त्र में लक्षगत चरित-नाट्य की सज्ञा 'प्रकरण' कही गयी है। नाटक में दिव्यता पूर्ण राजर्षिवंश-चरित का कीर्तन होता है, किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित ही। यद्यपि सभी काव्य और नाटको में नायक का कुछ चरित वर्णित रहता है, किन्तु पृथक् विधा के रूप में विप्र, वणिक् और सचिव आदि के चरित-वर्णन का विधान है और चरितकाव्य में रूपक की भाँति राजर्षि वश का चरित वर्णित

रहता है। कथाकाव्य में कथा के भीतर कथाएँ रहती हैं, पर चरितकाव्य में केवल मुख्य कथा विभिन्न अवान्तर कथाओ के साथ निवद्ध-रहती है। कथाकाव्य की अपेक्षा चरित-काव्य में अतिलौकिक वातो (Super natural elements) का अत्यधिक समावेश देखा जाता है। कथाकाव्यो की तो अधिकाश कथाएँ संयोग और दैवी सयोग के साथ कुतूहल, उत्सुकता और जिज्ञासा को प्रवर्तन कर क्षिप्रता से गतिशील लक्षित होती हैं, जब कि चरितकाव्यो मे घटनाएँ रुक-रुक कर या मन्थरता से आगे वढती है। इस प्रकार कई वातो में दोनो मे स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यो की वस्तु ख्यातवृत्त है, क्योंकि जिनदत्तकथा को छोड कर लगभग सभी कथाएँ किसी न किसी रूप में प्राकृत-साहित्य से गृहीत हैं; किन्तु एक तो उन मे परिवर्तन मिलता है और दूसरे लोक-जीवन का पूरा पुट है, इस लिए ये लोक प्रचलित कथाएँ ही जान पडती है, जो उद्देश्य विशेष से साहित्यिक अनु-वन्ध में अनुस्यूत हैं। लाखू ने जिनदत्त कथा को स्वयं अर्हद्दत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा था।[1] इसी प्रकार विबुध श्रीधर ने भी किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।[2] प्राकृत-साहित्य में भी इस प्रकार की कथाएँ अनुश्रुतियो के रूप में सदियो तक प्रचलित रही हैं। क्योंकि प्राकृत के कथाकाव्य भी लोकप्रचलित कथाओ के आधार पर लिखे गये है। इस का सव से वडा प्रमाण यही है कि आज भी ये साहित्यिक कथावन्ध में निवद्ध कथाएँ देश-विदेशो मे लोक-कथा के रूप में सुनी जाती हैं।

इन कथाकाव्यो के समूचे प्रवन्ध मे मानव जीवन का सतुलनपूर्ण चित्र झलकता दृष्टिगत होता है। अतएव पच सन्धियो के समावेश के साथ ही महत्कार्य-योजना भी इन में निहित है। कथा-प्रवाह में इतिवृत्तात्मक और रसात्मक विवरण तथा भावो की मार्मिक व्यजना हुई है। किसी-किसी कथाकाव्य में तो कथा मे से कथा फूट पडी है। कही-कही विवरण में अनावश्यक रूप से वस्तुओ की लम्वी सूची तथा नामावली मिलती है—जैसे कि, उद्यान-वर्णन में फल-फूल और पेडो के नाम गिनाना, पक्ति-भोज में विविध पकवानो का उल्लेख करना, विवाह के समय वाजो के नाम वताना, वाणिज्य यात्रा के लिए जाने वालो के नाम गिनाना, इत्यादि। इसी प्रकार भ० क० मे विभिन्न आभूपणो की नामावली और जि० क० में स्त्री-भेद का विवरण मिलता है।

जायसी के पद्मावत की भाँति अपभ्रंश के प्रवन्धकाव्य व्यक्तिप्रधान न हो कर घटनाप्रधान है। अतएव वर्णित घटनाएँ कार्य से सम्वद्ध है। कार्य की सप्राप्ति होने तक घटनाओ में आवेग तथा क्षिप्रता एव क्रिया लक्षित होती है, किन्तु कार्य-सिद्धि के उप-

---

१ वणि अरुहदत्त क्ह कहहि तेम अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। जि० क०, १,३।
चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थाज्जातेयमद्भुत कथा कविकण्ठभूपा।
२ विस्तारिता च मुनिनाथ गणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्वुजेभ्य ॥
भविष्यदत्तचरित्र, ५२।

रान्त उपशम हो जाती है। वस्तुत यह कथाकाव्य की विशेषता है, जो मध्ययुगीन भारतीय कथाकाव्यो में दृष्टिगोचर होती है। अतएव अपभ्रंश और हिन्दी दोनो में ही प्रवन्ध-रचना में वहुत कुछ साम्य है, और इसी लिए यह कहा जा सकता है कि पद्मावत चरितकाव्य न हो कर कथाकाव्य है।

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो में चित्रित नायक वणिक् तथा राजवश के कुमार हैं, जो अपने जीवन में पिता द्वारा तिरस्कृत या उपेक्षित हो कर अथवा अन्य किसी घटना से प्रभावित हो कर अपने घर से निकल पडते हैं तथा नगर से प्रवसित हो द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा करते है। यात्रा के समय प्राय सभी नायक असहाय दर्शाये जाते हैं। वे भाई, धर्मपिता या किसी सार्थवाह के अनुग्रह से पोत में वैठ कर कंचनद्वीप या सिंहलद्वीप की यात्रा करते है। मार्ग में किसी द्वीप या सिंहल द्वीप में पहुँच कर कुमार का भाग्योदय होता है। वह अपने साहस, पुण्य या दैवी सयोग से राजकुमारी को प्राप्त करता है अथवा उस के साथ उस का पाणिग्रहण कराया जाता है। लौटते समय कुमार की सुन्दर पत्नी तथा अतुल धन-सम्पत्ति को देख कर पोत का अधिकारी सार्थवाह, धर्मपिता या सौतेला भाई कंचन-कामिनी के लोभ में पड़ कर कुमार को छल से या तो समुद्र के तट पर छोड़ देता है अथवा समुद्र में गिरा देता है (भ० क० को छोड कर सव में समुद्र में गिराया जाता है)। समुद्र में गिरा हुआ कुमार काष्ठफलक का अवलम्वन ले कर अथवा किसी विद्या या पुण्य के वल से समुद्र पार करता है। अधिकतर कथाओं में काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना दर्शाया गया है। समुद्र पार कर लेने पर प्राय. किसी न किसी सुन्दरी के साथ उस का विवाह होता है। इस का यही अभिप्राय जान पड़ता है कि भारतीय लोक-जीवन में शताब्दियो से यह विश्वास वना हुआ है कि समुद्र-पार कोई सुन्दरी रहती है, पर उसे पाने के लिए कई सकटो का सामना करना पडता है। जो उस संकट को या संकटो को पार कर लेता है वह सुन्दरी का वरण करता है। इसी लिए सुन्दरी की प्राप्ति के लिए लोक-कथाओ मे कई सकटो का वर्णन मिलता है। नायक ही नही नायिका को भी संकट झेलना पडता है। नायक के समुद्र में गिरा दिये जाने पर धर्मपिता, सौतेला भाई या सार्थवाह सुन्दरी के सामने काम-प्रस्ताव रखता है। वह ठुकरा देती है। उस के शील के प्रभाव से जलदेवता या जिनशासन की देवी प्रकट होती है अथवा पोत भग्न हो जाता है। इस प्रकार अनेक विघ्न-वाधाओ को झेल कर नायक-नायिका परस्पर मिल पाते हैं, और चिरकाल तक सुख भोग कर दोनो परम पद को प्राप्त करते हैं।

कथानक की दृष्टि से हिन्दी के सूफी काव्य और अपभ्रंश के कथाकाव्यो की वस्तु में वहुत कुछ साम्य है। सूफी काव्यो में भी प्रमुख पात्र परिस्थिति विशेष में जन्म लेते हैं और एक ही ढंग के प्रेम में पडते तथा आतुर हो कर मार्गप्रदर्शक के अनुसार प्रेममार्ग में अग्रसर हो कर विरह वेदना सहते हैं, और अन्त में संयोग हो जाता है।[1]

---

१. डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २८२।

सामान्य रूप से अपभ्रंश-कथाकाव्यो में मार्गप्रदर्शन तथा प्रेमाभिव्यंजना की उत्कृष्टता नही मिलती। किन्तु वि० क० में मित्र वसुभूति सनत्कुमार का मार्गप्रदर्शन करता है तथा प्रेमाभिव्यंजना ही काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। धार्मिक अंश तो सब से अन्त मे तथा अन्य कथाकाव्यो की अपेक्षा बहुत ही कम मिलता है। वस्तुत. अपभ्रंश का यह शुद्ध प्रेमाख्यान है, जिस में धार्मिक वातावरण का उपयोग न हो कर लोकाख्यान की प्रेममूलक प्रवृत्तियो का समावेश दैवी सयोग तथा कथाभिप्रायो के साथ हुआ है। प्रेमाख्यानक काव्यो से तुलना करने पर निम्नलिखित .बाते अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यो में समान रूप से लक्षित होती हैं।

(१) प्रेम कथाओ की भाँति नायक चित्र-दर्शन, रूप-श्रवण या प्रत्यक्ष-दर्शन अथवा पुतली के रूप में उत्कीर्ण नायिक का रूप-दर्शन कर उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे प्राप्त करने का उपक्रम करते है। भ० क० मे भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के सौन्दर्य पर विमुग्ध हो राक्षस से युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है। इसी प्रकार सुमित्रा के निमित्त सिन्धुनरेश से युद्ध कर उसे पराजित करता है। जिनदत्त तो पुतली निर्मित विमलमती के रूप को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। उस का यात्रिक जीवन ही प्रेम और परिणय से भरपूर है। सनत्कुमार विलासवती के प्रेम में पड कर अनेक आपत्तियो को झेलता है और सयोग होने पर भी बार-बार वियोगजन्य दु ख का अनुभव उसे करना पडता है। किन्तु दोनो का सच्चा प्रेम अन्त मे यथार्थ रूप में परिणत हो जाता है और दोनो का सयोग हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल कई प्रकार के दैवी सयोग तथा पुण्य के प्रभाव से रत्नमंजूषा का पाणिग्रहण करता है और उस से वियुक्त होता है, पर अन्त में फिर सयोग हो जाता है।

(२) इन सभी कथाओ में नायक सिंहलद्वीप की यात्रा करते हैं। जान पडता है कि सिंहल की यात्रा एक लोक प्रचलित रूढि थी, जो मध्ययुगीन काव्यों मे रूढ-सी हो गयी थी।

(३) इस यात्रा में नायक को सम्पत्ति और स्त्री दोनो का अपूर्व लाभ होता है। किन्तु दुर्भाग्य से पोत भग्न होने से या साथ के प्रमुख जन के छल से नायक समुद्र में गिर जाता है और काष्ठफलक के सहारे समुद्र को पार करता हुआ दिखाया जाता है।

(४) दैवी सयोग तथा अतिलौकिक बातो का समावेश दोनो में मिलता है।

(५) भ० क० और पदमावत का उत्तरार्द्ध भाग किसी ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है, जिस में नायक को नायिका की रक्षा एवं प्राप्ति के लिए युद्ध करना पडता है।

(६) इन सभी कथाओं में गार्हस्थ्य अवस्था में परिपुष्ट प्रेम के दर्शन नही होते, क्योकि कथा-चक्र सयोग या वियोग से आरम्भ हो कर संयोग में परिपूर्ण हो जाता है। उस के अनन्तर की घटना ऊपर से चिपकायी हुई जान पडती है, जिस में नगर में मुनिराज का आगमन और नायक का पुत्र को राजगद्दी सौंप कर मुनिव्रत धारण करने का विवरण तथा तपस्या कर स्वर्ग या निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख रहता है। अतएव गार्हस्थिक

प्रेम की विवृति न होकर राग-विरागमयी मधुर भावनाओ का कल्पनात्मक वर्णन तथा संयोग और वियोग की भूमिकाओ का अनुभूतिपूर्ण चित्रण लक्षित होता है। भ० क० में अवश्य कमलश्री का चरित्र गार्हस्थ्य दशा के सच्चे एवं पवित्र प्रेम से ओतप्रोत है। प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी के तथाकथित चरितकाव्यों मे अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः हिन्दी के अधिकतर प्रेमाख्यानक एव सूफी काव्य कथाकाव्य है, जो अपभ्रंश की लोक-परम्परा से प्रभावित रहे है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धों के दो प्रकार माने हैं[1]—व्यक्तिप्रधान और घटनाप्रधान। व्यक्तिप्रधान प्रबन्ध में नायक के जीवन की सम्पूर्ण मुख्य घटनाएँ वर्णित रहती है। अतएव संघटना की दृष्टि से आ० आनन्दवर्धन इसे सकलकथा कहते हैं,[2] और आ० हेमचन्द्र चरितकाव्य[3]। यथार्थ में अपभ्रंश के कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्य कथाकाव्य कहे जा सकते हैं, जिन में कार्य किसी मुख्य घटना से सम्बन्धित होता है और इसलिए वे सब घटनाप्रधान प्रबन्धो के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि संस्कृत में बुद्धचरित (अश्वघोष), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दी), धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द), कुमारपाल चरित (हेमचन्द्र), नैषधीयचरित (हर्ष), रघुवंश (कालिदास), रामचरित, विक्रमांकदेवचरित तथा श्रीकण्ठ-चरित आदि चरितकाव्य और शिशुपाल वध, जानकीहरण (कुमारदास), दशग्रीववध (मार्कण्डेय मिश्र) तथा शिव-परिणय आदि घटनामूलक प्रबन्धकाव्य हैं। किन्तु संस्कृत के इन घटनाप्रबन्धो को हम कथाकाव्य नही कह सकते। क्योकि प्रबन्ध में घटना या व्यक्ति को प्रधान रूप में चित्रित करना प्रबन्ध रचना से सम्बन्धित है। अतएव अप-भ्रंश और हिन्दी के मधुमालती, मृगावती, पदमावत आदि काव्य समान रूप से घटना-प्रधान है, जो कथाकाव्य की कोटि में आते हैं। क्योकि वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली की दृष्टि से दोनो में बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। निम्नलिखित बातो में दोनो में समानता देखी जाती है—

(१) अपभ्रंश और हिन्दी के उक्त कथाकाव्य लोक-कथाओं के आधार पर लिखे गये है। अतएव अधिकतर कथाएँ आज भी गाँवो में सुनी जा सकती हैं, जिन में कई प्रकार के रूपान्तर प्राप्त होते हैं। पदमावत की कथा भी मूल रूप में लोककथा है।[4]

(२) वस्तु की भाँति वर्णन में लोक प्रचलित उपमानो, लोकोक्तियो, सूक्तियो और देशी शब्दो का प्राधान्य कथाकाव्यो मे निहित रहता है।

(३) कही-कही वर्णनो में ऐसा जान पड़ता है मानो आपस में बैठ कर बातें कर रहे हो।

(४) संवादो में बोलचाल के रूपो की स्पष्ट झलक मिलती है।

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल जायसी—ग्रन्थावली, पृ० ७१।
२ आ० आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक, ३,७।
३ आ० हेमचन्द्र काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय।
४. रवीन्द्र 'भ्रमर' 'पदमावत की कथा का लोक-रूप, आलोचना, वर्ष ४, पृ० ३८-४४।

(५) कथाओ के माध्यम से उपदेश देना सामान्य रूप से इन कथाकाव्यो का उद्देश्य है। अतएव दोनो प्रकार के कथाकाव्यो मे वस्तु सोद्देश्य नियोजित रहती है।

(६) लोक-वार्त्ताओ की सरल और संक्षिप्त शैली दोनो में देखी जाती है।

(७) दोनो में ही कथानक-रूढ़ियो और किन्ही साहित्यिक रूढ़ियो का पालन मिलता है।

(८) दोनों ही कडवकवन्ध या उस से मिलते-जुलते छन्दो की रचना विशेष में लिखे गये है।

(९) दोनो में ही नायिका का नख-शिख-वर्णन, कामावस्थाओ का वर्णन, विरह की तीव्रता, आदर्श प्रेम की व्यजना, दूती द्वारा प्रणय-निवेदन, स्त्री-भेद, वन-विहार और कामक्रीडा आदि के वर्णन मे रीतिकालीन प्रवृत्तियो के बीज दिखाई पडते है।

(१०) कथा में औत्सुक्य, जिज्ञासा, कुतूहल, दैवीसयोग आदि कहानियो मे पायी जाने वाली सामान्य वाते उक्त दोनो भापाओ के कथाकाव्यो में मिलती है।

(११) सामाजिक रीति-पद्धति एव लोकाचार का दोनो मे उल्लेख मिलता है, जैसे कि—छट्ठी, नामकरण, वरात, विवाह, देवी-देवता-पूजन, इत्यादि।

(१२) दोनो मे लोक-कथाओ के सामान्य अभिप्राय (Motives) निहित रहते हैं, जिन्हें देख कर सरलता से लोककथा का पता लग जाता है।

इस प्रकार सामान्य रूप से जहाँ अपभ्रंश और हिन्दी के कथाकाव्यो मे समानता दिखाई देती है, वही कुछ वातो में अन्तर भी है। निम्नलिखित वातो में दोनो मे भेद लक्षित होता है—

(१) हिन्दी की प्रेमाख्यानक एवं सूफी कथाएँ रूपक-कथाएँ कही जाती है, पर अपभ्रंश की कथाएँ सामान्य कथाएँ हैं।

(२) अपभ्रश के कथाकाव्य सन्धियो में निबद्ध है, किन्तु सूफी एव प्रेमाख्यानक खण्डो में विभक्त हैं। वस्तुत. ये खण्ड छोटी-छोटी सन्धियो की भाँति है, जिन का नाम खण्ड में वर्णित विषय के आधार पर रखा गया है। अपभ्रश के पउमचरिउ और महापुराण आदि में इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ हैं, जो निश्चय ही आकार में इन से वडी हैं।

(३) सूफी एव प्रेमाख्यानक काव्यो की भाँति अपभ्रश के कथाकाव्यो मे प्रेम की अलौकिक व्यजना नहीं मिलती।

(४) जायसी के पदमावत की भाँति विरह की अतिशय तीव्रता एव अखिल सृष्टि के साथ उस की करुण एव मार्मिक व्यजना अपभ्रश के कथाकाव्यो में नही है। वास्तव में यह सूफी प्रभाव है, जो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में ही विशेष रूप से निहित है।

(५) पदमावत की भाँति समासोक्ति-पद्धति किसी भी कथाकाव्य में नही मिलती। क्योंकि अपभ्रशकथा लेखको का उद्देश्य गूढ अभिव्यंजना न कर किसी तथ्य का उद्‌घाटन कर उस का प्रभाव एव चमत्कार दर्शाना था।

(६) सोद्देश्य वस्तु-रचना होने पर भी दोनो के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया दोनो ही अपनी-अपनी मान्यताओ का प्रचार साहित्यिक रचनाओ के माध्यम से करना चाहते थे। इस लिए दोनो में दुहरे प्रयोजन मिलते है।

इस प्रकार दोनो मे अन्तर होते हुए भी कई बाते समान हैं। कथा में पुहुपावती (दुखहरनदास) और वि० क० में बहुत कुछ समानता मिलती है। इसी प्रकार पदमावत तथा जि० क०, भ० क० और सि० क० तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यो की घटनाओ में किन्ही बातो में साम्य दिखाई पडता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाँति सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यो में कथा-तत्त्व, साहसिक-रोमाचक तत्त्व घटनाओ में विविध मोड़ और वाह्य-आन्तरिक जीवन मे संघर्प देखा जाता है। इन सभी काव्यो का पर्यवसान शान्त रस में लक्षित होता है। डॉ० सिह के शब्दो में पदमावत में प्रवन्ध-काव्य, कथा-आख्यायिका और धर्मकथा तीनो ही के तत्त्वो का समन्वय हुआ है। चरित-काव्यो के (कथाकाव्य के) समान ही उस में अलौकिक, अतिमानवीय शक्तियो तथा साहसिक कार्यों की योजना, अनेक कथानक रूढियाँ, प्रेम, वीरता और वैराग्य का सुन्दर समन्वय मिलता है[१]। इसी प्रकार अन्य प्रेमाख्यानक काव्य तथा कुतुवन की मृगावती बिलकुल मौलिक रचनाएँ नही हैं। उन के रचना-स्रोत अपभ्रंश-साहित्य में ढूँढे जा सकते हैं।[२] वास्तव में इस प्रकार की कथा-कहानियाँ वर्षो से ही नही शताब्दियो से भारतीय लोक-जीवन में मौखिक रूप से प्रचलित रही हैं। किन्तु साहित्य रूप में निवद्ध हो जाने पर परम्परा तथा प्रभाव के रूप मे पूर्ववर्ती साहित्य एवं रचना का बहुत कुछ प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पड़ा है, जिसे हम झुठला नही सकते। वंगाली कवि दौलत-काजी की सती मायन और लोरचन्द्रानी भी इसी परम्परा की रचनाएँ है, जो कथा-काव्य की विधा से समन्वित हैं[३]।

यथार्थ में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की जननी अपभ्रंश में ही प्रान्तीय भाषाओ में लिखी हुई प्रारम्भिक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। प्राचीन वंगला का सिद्ध-साहित्य, गुजराती का रासा-साहित्य, महानुभाव सम्प्रदाय की आदि रचनाएँ तथा पुरानी राजस्थानी में लिखी हुई प्राचीनतम रचनाएँ अपभ्रंश में ही है। असमिया में हेम सरस्वती विरचित 'प्रह्लादचरित' चौदहवी शताब्दी की अपभ्रंश मिश्रित प्रथम रचना मानी जाती है। इसी प्रकार मराठी के प्रवन्धकाव्य भक्तिरसप्रधान कथाकाव्य कहे जाते हैं।[४] इन सभी प्रवन्धकाव्यो की सामान्य विशेपता है—अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाँति संस्कृत को शास्त्रीय शैली से हट कर लोक-भाषा, लोक-शैली में कथा के लगभग सभी तत्त्वो का सुन्दर विनियोग कर कथाकाव्य के रूप मे प्रवन्ध-रचना।

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०५।
२ स० सत्येन्द्रनाथ घोषाल विश्वभारती एनल्स, जिल्द ६, जून १९५९, पृ० ६६।
३ द जर्नल ऑव द विश्वभारती स्टडी सर्किल, जिल्द १, अक १, १९५९, पृ० ३८।
४ प्रो० भा० गो० देशपाण्डे . मराठी का भक्ति-साहित्य, पृ० २२६।

संस्कृत-काव्यो का प्रभाव

अपभ्रंश-कथा-काव्यो पर संस्कृत के प्राचीन काव्यो का परम्परागत रूप मे थोड़ा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। कुछ वाते प्रवन्धकाव्य में रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त है; उदाहरण के लिए—मंगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, नगर को स्वर्ग का एक खण्ड कहना तथा वन-वर्णन में वनस्पति तथा वृक्षों के नाम गिनाना, इत्यादि। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यो में ये वर्णन स्वाभाविक है। इस प्रकार के वर्णन निम्नलिखित हैं—

आत्म विनय-प्रदर्शन—

मन्दः कवियश.प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥रघुवंश, १,३।
बुहयण सयम्भु पइं विण्णवइ मइं सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ।
पउमचरिउ, १,३,१।

बुहयण सम्भालमि तुम्ह तित्थु हउं मन्दबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु। भ० क०,१,२।
पयसमत्ति किरिया विसेसया सन्धिछन्दु वायरण भासया।
देसभासु लक्खणु ण तक्कउ मुणमि णेव आयहिं गुरुक्कउ। जि० क०, १,६।
हउ अखउ जिणदत्तपुराणु पढिउ न लक्खण छन्द वखाणु। जि०च उ०,१,२०।
लक्खणु ण मुणमि णवि छन्दभेउ किह करउ कहत्तणु एवमेउ। सत्तवसणकहा।
सद्दासद्दु विसेसयरु लक्खणु णउ जाणेमि छन्दुवि सालंकारु तह घिट्ठिम कव्वु करेमि।
मयणपराजयचरिउ (हरिदेव), १,३
छन्दालंकारु न वुज्झियउ निग्घण्टु तक्कु दूरज्झियउ। पासणाहचरिउ (देवदत्त)

नगर-वर्णन—

इसी प्रकार नगर-वर्णन में उस की कल्पना स्वर्ग से करना या उसे स्वर्ग का एक खण्ड बताना—सस्कृत के महाकवि वाल्मीकि तथा कालिदास की भाँति अपभ्रंश-कवियों को अत्यन्त प्रिय है।

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणा गा गतानां।
शेषै. पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥ मेघदूत, १,३०।
पट्टणु पइसरिय ज धवल धरालंकरियउ।
केण वि कारणेण णं सग्गखडु ओयरिउ ॥रिट्ठणेमिचरिउ, २८,४।
वर गेय रवाउलु रहस सुराउलु महिहि सग्गु नं अवयरिउ। पउमसिरीचरिउ,१,२।
तहिं गयउरु णाउ पट्टणु जण जणियच्छरिउ।
ण गयणु मुएवि सग्गखडु महि अवयरिउ ॥भ० क०, १,५।

अवयरिउ णाइं पच्चक्खु सग्गु जोइउ सुरिक्खु सुमुहुत्तु लग्गु । वही, १,९ ।
धरणिहिं अवइ लह जणह सउन्नहं सयग्गखंडु नावइ खसिउ । वि० क०,११,३ ।
वलिवंड घरन्तह सुरवरहं अमरावइ णं खसि पडिय । सि० क०, १,४ ।
पामरि धरणि अकासहि चडी जणु जणु चइ छूटि सग्ग ते पडी । जि० चउ०,३१ ।
राजथाणु किमु करि वणियइ पच्चक्खु सग्गु खंडु जाणियइ । वही, ४० ।

वन-वर्णन—

वन-वर्णन में परिगणनात्मकता वाल्मीकि रामायण की भाँति पउमचरिउ, भ० क०, वि० क०, जि० क०, जि० चउ० और भ० च० आदि में दृष्टिगत होती है।[1] इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की भाँति भ० क० मे भविष्यदत्त पहले माँ को उपदेश देता है और फिर माँ भविष्यदत्त को शिक्षा देती है (भ० क० ३,१७)। कही-कही अपभ्रश के इन कथाकाव्यो को पढ़ते-पढते संस्कृत के काव्यो जैसा आनन्द मिलने लगता हैं। और ऐसे वर्णनो को देख कर यह बात बार-बार मन में उठती है कि सम्भवत संस्कृत के काव्यो को किसी-किसी कवि ने पढ़ा या सुना अवश्य होगा। अतएव रामायण की भाँति विलासवती को विद्याधर की वाटिका में सहकार के वृक्ष के तले अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सीता की भाँति चित्रित करना, रघुवंश के तेरहवे सर्ग में श्रीरामचन्द्र द्वारा प्रदर्शित मार्गस्थित वन-पर्वत आदि के स्मृति रूप में वर्णन जैसा ही भ० च० मे विबुध श्रीधर का वर्णन करना तथा वि० क० में अभिज्ञानशाकुन्तल की भाँति तपोवन का वर्णन करना, तापसी द्वारा सनत्कुमार और विलासवती का मिलाप होना एवं लता-कुजो में क्रीड़ा करना, इत्यादि वर्णनो में सस्कृत के प्राचीन कवियो की रचनाओ की कुछ न कुछ झलक अवश्य मिलती है। अतएव पढते ही सस्कृत के उक्त ग्रन्थो में वर्णित दृश्य एवं वातावरण का चित्र आँखो के सामने झूलने लगता है। सम्भव है प्राकृत के प्राचीन प्रवन्ध काव्यो मे अथवा तरगलीला, तरगवती, वत्सराज, सदयवत्स आदि कथाओ में इस प्रकार के वर्णन तथा चरित्र अंकित हो। वस्तुत. सस्कृत के अन्य कवियो की अपेक्षा महाकवि कालिदास की रचनाओ का प्रभाव अपभ्रंश-काव्यो पर देखा जा सकता है। 'पउमचरिउ' पर भी कही-कही कालिदास की रचनाओ का प्रभाव दिखाई पड़ता है।
तुलना कीजिए—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभाव स स भूमिपाल. ॥ रघुवश, ६,६५ ।
पुर उज्जोवन्तिय दीवि जेम, पच्छइ अन्धारु करन्ति तेम ।
णं सिद्धि कुमुणिवर परिहरन्ति, दुग्गन्ध रुक्ख ण भमरपन्ति । प० च० ७,३,८-९ ।

---

१ देखिए, वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड, द्वितीय सर्ग, ६-१० ।

'दीपशिखा' वाली कल्पना दोनो में समान है। उक्त उपमा के कारण कालिदास का उपनाम दीपशिखा कहा जाता है। अतएव कालिदास की यह मौलिक कल्पना मानी गयी है।

भ० क० में 'कुमारसभव' के एक श्लोक का भाव-साम्य निम्नलिखित रूप में मिलता है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतासि त एव धीरा । १,५९ ।
जुव्वणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ ।
चलमम्मणवयणुल्लावईहि जो परतियहि ण खडियउ ॥भ० क०, ३,१८ ।

इसी प्रकार का भाव एक प्राकृत गाथा में भी मिलता है। वि० क० में वर्णित सागर वर्णन की तुलना रघुवंश के तेरहवें सर्ग में वर्णित समुद्र के चित्रण से की जा सकती है।[1] इसी प्रकार निम्नलिखित उक्ति में समानता ढूँढी जा सकती है—

मरणं प्रकृति. शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधै. । रघुवश, ८,८७ ।
खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अखुट्टइ णवि मरणु । भ० क०, ३, १२ ।

मेघदूत की भाँति कही-कही लाक्षणिक प्रयोग भी लक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—

त्वय्यायत्तं कृपिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
आसीसिउ तउ तियहि तरुणिणयणणलिणालि अंचिउ । जि० क०, ३,२ ।

कटि की कृशता का वर्णन कई काव्यों मे समान रूप से वर्णित है। यथा—

समचक्कल कडियलु किसु मज्झउ णज्झइ करयलु मुट्ठहि गिज्झउ । भ० क० ५,९
जघजुयल कदली ऊपरइ तासु लोक मूठिहि माइयइ । जि० चउ०

मिलाइए—

उदरं नतमध्यपृष्ठता स्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गता त्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसु ॥नैषध, २,३४ ।

इसी प्रकार—

जो भक्खइ मंसु तासु कहिमि किं होइ दय । भ० क०, १,३
कामलुब्धे कुतो लज्जा, अर्थहीने कुतः क्रिया ।
मद्यपाने कुत शौच, मासभक्ष्ये कुतो दया ॥

तथा—

जाहे चरण सारुण अइ कोमल, पेच्छिवि जले पइट्ठ रत्तुप्पल । (सु० च०)

तुलना कीजिए—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्न तदिन्दीवर । (हनुमन्नाटक ५,६४)

---

१. देखिए—वि० क०, ३, १ । रघुवश, १३, ११-१२ ।

इस प्रकार कई स्थल संस्कृत के काव्यो में वर्णित भावो में तथा वर्णन-शैली में समान लक्षित होते हैं। किन्तु समूचे प्रभाव को समझ लेने पर यह निश्चय कर लेना कठिन-सा प्रतीत होता है कि वस्तुतः अपभ्रंश के उक्त कवियो ने संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन कर प्रभाव रूप में उस से ग्रहण किया था। सम्भव है कि प्राकृत-साहित्य से या परम्परा के रूप मे अनुश्रुति से ये कथाकाव्य प्रभावित रहे हो। क्योकि वि० क० और श्रीपालकथा को ध्यान से देखने पर यह निश्चय हो जाता है कि प्राकृत-साहित्य के वर्ण्य-विषय को ही नही भावो को भी ज्यो का त्यो अपनाया गया है। अतएव कई स्थलो पर सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ तथा भाव-साम्य लक्षित होता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि संस्कृत की साम्यमूलक कुछ बातें सीधी संस्कृत-साहित्य से न आ कर प्राकृत-साहित्य के माध्यम से अपना ली गयी हो। फिर, समानान्तर रूप से लिखा जाने वाला भारतीय साहित्य अपने-अपने क्षेत्रो में एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य रहा है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यो मे वर्णन-साम्य

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों तथा कथाकाव्यो में कई स्थलो पर साम्य लक्षित होता है। कही-कही यह समानता वर्णन तथा शैली में देखी जाती है और कही-कही भावो में। भ० क० के वियोग-वर्णन तथा प० च० के वियोग-वर्णन की शैली समान है। इसी प्रकार पुष्पदन्त के महापुराण तथा भ० क० के गीतो में एवं गीति शैली में कही-कही साम्य लक्षित होता है।

उदाहरण के लिए—

मओमत्तमायंग लीलावहारा रमावासवच्छत्थलोलंतहारा।
फणिदेण चंदेण इंदेण दिट्ठा पुणो दो वि राया सरंते पइट्ठा।

महापुराण १७,१२।

तुलना कीजिए—

अहो सुंदरं होइ एयं ण कज्जं अगम्मंपि गतूण खद्धं अखज्जं।
गयं णिप्फल ताम सव्वं वणिज्जं हुअ अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्जं।

भ० क०, ३,२६।

इसी प्रकार मुनि कनकामर के करकण्डचरिउ और विबुध श्रीधर के भ० च० के गीतो मे शैलीगत साम्य स्पष्ट जान पडता है।

इसी प्रकार—

कुंताइं भज्जति कुंजरइं गज्जंति
रहसेण वग्गंति करिदसणे लग्गंति""करकण्डचरिउ, ३,१५
तें वाहुडंडेण कमलसिरिपुत्तेण
दिट्ठियाइ तिरियाइं वहुदुखभिरियाइं"' भ० क० (विबुधश्रीधर)

अब कुछ भाव-साम्य विषयक उदाहरण द्रष्टव्य है—

रूप-वर्णन—

णं वम्महभल्लि विधणसीलजुवाणजणि ।
तहि पिक्खिवि कंति विभिउ झत्ति कुमारु मणि । भ० क०, ५,८ ।
उन्नयवंमुब्भव आसासिय तिहुयण जयहु ।
अहिणवगुणमुदरि चावलट्ठि मयरद्धयहु ॥ पउमसिरिचरिउ, २,३,३६ ।

इसी प्रकार प० च० तथा भ० क० में कही-कही स्पष्ट भावो मे समानता देखी जाती है ।

थिर कलहंस गमण गइ मंथर किस मज्झारे णियवे सुवित्थर ।
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी णं पिपीलि रिंछोलि विलिण्णी ।
प० च०, ३८.३.३ ।
थिर कलहंस लीलगइ गामिणि जणहो घणहु परिवारहु सामिणि ।
भ० क०, १, १२ ।
रोमावलि वलि अंग विहावइ थिय पिपीलिरिंछोलि व णावइ। वही, ५,९ ।

उदाहरण के लिए, निम्नलिखित उद्धरण मे रोमावली की कल्पना चीटी की पंक्ति से देने में धनपाल को मौलिकता का प्रकाशन न हो कर परम्परा का पालन मात्र प्रतीत होता है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि ण करमि कमलमुहुल्लउ ।
पर सुमरति हे सुउ होइ महु फुट्टु ण मण हियउल्लउ ॥ ३,१६
—भ० क० (विवुध श्रीधर)

हिअडा फुट्ट तडत्ति करि कालक्खेवें काइ ।
देक्खउं हय विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खसयाइं ॥ प्रकीर्णक ।
तें तुव भमउं समउं रइरससुहु सेवंताह वट्टए ।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति न फुट्टए ॥ जि० क०, ४,२५ ।
ओसहु निरु मिट्ठं विज्जुवइट्ठु अहु जण कासु न होइ पिउ । पउमसिरिचरिउ २,७ ।
सविणउ भणइं काइं किर वुच्चइ ओसहु गुलियउ कासु ण रुच्चइ ।
—भ० क० (धनपाल), ३,१४ ।

इसी प्रकार समुद्र की पुरुष रूप में कल्पना भी धनपाल की निजी मौलिकता नही है । संस्कृत के प्राचीन साहित्य में समुद्र का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है, जिस में धीर, गम्भीर पुरुष या महापुरुष के रूप में कल्पना की गयी है ।

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमान. प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्र संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ रघुवंश, १३,६ ।

आयुष्मन्निति वहुविस्मयो यमब्धिः सद्रत्न. सकलजगजनोपजोव्य. ।
गम्भीरप्रकृतिरनलसत्त्वयोग प्रायस्त्वामनुहरते विना जडिम्ना ॥
—महापुराण (जिनसेन) २८,२०२ ।

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु   सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु ।
—भ० क०, ३,२२ ।

डॉ० भायाणी ने प० च० और भ० क० की तुलना करते हुए रचना के प्रारम्भिक अश पर स्पष्टतया स्वयम्भू का प्रभाव दर्शाया है । (पउमचरिउ की भूमिका, पृ० ३६-३७)। भ० क० पर विवुध श्रीधर के अपभ्रंशकाव्य भ० च० का प्रभाव भी दिखलाई पडता है ।

जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ   सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ ।
—भ० क०, विवुध श्रीधर, २,१९ ।

अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोइ   धणुसंपय विणु पुण्णहिं ण होइ ।
—भ० क० (धनपाल), १,२ ।

उदाहरण के लिए—भूपाल के पूर्व कुरुजंगल देश में राजा मेघेश्वर का उल्लेख करना तथा नगर, झरना आदि के वर्णनो में कही-कही साम्य लक्षित होता है ।

भ० क० का अपभ्रंश की परवर्ती रचनाओ पर प्रभाव

धनपाल की भ० क० पर जहाँ प्राचीन संस्कृत तथा अपभ्रंश कवियो की रचनाओ का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है, वही अपभ्रंश तथा हिन्दी की परवर्ती रचनाओ पर धनपाल की उक्त रचना का प्रभाव लक्षित होता हैं। निम्नलिखित उदाहरणो में स्पष्टतया भावो का साम्य द्रष्टव्य है—

जसु जित्तिउ वुद्धिवियासु होइ   सो तित्तिउ पयाडइ मच्चलोइ ।
भ० क०, १,२ ।

जसु जेत्तिउ मइ पसरु पवट्टइ   सो तेत्तिउ धरणियले पयट्टइ ।
—वाहुवलिचरित, १, ९ (द्वितीय धनपाल)

रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ   किं अंवइ आमलउ णिवज्झइ ।
जो तउतणइ अगि उप्पण्णउ   तासु सरीर होइ किं दुण्णउं । २,३ ।
पाउ करहि सुहु अहिलसहि पर सिविणेवि ण होइ ।
माइंण्णिवे वाइयइं अंव कि चक्खइ कोइ ॥ श्रावकाचार, १६ ।
पिक्खिवि अइरावइ गुलुगुलतु   कि इयरहत्थि मा मउ करंतु ।
भ० क०, १,२ ।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चंतु । सन्देशरासक, १,११ ।

महकव्व इहु ताह तणिय किर कवण कह।
किं उइय मयंकि जोइंगणउ म करउ पह ॥ भ० क०, १,२।
अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइय ससहरेण णिसिसमए।
ता किं णहु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं ॥ सन्देशरासक, १,८।
जसु जित्तिउ वुद्धिवियासु होइ सो तित्तउ पयाडइ मच्चलोइ। भ० क० १,२
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा। सन्देशरासक, १,१७।

समुद्र-यात्रा के वर्णन में कई स्थल पं० रयधू की श्रीपालकथा में पं० नरसेन की सि० क० और जि० क० से तुलना करने पर बहुत कुछ समान मिलते हैं। इसी प्रकार नगर-वर्णन में भी कुछ-कुछ साम्य लक्षित होता है। वन या उद्यान-वर्णन में अपभ्रंश कथा-काव्यो में तथा धर्मपरीक्षा में परिगणनात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। भ० क० में भी यह परम्परा तथा रूढि के रूप में मिलती है। अतएव कुछ बातो में साम्य होने पर भी निश्चय रूप से प० च० तथा महापुराण का जितना प्रभाव परवर्ती अपभ्रंश काव्यो पर पडा है; उतना भविसयत्तकहा का नही। क्योकि भ० क० के प्रारम्भिक कुछ कडवको में तो अवश्य पौराणिक शैली लक्षित होती है, किन्तु शेष भाग शास्त्रीय शैली से निर्बन्ध हो कर लिखा गया है। अतएव लोक-कथाओं में प्रचलित बातो तथा प्रबन्ध-रचना की विभिन्न प्रवृत्तियो का लोक-शैली में वर्णन इस काव्य की मुख्य विशेषता है। और इसी लिए भ० क० मे कई मधुर गीतो की रचना मिलती है।

अपभ्रंश कथाकाव्यो का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की कथावस्तु की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनो प्रकार के काव्यो की वस्तु में बहुत कुछ साम्य है। केवल दोनो के उद्देश्य विशेष में अन्तर है। अतएव कथा के वर्णन में तथा घटनाओ के मोड़ में और चरित्र-चित्रण में भेद लक्षित होता है। किन्तु कथा-प्रकार में, प्रबन्ध-रचना में तथा शैली में हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्यों पर अपभ्रंश के कथाकाव्यो का प्रभाव दिखाई पडता है। अतएव कथानक रूढियों और काव्य-रूढियों में अद्भुत साम्य है। इसी प्रकार कामावस्थाओं, स्त्री-भेद, नखशिख-वर्णन आदि सभी रीतिकालिक प्रवृत्तियो का दोनो में समावेश मिलता है।

यद्यपि हिन्दी के सूफी काव्यों में सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्मविनय-प्रदर्शन तथा काव्य की प्रेरणा आदि काव्य-रूढियो का पालन नही हुआ है, किन्तु मंगलाचरण, आत्म-परिचय तथा कथा-रचना का उद्देश्य एवं गुरु-परम्परा का निर्देश प्रेमाख्यानो में मिलता है।[1] इसी प्रकार अपभ्रंश कथाकाव्य की भाँति प्रेमाख्यानक काव्यों में कही-कही कथा की प्राचीनता का उल्लेख देखा जाता है। यही नही, कई कथाएँ साम्प्रदायिक मत

१. डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २७७।

एवं वादो से रहित शुद्ध प्रेमकथाएँ कही जा सकती हैं; जिन में प्रेम के अलौकिक रूप का वर्णन न हो कर लोक प्रचलित यथार्थ प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः आरम्भिक सूफी कवि उदार तथा लोकयुगीन प्रवृत्तियो से प्रभावित थे। किन्तु परवर्ती काल में भारतीय जीवन की लोक-कथाओ को अपनाकर सूफी कवियो ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार करना चाहा था। परन्तु जान कवि के अधिकांश ग्रन्थ सूफी विचार-पद्धति तथा प्रेमोत्कर्ष से रहित प्रेमाख्यानक काव्य है। इतना ही नही, जान कवि की इन रचनाओ में मसनवी की परम्परा का पालन भी नही हुआ है।[1] यथार्थ मे, भारतीय साहित्य में अधिकतर प्रेमकथाएँ अपने-अपने मत का प्रचार करने के लिए विभिन्न सन्तकवियो के द्वारा लिखी जाती रही हैं, क्योकि मनोरजन तथा प्रभाव की दृष्टि से इन कथाकाव्यो का अत्यन्त महत्त्व है। और इसी लिए इन कथाओ में सामाजिक अभिप्राय तथा सामान्य विश्वास निहित भलीभाँति हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक-रूढियो का उल्लेख किया है, उन मे से अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यो में निम्नलिखित रूढ़ियो का समावेश मिलता है[2]—

(१) चित्र या पुतली में किसी सुन्दरी को देख कर उस पर मोहित हो जाना, (२) रूप-परिवर्तन, (३) नायक का औदार्य, (४) उजाड नगरी, (५) विजन वन में सुन्दरी से साक्षात्कार, (६) शत्रु से युद्ध कर या मत्त हाथी को वश में करने पर सुन्दरी से प्रेम या विवाह, (७) जल की खोज में जाने पर प्रिया-वियोग और ऋषि, विद्याधर या असुर का दर्शन, इत्यादि।

इसी प्रकार विवाह के पूर्व नायिका-प्राप्ति का प्रयत्न तथा लौकिक और दैवी बाधाओ की योजना अपभ्रंश और हिन्दी के लगभग सभी प्रबन्ध काव्यो में मिलती है।[3] सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन भी अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो में तथा हिन्दी के लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यो मे हुआ है। और समुद्र में जहाज के भग्न होने तथा नायक-नायिका के बिछुड़ने की घटना भी समान रूप से वर्णित मिलती है।

प्राय सूफी प्रबन्धकाव्यो की कथा का अन्त संयोगमूलक दुखान्त होता है। किन्तु कवि मंझन, जान, उसमान, नूरमुहम्मद, ख्वाजा अहमद और शेख रहीम की अधिकतर रचनाएँ सुखान्त हैं।[4] अपभ्रंश के कथाकाव्यो में भी विरह की तीव्रता के पश्चात् संयोग तथा लौकिक सुख का वर्णन मिलता है। इस लिए वियोग सभी कथाकाव्यो में अनिवार्य रूप से वर्णित है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यो में तो प्रेम एवं वियोग ही मुख्य हैं। इस प्रकार अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो में कई बातें समान रूप से वर्णित लक्षित होती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

---

१ वही, पृ० २७७।
२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ८०-८१।
३. डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० १७१।
४ वही, पृ० २८६।

(१) धनपाल की भविष्यदत्तकथा और जायसी के पदमावत का पूर्वार्द्ध भाग लोककथा है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक जान पडता है।[1] दोनो ही प्रबन्धकाव्य दो खण्डो में विभक्त है। विषय भी लगभग दोनो में समान है—अभिप्राय की दृष्टि से मूल रूप में।

(२) विरह-वर्णन, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन और कामदशाओ आदि के वर्णन में रीतिकालीन प्रवृत्तियो का उदय स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

(३) साहसिक कार्यों तथा अतिमानवीय बातो का समावेश दोनों मे मिलता है।

(४) साहित्यिक रूढियो का भी किसी-किसी ने पालन किया है।

(५) प्रबन्ध-संघटना में भी कही-कही साम्य है।

(६) लगभग सभी सूफी एव प्रेमाख्यानक काव्य चौपाई-दोहायुक्त शैली मे लिखे गये हैं, जो अपभ्रंश की कडवक शैली का परवर्ती रूप है।

(७) देश्य शब्दो, लोकोक्तियो, मुहावरो आदि का प्रचुर प्रयोग दोनो मे मिलता है। लोक-जीवन की अनेक बातो में समानता होने से दोनो में बहुत कम अन्तर दिखाई पडता है।

सूफी-काव्य रचयिताओ ने अधिकाश दोहा-चौपाई के क्रम से काव्य-रचना की है तथा चौपाइयो के क्रम में विशेष कर पाँच चौपाइयो से ले कर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रखा है। मझनकृत मधुमालती, जान कवि विरचित रतनमंजरी, और नूरमुहम्मद कृत इन्द्रावती में पाँच अर्द्धालियो के बाद एक दोहे का क्रम मिलता है। इसी प्रकार उसमान रचित चित्रावली में, कासिमशाह कृत हसजवाहिर में तथा कवि नसीरकृत प्रेमदर्पण में सात अर्द्धालियो के अनन्तर एक दोहे का क्रम दृष्टिगोचर होता है। और हुसेनअली रचित पुहुपावती में तथा कवि शेख निसारकृत यूसुफजुलेखा में नौ अर्द्धालियो के पश्चात् एक दोहे के क्रम से रचना हुई है। किन्तु जान कवि कृत कामलता में चौपाई छन्द ही मिलता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो में सामान्यतः चार पद्धडिया छन्द से ले कर पन्द्रह, सोलह तथा किसी मे बीस छन्द और द्विपदी या तत्सम किसी अन्य छन्द-योजना का क्रम देखा जाता है। किन्तु अधिकतर पाँच या छह पद्धडिया छन्द के बाद द्विपदी का क्रम प्राप्त होता है। अतएव रचना-बन्ध की यह शैली निश्चित ही अपभ्रंश से परम्परा के रूप मे हिन्दी-प्रबन्धकाव्यो को प्राप्त हुई है, जिस का परवर्ती रूप हमें जायसी के पदमावत और रामचरितमानस में लक्षित होता है। इसी प्रकार चौपई बन्ध की स्वतन्त्र शैली अपभ्रंश से ही हिन्दी को मिली है। कवि रल्ह कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयो में निबद्ध रचना है। सम्पूर्ण रचना चौपाइयो में लिखी हुई मिलती है, जो अपभ्रश के कथाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित है।

---

१ रवीन्द्र भ्रमर 'पद्मावत की कथा का लोक-रूप' आलोचना, वर्ष ४, अक ४, पृ० ३८-४४।
२. डॉ० सरला शुक्ल 'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २८७।
३ वही, पृ० ३६३।

शैली की भाँति सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों पर अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्यों में वर्णित छन्दो का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट ही सत्यवती-कथा, मृगावती, नूरकचन्दा, मैनासत, छिताईचरित, मधुमालती आदि प्रवन्धकाव्य चौपाई और दोहा में लिखे गये हैं।[1] इसी प्रकार मधुमालती, चित्रावली, पुहुपवरिषा, रतनमंजरी, कँवलावती, लैला-मँजनूँ, कलावती, हसजवाहिर, इन्द्रावती, अनुरागवाँसुरी, पुहुपावती, यूसुफजुलेखा, भाषा प्रेमरस तथा प्रेम दर्पण आदि में चौपाई-दोहा की योजना मिलती है। पदमावत और रामचरितमानस तो सर्वविदित ही है। वस्तुत अपभ्रंश के कथाकाव्यो में पद्धड़िया छन्द के साथ द्विपदी या उस के आकार का अथवा अन्य कोई छन्द प्रयुक्त हो सकता था। किन्तु साधारणतया द्विपदी, दोहा या घत्ता छन्द का प्रयोग मिलता है। अतएव अनुरागवाँसुरी में भी चौपाइयों के साथ वरवै का प्रयोग किया गया है।[2] इस से स्पष्ट जान पडता है कि अपभ्रश के कड़वक में, जिस प्रकार पद्धडिया के अन्त में द्विपदी या दोहा का प्रचलन रहा है, उसी प्रकार सूफी या प्रेमाख्यानक काव्यो मे भी चौपाई के अन्त में दोहा या उस की जाति के छन्द का चलन रहा है।

वस्तुतः चौपाई और दोहा अपभ्रंश के मात्रिक छन्द हैं। अपभ्रंश के मूलछन्द मात्रिक ही हैं। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्ड-लिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरि आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं।[3] अतएव रहीम का वरवै, गंग का छप्पय, तुलसीदासकी चौपाई, विहारी का दोहा तथा सेनापति का कवित्त एव सवैया प्रभृति हिन्दी के प्रमुख छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-धारा में से होकर हिन्दी-साहित्य में समा गये हैं।[4] परवर्ती काल में भारत की अन्य भाषाओ में भी इनमे से कई छन्दो का प्रयोग होने लगा था।

दोहा छन्द अपभ्रंश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयुक्त रहा है। दोहा का सब से पहला प्रयोग हमें विक्रमोर्वशीय में मिलता है। जिस प्रकार अभग, दिंडी, साकी और ओवी आदि मराठी के निजी छन्द है,[5] उसी प्रकार दोहा, चौपाई, गीता, हरिगीता आदि अपभ्रंश के औरस छन्द हैं। वरवै छन्द में प्रथम और तृतीय चरण में १२-१२ तथा द्वितीय और चतुर्थ में सात-सात मात्राएँ होती हैं। अपभ्रश मे इस से मिलता-जुलता छन्द भ्रमरावलि है। इस मे भी प्रथम चरण में वारह और द्वितीय में सात मात्राएँ होती हैं।[6]

यथा—

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०६।

२ डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० ४६२।

३ देवेन्द्रकुमार जैन 'प्राकृतछन्दकोश', हिन्दुस्तानी, भाग २२, अक ३-४, पृ० ४४।

४ वही, पृ० ४५।

५ 'अभग, दिंडी, साकी, घनाक्षरी, सवाई, छप्पा, ओवी, कटिवन्ध, चूर्णिका ह्याना केवल मराठी छन्द म्हणतात। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे मराठी छन्द, १८४८, पृ० ३४।

६ समे सप्त ओजे द्वादश भ्रमरावली। छन्दोऽनुशासन, ६, २० ५।

सो रणरंणत भमइ, भमरावलि ।
मयणधणुह गुणवल्लि, ण सामलि ॥

हिन्दी का हरिगीतिका छन्द तो ज्यो का त्यों प्राकृतपैंगलम् में हरिगीता नाम से मिलता है।[1] दोनों में ही अट्ठाईस-अट्ठाईस मात्राएँ तथा अन्त में गुरु रहता है। इसी प्रकार सोरठा भी ११ और १३ मात्राओं से रचित दोनो में समान रूप से मिलता है।[2] इस छन्द विषयक समानता भी देख कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त छन्दो का ही हिन्दी-साहित्य में ज्यो का त्यो अथवा कुछ हेर-फेर के साथ प्रयोग हुआ है, जो स्वाभाविक ही है। क्योंकि परम्परा से विकसित कोई भी भाषा या साहित्य यकायक अपने धरातल पर अधिक समय तक स्थिर रहने के लिए साहित्यिक आदर्श एवं मानक-रूपों का आलम्बन ले कर ही समर्थ हो पाता है। और यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी हमें स्वाभाविक बोलचाल की भाषा में लिखा हुआ नहीं मिलता।

इस प्रकार प्रबन्ध-शैली तथा रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यो का विशेष महत्त्व है। जो लोग सूफी काव्यो को मसनवी शैली में लिखा हुआ कहते है, वे यह भूल जाते हैं कि प्रबन्ध-संघटना में मंगलाचरण, आत्म-विनय-प्रदर्शन, स्ववंश-कीर्तन, प्राचीन कवियों तथा आचार्यो का उल्लेख आदि प्रबन्ध काव्य की रूढियो का तथा नख-शिख, स्त्री-भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जल-क्रीडा, सिंहलद्वीप की यात्रा तथा कामावस्थाओं का वर्णन एवं वियोग में कौआ उड़ा कर सन्देश भेजना, आदि बातो का पालन अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यो की पद्धति पर हुआ है। और फिर, स्पष्ट रूप से चौपाई-दोहा, चौपाई तथा गीत शैली का स्वतन्त्र प्रयोग अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलता है। हिन्दी का चौपाई छन्द और अपभ्रंश का पद्धडिया बहुत कर एक ही छन्द है। दोनो में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं तथा दो पंक्तियाँ चार चरणो की होती है। आ० स्वयम्भू के पहले से भी यह छन्द प्रचलित रहा है। अतएव यह कडवक शैली अपभ्रश के काव्यो की विशेष प्रवृत्ति है। प० विश्वनाथ के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है।[3] भारतीय साहित्य में यह पद्धति अपभ्रश काव्यो में ही प्रयुक्त देखी जाती है।

परवर्ती विकास में पद्यबद्ध हिन्दी काव्यों में जैन कवियो द्वारा लिखित रचनाएँ इसी परम्परा का पालन करती हुई लक्षित होती हैं। उन मे अन्तर इतना ही है कि कड़वक शैली में जहाँ पद्धडिया के अन्त में कोई भी छन्द जुड सकता था, वहाँ अपभ्रश कथाकाव्यों की उत्तरकालीन प्रवृत्ति की भाँति द्विपदी या उस की जाति के किसी छन्द

---

१ गण चारि पचक्कल ठविज्जसु बीअ ठामहि छक्कलो,
पअ पअह अतहि गुरु करिज्जसु वण्णणेण सुसव्वलो। प्रा० पै०, १,१९१।

२. वही, १ १७०।

३ अपभ्रशे निबद्धेऽस्मिन् सर्गा कुडवकाभिधा।
तथापभ्रशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि ॥साहित्यदर्पण, ६,३२७।

का प्रयोग न हो कर दोहा का ही प्रयोग किया जाने लगा था। बरवै का भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्य-धारा में विकसित शैलीगत प्रयोग तथा छन्दोबद्ध कडवक-रचना सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में ही नहीं, तुलसीदास के रामचरितमानस में भी दिखाई पडती है। इस रूप में तथा प्रबन्धगत अन्य बातों में भी स्पष्ट रूप से भलीभाँति समझ लेने पर यह धारणा बन जाती है कि अपभ्रंश की प्रबन्ध-काव्य-धारा से जाने-अनजाने हिन्दी की साहित्यिक परम्परा का विकास हुआ है।

धनपाल की भ० क० और जायसी का पदमावत

धनपाल की भ० क० और जायसी के पदमावत की विषय-वस्तु लोक-कथाएँ हैं, जिन में नायक की समुद्र-यात्रा, सुन्दरी-प्राप्ति, सिंहलद्वीप का कथानक-रूढि के रूप में उल्लेख, आदि बाते मिलती-जुलती है। किन्तु समुद्र में जहाज के डूबने और नायक-नायिका का काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करने का वर्णन भ० क० में न हो कर वि० क० में है। इसी प्रकार स्त्री-भेद का वर्णन जि० क० में है, और षड्ऋतु-वर्णन वि० क० में है। किन्तु नखशिख, नामपरिगणन (उद्यान-वन-वर्णन में), युद्ध और विवाह आदि का वर्णन दोनों में मिलता है। वस्तुतः कथा की दृष्टि से पदमावत वि० क० के निकट है। सुआ संवाद और उत्तरार्द्ध में राजा के बन्दी होने आदि की घटनाओ को छोड कर दोनो में साम्य लक्षित होता है। मूल घटनाएँ—सिंहलद्वीप की यात्रा, लौटते समय पोत का भग्न होना, नायक-नायिका का विभिन्न द्वीपो में पहुँचने पर सयोग या दैवीसंयोग से दोनो का समागम होना, नायक या नायिका का हरण और युद्ध होना, आदि।

इस प्रकार वस्तु की दृष्टि से दोनो में बहुत अन्तर है, पर प्रबन्ध रचना और शैली की दृष्टि से दोनो में समानता ढूँढी जा सकती है। इसी प्रकार भाव साम्य को सूचित करने वाले कई स्थल दोनो में दिखाई पड़ते हैं, जिन मे से कुछ निम्नाकित हैं—

काइं किलेसहि काउ अयाणिए किं घिउ होइ विरोलिए पाणिये।
(भ० क०, २,७)

का मा जोग कथन के कथे, निकसै घिउ न विना दधि मथे।
(पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अखुट्टइ णवि मरणु।
(भ० क०, ३,१२)

जो रे उवा, सो अथवा रहा न कोइ संसार। (पदमावत, पदमावती-नागमती सतीखण्ड, ३)

इउ जाणिवि जं साहसु मुच्चइ तं परसत्तहीणु जणि वुच्चइ।
(भ० क०, ५,७)

सावन्ह सिद्धि न पाइय जौ लगि सधै न तप्प। (पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

अपभ्रंश तथा हिन्दी के अन्य काव्य

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के प्रवन्ध काव्यों में कई बातों में समानता मिलती है, जो एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का विषय है। भाव-साम्य के रूप में कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अमिलन्ताण व दीसइ णेहो दूरे वि संठियाणंपि।
जइ विहु रवि गयणयले इह तह वि हुलइ सुहु णलिणी। सु० च०

तथा—

कहि ससहरु कहि मयरहरु कहि वरिहिणु कहि मेहु।
दूरट्ठियाहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु णेहु ॥हेमचन्द्र के दोहो में संकलित

मिलाइए—

वसै मीन जल धरती, अम्बा वसै अकास।
जो पिरीत पै दुवौ महं, अन्त होहि एक पास ॥पदमावत

इसी प्रकार—

कमोदनी जल हरि वसै, चन्दा वसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पासि ॥कबीर

अन्य हैं—

णिय कम्मॅज्ज लिलाडहं लिहियउ सो को मेटइ जो विहि विहियउ। (सि० क०)

तुलना कीजिए—

जो जेहिकैं जस लिखा लिलारा।
जो विधि करै होय पै सोई। (कुंवरावत . अलीमुराद)
विधि ने अपने हाथ जो लिखा होइ तो होइ। (चित्रावली)

तथा—

तें तुव भमउँ समउँ रइरस सुहु सेवन्ताह वट्टए।
फुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए ॥जि० क०

मिलाइए—

सम्भारिया सन्ताप, वीसारिया न वीसरइ।
कालेजा विचि काप, परहर तू फाटइ नही ॥ढोला-मारू रा दूहा, १८०।

इसी प्रकार—

ता परिएहु दुक्खु महु हियगहो   णिगच्छेवि जाइ दुह महियहो ।
खणु एक्कु वि महु णत्थि सुहासिय चित्तवित्ति अप्पणिय समासिय ।
(भ० क०, विबुधश्रीधर)

यह भाव सन्देशरासक तथा रामचरितमानस में कुछ हेर-फेर के साथ मिलता है। अन्य हिन्दी की पद्यबद्ध रचनाओ में भ० क० और जि० क० आदि कथाकाव्यों की वर्ण्यविषयक विशेषताएँ स्पष्ट रूप से मिलती हैं।

सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम   गयपयहिणंति उड्डेवि साम ।
वामंग सुत्ति रुहुरुहइ वाउ   पिय मेलावउ कुलुकुलइ काउ ।
वामउ किलिकिंचिउ लावएण   दाहिणउं अंगु दरिसिउ मएण ।
दाहिणु लोयणु कंदइ सवाहु   णं भणइं एण मग्गेण जाहु ।
भ० क०, ४, ५ ।

तुलना कीजिए—

चारा चाषु वाम दिसि लेई   मनहुँ सकल मंगल कहि देई ।
दाहिन काग सुखेत सुहावा   नकुल दरसु सब काहूँ पावा ।
सानुकूल वह त्रिविध बयारी   सघट सवाल आव वर नारी ।
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा   सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा ।
मृगमाला फिरि दाहिनी आई   मंगल गन जनु दीन्हि देखाई ।
रामचरित मानस, बालकाण्ड, ३०३ ।

इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यो का वर्ण्य विषय एव भाव-साम्य हिन्दी के सूर, तुलसी, जायसी तथा सूफी और प्रेमाख्यानक काव्यो में लक्षित होता है। उदाहरण के लिए कुछ स्थल निम्नलिखित हैं—

हो हो पवास गामिय वत्थंवरि जण कुप्पियं कीस ।
पढमंचिय को मुक्कमि णिय पाण किं अंचलं तुज्झ ॥
सि० क० (नरसेन) ।

करमुत्क्षिप्य जातोऽसि वालादिह किमद्भुतम् ।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयाम्यहम् ॥
बाह विछोडवि जाहि तुहु हउं देवइं को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु ॥
बाँह छुडाये जात हो निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि । सूरदास

ऊधो हहा हरि सो कहियो तुम,
हौ न यहाँ यह हौं नहिं मानौं।
या तन तें बिछुरैं तो कहा—
मन तें अनतैं जो बसौ तब जानौ। देव

इसी प्रकार—

लोग कहनउ साचो भयो जागत चोरु न कुइ मुसि गयउ।
जि० चउ०, ३१३।

अवहू जागु अजाना होत, आव निसि भोर।
तब किछु हाथ न लागिहिं, मूस जाहिं जब चोर।
पदमावत, प्रेमखण्ड, ६।

भ० क० के वात्सल्यमूलक वियोग वर्णन ने विशेष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। अपभ्रंश-साहित्य में भी कवि धनपाल के पूर्व यह साहित्यिक प्रवृत्ति लक्षित नही होती। अतएव सूर, तुलसी आदि के काव्य-साहित्य पर निश्चित रूप से भ० क० का प्रभाव माना जा सकता है। और इस दृष्टि से भ० क० (८।१२) के वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस प्रकार की और भी कई विशेष बातें हैं, किन्तु विस्तार-भय से यहाँ लिखना उचित न होगा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो में काव्य-रूढ़ियो, प्रबन्ध-रचना-शैली, कथानक-रूढियो तथा रीतिकालिक प्रवृत्तियों में भी समानता मिलती है। अपभ्रश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की कथा-वस्तु और रचना-पद्धति में अद्भुत साम्य लक्षित होता है। सम्भव है कि सूफी काव्य मसनवी शैली से प्रभावित रहे हो, पर वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली से तो यही स्पष्ट जान पड़ता है कि सूफी कवियो ने भारतीय जीवन में घुली-मिली कथाओ को यहाँ के सामाजिक जीवन के आलोक में परम्परागत अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्य की कडवक शैली में प्रसूत कर प्रबन्धकाव्य की परम्परा को विकसित किया है, जो हमारी दृष्टि में अपभ्रश-प्रबन्धकाव्यो की परवर्ती विकसित धारा कथाकाव्य की परिपाटी का अनुकरण करते लक्षित होते हैं।

केवल वस्तु-रचना और शैली की दृष्टि से ही नही कही-कही भावो में और विशेषकर छन्दो में प्राकृत-अपभ्रश की काव्य-धारा का स्पष्ट प्रवाह दिखाई पड़ता है। अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धडिया बन्ध में हुई है। पद्धडिया चौपाई की जाति का ही छन्द है, जो चउपई का पुराना नाम जान पडता है। साधारणतया चौपाई के साथ दोहे की भाँति अपभ्रश-प्रबन्धकाव्यो मे द्विपदी तथा अन्य उसी जाति के छन्दो का व्यापक प्रचलन रहा है, पर परवर्ती काल में वह दोहा या द्विपदी में सीमित हो गया; जो अपभ्रश की परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुआ। इसी प्रकार हिन्दी के चौपाई,

दोहा, छप्पय, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरि, हरिगीतिका और बरवै तथा कवित्त, सवैया आदि छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-काव्य-धारा से विकसित हो कर परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुए हैं। इस प्रकार कई बातों में हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य एवं कथाकाव्यों का प्रभाव लक्षित होता है, जो स्पष्ट रूप से परम्परा के विकास का सूचक है।

●

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

हस्तलिखित ग्रन्थ

[पाण्डुलिपियाँ तथा माइक्रोफिल्म]

प्राकृत, अपभ्रंश

१. जम्बुसामिचरिउ वीर कवि—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

२. जिनदत्तकथा . लाखू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

३. जिनदत्तचउपई . कवि रल्ह—जैन साहित्य-शोध-संस्थान, महावीर भवन, जयपुर।

४. धम्मपरिक्खा : हरिषेण—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

५. पाइअलच्छी नाममाला : धनपाल—अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

६. प्राकृत छन्द कोश . कवि अल्ह—श्री अग्रवाल दि० जैन बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

७. प्राकृतप्रकाश : चण्ड—दि० जैन सरस्वती भवन, पचायती मन्दिर, देहली।

८. बाहुबलिचरिउ . द्वितीय धनपाल—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

९. भविसयत्तकहा : प्रथम धनपाल—श्री अग्रवाल दि० जैन बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

१०. भविसयत्तचरित - विबुध श्रीधर—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

११. महीपालचरित वीर देव—श्री अग्रवाल दि० जैन बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

१२. मेहेसरचरिउ प० रयधू—श्री अग्रवाल दि० [illegible] बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

१३. विलासवईकहा (माइक्रोफिल्म कॉपी) साधारण सिद्धसेन—श्री ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद।

१४. सत्तवसणकहा . माणिक्यचन्द्र—श्री दि० जैन मन्दिर, भरतपुर।

१५ सणमइचरिउ . प० रयधू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

१६. सिद्धचक्रकथा . प० नरसेन—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।

१७ श्रीपालकथा : प० रयधू—श्री अग्रवाल दि० जैन बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

१८. सुकौसलचरिउ · पं० रयधू—श्री अग्रवाल दि० जैन बडा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

प्राचीन ग्रन्थ

संस्कृत

१. उपासकाध्ययन : सोमदेवसूरि, सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
२. ऋग्वेद-संहिता : सं० सातवलेकर, १९५७।
३. ऋग्वेद-संहिता : सायण भाष्य युक्त, प्रथम भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३।
४. ऐतरेयारण्यक—आनन्दाश्रम पूना।
५. कर्पूरमंजरी की टीका : वासुदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
६. काव्य-मीमासा . राजशेखर, ओरियन्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा, १९३४।
७. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, प्रथम भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई।
८. काव्यानुशासन : वाग्भट।
९. काव्यादर्श : दण्डी, पूना, १९३८।
१० काव्यादर्श की टीका : रत्नश्रीज्ञान, मिथिला विद्यापीठ, १९५७।
११ काव्यालकार · भामह, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९८५।
१२. काव्यालंकार . रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८।
१३. काशिकावृत्ति : वामन जयादित्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
१४ कुमारसम्भव : कालिदास, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१।
१५. कौषीतकिब्राह्मण : स० मधुसूदन ओझा, आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली।
१६. छन्दःशास्त्र पिंगलाचार्य, काव्यमाला ९१, निर्णय सागर, बम्बई।
१७. जातिविवेकाध्याय
१८ तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति।
१९. तन्त्रवार्तिक
२०. तन्त्रसार : अभिनवगुप्त।
२१. तन्त्रालोक
२२. दशरूपक . धनजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
२३. ध्वन्यालोक—रिसर्च इन्स्टीटयूट, मद्रास।
२४. ध्वन्यालोक . आनन्दवर्धन, लोचन टीका युक्त, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९९७।
२५. नाट्यशास्त्र भरतमुनि, द्वितीय जिल्द, बडौदा ओरियन्टल इन्स्टीटयूट १९३४।
२६. निरुक्त . यास्क, दुर्गाचार्य कृत टीका सहित।
२७ नैषधीयचरित : श्री हर्ष, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४।
२८. न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री।
२९. प्राकृतचन्द्रिका . पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट।

३०. पाली-प्राकृत-व्याकरण : पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, काशी, १९५४।
३१ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : अमृतचन्द्राचार्य, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई।
३२. प्राकृतप्रकाश : वररुचि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
३३. प्राकृत रूपावतार : सिंहराज, रायल एशियाटिक सोसायटी।
३४. प्राकृतशब्दप्रदीपिका नरसिंह
३५ प्राकृतशब्दानुशासन : त्रिविक्रम, जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापुर।
३६. प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय
३७. प्राकृतानुशासन · पुरुषोत्तमदेव
३८ बालरामायण राजशेखर
३९. बृहज्जिनवाणीसंग्रह
४०. बृहत्कथाकोश : हरिषेण
४१. बृहत्सहिता
४२. ब्रह्मपुराण
४३. ब्रह्मवैवर्तपुराण
४४ भागवतपुराण—गोरखपुर, वि० सं० २०१०।
४५. भावसग्रह . देवसेन
४६. मत्स्यपुराण
४७. मनुस्मृति
४८. महापुराण जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
४९. महाभारत
५०. महाभाष्य · पंतजलि, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४।
५१ महार्थमंजरी
५२ मृच्छकटिक शूद्रक, पृथ्वीधर की टीका युक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५०।
५३. मेघदूत · कालिदास, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१।
५४ यशस्तिलकचम्पू सोमदेवसूरि, अनु० पं० सुन्दरलाल शास्त्री, बनारस।
५५. रघुवश : कालिदास, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९८४।
५६. रत्नकरण्डश्रावकाचार · समन्तभद्र, सूरत।
५७. वाक्यपदीय . हेलाराज, त्रावणकोर, १९३५।
५८. वाग्भटालंकार · वाग्भट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
५९. वाल्मीकिरामायण . वाल्मीकि, मद्रास, १९५८।
६०. विविध तीर्थ कल्प : जिनप्रभसूरि . सं० मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३४।
६१ विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड . सं० डॉ० पी० जे० नडेसरा, बडोदा, १९५८।
६२. वैयाकरणभूषणसार : कौण्डभट्ट, चौखम्बा प्रकाशन, १९३९।

६३. वैयाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा : नागेशभट्ट, चौखम्भा प्रकाशन, सं० १९८५।
६४. व्यास-स्मृति—भारतीय महाविद्यालय, कलकत्ता।
६५. शक्तिसंगमतन्त्र, द्वितीय भाग : सं० विनयतोष भट्टाचार्य, वडौदा, १९४१।
६६. शतपथब्राह्मण : सायण, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, वम्वई।
६७ षड्भाषाचन्द्रिका . लक्ष्मीधर, सेन्ट्रल प्रेस, वम्वई, १९१६।
६८. समवायागसूत्र
६९. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, निर्णयसागर प्रेस, वम्वई।
७०. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, चौखम्वा प्रकाशन, १९५५।
७१. सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजि दीक्षित
७२. स्थानाङ्गसूत्रम्।
७३. हनुमन्नाटक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वम्वई, वि० सं० १९६६।
७४. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र।

अपभ्रंश

१. उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भूमिका, लेखक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी।
२. कथाकोशप्रकरण (जिनेश्वरसूरि) की भूमिका . लेखक मुनि जिनविजय।
३. करकण्डचरिउ . कनकामर, स० डॉ० हीरालाल जैन।
४. कीर्तिलता : विद्यापति।
५. छन्दोऽनुशासन आ० हेमचन्द्र, सं० ह० दा० वेलणकर, भारतीय विद्याभवन, वम्वई, १९६१।
६. जसहरचरिउ · पुष्पदन्त, सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, कारंजा, १९३१।
७ जिनदत्ताख्यानद्वय : सं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, भा० वि० भवन, स० २००९।
८. णायकुमारचरिउ पुष्पदन्त, स० डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३।
९. देशी नाममाला : हेमचन्द्र।
१०. पउमचरिउ (प्रथम भाग) : स्वयम्भू, सं० डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, १९५३।
११ पउमचरिउ : प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७।
१२. पउमसिरीचरिउ धाहिल, सं० मोदी और भायाणी, भा० वि० भवन, १९४८।
१३. पाहुडदोहा : मुनि रामसिंह, सं० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३।
१४ प्राकृतपैंगलम् · सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५९।
१५. मयणपराजयचरिउ : हरिदेव, स० डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२।

१६. महापुराण : पुष्पदन्त, सं० डॉ० हीरालाल जैन, भा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४१।
१७. लीलावतीकथा : कोऊहल, सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये, भा० वि० भवन।
१८. सनत्कुमारचरित की भूमिका : डॉ० हरमन जैकोबी, १९२१।
१९ सन्देशरासक : अब्दुलरहमान, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९६०।
२०. सिद्धहेमशब्दानुशासन : हेमचन्द्र, सं० डॉ० परशुराम वैद्य, पूना, १९२८।
२१. स्वयम्भूछन्द (स्वयम्भू) : सं० डॉ० वेलणकर, प्रकाशित जर्नल आव द युनिवर्सिटी आव बाम्बे, जिल्द ५, नवम्बर, १९३६।
(पुस्तकाकार) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६२।
२२. ज्ञानपंचमीकहा . महेश्वरसूरि, प्रकाशित भा० वि० भवन, बम्बई।

आधुनिक ग्रन्थ तथा शोध-प्रबन्ध

बंगला

१. मजूमदार, दक्षिणारंजनमित्र (सं०) : ठाकुरमारझुलि (रूपकथा), कलकत्ता, बंगाब्द १३५९।

गुजराती

१. देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द . जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३।

मराठी

१. राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ : मराठी छन्द, १८४८ ई०।
२. विवेकसिन्धु।

हिन्दी

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम सस्करण।
२. उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, १९६०।
३. उपाध्याय, डॉ० भगवतशरण · भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण।
४ ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, तृतीय संस्करण।
५. ओझा, डॉ० दशरथ और शर्मा रासा और रासान्वयी काव्य, प्रथम सस्करण।
६. कासलीवाल, डॉ० कस्तूरचन्द : राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारो की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, जयपुर।
७ कोछड, डॉ० हरिवश · अपभ्रंश-साहित्य, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली।
८. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा . पुरानी हिन्दी, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

९. गैरोला, वाचस्पति : अक्षर अमर रहें, चौखम्बा, १९५९ ।
१०. गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, चौखम्बा प्रकाशन ।
११. चटर्जी, सुनीतिकुमार : ऋतम्भरा ।
१२. ,, ,, : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ।
१३. चतुर्वेदी, शिवसहाय : गौने की विदा, अजन्ता प्रेस, पटना, १९५३ ।
१४. जैन, कामताप्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७ ।
१५. जैन, डॉ० जगदीश चन्द्र : प्राकृत-साहित्य का इतिहास ।
१६ जैन, देवेन्द्रकुमार . सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्य-धारा (अप्रकाशित) ।
१७. जोशी, डॉ० हेमचन्द्र : अनु० प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, मूल लेखक—रिचर्ड पिशल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५८ ।
१८. तुलसीदास . रामचरित-मानस (मूल गुटका), गोरखपुर ।
१९. देशपाण्डे, प्रो० भी० गो० . मराठी का भक्ति-साहित्य, चौखम्बा, १९५९ ।
२०. द्विवेदी, डॉ० हजारी प्रसाद ' हिन्दी-साहित्य का आदि काल, १९६१ ।
२१. पण्डित, डॉ० प्रबोध बेचरदास : प्राकृत भाषा, बनारस, १९५४ ।
२२. प्रेमी, नाथूराम . जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण ।
२३. बाहरी, हरदेव : प्राकृत और उस का साहित्य ।
२४. मल्लिनाथन्, सी० एस० तामिल भाषा का जैन साहित्य ।
२५. मालवणिया, दलसुखभाई : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन ।
२६ मिश्र, पं० ज्वाला प्रसाद : जातिभास्कर, १९५५ ।
२७. मिश्र, शिवशेखर ' भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश, लखनऊ ।
२८. वत्स, शिवमूर्ति सिंह अवध की लोक कथाएँ, भा० २, आत्माराम एण्ड सन्स, १९५६ ।
२९ वर्मा, रामलाल : अनु० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, दिल्ली १९५९ ।
३०. व्यास, लक्ष्मीशंकर . चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम संस्करण ।
३१. शास्त्री, जगन्नाथ . व्रतकोश, प्रथम भाग, बनारस ।
३२ शास्त्री, नेमिचन्द्र : जैन साहित्य-परिशीलन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
३३ शास्त्री, पं० हरिकृष्ण : ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, १९५४ ।
३४. शुक्ल, पं० रामचन्द्र : जायसी-ग्रन्थावली, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, सं० २००३ ।
३५. ,, ,, गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण ।
३६. ,, ,, रस-मीमांसा, तृतीय संस्करण ।
३७. शुक्ल, डॉ० सरला : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१३ वि० ।

३८. सक्सेना, प्रकाशनारायण : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, १९४९।

३९. सत्येन्द्र, डॉ० गौरीशकर : लोक साहित्य विज्ञान १९६२।

४०. ,, ,, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, १९६०।

४१. ,, ,, ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन, प्रथम सस्करण।

४२. सिंह, नामवर . पुरानी राजस्थानी, मूल लेखक डॉ० एल० पी० टेसिटोरी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय सस्करण।

४३. सिंह, नामवर . हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, १९६१।

४४. सिंह, शम्भूनाथ : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप—विकास, बनारस, १९५६।

४५. सिंह, त्रिवेणी प्रसाद . हिन्दू धार्मिक कथाओ के भौतिक अर्थ, प्रथम सस्करण।

४६. सुन्दरम्, पूर्ण सोम : तमिल और उस का साहित्य, प्रथम संस्करण।

४७. त्रिपाठी, डॉ० गंगाचरण अवधी, व्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)।

अभिनन्दन ग्रन्थ

१. प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

२. आलोचना—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

३. जैन सन्देश (शोधाक)—भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

५. भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

६. महावीर-जयन्ती स्मारिका—राजस्थान जैन सभा, जयपुर।

७. शोध-पत्रिका—साहित्य-संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर।

८. सरस्वती—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

९ साहित्य—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना।

१०. साहित्य-सन्देश—साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा।

११ हिन्दी-अनुशीलन—भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग।

१२ हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

१३. होलकर कालेज मेगजीन, १९५८-५९,—होलकर महाविद्यालय, इन्दौर।

कोश एवं सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अनेकार्थ संग्रह—हेमचन्द्र, चौखम्बा, वाराणसी ।
२. अभिधान चिन्तामणि कोश—हेमचन्द्र, सूरत, १९४६ ।
३. अमरकोश—अमरसिंह
४. जैन ग्रन्थावली—जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, मुम्बई, वि० सं० १९६५ ।
५. जैनागम शब्द-संग्रह (अर्द्धमागधी-गुजराती कोश) लिंबडी, वि० सं० १९८३ ।
६. भरत कोश—सं० रामकृष्ण कवि, तिरुपति, १९५१ ई० ।
७. मेदिनी कोश
८. विश्व प्रकाश—महेश्वर
९. विश्वलोचन—श्रीधर सेन, निर्णय सागर प्रेस, १९१२ ई० ।
१०. शब्दकल्पद्रुम—राधाकान्तदेव बहादुर, कलकत्ता, शक १८०८ ।
११. शब्दरत्नसमन्वय कोश—महाराज शाहराज, तंजोर ।
१२. शब्दार्थ चिन्तामणि, प्रथम भाग,—सुखानन्द, आगरा, वि० सं० १९२१ ।

ENGLISH

1. Alsdorfe, Ludwig . Apabhramsa . studian, Leipzig, 1937.
2 Burlingame, E. W.: Buddhist Legends, Part I, Harvard University Press, 1921.
3 Chatterji, Sunitikumar : Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta, 1958
4. Chattopadhyaya, Dr. Sudhakar : Early History of North India, Calcutta, 1958
5. Chokshi, V. J The Vivagasuyam and comparative Prakrit grammar, Ahmedabad, 1933.
6. Cowll, E. B : The Jataka or stories of the Buddha's former births, London, 1957
7. Dalal, C. D. : Catalogue of Manuscripts at Patan, Vol. I, Baroda, 1937
8 Dalal & Gune : Editor, Bhavisayattakaha of Dhanpal, Baroda, 1937.
9. Frazer, Sir James Georege, O. M. : The Golden Bough, London, 1955.
10. Frazer, Sir James George, O. M. . Aftermath A Supplement to the Golden Bough, London, 1955
11. Ghurye, Dr. G S · Caste and class in India.

12. Graefe, W.: Legends as Mile-Stones in the History of Tamil Literature, Bengalore
13. Gray, Louis H. Foundations of Language, 1958.
14. Gune, N P The discovery of English, Poona
15. Handiqui, K. K Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur, 1949.
16. Hariyappa, H L. . Rgvedic Legends through the ages.
17. Hertel, Dr. Johannes Editor, Panch Tantra, Cambridge 1908.
18 Hopkins, E Washburn Epic Mytholgy
19. Hultzch, E. Editor, Prakrit Rupavtara (Simharāja) Royal Asiatic Society London, 1909
20. Jarrelt-Ain-i-Akbari, Vol III (Abul Fazl Allami), 1948
21. Jayaswal, K P Hindu Polity, Part I, 1953
22. Kashyap, Ruliaram Vedic origins of zorastrinism
23. Katre, S. M Prakrit Languages and their Contribution to India, Bombay, 1945
24. Majumdar, R. C General Editor, The age of Imperial Unity, Vol. II, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1953
25. Majumdar, R. C. General Editor, the Delhi Sultnata, Bombay, 1960
26 Majumdar, R. C General Editor, The struggle for empire, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1957
27 Munshi, K. M. . The Glory that was Gurjaradesa, Part III, 1944.
28. Pei, Mario A . The world's Chief Languages, London, 1944
29. Penzer, N M & Tawney, C H. . The ocean of story Vol. III, London, 1924
30. Pischel, R. . Editor, The Desi Namamala of Hema Chandra, Vizianagram, 1938.
31. Ramilinson, G. The Religions of the Ancient World
32 Ramnaryanlal & sons, Allahabad, Publisher of the Arabian Nights, Hindi Translation, 1922
33 Sarkar, Dinesh Chandra A Grammar of the Prakrit Language, Calcutta, 1942
34 Shastri, K. A Nilkanta . History of India, Part I
35. Shartri, K A. Nilkanta Age of the Nandas and Mauryas, 1952.
36 Smith, V. A The early History of India, London, 1957
37. Sorabje, Jahangir, B. A., Ph D Selections from Avesta, Part I.
88. Tagare, Gajanan Vasudeva Historical Grammar of Apabhramsa, Poona, 1948.

39. Thoms, J. Sahan . Editor, A book of Famous Myths and Legends, Chicago, 1954.
40. Vaidya, P. L. : Prakrit Grammar of Trivikram, Sholapur, 1954.
41. Welenkar, H. D. : Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts, Vol III-Iv, Bombay, 1930.
42. Welenkar, H. D. · Jina Ratana Kosha, Vol. I, Poona 1944
43. Winternitz, M. . A History of Indian Literature, Vol. II, Calcutta, 1933

ENGLISH JOURNALS

1 Allahabad University studies, Part I, 1925.
2. Archaeological Survey of Mysore Annual report, 1929
3. Bhartiya Vidya . Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
4. Epigraphia Indica, Vol XXV, Part VIII, Oct. 40.
5. Indian Antiquary, Vol. X, October, 1881.
6. Journal of the Oriental Institute, Baroda.
7. New Indian Antiquary, Vol I, October, 1938
8 Royal Asiatic Society, Vol. II, London, 1907.
9. The Jain Antiquary, Vol XVIII, No 2.
10. The Journal of the Visva-Bharati Study Circle Vol. I, No. 1, 1909.
11. Visva-Bharti Annuals, Vol. IX, June, 1959.

DICTIONARIES

1 A Comparative and Etymological Dictionary, of the Nepali Language by Ralph Lilley Turner, M C , M. A., London, 1931.
2 Dictionary of Anthropology.
3. Encyclopedia of Britannica, Vo IX, 1957
4 Encyclopedia of Religion and Ethics by James Hastings, Vol. VI. Edinburgh, 1955.
5. Larousse Encyclopedia of Mythology by Robert Grames
6 Motif—Index of Folk—literature, Vol I.
7. Sanskrit—English Dictionary, Vol I by V. S. Apte, Editor Gode & Karve, Poona, 1957.
8 Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend, Vol. II by Stith Thompson, 1949.

शब्दानुक्रमणिका

[झ]

[ट]

[ठ]

[ड]

[ढ]

[ण]

[त]

[न]

[फ]

[ब]

[भ]

[म]

[ल]

[व]

[ष]

[श]